दिल्ली सल्तनत

डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

711 से 1526 ई. तक

चतुर्थ संस्करण 1952

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. प्राइवेट लि.

आगरा

दिल्ली सल्तनत

[७११ से १५२६ ई. तक]

लेखक

डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट् (लखनऊ), डी. लिट् (आगरा)

एशियाटिक सोसायटी के सर यदुनाथ सरकार स्वर्ण-पदक विजेता

भूतपूर्व अध्यक्ष, इतिहास एवं राजनीति विभाग,

आगरा कॉलिज, आगरा

चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

[१२ मानचित्रों तथा १२ चित्रों सहित]

शिवलाल अग्रवाल एण्ड क. प्राइवेट लि.

पुस्तक-प्रकाशक एवम् विक्रेता

आगरा

प्रथम हिन्दी संस्करण : अप्रैल १९५२
द्वितीय संस्करण : जुलाई १९५५
तृतीय संस्करण : अगस्त १९५९
चतुर्थ संस्करण : सितम्बर १९६२

मूल्य दस रुपये

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा

चतुर्थ संस्करण के प्रति

प्रस्तुत पुस्तक के चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण को पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। इस संस्करण की प्रतिलिपि मेरे शिष्य डा. कैलाशचन्द्र चतुर्वेदी ने बड़े परिश्रम के साथ तैयार की है मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ। मुझे आशा है कि पुस्तक अपने इस नवीनतम रूप में पाठकों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

आगरा,
२ अक्टूबर, १९६२

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

तृतीय संस्करण के प्रति

प्रस्तुत संस्करण में पुस्तक को पूर्णतया संशोधित कर दिया गया है और दो नये अध्याय—'अफ़ग़ानिस्तान में हिन्दू राज्य' तथा 'प्राक् मध्य युग में हिन्दुओं की पराजय के कारण' और बढ़ा दिये गये हैं। ये दोनों अध्याय तत्कालीन मूल स्रोतों से प्राप्त सामग्री के पर्याप्त अध्ययन पर आधारित हैं। अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही एक भाग था और ८७० ई. में इसके हाथ से निकल गया था। 'हिन्दुओं की पराजय के कारण' अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि भारत ने अरब और तुर्की आक्रमणकारियों का सातवीं शताब्दी के मध्य से १२वीं शताब्दी के अन्त तक प्रबल प्रतिरोध किया था। लेखक के कुछ निष्कर्ष अजीब अथवा आश्चर्यप्रद भी प्रतीत हो सकते हैं किन्तु वे अरबी और फारसी में लिखित तत्कालीन मूल सामग्री के अध्ययन पर आधारित हैं। आशा है कि इस नये रूप में "दिल्ली सल्तनत" विद्वानों, विद्यार्थियों तथा जनसाधारण के द्वारा इसके पहले संस्करणों की भाँति ही समाहृत और ग्रहण की जायगी।

आगरा कॉलिज,
आगरा
१५ अगस्त, १९५९

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

द्वितीय संस्करण के प्रति

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का देश के सभी कॉलिजों और विश्वविद्यालयों में स्वागत हुआ जिससे प्रोत्साहित होकर लेखक ने इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया है। पहला संस्करण बहुत पहले ही समाप्त हो गया था, और दूसरा संस्करण सन् १९५४ तक छप जाना चाहिए था, किन्तु कुछ अनियन्त्रित परिस्थितियों के आते रहने के कारण इसके प्रकाशन में लगभग आठ मास का विलम्ब हो गया।

इस संस्करण का संशोधन बड़ी सावधानी के साथ किया गया है। नासिरुद्दीन खुसरवशाह की उत्पत्ति (मौलिकता) अब तक के अन्य सभी लेखकों के लिए पहेली बनी हुई थी, किन्तु श्री के. एम. मुंशी द्वारा उक्त प्रश्न पूछे जाने पर लेखक ने इस पहेली को सुलझाकर उसके वास्तविक रूप को सबसे पहले इस पुस्तक में स्थान दिया है।

कुछ तिथि और घटनाओं के सम्बन्ध में भी सुधार किये गये हैं और दिल्ली सल्तनत का तिथि-क्रम तथा राजवंश की वंशावली-वृक्ष के साथ-साथ सल्तनत-काल के कुछ दृष्टान्त चित्र भी दे दिये गये हैं।

सबसे पहले इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में ही यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया था कि सल्तनत-काल के शासक विदेशी थे किन्तु कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह बात ऐसी नहीं थी। इलियट और डाउसन कृत History of India as told by its Own Historians की दूसरी जिल्द की भूमिका में प्रोफेसर मुहम्मद हबीब ने यह दृढ़तापूर्वक कहा है कि मुस्लिम शासन विदेशी शासन नहीं था। इसके पक्ष में उनका केवल यही तर्क है कि इस काल के मुसलमान शासकों की गृह-सरकार (Home Government) भारत के बाहर नहीं थी। किन्तु वह यह भूल जाते हैं कि इस काल के लगभग सभी शासक कम से कम सिद्धान्त रूप से तो खलीफा को अपना एकाधिपति मानते थे और केवल खलीफा के ही अधीन रहते थे। इतना ही नहीं वे खलीफा को बहुमूल्य भेंटें भेजते और मक्का, मदीना इत्यादि इस्लामी तीर्थ-स्थानों में व्यय करने के लिए अतुल धन-राशि भी भेजा करते थे। यह सच है कि उन्होंने भारत को अपना घर मान लिया था किन्तु उनका उद्देश्य इस देश को इस्लामी देश बनाना था। उनकी सरकार पूर्णतः विदेशी सरकार थी तथा उनका धर्म एवं संस्कृति विदेशी थे और इन्हें वे भारत पर थोपना

चाहते थे। इसके साथ-साथ उनकी शासन-प्रणाली तथा रहन-सहन भी विदेशी था। वे अरब तथा मध्य एशिया से ही प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। वे भारतीयों को सेना में तो भरती कर लेते थे किन्तु उनके धर्म, संस्कृति, परम्परा तथा रहन-सहन से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। वे भारतीय नहीं बनना चाहते थे और अनेक पीढ़ियों से यहाँ प्रवास करने पर भी वे पूर्णरूप से भारतीय नहीं बन पाये। प्रोफेसर पी. हार्डी का मत है कि सल्तनत सरकार हिन्दुओं के धर्म में हस्तक्षेप करने को ही अपना सामाजिक कर्तव्य-पालन समझती थी। मुसलमान इस हस्तक्षेप को भले ही सामाजिक कार्य समझ लें किन्तु हिन्दुओं के लिए यह हस्तक्षेप उनका राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक विनाश मात्र ही था। अतः लेखक उपर्युक्त विद्वानों के मत से सहमत नहीं।

वर्तमान संस्करण लेखक के कनिष्ठ पुत्र दयाभानु, एम. एस-सी. की सहायता से इतनी शीघ्र प्रकाशित हो सका है। उनके सहयोग के बिना इसके प्रकाशन में महीनों का विलम्ब हो जाता। आशा है अधिक से अधिक विद्यार्थी इससे लाभ उठावेंगे।

भार्गव होस्टल,
आगरा
२४ जुलाई, १९५५

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

'The Sultanate of Delhi' का देश के सभी भागों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने स्वागत किया, इसी से प्रोत्साहित होकर विद्यार्थियों के लाभ के लिए मैंने उसका हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित किया है।

पुस्तक मुख्यतः हमारे विश्वविद्यालयों के बी. ए. के विद्यार्थियों के लिए लिखी गयी है और लेखक ने उन्हीं की आवश्यकताओं को विशेष रूप से ध्यान में रखा है, किन्तु आशा है कि उच्चतर कक्षाओं के तथा प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए भी यह उतनी ही उपयोगी सिद्ध होगी।

यह एक पाठ्य-पुस्तक है, अनुसन्धान ग्रन्थ नहीं, किन्तु सामान्य कोटि की पाठ्य-पुस्तक नहीं है जैसी कि बाजार में बहुधा मिलती हैं। यह जानकारी के उन मूल साधनों के गम्भीर अध्ययन पर आधारित है जो फारसी तथा अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं जिनसे लेखक भली-भाँति परिचित है। इस ग्रन्थ में पहली बार इस युग के इतिहास की महत्वपूर्ण समस्याओं की विवेचना की गयी है; जैसे (१) अरब तथा तुर्क आक्रमणकारी इतनी सरलता तथा द्रुतगति से हमारे देश को पदाक्रान्त करने में क्यों सफल हुए। (२) वे एक सांस्कृतिक जनसमूह के रूप में हमें नष्ट क्यों नहीं कर सके जैसे कि उन्होंने एशिया तथा अफ्रीका की अन्य जातियों को कर दिया था। (३) इस्लाम का हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा ? (४) हम इन नवागन्तुकों को अपने में क्यों नहीं पचा सके जबकि यूनानियों, शकों, हूणों आदि को हमने पूर्णतया आत्मसात कर लिया था। (५) भारतीय मुसलमानों के साथ हमारा सम्बन्ध—जो समस्या आज भी हमारे नेताओं और राजनीतिज्ञों को परेशान किये हुए है। दुर्भाग्य से इस विषय पर इससे पहले जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें भारत में इस्लाम की प्रगति का इतिहास ही दिया गया है। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में देश का इतिहास लिखने का प्रयत्न किया गया है। सामान्य पाठ्य-पुस्तकों में ही नहीं बल्कि विशिष्ट लेखों में भी हमारे अरब तथा तुर्क-अफग़ान शासकों के लिए भ्रमात्मक मुस्लिम शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे दो गलत धारणाएँ उत्पन्न हुई हैं—(१) भारतीय मुसलमान तथा उनके वंशज भ्रमवश

यह समझने लगे हैं कि मध्य-युग में हम भारत के शासक-वर्ग थे, यह नितान्त गलत धारणा कुछ लोगों में अब भी पायी जाती है; और (२) अनेक पीढ़ियों से हमारी अधिकांश जनता भारतीय मुसलमानों के पूर्वजों को हमारे ऊपर अरब, तुर्क तथा अफ़गान शासकों द्वारा किये गये अत्याचारों—विशेषकर धार्मिक अत्याचारों के लिए जिम्मेदार समझती आयी है। इस पुस्तक में इस प्रकार की सभी गलतियों से बचा गया है। इसके अतिरिक्त शासन-सम्बन्धी, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सफलताओं से सम्बन्ध रखने वाली सभी आवश्यक तथा महत्वपूर्ण बातों को भी समाविष्ट करने तथा उनका महत्व समझाने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इन चीजों को देने के लिए राजनीतिक इतिहास को किसी प्रकार से कम नहीं किया गया है। पुस्तक में विशेष रूप से तैयार किये गये बारह मानचित्र दिये गये हैं जो अब तक उपलब्ध सभी मानचित्रों से अधिक समुन्नत हैं। मेरे पुत्र धर्मभानु, एम. ए., लेक्चरार, सनातन धर्म डिग्री कॉलिज, मुजफ्फरनगर ने मानचित्र बड़े परिश्रम से तैयार किये हैं।

पुस्तक में दोष भी हैं और लेखक उनसे भली-भाँति परिचित है। जिस योजना के आधार पर इसे लिखा गया है उसको ध्यान में रखते हुए चीजों का दुहराना अनिवार्य था। अन्तिम अध्यायों में मध्यकालीन शासन-सम्बन्धी सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का जो क्रमबद्ध विकास दिखाया गया है वह विभिन्न सुल्तानों के शासन-काल में किये गये सुधारों का सारांश-मात्र है और वह इसके अलावा कुछ हो भी नहीं सकता था। विद्यार्थियों की संस्थाओं का विकास तथा व्यक्तियों के जीवन की सफलताओं को समझने में सहायता देने के लिए एक विषय से सम्बन्धित सामग्री यथासम्भव एक ही स्थान पर एकत्र कर दी गयी है। पुस्तक की भाषा को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है जिससे हमारे बी. ए. के विद्यार्थी उसे सरलता से समझ सकें।

आगरा कॉलिज,
आगरा
१५ अप्रैल, १९५२

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

अध्याय १

सिन्ध पर अरब आक्रमण के समय हमारा देश

राजनीतिक अवस्था

अशोक महान् की मृत्यु (२३२ ई. पू.) के बाद शताब्दियों तक हमारे देश में राजनीतिक एकता का अभाव था। हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक समस्त देश इसके बाद कभी भी किसी एक हिन्दू राजा अथवा राजनीतिक नेता के केन्द्रीय शासन में न रहा। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस समय मुहम्मद साहब अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे और उनके उत्तराधिकारी पूर्ण वेग से निकटवर्ती राज्यों को अपने अधीन कर रहे थे, उस समय हर्ष उत्तर-पश्चिमी भारत में एक विशाल साम्राज्य की नींव डाल रहा था। परन्तु इस राज्य में सम्पूर्ण उत्तरी भारत भी शामिल न था। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिणी प्रदेश को जीत कर अपने राज्य में मिलाने की सारी कोशिशें, जो हर्ष ने कीं, बेकार हुईं। इस महान् सम्राट की ६४७ ई. में, मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य के टुकड़े हो गये और इसके बाद देश के छोटे-छोटे राजाओं में प्रभुता के लिए युद्ध आरम्भ हो गये। इस प्रदेश में ५० वर्ष से अधिक समय तक राजनीतिक अव्यवस्था फैली रही। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यशोवर्मन के उत्थान [illegible] स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। देश के बचे हुए भागों को [illegible] स्वतन्त्र राजाओं ने आपस में बाँट लिया। इन राजाओं का मुख्य ध्येय सैनिक यश प्राप्त करना और एक दूसरे पर चढ़ाई करना था।

समस्त देश में ऐसी कोई केन्द्रीय सरकार नहीं थी जो पूरे देश के हित के लिए काम करती। सभी राज्य पूर्ण स्वतन्त्र और प्रभुत्व-सम्पन्न थे, उत्तर-पूरबी और उत्तर-पश्चिमी सीमाएँ छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों के अधीन थीं और संगठित होकर अपने देश की सीमाओं की रक्षा करने का किसी को भी ध्यान न था।

भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से हमारा देश ४ भागों में विभक्त था: (१) हिमालय के पहाड़ी राज्य, (२) गंगा और सिन्धु के राज्य, (३) दक्षिणी राज्य, और (४) दक्षिणी प्रायद्वीप के राज्य। एक राज्य को दूसरे राज्य में सीमा विस्तार करने से रोकने का कोई साधन नहीं था और सीमा-विस्तार

एक साधारण-सी बात थी, क्योंकि उस समय के राजाओं में प्राचीन क्षत्रियों के दिग्विजय का आदर्श प्राप्त करने की भावना प्रबल थी। परन्तु इस समय के बाद यह आदर्श कभी भी प्राप्त न हो सका।

हिमालय के पहाड़ी राज्य

अफग़ानिस्तान

भाग्य के अनेक उतार-चढ़ाव देखने के बाद भी अफग़ानिस्तान चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से हमारे देश का ही अंग था। चन्द्रगुप्त ने उसे ३०५ ई. पू. में सेल्यूकस निकेटर से जीता था और प्रसिद्ध चीनी यात्री युवानच्यांग के भ्रमण-काल में काबुल की घाटी में एक क्षत्रिय राजा राज्य करता था जिसके वंश ने नवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य किया। तदुपरान्त इस वंश का स्थान लल्लिय द्वारा संस्थापित ब्राह्मण वंश ने ले लिया था। मुसलमान इतिहासकारों ने इस हिन्दू राज्य को काबुल और जाबुल का राज्य कहा है परन्तु इसे हिन्दूशाही राज्य भी कहा जाता था। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब सिन्ध पर अरबों का आक्रमण हुआ, इस राज्य के राजाओं के नाम और उनके राज्य की सीमाओं के पता लगाने का हमारे पास कोई साधन नही है परन्तु यह निश्चित है कि इस राज्य के निवासी हिन्दू अथवा बौद्ध दोनों ही थे और वे सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनता के ही अंग थे।

काश्मीर

काश्मीर प्रारम्भ में अशोक, कनिष्क और मिहिरकुल के साम्राज्यों का ही अंग था; हर्ष के काल में यह एक स्वतन्त्र राज्य था और ७वीं शताब्दी में यह दुर्लभवर्धन द्वारा संस्थापित कारकोटा वंश के प्रथम श्रेणी का शक्तिशाली राज्य बन गया था। दुर्लभवर्धन का पौत्र चन्द्रपीड़ सिन्ध के राजा दाहिर का समकालीन था, जो ७१२ ई. में अरबोंके आक्रमण का शिकार बना। चन्द्रपीड़ का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई मुक्तपीड़ ललितादित्य हुआ (७२५-५५ई.)। वह महत्वाकांक्षी और शक्तिशाली शासक था। उसने कन्नौज के यशोवर्मन को हराया था और मार्तण्ड नामक स्थान पर एक विशाल सूर्य-मदिर का निर्माण कराया था। इस मन्दिर को सिकन्दर ने, जो मूर्ति-भंजक के नाम से प्रसिद्ध है, नष्ट कर दिया था। परन्तु यह अब भी अपनी भग्नावस्था में एक विशाल भवन की भाँति खड़ा हुआ संसार को अपने निर्माता के कला-प्रेम तथा धार्मिक प्रवृत्ति का परिचय दे रहा है।

नेपाल

अपनी एकान्त स्थिति के कारण नेपाल के पहाड़ी राज्य का हमारे देश के इतिहास में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहा है, परन्तु प्राचीन भारत का वह

निस्सन्देह ही एक अभिन्न अंग था। अनुश्रुतियों के अनुसार यह घाटी अशोक के राज्य में सम्मिलित थी और बाद के लिच्छिवियों का भी इस पर अधिकार रहा था। भारतीय नेपोलियन समुद्रगुप्त के विस्तृत साम्राज्य का भी यह अवश्य ही एक अंग था, क्योंकि उसके शासक ने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के पश्चात (५वीं शताब्दी) नेपाल स्वतन्त्र हो गया और ७वीं शताब्दी में जब तिब्बत एक शक्तिशाली राज्य बना, तो यह उसकी अधीनता में चला गया। परन्तु नेपाल और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नेपाल ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और हमारे देश से विद्वानों तथा उपदेशकों का आदान-प्रदान बराबर ही होता रहा।

आसाम

भारत की उत्तरी-पूरबी सीमा पर आसाम का पहाड़ी प्रान्त एक स्वतन्त्र राज्य था और बहुधा बंगाल से उसके युद्ध हुआ करते थे। हर्ष के समय में आसाम में भास्करवर्मन का शासन था। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था। मालूम पड़ता है कि हर्ष ने उसे अपनी अधीनता में कर लिया था और पश्चिमी बंगाल के शासकों के विरुद्ध युद्ध में उसका प्रयोग किया था परन्तु हर्ष की मृत्यु के बाद आसाम स्वतन्त्र हो गया, और अपनी दूरस्थ स्थिति के कारण हमारे देश के उस काल के इतिहास में उसका विशेष महत्व नहीं रहा।

गंगा और सिन्धु का मैदान

कन्नौज

चालीस वर्ष से अधिक मध्य देश पर राज्य करने के पश्चात ६४७ ई. में हर्ष की मृत्यु हो गयी और उसका विशाल साम्राज्य उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में आया। उसकी मृत्यु के समय उसका साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में पूरबी पंजाब से पूरब में कामरूप तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था। उसके उत्तराधिकारी इसे कायम न रख सके, क्योंकि कन्नौज दीर्घकाल तक इसकी राजधानी रह चुकने के कारण सबके नेत्रों का ध्रुव तारा बन चुका था और उत्तरी भारत का प्रत्येक महत्वाकांक्षी राजा उसे जीतकर उस पर शासन करना चाहता था। ६७२ ई. के लगभग मालवा और मगध का शासक आदित्यसेन इस संघर्ष में विजयी हुआ और उसने अश्वमेध यज्ञ किया, परन्तु उसका उत्कर्ष क्षणिक सिद्ध हुआ और ८वीं शताब्दी के आरम्भ में हम यशोवर्मन को, जो अपने को चन्द्रवंशी कहता था, कन्नौज पर शासन करते हुए पाते हैं। वह साहसी और सफल शासक था। उसने कन्नौज को उसके प्राचीन गौरव के पद पर सुशोभित किया और उसके शासन-काल में कन्नौज का

साम्राज्य एक बार फिर पूरब में बंगाल से पश्चिम में थानेश्वर और पूरबी पंजाब तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा तक फैल गया। यशोवर्मन ने एशिया के कुछ देशों से, विशेषकर चीन से, दैत्य-सम्बन्ध स्थापित किये। वह सिन्ध के राजा दाहिर का समकालीन था और काश्मीर के ललितादित्य से युद्ध करते हुए मारा गया।

सिन्ध

सिन्ध का राज्य जो काबुल और पश्चिमी पंजाब के हिन्दूशाही राज्य के दक्षिण-पश्चिम में स्थित था, बहुत समय तक स्वाधीन बना रहा। वहाँ एक शूद्र-वंश ने लगभग १४० वर्ष तक शासन किया और युवानच्यांग के यात्रा-काल में सिन्ध में एक शूद्र राजा शासन करता था। बाद में प्रभाकरवर्धन ने उस पर आक्रमण किया और उसके पुत्र हर्ष ने उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। परन्तु हर्ष की मृत्यु के बाद वह फिर स्वतन्त्र हो गया। अन्तिम शूद्र शासक सहसी की मृत्यु पर उसके ब्राह्मण मन्त्री चच ने गद्दी पर अपना अधिकार कर एक नये वंश की नींव डाली। चच के मरने पर उसका भाई चन्द्रा और चन्द्रा के मरने पर उसका (चच का) पुत्र दाहिर सिन्ध का शासक बना परन्तु इस वंश को केवल कुछ शतक शासन करने के बाद ही मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण का सामना करना पड़ा। इस राज्यवंश को जनता की सहानुभूति प्राप्त नहीं थी क्योंकि यहाँ की अधिकांश जनता बौद्ध धर्म की अनुयायी थी जिस पर यह ब्राह्मण शासक घोर अत्याचार करते थे।

बंगाल

ईस्वी संवत् की प्रारम्भिक शताब्दियों में बंगाल दो भागों में विभक्त था जो एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भागों को गौड़ कहते थे और उसके निवासी भी इसी नाम से जाने जाते थे लेकिन पूरबी और मध्य भाग वंग कहलाते थे। यह दोनों प्रान्त गुप्त और मौर्य साम्राज्यों के अन्तर्गत रह चुके थे, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद बंगाल स्वतन्त्र हो गया था। गौड़ की गद्दी पर हर्ष का समकालीन शशांक था जिसने केवल अस्पष्ट रूप से ही कन्नौज की अधीनता स्वीकार की थी। शशांक की मृत्यु के बाद गौड़ पर आसाम के भास्करवर्मन का अधिकार हो गया जो हर्ष का मित्र था। ८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल पर क़न्नौज के राजा यशोवर्मन ने आक्रमण किया जिसके परिणामस्वरूप इस प्रान्त में वर्षों तक अव्यवस्था फैली रही परन्तु ८वीं शताब्दी के प्रथम ५० वर्षों में किसी समय यहाँ गोपाल ने पाल-वंश की नींव डाली और चूँकि वह वंग और गौड़ दोनों पर ही अपना अधिकार करने में सफल हुआ अतः उसके समय में इस प्रान्त में शान्ति और समृद्धि स्थापित हुई।

मालवा

८वीं शताब्दी में मालवा, जिसकी राजधानी उज्जैन थी, एक अन्य महत्व-पूर्ण राज्य था। वहाँ पर प्रतिहार नामक राजपूत-वंश का शासन था। प्रतिहार लोग गुर्जर-वंश की एक शाखा थे जो मारवाड़, जोधपुर, अवन्ति (उज्जैन) और भड़ौंच में रहते थे। जब सिन्ध के अरबों ने इस देश के भीतरी भाग को जीतना चाहा तो उज्जैन के प्रतिहारों ने उनका मुकाबला किया। ७२५-३५ ई. के लगभग अरबों ने जुन्नैद के नेतृत्व में प्रतिहार साम्राज्य के पश्चिमी भाग को जीत लिया परन्तु नागभट्ट (७२५-४० ई.) ने अपने खोये हुए प्रदेश को आक्रमण-कारियों से पुनः छीन लिया और उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में उज्जैन उत्तरी भारत का एक शक्तिशाली राज्य हो गया।

दक्षिण

वाकाटक

चौथी शताब्दी में दक्षिण भारत में दो शक्तिशाली राज्य थे—एक ऊपरी भाग में, और दूसरा निचले भाग में। दूसरे की राजधानी काञ्ची अथवा आधु-निक कांजीवरम थी। पहले भाग में वाकाटक और दूसरे में पल्लव-वंश का शासन था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह रुद्रसेन द्वितीय के साथ करके वाकाटक-वंश से सम्बन्ध स्थापित किया था और रुद्रसेन के वंशज बहुत पीढ़ियों तक दक्षिण में शासन करते रहे।

पल्लव वंश

काञ्ची का पल्लव राज्य वाकाटक राज्य के दक्षिण में स्थित था। चौथी शताब्दी के मध्य में समुद्रगुप्त ने वहाँ के शासक विष्णुगोप को बन्दी बना लिया था, किन्तु बाद में मुक्त कर दिया था। इस वंश में अनेक योग्य शासक हुए। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिंहविष्णु हुआ जिसने चोल देश को अपने राज्य में मिला लिया तथा दक्षिण भारत के अपने सभी पड़ोसियों को पराजित किया, जिनमें लंका का राजा भी सम्मिलित था। परन्तु कुछ समय पश्चात वातापी के चालुक्यों और पल्लवों में भयंकर प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गयी जिसके परिणामस्वरूप ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब सिन्ध में अरब लोग अपनी विजयें कर रहे थे, वातापी के राजा विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लवों को परा-जित किया और उनकी राजधानी काञ्ची पर अधिकार कर लिया। फिर भी पल्लव-वंश किसी प्रकार ९वीं सदी तक गिरता-पड़ता चलता रहा और उस शताब्दी के अन्त में उसका नाश हो गया।

सुदूर दक्षिण

अत्यन्त प्राचीन काल से ही सुदूर दक्षिण में पांड्य, चोल और चेर (केरल)

तीन राज्य थे। पांड्य राज्य में आधुनिक मदुरा और तिनावली के जिले तथा त्रिचनापल्ली तथा त्रावनकोर राज्यों के कुछ भाग; चोल राज्य में आधुनिक मैसूर राज्य का अधिकांश भाग, मद्रास जिला और उसके पूरबी जिले; तथा चेर अथवा केरल राज्य में कोचीन और त्रावनकोर राज्यों का अधिकांश भाग तथा मलाबार के जिले सम्मिलित थे। इन सब को पल्लवों ने जीतकर समस्त दक्षिणी प्रायद्वीप पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व जमा रखा था।

शासन-व्यवस्था

राजत्व

७वीं और ८वीं शताब्दियों में हमारे पूर्वजों को एक ही प्रकार की शासन-व्यवस्था का ज्ञान था और वह थी राजतन्त्र। बौद्धकालीन प्राचीन गणतंत्रों का पूर्णतया लोप हो चुका था। साधारणतया राजत्व वंशानुगत था। राजा अपने उत्तराधिकारी को निर्दिष्ट कर देता था और बहुधा वह उसका सबसे बड़ा पुत्र होता था। परन्तु चुनावों से लोग नितान्त अपरिचित नहीं थे। बंगाल के पाल-वंश का संस्थापक गोपाल ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपने प्रान्त की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों द्वारा चुना गया था और इसी समय दक्षिण भारत में काञ्ची का पल्लव-वंश का राजा नन्दीवर्मन पल्लवमल भी इसी प्रकार चुना गया था। आपत्ति-काल में राज्य का चुनाव एक प्रवर समिति को सौंप दिया जाता था जिसमें राज्य के प्रमुख सामन्त या ब्राह्मण अथवा दोनों ही रहा करते थे। इस प्रकार की प्रमुखों की समितियों द्वारा भी चुने गये अनेक राजाओं का उल्लेख आता है जिनमें मुख्य कन्नौज और थानेश्वर का हर्षवर्द्धन था जिसे अपने भाई राज्यवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात रिक्त सिंहासन की पूर्ति के लिए चुना गया था। स्त्रियों को भी सिंहासन पर बैठने का अधिकार था और काश्मीर, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत के कुछ भागों में स्त्रियों ने भी समय-समय पर राज्य किया था।

राजा के अधिकार

इस काल के शासक निरंकुश थे। जनसाधारण का विश्वास था कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, अतः अन्य लोगों से शक्ति और बुद्धि में बड़ा है फिर भी दैवी अधिकार के सिद्धान्त के आलोचक उस समय भी थे। राजा के अधिकारों पर दो प्रकार के नियन्त्रण थे—एक तो सुसंस्थापित नियम तथा प्राचीन परम्पराएँ और दूसरा जनता के विद्रोह का भय। वह कार्यपालिका का प्रमुख, सेना का सेनापति और न्याय का स्रोत समझा जाता था। परन्तु इन विस्तृत अधिकारों और कर्तव्यों के उसके हाथ में केन्द्रित होने पर भी वह अत्याचारी नहीं होता था, क्योंकि उस पर परम्परागत "राजधर्म" का नियन्त्रण

रहता था, जिसका अर्थ है कि राजा प्रजा का पिता है, अतः उसे प्रजा की आर्थिक, दैहिक और नैतिक भलाई के लिए कार्य करने चाहिए।

मन्त्री और उनके कर्तव्य

प्रत्येक राजा के कुछ मन्त्री हुआ करते थे। इन्हें वह स्वयं नियुक्त करता था और वे उसके सेवक समझे जाते थे। इनकी संख्या निर्धारित न थी, अतः सदैव एक-सी नहीं रहती थी। परन्तु चूँकि मनु ने ७ से ८ तक मन्त्री रखना उचित बताया है अतः इस नियम का साधारणतया पालन किया जाता होगा। मन्त्री दो प्रकार के हुआ करते थे। पहले गोपनीय सलाहकार जो राजा को विशेष बातों पर परामर्श देते थे और मन्त्री कहलाते थे। दूसरे सचिव कहलाते थे और उनमें युद्ध तथा शान्ति-मन्त्री (सन्धि-विग्रहिक), लेखा-मन्त्री (अक्ष-पटलाधिकृत), सेना-सचिव (महाबलाधिकृत और महादण्डनायक), अर्थ-मन्त्री (अमात्य) और विदेश मन्त्री (सुमन्त) आदि होते थे। इनके अतिरिक्त राजगुरु अथवा राजपुरोहित भी हुआ करते थे, जिनके अधिकार भी मन्त्रियों के ही समान होते थे और धर्म का विभाग इनके अधीन रहता था। सैनिकों के असैनिक पद-ग्रहण करने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था। कुछ मन्त्रि-पद पैतृक हो गये थे परन्तु सभी नीति-सूत्र राजा के हाथों में केन्द्रित होने के कारण मन्त्री का महत्व उसकी योग्यता, चरित्र की दृढ़ता, स्वामिभक्ति तथा राज-विश्वास पर ही निर्भर रहता था, उन विषयों में जिनका सम्बन्ध नीति-परिवर्तन से नहीं था और जो दैनिक राजकाज से सम्बन्धित होते थे। मन्त्रियों को अपने-अपने विभागों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रही होगी।

स्थानीय शासन

शासन की सुविधा को राज्य प्रान्तों में विभक्त हुआ करते थे, जिनके भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न नाम होते थे, जैसे उत्तर में **भुक्ति** और दक्षिण में **मण्डल**। इन्हें कभी-कभी देश अथवा राष्ट्र भी कहते थे। प्रत्येक प्रान्त का एक शासक होता था जो **उपरिक** कहलाता था। प्रत्येक प्रान्त विशों (जिलों) में बँटा होता था जिनका प्रबन्ध विशपति (जिला-अधिकारी) करते थे। उपरिक और विशपति दोनों की नियुक्ति राजा ही करता था परन्तु ये लोग अधिकतर राजवंश और बड़े घरानों के हुआ करते थे। शासन में जिला-अधिकारियों की संघपति, मुख्य लेखक (कायस्थ) और जिलों के प्रमुख लोग सहायता करते थे। कुछ भागों में, विशेषकर दक्षिण भारत में, जिले ग्राम-संघों में बँटे हुए थे। हर संघ का एक मुखिया तथा शासन-प्रबन्ध के लिए एक समिति हुआ करती थी। परन्तु हर जगह गाँव ही शासन की सबसे छोटी इकाई थी। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया और पंचायत होती थी जिसमें गाँव

के प्रमुख लोग सम्मिलित हुआ करते थे और गाँव की देखभाल, तालाब, मन्दिर, शिक्षा आदि के लिए समितियाँ होती थीं। मुखिया के अतिरिक्त गाँव में एक **अधिकारिण** अथवा **अधिकारी** भी होता था जिसका मुख्य काम पंचायत के कामों का निरीक्षण करना था। नगरों का शासन नगरपति के हाथ में रहता था और कहीं-कहीं उसकी सहायता के लिए एक जन-प्रिय समिति भी होती थी।

राजस्व

राजस्व पर बहुत ध्यान दिया जाता था। प्रमुख राजनीतिज्ञ और विचारक कौटिल्य के समय से ही यह शासन के दो मुख्य विभागों में से एक था और दूसरा सेना थी। आय के मुख्य साधन चार थे : (१) भूमि-कर—यह राजकीय भूमि से लिया जाता था जिस पर केन्द्रीय सरकार का सीधा शासन होता था, (२) अधीनस्थ राजाओं से कर, (३) भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य कर जैसे आबकारी, सिंचाई-कर तथा चुंगी, जो नदी के घाटों, सड़कों और राज्य की सीमाओं पर वसूल की जाती थी, तथा (४) खानों की उपज पर कर। भूमि की उपज का $\frac{1}{6}$ राज्य-कर के रूप में वसूल किया जाता था, जिसे **भाग** कहते थे। दूसरे कर किस दर से लिये जाते थे, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः आय-कर की कोई व्यवस्था नहीं थी परन्तु आपत्ति-काल में दो-एक नये कर लगा दिये जाते थे। शासन, सेना तथा राज-परिवार ही खर्च के मुख्य विषय थे। आय-व्यय का लेखा अवश्य रखा जाता होगा, चाहे वह आज की भाँति वैज्ञानिक भले ही न रहा हो। आर्थिक दशा भी अवश्य ही दृढ़ रही होगी क्योंकि देश समृद्धशाली था; लोग सुखी थे और उन्हें किसी प्रकार की कमी न थी। बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी और इस काल के अधिकांश शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। परन्तु वे अन्य धर्मों के प्रति बहुत सहिष्णु थे और हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों को समान रूप से आश्रय देते थे। लोगों में न कोई धार्मिक विद्वेष ही था और न उन पर धार्मिक अत्याचार होते थे। जनसाधारण और उच्च वर्ग के लोग आध्यात्मिक आदर्शों से प्रभावित होते थे।

समाज और संस्कृति

हमें उस काल के लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का स्पष्ट चित्र उस समय के अभिलेखों तथा चीनी, अरब आदि विदेशी यात्रियों के लेखों से मिलता है। जाति-प्रथा धीरे-धीरे जटिल होती जाती थी, फिर भी विदेशी हिन्दू हो सकते थे और हमारे समाज में घुल-मिलकर वर्ण-व्यवस्था में स्थान प्राप्त कर सकते थे। जातियों को अपने कर्तव्य-क्षेत्रों में बाँधने के जो प्रयत्न किये गये, उनका कोई स्थायी फल नहीं हुआ। इस काल में कुछ ब्राह्मण सैनिक हो गये, कुछ क्षत्रिय व्यापारियों की तरह रहने लगे और कुछ वैश्य और शूद्र

शक्तिशाली शासक भी थे। यद्यपि लोग अपनी जाति में ही विवाह करते थे, परन्तु अन्तरजातीय विवाह भी प्रचलित थे।

मध्य भारत में अधिकतर लोग शाकाहारी थे। वे न किसी जीव-जन्तु की हत्या करते थे और न शराब पीते थे। वे प्याज और लहसुन भी नहीं खाते थे। इस प्रान्त के निवासी उत्तर-पश्चिमी भारत के लोगों को पूर्णतया शुद्ध नहीं समझते थे। लोग छुआछूत को नहीं मानते थे और चाण्डाल लोग जब कभी बाजार में अथवा उच्च वर्गों के लोगों के बीच में जाते थे तो वे लकड़ी बजाकर अपने आने की सूचना देते थे। स्त्रियाँ बहुत कम पर्दा करती थीं। उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ शासन और सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लेती थीं। ऊँचे घराने की लड़कियों को उच्च शिक्षा भी दी जाती थी। स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। उच्च श्रेणी के लोगों में बहुपत्नीत्व का रिवाज था परन्तु स्त्रियों को पुनर्विवाह की भी आज्ञा न थी। शासक-परिवारों में सती की प्रथा बहुत लोकप्रिय होती जा रही थी।

देश में, विशेषकर मध्य देश में, आबादी घनी थी। लोग समृद्धशाली और सुखी थे। उनकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। धन कुछ ही लोगों के बीच संग्रहीत होता जा रहा था, जो वास्तव में बहुत ही अमीर थे। धनी लोगों द्वारा सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित करना और निर्धनों के कष्टों को दूर करना एक प्रकार का धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। वे लोग सड़कें, धर्मशालाएँ और अन्य सर्वोपयोगी इमारतें बनवाते थे। जनसाधारण के उपयोग के लिए बगीचे लगाने और कुएँ आदि खुदवाने का भी रिवाज था। उस समय दानशालाएँ थीं जहाँ व्यक्तियों को भोजन और निवास-स्थान मुफ्त मिलता था। रोगियों की चिकित्सा के लिए खैराती अस्पताल थे। लोग अपनी न्याय-प्रियता और दयालुता के लिए प्रसिद्ध थे।

सारे देश में पाठशालाएँ और विद्यालय थे। लोग सुशिक्षित थे। नालन्दा और वल्लभी के विश्वविद्यालय देश की प्रमुख शिक्षा-संस्थाएँ थीं। इनके अतिरिक्त काशी में, बिहार में (उदन्दपुर तथा विक्रमशिला), और उत्तर व दक्षिण भारत के धार्मिक स्थानों में भी शिक्षा-संस्थाएँ थीं। मालवा में धार नामक स्थान में संस्कृत का बहुत बड़ा विद्यालय था। ऐसा ही एक दूसरा विद्यालय अजमेर में भी था। ज्योतिष तथा अन्य विज्ञानों के लिए भी विद्यालय थे। वेद तथा अन्य धार्मिक साहित्य, पुराण और धर्म-शास्त्रों के अतिरिक्त विज्ञान, ज्योतिष और चिकित्सा शास्त्र आदि विषयों की भी शिक्षा इन संस्थाओं में दी जाती थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अरब आक्रमण के समय देश के लोगों की आर्थिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दशा वास्तव में अच्छी थी। राज्यों

की शासन-व्यवस्था सुयोग्य थी और लोगों के हितों का ध्यान रखा जाता था। परन्तु राजनीतिक एकता और देश-प्रेम का अभाव वास्तव में उस समय के भारतीय जीवन की मुख्य दुर्बलता थी।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. Ray, H. C. : Dynastic History of Northern India.
2. Tripathi, R. S. : History of Kanauj.
3. Rai-Chaudhry : Political History of Ancient India.
4. Bhandarkar, R. C. : Early History of the Deccan.
5. Majumdar, R. C. : History of Bengal, Vol. I.
6. Dubruil, J. : Ancient History of the Deccan.
7. Majumdar, Rai-Chaudhry & Dutta : Advanced History of India.

अध्याय २

सिन्ध तथा मुल्तान पर अरबों की विजय

[७११—७१३ ई.]

अरब-विजय के समय सिन्ध की दशा

वर्तमान सिन्ध प्रान्त की अपेक्षा आठवीं शताब्दी के हिन्दू सिन्ध राज्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। यह उत्तर में काश्मीर तक, पूरब में कन्नौज तक तथा दक्षिण में समुद्र तक फैला हुआ था। इसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा में वर्तमान बलोचिस्तान का बहुत बड़ा भाग तथा मकरान का समुद्री तट भी सम्मिलित था। इसकी राजधानी अलोर (वर्तमान रोहरी) थी। सारा राज्य चार प्रान्तों में बँटा हुआ था और प्रत्येक प्रान्त एक अर्द्ध-स्वतन्त्र गवर्नर के अधिकार में था। स्वयं राजा के अधिकार में केवल राज्य का केन्द्रीय भाग ही था और प्रान्तों का वास्तविक अधिकार गवर्नरों के हाथ में था। ये गवर्नर सामन्त राजा कहलाते थे। राजा शूद्र जाति का था और बौद्ध मत का अनुयायी था।[1] सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फारस के राजा निमरोज़ ने सिन्ध पर हमला किया और वहाँ का शासक शेरियाज़ युद्ध में मारा गया। शेरियाज़ के बाद उसका पुत्र साहसी राय द्वितीय गद्दी पर बैठा किन्तु उसका ब्राह्मण मन्त्री चच उसकी हत्या कर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। इस अनाधिकारी राजा ने साहसी राय द्वितीय की विधवा पत्नी के साथ विवाह किया और गवर्नरों के विद्रोह को शान्त किया, जिन्होंने इसे शासक मानना अस्वीकार कर दिया था। इसने मकरान (वर्तमान बलोचिस्तान) के एक भाग को जीत कर उस प्रदेश के कन्दाबिल पर भी अपना अधिकार जमा लिया। चच के बाद उसका भाई चन्द्र गद्दी पर बैठा किन्तु इसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी। अब उसके पुत्र दुराज तथा चच के ज्येष्ठ पुत्र दाहिर के बीच गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। दुराज हरा कर देश से निकाल दिया गया और चच के दोनों पुत्र दाहिर और दाहरसियाह ने जो साहसी राय द्वितीय की विधवा पत्नी से उत्पन्न हुए

---

[1] थॉमस वाटर्स कृत "युवानच्यांग की भारत-यात्रा," जिल्द दो, पृ० २५२; इलियट एवं डाउसन, जिल्द एक, पृ० ४१०-११।

थे राज्य को आपस में बाँट लिया। दाहरसियाह की मृत्यु के बाद सिन्ध का सम्पूर्ण राज्य दाहिर के अधिकार में आ गया परन्तु अरब-विजय के समय इस राजनीतिक उथल-पुथल तथा गृह-कलह के कारण देश की दशा बहुत बिगड़ गयी थी। सिन्ध की जनसंख्या बहुत कम थी और उसमें भेद-भाव अत्यधिक था। निम्न श्रेणी की जनता के साथ शासकों का व्यवहार अत्याचारपूर्ण था, अतः सिन्ध में सामाजिक एकता का अभाव था। इसके आर्थिक साधन निर्बल थे और आय भी कम थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि दाहिर स्वयं अप्रिय था क्योंकि उसका पिता राज्य का वास्तविक अधिकारी नहीं था और इस दाहिर को ही उस समय के सबसे बड़े और सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य के प्रबल आक्रमण का सामना करना पड़ा।

कारण

भारत और अरब के बीच चिरकाल से व्यापारिक सम्बन्ध चले आ रहे थे और सातवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म के अपनाने से पूर्व भी अरब वाले व्यापार तथा वाणिज्य के कारण हमारे पश्चिमी समुद्र-तट के प्रदेशों में आया-जाया करते थे जहाँ उनका हार्दिक स्वागत होता था। हमारे राजा तथा प्रजा भौतिक समृद्धि की वृद्धि के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, अतः ये लोग इन विदेशियों के साथ उदारता का व्यवहार करते थे। अरबों द्वारा मुसलमान धर्म के अपनाने पर भी इनके साथ हमारे व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया था, किन्तु धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के कारण अरबों के हमारे साथ के व्यवहार में अवश्य परिवर्तन आ गया था। इतना ही नहीं, मुहम्मद साहब की शिक्षाओं के कारण अरबों के हृदय में एक नया धार्मिक उत्साह भी भर गया था। यद्यपि अरबों का व्यापारिक दल हमारे देश से पहले की भाँति ही व्यापारिक लाभ उठाता रहा था, किन्तु सर्वसाधारण अरब के हृदय में विजय एवं इस्लाम के प्रचार की उमंगें उठने लगी थीं। उनका पहला आक्रमण बम्बई के निकट थाना के जीतने के लिए खलीफा उमर के समय में ६३६ ई. (१५ हिजरी) में हुआ था[२] किन्तु वह खदेड़ दिये गये थे। इसके बाद बरोच,[3] सिन्ध की देबल खाड़ी तथा बलोचिस्तान (मकरान) पर लगातार हमले होते रहे क्योंकि यह उस समय सिन्ध का ही एक अंग थे।[४] अनेक कठिनाइयों तथा पराजयों पर भी अरबों ने जल तथा थल से सिन्ध की

---

२ बिलादुरी, के. एफ. बी., भाग दो, पृ० २०९।

3 वही।

४ वही, पृ० २१०।

सीमाओं पर हमले जारी रखे। उन्होंने बोलन दर्रे के चारों ओर बसे हुए किकान या किकनान नामक पहाड़ी प्रदेश को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया, जहाँ वीर जाट रहते थे और पशु-पालन कर जीवन बिताते थे। उन लोगों ने आक्रान्ता अरबों का वीरता से मुकाबला कर देश की रक्षा की। ६५९ ई. (३९ हिजरी) में अल-हेरिस को कुछ प्रारम्भिक सफलता मिली किन्तु ६६२ ई.[५] में यह हार गया और मार डाला गया। इसके बाद ६६४ ई.[६] में अल-मुहल्लब ने एक आक्रमण किया किन्तु यह भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। इसके बाद अब्दुल्ला ने आक्रमण किया जो हार गया और मार डाला गया। सिनान बिन सलामह को मकरान में क्षणिक विजय अवश्य प्राप्त हुई किन्तु रशीद बिन अमीर को उसी प्रदेश के एक आक्रमण में अपने प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा।[७] अल-मुधीर नामक एक दूसरे अरब साहसी का भी यही हाल हुआ। परन्तु इन लगातार पराजयों की कुछ भी चिन्ता न कर अरब वाले निरन्तर धावे करते रहे। उन्होंने ८वीं शताब्दी के प्रथम दशक में इब्न-अल-हरीअल विहिट्टी के सेनापतित्व में एक भयानक हमला किया और मकरान उनके हाथ में आ गया। आधुनिक बलोचिस्तान को उस समय मकरान कहा जाता था, जो सिन्ध का एक बड़ा भाग था। अब खास सिन्ध की विजय का द्वार खुल गया और अल-हज्जाज नामक इराक के अरब गवर्नर को अपनी उन्नत नीति के प्रति खलीफा का समर्थन प्राप्त हो गया। उसने सेना का सुदृढ़ संगठन कर दाहिर पर लगातार दो हमले किये किन्तु दोनों बार उनके सेनापति उबैदुल्ला तथा बुदैल पराजित हुए और मौत के घाट उतार दिये गये।[८] हज्जाज इन लगातार की पराजयों से बहुत दुःखी हुआ और उसने अपने चचेरे भाई व दामाद इमादउद्दीन मुहम्मद बिन कासिम को एक विशाल एवं शक्तिशाली सेना के साथ सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मुहम्मद बिन कासिम १७ साल का साहसी एवं महत्वाकांक्षी युवक था। शीराज़ से रवाना होकर वह मकरान पहुँचा जो उस समय अरबों के अधिकार में था और वहाँ से पंज-गुर, आर्मबिल तथा कौबती होता हुआ कराँची के पास देबल में आया।[९] उसका प्रयत्न सफल हुआ और ७१२-१३ ई. में अरबों को सिन्ध पर विजय प्राप्त हो गयी। सिन्ध ७५ वर्ष से भी अधिक मध्य-युग के सर्व-शक्तिशाली

---

५ बिलादुरी, के. एफ. बी., भाग दो, पृ० २१०।

६ वही।

७ वही, पृ० २११-१२।

८ वही, पृ० २१६।

९ वही।

साम्राज्य का बड़ी बहादुरी से मुकाबला करता रहा किन्तु अन्त में उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा।

कुछ आधुनिक विद्वानों विशेषकर वूल्ज़ले हेग का, ऐसा मत प्रतीत होता है कि अरबों तथा सिन्ध के संघर्ष का मुख्य कारण यह था कि सिन्ध के राजा ने अरबों के उन जहाजों की क्षति-पूर्ति नहीं की थी जिन्हें सिन्ध के समुद्री तट से दूर कुछ समुद्री डाकुओं ने लूट लिया था और इस लूट का बदला लेने के लिए ही अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु समकालीन स्रोतों से प्राप्त उपर्युक्त ब्यौरों से इस तथ्य का स्पष्ट पता लग जाता है कि शक्ति के प्राप्त करते ही अरबों की आँखें हमारे समृद्ध बन्दरगाहों पर लग गयी थीं और ७१२ ई. में अन्तिम सफलता पाने के पूर्व भी उन्होंने सिन्ध तथा काबुल और जाबुल पर तलवार के बल से अधिकार करने के लिए अनेक असफल प्रयत्न किये थे।

भारत के जीतने का लक्ष्य और सिन्ध की सफल विजय तो वास्तव में उनके उस विस्तृत आक्रमण की योजना का केवल एक अंग था जो उन्होंने अपने पैगम्बर की मृत्यु के सौ वर्ष के भीतर ही अपने राज्य के विस्तार के लिए बनायी थी। उन्होंने सीरिया, मैसोपोटामिया, आर्मीनिया, ईरान, बलोचिस्तान, ट्रांस-ऑक्सियाना, अफ्रीका का सम्पूर्ण उत्तरी समुद्र-तट, उत्तरी तथा पूरबी मिस्र, स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस का दक्षिणी भाग तथा अपनी जन्म-भूमि अरब को अधीन कर अपने राज्य में मिला लिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरबों के हृदय में राजनीतिक एवं क्षेत्रीय विस्तार की उत्कट अभिलाषा थी। सिन्ध पर भी वास्तव में उन्होंने इसी उद्देश्य से आक्रमण किया था, समुद्री डाकुओं की लूट तो केवल बहाना मात्र था। उनके आक्रमण का एक बड़ा उद्देश्य आर्थिक भी था क्योंकि वे लूटपाट के सरल साधनों से धन प्राप्त कर अपनी आर्थिक दशा सुदृढ़ बनाना चाहते थे। किन्तु उनकी प्रेरणा का मुख्य आधार धार्मिक जोश था जिससे वे अनुभव करने लगे थे कि ईश्वर ने उन्हें संसार में इस्लाम का प्रचार करने और काफिरों का विनाश करने के लिए भेजा है। लगभग सभी आधुनिक लेखकों ने या तो इस धार्मिक तथ्य की उपेक्षा कर दी है अथवा इसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया है। वास्तव में ध्रुव और नग्न सत्य तो यह है कि अरबों ने अपने विजित देशों में केवल अपने धर्म और संस्कृति का ही प्रचार नहीं किया अपितु प्रायः वहाँ के सभी देश-वासियों के धर्म और परम्पराओं को समूल नष्ट कर दिया। इस भाँति सिन्ध पर अरबों के आक्रमण के अनेक उद्देश्य थे किन्तु धर्म का प्रचार उनका मूल उद्देश्य था।

अरबों को सिन्ध पर आक्रमण करने का एक अवसर मिल गया था अथवा

यों कहना चाहिए कि उन्होंने यह बहाना ढूँढ़ लिया था कि थाना के निकट देबल के समुद्र-तट से दूर सिन्धी समुद्री डाकुओं ने अरबों के कुछ जहाजों को लूट लिया था। इस घटना का विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन किया है, किन्तु ये सभी रूप मनगढ़न्त प्रतीत होते हैं। एक लेखक का कहना है कि लंका के राजा ने इराक के अरब गवर्नर हज्जाज के पास अरब साम्राज्य के उन अरब व्यापारियों की अनाथ कन्याओं को भेजा था जिनकी मृत्यु उसके देश में हो गयी थी और जब ये जहाज सामान के साथ सिन्ध के समुद्र-तट पर पहुँचे तो सिन्धी समुद्री डाकुओं ने उन्हें लूट लिया। दूसरे लेखक का मत है कि लंका के राजा ने इस्लाम धर्म अपनाने पर (जो ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य है) खलीफा के लिए बहुमूल्य उपहार भेजे थे, उन्हें डाकुओं ने लूट लिया था। तीसरा मत है कि खलीफा ने कुछ दासियाँ तथा अन्य वस्तुओं के खरीदने के लिए अपने एजेण्ट भेजे थे किन्तु देबल के निकट ये लूट लिये गये। इन लोगों का कहना है कि हज्जाज इस लूटपाट से बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने अपराधियों को दण्ड देने तथा हानि की पूर्ति करने के लिए सिन्ध के राजा दाहिर को लिखा, परन्तु दाहिर ने उत्तर भेजा कि लुटेरे मेरी प्रजा नहीं हैं, अतः मैं उन्हें दण्ड देने में असमर्थ हूँ। हज्जाज इस उत्तर से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने दाहिर पर आक्रमण करने के लिए खलीफा वाहिद की आज्ञा प्राप्त कर ली। उबैदुल्ला के सेनापतित्व में एक सुदृढ़ सेना भेजी गयी किन्तु दाहिर ने उसे हरा कर मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद बुदैल के सेनापतित्व में आक्रमण किया गया, किन्तु इस बार भी सेना हरा दी गयी और सेनापति मार डाला गया। उसके बाद १७ वर्षीय मुहम्मद बिन कासिम नामक युवक को जो महत्वाकांक्षी और साहसी था, सिन्ध के राजा को दण्ड देने के लिए भेजा गया।

आक्रमणकारी सेना की शक्ति

मुहम्मद बिन कासिम ने पन्द्रह हजार सेना लेकर प्रस्थान किया। उसमें ६,००० सीरियन अश्वारोही थे जो खलीफा की सेना के सर्वोत्तम अंग माने जाते थे, ६०० ऊँटों की सेना थी तथा ३,००० सामान ढोने वाले बाख्त्री ऊँट थे। चूँकि उन्हें भी युद्ध की शिक्षा दी गयी थी इसलिए उन्हें भी सेना का ही अंग समझना चाहिए। मकरान के पास मुहम्मद हारूँ के नेतृत्व में कुछ और सेनाएँ आकर उससे मिल गयीं। उसका तोपखाना जिसमें पाँच पत्थर फेंकने वाली मशीनें थी, समुद्री मार्ग से भेजा गया था। वह देबल के पास आकर उसमें मिल गया। प्रत्येक मशीन (बलिश्ता) को चलाने के लिए ५०० आदमी जुटाये जाते थे। इस प्रकार उसके तोपखाने की संख्या २,५०० हुई। इसमें अरबों के

अग्रगामी दल को जोड़ देने पर जो अबुल अस्वदजहाँ के नेतृत्व में सिन्ध की सीमाओं पर मुहम्मद बिन कासिम की सेना में सम्मिलित होने के लिए भेजा गया था, अरबों की आक्रमणकारी सेना की संख्या २५,००० हो जाती है। प्रारम्भिक सफलताओं के फलस्वरूप इस सेना की संख्या बढ़ती गयी और ५०,००० तक पहुँच गयी। यह संख्या (५०,०००) उस समय थी जब मुहम्मद बिन कासिम सिन्ध को विजय करने के बाद मुल्तान की ओर बढ़ा। इसमें वे सैनिक सम्मिलित नहीं थे जो विभिन्न युद्धों में मारे जा चुके थे अथवा सिन्ध के नगरों पर अधिकार रखने के लिए छोड़ दिये गये थे।

दूसरी ओर दाहिर के साधन और उसके देश की कुल जनसंख्या भी इतनी न थी कि वह शत्रु के समान बड़ी सेना भरती कर सकता। सभी अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध है कि मुहम्मद की अरब सेना की तुलना में संख्या तथा साज-सज्जा की दृष्टि से दाहिर की फौज बहुत घटिया थी।

देबल की विजय

सिन्ध का गुप्तचर विभाग या तो नितान्त अयोग्य था अथवा दाहिर अत्यधिक प्रमादी शासक था जिससे उसने सिर पर मँडराने वाले संकट का अनुभव नहीं किया। वह अपनी राजधानी अरोर में, जो देबल से १५० मील दूर थी, निष्क्रिय पड़ा रहा और दक्षिणी सिन्ध के एक बड़े भाग पर उसने आक्रमणकारी को अधिकार कर लेने दिया। उसने आक्रमणकारी सेना की प्रगति को रोकने का वास्तविक प्रयत्न नहीं किया और न देबल की रक्षा के लिए ही कुमुक भेजी। देबल में उस समय २५,००० अरब सेना के मुकाबले में केवल ४,००० सैनिक थे। मुहम्मद ने नगर को, जिसकी रक्षा एक पत्थर की सुदृढ़ दीवार करती थी, घेर लिया और उसके बलिश्तों ने समुद्र की ओर से पत्थर बरसाना आरम्भ कर दिया। हमारे सैनिक अत्यन्त वीरता से लड़े किन्तु शत्रु की संख्या उनसे कहीं अधिक थी। इसी समय प्रमुख मन्दिर के एक ब्राह्मण ने भी देश-द्रोह किया; वह अरबों से जा मिला और उन्हें सूचना दी कि जब तक वह लाल झण्डा जिसके नीचे ताबीज बँधा है, मन्दिर के शिखर पर फहराता रहेगा, तब तक नगर को नहीं जीता जा सकता। मुहम्मद के बलिश्तों ने झण्डे पर पत्थर बरसाना शुरू कर दिया और कुछ प्रारम्भिक कठिनाई के बाद ही झण्डा गिर पड़ा। इस घटना से अरबों के उत्साह का पार न रहा और नगर की रक्षा करने वाले सैनिक उससे अवश्य ही हतोत्साह हुए होंगे। फिर भी उन्होंने भयंकर धावा किया किन्तु पीछे खदेड़ दिये गये। अरबों को अपनी संख्या की अधिकता पर भरोसा था इसलिए वे सीढ़ियाँ लगाकर दीवारों पर चढ़ गये और देबल पर अधिकार कर लिया। नगर निवासियों से इस्लाम और मृत्यु में से

INDIA IN 713 A.D.
The Arab Conquest.
Bukhara
Samarqand
TRANS-OXIANA
Balkh
Qunduz
Ghur
KABUL-ZABUL
Kabul
Purushpur
Kandahar
PERSIA
CHINA
KASHMIR
Srinagar
TIBET
Nandanah
Sialkot
Lahore
Kangara
Jalandar
Dipalpur
Multan
Sarhind
Samana
Sunam
Thaneshwar
Hisar
Hansi
Delhi
Uch
Kalat
BALUCHISTAN
MAKRAN
Larkhana
Rajar
SINDH
Brahmanabad
Sehwan
Haiderabad
Mansura
Rabri
Nirun
Amarkot
Thatta
Debal
Bikaner
PRATIHARAS
Jodhpur
Ajmer
Bayana
Mathura
Agra
Ranthambhor
Jalor
Abu
Chittor
Anhilwara
MALWA
Ujjain
Dhar
Mandu
Gwalior
KANAUJ
Kanauj
Amarcha
R. Brahmaputra
NEPAL
Ayodhya
AWADH
Kashi
Prayag
Mahoba
Kalinjar
Khajuraho
Bhilsa
Garha Mandal
Patliputra
Gaya
GAUR
Gaur
KAMARUPA
VANGA
Sonargaon
Nadia
Satgaon
Chatgaon
BURMA
Somanath
Diu
Broach
Daman
Illichpur
VAKATAKAS
Deogiri
Jajnagar
KALINGA
ARABIAN
SEA
Bombay
Thana
Janjira
Kalyani
Warangal
Rajamundry
BAY
OF
BANGAL
Dabhol
Raichur
Sandabur
PALLAVAS
CHOLAS
Kanchi
Kampil
ANDAMAN Is.
Dwarasamudra
Calicut
PANDYAS
Tanjore
KERALAS
Madura
CEYLON
Colombo
Boundary of the Arab Empire.
0 50 100 150 200 250 300
Miles
Copyright DHARMA BHANU.

किसी एक को चुन लेने के लिए कहा गया। उन्होंने मृत्यु का वरण किया, अतः तीन दिन तक भयंकर हत्याकाण्ड चलता रहा। १७ वर्ष तथा उससे अधिक अवस्था के सभी पुरुषों का वध कर दिया गया और उनके बच्चों तथा स्त्रियों को दास बना लिया गया। मन्दिर नष्ट किये गये और उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कर दी गयीं। विजेताओं को विभिन्न प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ लूट में मिलीं, जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित थे। लूट के सामान का $\frac{1}{5}$ भाग नियमानुसार हज्जाज के द्वारा खलीफा के पास भेज दिया गया। इस प्रकार पहला भारतीय नगर अरबों के हाथों में आया। किन्तु इस पतन का कारण भारतीय सैनिकों की कायरता नहीं, बल्कि एक भारतीय नरेश का प्रमाद और शत्रु-सेना की अधिकता थी।

मुहम्मद ने देबल के लिए एक शासक नियुक्त किया और उसकी सहायता के लिए ४,००० सैनिक छोड़कर वह निरून की ओर बढ़ा। निरून देबल से ७५ मील की दूरी पर उत्तर-पूरब में एक महत्वपूर्ण नगर था और आधुनिक हैदराबाद के ठीक दक्षिण में जाकर के निकट स्थित था। सात दिन की यात्रा के बाद मुहम्मद वहाँ जा पहुँचा और बिना युद्ध के ही उसका उस नगर पर अधिकार हो गया (७१२ ई. के प्रारम्भिक दिनों में)। इस बार भी दाहिर ने अकर्मण्यता का परिचय दिया और नगर-निवासियों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया। विजय से उल्लसित अरब सेना सेहवान की ओर वेग से बढ़ी और एक सप्ताह के घेरे के बाद उस पर भी उसका अधिकार हो गया। सेहवान का शासक दाहिर का चचेरा भाई बाभ्रा था। उसने बिना युद्ध किये ही नगर छोड़ दिया, क्योंकि वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों ने जो व्यापारी और पुरोहित थे, उसका साथ नहीं दिया। इसके बाद कुम्भ पर स्थित सीसम की बारी आयी। जाटों ने जिनकी संख्या अरबों के मुकाबले में बहुत कम थी, दो दिन तक युद्ध किया, किन्तु अन्त में उन्हें नगर छोड़ना पड़ा। सीसम से मुहम्मद निरून की ओर वापस लौटा क्योंकि सिन्धु की प्रमुख धारा मेहरान को पार करके वह दाहिर से युद्ध करना चाहता था जो ब्राह्मणाबाद में मोर्चा लगाये पड़ा था। कई महीनों तक अरब सेना को नदी के पश्चिमी किनारे पर पड़ा रहना पड़ा, क्योंकि एक तो नावों की कमी थी और दूसरे एक बीमारी के फैल जाने के कारण उसके बहुत-से घोड़े नष्ट हो गये थे। जब इराक से २,००० घोड़ों की कुमुक और बीमार पशुओं के लिए औषधि आ गयी तब मुहम्मद ने सम्पूर्ण सेना के साथ नदी को पार किया जिसमें उसे अधिक प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

ऐसा प्रतीत होता है कि दाहिर ने एक घमासान युद्ध पर ही भरोसा कर रखा था, किन्तु अब उसे उस संकट का अनुभव हुआ जिसमें वह अपनी

अकर्मण्यता की नीति के कारण फँस गया था। अरब लेखकों का कहना है कि उसने ५०,००० सैनिक इकट्ठे किये, जिनमें से अधिकतर तत्काल ही भरती किये गये थे। आक्रमणकारी का सामना करने के लिए वह ब्राह्मणाबाद से रावर की ओर बढ़ा। दोनों ओर के स्काउटों में कई दिन तक छुटपुट झपटें होती रहीं। अन्त में २० जून, ७१२ ई. के दिन विकट युद्ध हुआ। हाथी पर सवार होकर दाहिर ने स्वयं सैन्य-संचालन किया, मानो इस प्रकार वह अपने चरित्र के कलंक को धोना चाहता था। वीरतापूर्वक युद्ध करके उसने सेनापति की हैसियत से न सही किन्तु एक सैनिक की हैसियत से अवश्य अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। किन्तु दुर्भाग्य से उसके हाथी के एक आग्नेय बाण (आग लगाने वाला) लगा जिससे हौदे में आग लग गयी। हाथी भागकर नदी में जा गिरा और सेना में काफी घबराहट फैल गयी। किसी प्रकार बीच धार में से हाथी को लौटा कर दाहिर ने शत्रु पर भयंकर प्रहार किये और अरबों का भीषण संहार किया। किन्तु जैसी दुर्दैव की इच्छा थी, उसके स्वयं एक तीर लगा और वह हाथी से गिर पड़ा। एक क्षण में ही उसने अपने को फिर सँभाला और घोड़े पर सवार हो गया। किन्तु शत्रु ने उस पर फिर घातक प्रहार किये जिससे उसकी सेना भयभीत होकर भाग खड़ी हुई।[10]

इस दुःखान्त नाटक के अन्तिम दृश्य से भारतीय देशभक्तों को कदाचित् कुछ सांत्वना मिल सके। दाहिर की विधवा रानीबाई के नेतृत्व में सिन्ध की स्त्रियों ने अपने पुरुषों के पापों का प्रायश्चित करने का प्रयत्न किया। रानी ने रावर के किले से वीरतापूर्वक युद्ध किया और उसके १५,००० सैनिकों ने घेरा डालने वाले अरबों पर पत्थरों और चक्रों की भयंकर वर्षा की। शत्रु को इससे काफी घबराहट हुई। जब और आगे युद्ध चलाना असम्भव हो गया तो राजपूत-प्रथा के अनुसार रानी ने अपनी साथी अन्य स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया, जिससे वे म्लेच्छ विदेशियों[11] के हाथों में न पड़ जायँ। रावर की भाँति ब्राह्मणाबाद (हैदराबाद के उत्तर में) ने भी अपनी उज्ज्वल कीर्ति की रक्षा की। दाहिर की सेना के बचे हुए सैनिकों ने वहाँ से अटूट संकल्प के साथ युद्ध किया और उनमें से ८,००० (दूसरे कथन के अनुसार २०,०००) खेत रहे, किन्तु उन्होंने अधिक नहीं तो कम से कम उतने ही शत्रुओं का अवश्य संहार किया। दाहिर के पुत्र जयसिंह ने जब देखा कि आगे प्रतिरोध करना व्यर्थ है, तो चित्तूर में जाकर शरण ली। नगर पर मुहम्मद का अधिकार हो गया। उसका कोष तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ उसके हाथ लगीं, जिनमें दाहिर

---

[10] चचनामा इन इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द एक, पृ० १७०।

[11] वही, पृ० १७२।

की दूसरी विधवा रानी लाडी और उसकी दो कुमारी पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी भी सम्मिलित थीं। आक्रमणकारी का दूसरा अभीष्ट सिन्ध की राजधानी आरोर अथवा अलोर थी। दाहिर का एक अन्य पुत्र उसकी रक्षा कर रहा था। उसने वीरता से नगर को बचाने का प्रयत्न किया और तभी छोड़ा जब आगे युद्ध करना निरर्थक हो गया। इस प्रकार सिन्ध की विजय पूर्ण हो गयी।

मुल्तान की विजय

इस प्रकार सिन्ध में असाधारण सफलता प्राप्त करने के उपरान्त मुहम्मद ने ७१३ ई. के प्रारम्भ में मुल्तान की ओर कूच किया। आरोर से आगे मार्ग में उसे हर जगह कठिन प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। किन्तु उसकी सेना की संख्या बहुत थी और अस्त्र-शस्त्र भी अच्छे थे, इसलिए उसे सर्वत्र सफलता मिली। अनेक स्थानों पर अधिकार करता हुआ वह मुल्तान के फाटकों पर जा धमका। देबल तथा ब्राह्मणाबाद की भाँति इस प्राचीन नगर का पतन भी एक देशद्रोही भगोड़े की गद्दारी के कारण हुआ, जिसने शत्रु को उस जलधार का पता दे दिया जिससे नगर-निवासियों को पानी मिलता था। अरबों ने जल लाने के मार्ग को काट दिया। अतः नगर को आत्मसमर्पण करना पड़ा, जिसके उपरान्त वही पूर्ववत् हत्या, लूट और दास बनाने का काण्ड प्रारम्भ हुआ। यहाँ पर अरबों को इतना धन मिला कि उन्होंने मुल्तान का नाम 'स्वर्ण-नगर' रख दिया।

सिन्ध के पतन के कारण

सिन्ध की पराजय के अनेक कारण थे। सर्व प्रथम, प्रान्त में आन्तरिक एकता का अभाव था और वह अरबों जैसे शक्तिशाली आक्रमणकारियों का मुकाबला करने के योग्य नहीं था। उसकी आबादी कम थी और विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी थी। बहुसंख्यक हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्धों की भी काफी संख्या थी और कुछ जैन भी थे। समाज के निम्न वर्गों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। जाट, मेद तथा कुछ अन्य जातियों को उच्च वर्णों के लोग ही नहीं वरन् राजा, दरबारीगण तथा राज-कर्मचारी भी हेय समझते थे और उन्हें अपमानित करते थे। उन्हें न तो जीन कसे हुए घोड़ों पर सवार होने की आज्ञा थी और न अस्त्र-शस्त्र धारण करने व अच्छे वस्त्र पहिनने की। इन परिस्थितियों के कारण सामाजिक सुदृढ़ता का, जो राजनीतिक स्वाधीनता की सर्वोत्तम गारन्टी है, पूर्ण अभाव था। दूसरे, राजा तथा उसकी सरकार लोक-प्रिय नहीं थी और युद्ध एवं शान्ति दोनों स्थितियों में अयोग्य थी। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से एक पीढ़ी पहले ही चच ने जिसे लोग घृणा करते

थे, अनियमित रूप से गद्दी पर अधिकार किया था। उसके पुत्र दाहिर से भी जनता उतनी ही अप्रसन्न थी। वास्तव में राजा तथा प्रजा में बहुत कम सहानुभूति थी। दाहिर के प्रान्तीय सूबेदार लगभग अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक थे और ऐसा प्रतीत होता है कि संकट के समय में भी उन्होंने उसको सहयोग नहीं दिया। इन्हीं कारणों से दाहिर की प्रजा ने, विशेष रूप से बौद्धों तथा व्यापारियों ने, युद्ध में भाग लेने से इन्कार किया और कहा कि यह हमारा काम नहीं है। उनमें से बहुतों ने शत्रु को बहुमूल्य सूचनाएँ दीं और अपने देश तथा राजा के विरुद्ध उससे जा मिले। श्री एस. एन. धर इस मत का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि बौद्धों को जान-बूझकर इस विषय में कथानक[१२] के धूर्त पात्र का स्थान दिया गया है। किन्तु बौद्धों के देश-द्रोह के लिखित प्रमाण हैं और तथ्यों का तर्क से अधिक मूल्य होना चाहिए। बौद्धों की भाँति कुछ हिन्दू भी थे जिनके माथे पर देश-द्रोह के कलंक का टीका लगना चाहिए। इस विषय में देबल के मन्दिर के पुजारी ने निर्लज्जतापूर्वक उदाहरण प्रस्तुत किया था। इस बात को बहुधा भुला दिया जाता है कि यद्यपि हिन्दू अपने लोगों के प्रति सामाजिक अत्याचार करते थे, फिर भी दीर्घकाल से वे धार्मिक सहिष्णुता के अभ्यस्त हो चुके थे और दूसरे धर्मों और लोगों के प्रति उन्होंने एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित कर लिया था जो संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावनाओं से मुक्त था। उन्होंने इस बात पर बिलकुल विचार नहीं किया कि इस्लाम के अनुयायी जो दूसरे धर्मों को झूठा समझते हैं और मूर्ति-पूजा का दमन करना अपना प्रथम कर्तव्य मानते हैं, हमारे साथ कैसा बर्ताव करेंगे। अज्ञानपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना तथा देश-भक्ति के अभाव के कारण हिन्दुओं में एक ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी जिससे वे अपने देशवासियों तथा विदेशियों में कोई अन्तर नहीं समझते थे और उनमें से जो असन्तुष्ट थे वे अपने देश के शत्रुओं से जाकर मिल जाते थे। निस्सन्देह विद्रोह तथा गद्दारी सिन्ध के पतन के मुख्य कारण थे। तीसरे, आज की भाँति उस युग में भी सिन्ध आर्थिक दृष्टि से दरिद्र तथा अभावग्रस्त प्रान्त था। उसके क्षीण साधन इस योग्य न थे कि एक विशाल स्थायी सेना रखी जा सकती और शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध युद्ध का खर्च बर्दाश्त किया जा सकता। चौथे, अरबों की आक्रमणकारी सेना दाहिर की सेना के मुकाबले में संख्या तथा साज-सज्जा की दृष्टि से कहीं अधिक शक्तिशाली थी, यद्यपि साहस, निर्भीकता तथा मृत्यु को तुच्छ समझना आदि गुणों में वह भारतीय सेना से अच्छी न थी। देबल में ४,००० सिन्धी सैनिकों को खलीफा

---

[१२] एस. एन. धर कृत "द अरब कौंक्वेस्ट ऑफ सिन्ध; प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री काँग्रेस," १९३९, पृ० ८४९-८५७।

की फौज के चुने हुए २५,००० योद्धाओं का मुकाबला करना पड़ा था। इस प्रकार उनमें एक और छः का अनुपात था। पाँचवे, एक देशद्रोही ने शत्रु को महत्वपूर्ण भेद बता दिया था, फिर भी सिन्धी सैनिक इतने दिनों तक युद्ध में डटे रहे, यह एक आश्चर्य की बात है। निरून, सेहवान और सीसम में मिलाकर भी आक्रमणकारी फौज के चौथाई सैनिक न थे। जब रावर में अरब और सिन्धी दलों का आमना-सामना हुआ, उस समय अवश्य दोनों में संख्या की समानता थी, यद्यपि उत्साह तथा साज-सज्जा में अरब कहीं अधिक बढ़े-चढ़े थे, क्योंकि लगातार विजयों के कारण वे उत्साह से उल्लसित हो रहे थे और उसी अनुपात में हमारे सैनिकों का मनोबल क्षीण हो चुका था। फिर भी वहाँ पर ऐसा विकट संग्राम हुआ कि कुछ समय के लिए शत्रु को विजय की आशा न रही थी। अरबों के शूरत्व, मुहम्मद बिन कासिम की प्रखर प्रतिभा और भारतीय सैनिकों की कायरता की जो कहानियाँ पक्षपातपूर्ण लेखकों ने लिखी हैं, उनका आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने खंडन कर दिया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अरब सिन्ध-निवासियों से इससे पहले दो बार पराजित हो चुके थे। उनकी अन्तिम सफलता के दो मुख्य कारण थे : एक तो वे संख्या और साज-सज्जा की दृष्टि से कहीं अधिक शक्तिशाली थे, और दूसरे, हमारी ओर उचित नेतृत्व का अभाव था। छठे, काफी पहले से सिन्ध शेष भारत से प्रथक था अतः एक विशाल शत्रु-सेना द्वारा आक्रान्त होने पर भी वह शेष भारत से सहायता की आशा न कर सका। उस युग में हमारा देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, प्रत्येक अपने स्वार्थों में लिप्त था और कोई केन्द्रीय सरकार अथवा अन्य ऐसा सार्वदेशिक संगठन न था जो बाह्य आक्रमण से देश की सीमाओं की रक्षा कर सकता। सातवें, अरबों के इस साहसिक और आक्रमणकारी युद्ध के पीछे यह प्रेरणा काम कर रही थी कि ईश्वर काफिरों को इस्लाम की नियामतें बख्शने के लिए एक साधन की भाँति हमारा उपयोग कर रहा है। किन्तु हमारे देशवासियों के सम्मुख कोई ऐसा स्फूर्तिदायक आदर्श न था जो देश के इतिहास के उस दैवी संकट के समय में उनके मनोबल को दृढ़ता प्रदान कर सकता। अज्ञात नीयत की कुटिल गति के कारण वे कठोर तथ्यों को न समझ सके और न इस बात का अनुभव कर सके कि हमारा धर्म, संस्कृति, घर तथा परिवार सभी संकट में हैं। अन्त में, दाहिर की अज्ञानता, उसकी प्रारम्भिक निष्क्रियता, नेतृत्व का अभाव तथा मूर्खतापूर्ण गलतियों को हम उसकी हार तथा सिन्ध की दासता के लिए उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। सिन्ध तथा पंजाब की सरकारों का यह अक्षम्य अपराध था कि उन्होंने अरब की उस महान् क्रान्ति से सम्बन्ध नहीं रखा जिसने सातवीं शताब्दी में एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया था और जब अरबों

ने सिन्ध की सीमाओं पर स्थित मकरान (आधुनिक बलोचिस्तान) को जीत लिया, उन्होंने अपनी सीमाओं की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया। दाहिर ने उँगली भी नहीं उठायी और देबल, निरून, सेहवान, सीसम तथा निचले सिन्ध के अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर आक्रमणकारी को अधिकार कर लेने दिया। एक विचित्र अज्ञान अथवा मूर्खता के कारण वह रावर में आक्रमणकारी के आगमन की प्रतीक्षा करता रहा और उसकी प्रगति को रोकने का उसने कोई प्रयत्न नहीं किया। जब मुहम्मद घोड़ों की बीमारी से शिथिल होकर मेहरान के दूसरे किनारे पर महीनों तक पड़ा रहा, उस समय भी दाहिर ने उस पर आक्रमण नहीं किया और बिना किसी अवरोध के उसे नदी पार कर लेने दी। उसने अपना सर्वस्व एक ही घमासान युद्ध के दाँव पर लगा दिया। सेनापति और नेता की हैसियत से उसने रण-क्षेत्र में अपने सैनिकों का उचित रूप से संचालन नहीं किया और न कमजोर मोर्चों पर कुमुक भेजी बल्कि एक सिपाही की भाँति वह स्वयं युद्ध के झुरमुट में कूद पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि सेना के विभिन्न अंगों से उसका सम्पर्क टूट गया। अपने पाप का प्रायश्चित उसने अपना जीवन देकर किया किन्तु उसके बाद की पीढ़ियाँ उसे क्षमा नहीं कर सकतीं क्योंकि अपनी मूर्खता के कारण उसने देश की दासता का मार्ग प्रशस्त किया।

सिन्ध में अरबों की शासन-व्यवस्था

आंशिक धार्मिक सहिष्णुता की नीति

देबल की विजय के बाद मुहम्मद बिन कासिम के सामने सबसे पहला काम यह था कि नगर पर अधिकार कायम रखने के लिए समय के उपयुक्त किसी प्रकार की भद्दी-भोंडी शासन-योजना बनायी जाय। उसने एक सैनिक पदाधिकारी नियुक्त किया और ४,००० सिपाही उसकी अधीनता में काम करने के लिए छोड़ दिये। प्रत्येक जीते हुए नगर के लिए यही प्रबन्ध किया गया। नगरों की जनसंख्या और सामाजिक महत्व के अनुसार सैनिकों की संख्या अवश्य घटा-बढ़ा दी जाती थी। लोगों की सम्पत्ति जब्त करने एवं लूट-खसोट से सेना तथा युद्ध के व्यय के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो जाता था। इस आदिम किस्म की शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए प्रान्त की जनता के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता न थी। इस कारण से तथा जिस उद्देश्य से यह आक्रमण किया गया था, उसे ध्यान में रखते हुए मुहम्मद ने प्रत्येक विजय के समय तथा सिन्ध की राजधानी आरोर को जाते समय मार्ग में एक धर्मान्ध मुसलमान जैसा व्यवहार किया। सहस्रों पुरुषों की इसलिए नृशंसतापूर्वक हत्या की गयी कि उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म को त्यागने से मना किया। सहस्रों निर्दोष स्त्रियों

और बच्चों को उनकी सम्पत्ति और धर्म से वंचित किया तथा दासता की बेड़ियों में उन्हें जकड़ा गया। हर जगह मन्दिर नष्ट किये गये और मूर्तियाँ तोड़ी गयीं। मुहम्मद का प्रमुख हज्जाज जो नृशंस आततायी था, इस बर्बरतापूर्ण अत्याचार से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने इस बात पर अप्रसन्नता प्रकट की कि ईश्वर का काम करने में शिथिलता दिखायी जा रही थी और मुहम्मद को उसने आज्ञा भेजी कि काफिरों के साथ अधिक कठोरता का व्यवहार किया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद ने अपने प्रमुख की आज्ञाओं का वफादारी से पालन किया होगा। दाहिर की पराजय तथा मृत्यु के बाद जब सिन्ध का सम्पूर्ण प्रान्त अरबों के अधीन हो गया, तब मुहम्मद को तत्काल ही एक सुदृढ़ और स्थायी शासन-व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता अनुभव हुई। अब उसे धार्मिक कट्टरता तथा राजनीतिक बुद्धिमत्ता में से किसी एक को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। मुट्ठी भर अरबों के लिए शासन सम्बन्धी सभी भार अपने ऊपर ले लेना असम्भव था और न वे इस योग्य थे कि जनता से बलपूर्वक खेती करवाकर उससे अपने लिये भोजन तथा राजस्व वसूल कर पाते। पहले तो उनकी संख्या ही बहुत कम थी। दूसरे, वे भारतीय शासन-पद्धति, राजस्व सम्बन्धी नियमों तथा न्याय के सिद्धान्तों से अपरिचित थे। तीसरे, हिन्दुओं को अपने धर्म में अगाध श्रद्धा थी और उन्हें अपने धर्म एवं संस्कृति की श्रेष्ठता में गहरा विश्वास था। वे विजेताओं को शक्तिशाली बर्बरों से अधिक अच्छा न समझते थे। इस्लाम की अपेक्षा वे मृत्यु को अधिक पसन्द करते थे। चौथे, हिन्दू भी अस्त्र-शस्त्रों से भली-भाँति सुसज्जित थे। उस युग में असाधारण जनता तथा शिक्षित सैनिकों के हथियारों में अधिक भेद भी न था। यदि अरब लोग संगठित रूप से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न करते तो वे निरन्तर संघर्ष में फँस जाते और इससे विजय का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता। किन्तु इस्लाम के अनुसार, जैसा कि मुसलमान शास्त्रकारों और कुरान के टीकाकारों ने उसकी व्याख्या की थी, केवल यहूदी और ईसाई ही धार्मिक सहिष्णुता के अधिकारी थे, हिन्दू नहीं। इस्लामी कानून के अनुसार गैर-मुसलमानों के दो वर्ग थे। पहले में यहूदी और ईसाई थे। वे अहल-ए-किताब कहलाते थे और ईश्वरी ज्ञान के साझीदार समझे जाते थे। इसलिए जज़िया देने पर उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता मिल सकती थी। दूसरे वर्ग में वे लोग थे जिन्हें ईश्वरीय ग्रन्थ नहीं प्राप्त था। इसलिए वे धार्मिक सहिष्णुता के अधिकारी नहीं थे। हिन्दुओं को इसी कोटि में रखा गया था। उनके विषय में मुसलमानों की यह नीति थी कि या तो वे इस्लाम अंगीकार करें अथवा मृत्यु का दण्ड भोगें। इस स्थिति ने मुहम्मद बिन कासिम को दुविधा में डाल दिया। समस्या का व्यावहारिक हल यही था कि यहूदियों और ईसाइयों की भाँति सिन्ध के हिन्दुओं

और बौद्धों को भी आंशिक रूप में धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी जाय। मुहम्मद ने यही मार्ग अपनाया। हिन्दुओं से जज़िया देने को कहा गया और उसके बदले में उन्हें अपने धर्म पर चलने तथा बिना अधिक प्रदर्शन के अपने ईश्वर की पूजा का अधिकार दे दिया गया। यहूदियों और ईसाइयों की भाँति उन्हें भी जिम्मी (रक्षित लोग) घोषित कर दिया गया। वास्तव में हिन्दुओं के साथ यह रियायत थी और इस्लामी विधान के प्रतिकूल थी। इसलिए कहा जाता है कि इस्लाम के इतिहास में इसने एक नया अध्याय आरम्भ किया। इसी कारण सर विलियम म्योर लिखते हैं कि अरबों की सिन्ध विजय के समय से मुसलमानों की नीति का एक नया युग शुरू हुआ। मुहम्मद बिन कासिम का सिन्ध के हिन्दुओं को आंशिक रूप में धार्मिक स्वतन्त्रता देना वास्तव में एक महत्वपूर्ण कार्य था। बाद के भारतीय मुसलमान शासकों ने इसी नीति को अपने शासन का आधारभूत सिद्धान्त बनाया। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि मुहम्मद की नीति के पीछे कोई उदारता की भावनाएँ नहीं थीं परन्तु परिस्थितियों ने उसे ऐसा करने को बाध्य कर दिया था क्योंकि न तो सब हिन्दुओं को मृत्यु-दण्ड ही दिया जा सकता था और न उन सबको मुसलमान बनाना ही सम्भव था। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन्हें उन लोगों के बराबर नागरिक अधिकार भी नहीं दिये गये थे जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। उन्हें जज़िया देना पड़ता था जो एक धार्मिक कर था और जिसका अर्थ था कि वे नीची कक्षा के लोग थे। इसके अतिरिक्त उन पर और भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे। फिर भी मुहम्मद को हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करने तथा अपनी समस्या का हल निकालने में सफलता मिली।

राजनीतिक विभाजन तथा उसकी सामाजिक व्यवस्था

मुहम्मद बिन कासिम के उपर्युक्त महत्वपूर्ण निर्णय से भारत में इस्लामी शासन-पद्धति की आधारभूत नीति निश्चित हो गयी। इसके बाद उसने शासन सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किये। विजित प्रान्त को उसने कई जिलों (इक्तों) में विभक्त किया और प्रत्येक के ऊपर एक अरब सैनिक अफसर नियुक्त किया। स्थानीय मामलों के प्रबन्ध में जिलाधीशों को काफी स्वतन्त्रता थी, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर वे प्रान्त के सूबेदारों की सैनिक सहायता करते थे। अनुमान लगाया जाता है कि जिले के उप-विभाजन हिन्दू पदाधिकारियों की अधीनता में पूर्ववत् कायम रहे होंगे। सैनिकों तथा मुसलमान फकीरों और विद्वानों को जागीरें दे दी गयीं। इस प्रकार समस्त प्रान्त में अरबों के अनेक सैनिक उपनिवेश बस गये। स्थानीय शासन, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, पूर्णतया सिन्धियों के ही हाथों में रहा। पुराने सिद्धान्त तथा कानून

पूर्ववत् जारी रहे। अरबों ने जो कुछ परिवर्तन किये वे राजधानी तथा जिलों के नगरों तक ही सीमित रहे।

राजस्व प्रणाली

राजस्व-व्यवस्था में विजेताओं ने उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किये। राजस्व निर्धारित तथा वसूल करने के जो नियम दाहिर के समय में प्रचलित थे, अरबों ने भी उन्हीं को जारी रखा। केवल दो-एक नये कर लगाये गये जिनमें जज़िया सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। भूमि-कर उपज का $\frac{२}{५}$ से $\frac{१}{४}$ तक लिया जाता था। इन दो के अतिरिक्त और भी कई कर थे। उन्हें वसूल करने का अधिकार सबसे अधिक बोली बोलने वाले ठेकेदारों को दे दिया जाता था।

न्याय

न्याय-व्यवस्था भी समुचित न थी। न तो न्यायालयों का क्रम ही सुसंगठित था और न सब जगह एक-से नियम ही थे। जिलाधीश अपने अधिकार-क्षेत्र में होने वाले अपराधों की छान-बीन किया करते थे और सामन्तगण अपनी जागीरों में मुकदमों का फैसला किया करते थे। सिन्ध की राजधानी में एक काज़ी रहता था और अन्य महत्वपूर्ण नगरों में छोटे काज़ी रहा करते थे जो इस्लाम के नियमों के अनुसार झगड़ों का फैसला किया करते थे, चाहे एक पक्ष में कोई हिन्दू ही क्यों न हो। हिन्दुओं के लिए दण्ड-विधान अत्यन्त कठोर था। उदाहरण के लिए, चोरी के अपराध में उन्हें जीवित जला दिया जाता था। अपने निजी झगड़ों का निबटारा हिन्दू स्वयं कर लिया करते थे। उनकी पंचायतें थीं जो विवाह, विरासत, सामाजिक तथा नैतिक मामलों से सम्बन्धित झगड़ों का फैसला करती थीं।

धार्मिक नीति

प्रारम्भ में अरबों ने धार्मिक अत्याचार अवश्य किये किन्तु बाद में उन्होंने आंशिक सहिष्णुता की नीति को अपनाया। हिन्दुओं को अपने मन्दिरों और घरों में अपने देवताओं की पूजा करने की स्वतन्त्रता थी। किन्तु उन्हें जज़िया कर देना पड़ता था। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि जज़िया एक सैनिक कर था जो हिन्दुओं से सैनिक-सेवा के बदले में लिया जाता था। मुसलमान उससे इसलिए मुक्त थे कि वे राज्य की सैनिक-सेवा करते थे। किन्तु यह मत भ्रमपूर्ण है, क्योंकि यह कर सभी हिन्दुओं को देना पड़ता था चाहे वे सैनिक-सेवा करते हों अथवा न करते हों। निश्चयपूर्वक जज़िया एक धार्मिक कर था। गैर-मुसलमानों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया था और प्रत्येक वर्ग के लिए जज़िया की अलग दर थी—पहले के लिए ४८ दिरहम, दूसरे के लिए २४ दिरहम और तीसरे के लिए १२ दिरहम।

साधारण जनता की दुर्दशा

जहाँ तक प्रजा के निम्न वर्गों का सम्बन्ध था, अरबों का शासन-प्रबन्ध दाहिर से अधिक अच्छा न था। जाटों, मेदों आदि के प्रति जो व्यवहार होता था, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन जातियों के लोग जब सूबेदार का अभिवादन करने जाते थे तो उन्हें अपने साथ कुत्ता ले जाना पड़ता था। उन्हें अच्छे वस्त्र पहनने, घोड़े पर चढ़ने तथा सिर और पैर ढकने की आज्ञा न थी। उनके हाथों को दागा जाता था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से अपमान उन्हें सहने पड़ते थे। हिन्दुओं को प्रत्येक मुसलमान यात्री को तीन दिन तक भोजन कराना पड़ता था। इसलिए साधारण जनता अरबों के शासन में संतुष्ट नहीं रही होगी। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि अरबों का शासन-प्रबन्ध उन तुर्कों के प्रबन्ध से कहीं अधिक उदार था, जिन्होंने ११वीं शताब्दी में इस देश में अपना राज्य कायम किया।

मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु

इन असाधारण सफलताओं के बाद शीघ्र ही यौवन-काल में ही सिन्ध के विजेता का दुःखद अन्त हो गया (७१५ अथवा ७१६ ई.)। मुहम्मद की मृत्यु के दो भिन्न कारण बतलाये जाते हैं। पहला एक रोमांटिक कहानी-सा प्रतीत होता है। कहा जाता है कि दाहिर की पुत्रियाँ सूर्य देवी और परमाल देवी जब खलीफा वाहिद के सम्मुख उपस्थित की गयीं तो उन्होंने उससे कहा कि मुहम्मद बिन कासिम ने आपके पास भेजने से पहले ही हमें भ्रष्ट कर दिया है। इस पर खलीफा को बहुत क्रोध आया। उसने आज्ञा दी कि अपराधी को जीवित ही बैल की खाल में सीं कर मेरे सामने उपस्थित किया जाय। मुहम्मद ने शीघ्र ही इस आज्ञा का पालन किया और तीन दिन के अन्दर उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। जब पिटारी खलीफा के सामने खोली गयी तो दाहिर की पुत्रियों ने यह समझकर कि हमने अपने पिता की मृत्यु का बदला ले लिया है, सन्तोष की साँस ली और खलीफा से कहा कि मुहम्मद निर्दोष था। यह सुनकर वाहिद आग-बबूला हो गया और आज्ञा दी कि इन राजकुमारियों को घोड़ों की पूँछ से बाँधकर तब तक घसीटा जाय जब तक कि ये मर न जायँ। आधुनिक अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि यह कहानी बाद के लेखकों की मनगढ़न्त है। दूसरे कथन के अनुसार मुहम्मद की मृत्यु के राजनीतिक कारण थे। यही अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। ७१५ ई. में खलीफा वाहिद की मृत्यु हो गयी। उसका भाई सुलेमान गद्दी पर बैठा। नया खलीफा हज्जाज का कट्टर शत्रु था। उसने उसे तथा उसके परिवार को कठोर दण्ड दिये। मुहम्मद हज्जाज का चचेरा भाई और दामाद था। उसे भी सिन्ध से बर्खास्त कर दिया गया

और बन्दी बनाकर मैसोपोटामिया भेज दिया गया। कहा जाता है कि वहीं यातनाएँ देकर उसका वध किया गया।

अरबों की सिन्ध में अन्तिम असफलता के कारण

सिन्ध और मुल्तान के प्रान्त लगभग १५० वर्षों तक खलीफा के साम्राज्य के अंग रहे, उसके बाद वे स्वतन्त्र हो गये। इस युग में ही अरबों के शासन का पतन आरम्भ हो गया था। शासन-व्यवस्था वैसी ही अयोग्य और दुर्बल बनी रही, जैसी दाहिर के समय में थी। जब कभी कोई शक्तिशाली सूबेदार आ जाता था, तो कुछ समय के लिए शासन में जान आ जाती थी और कभी-कभी पड़ोसी हिन्दू राज्यों पर एक-दो आक्रमण भी कर दिये जाते थे। उसके उपरान्त फिर वही शिथिलता और निष्क्रियता छा जाती थी। ७१७ ई. में उमर द्वितीय खलीफा हुआ। उसके समय में सिन्ध में इस्लाम का धुआँधार प्रचार किया गया। अनेक हिन्दू सामन्तों को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया। दाहिर के पुत्र जयसिंह को भी जो ब्राह्मणाबाद का शासक था, अपने पूर्वजों का धर्म छोड़कर इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य होना पड़ा। सूबेदार जुन्नैद पराक्रमी व्यक्ति था। उसने कच्छ पर आक्रमण किया। किन्तु उसका उद्देश्य केवल लूट-मार करना था। कालान्तर में अरबों का प्रभाव क्षीण होने लगा और अपनी रक्षा के लिए उन्हें सुदृढ़ किले बनाने पड़े। इनमें अलमहफूजा और मंसूरा अधिक प्रसिद्ध थे जो ब्राह्मणाबाद के उत्तर-पूरब में कुछ मील दूर पर स्थित थे। ७५० ई. में दमिश्क में विद्रोह हुआ। उमय्यद-वंश को हटा दिया गया और अब्बासी ने बगदाद में नयी खिलाफत की नींव डाली। इन दो वंशों के पारस्परिक द्वन्द्वों का सिन्ध पर बुरा प्रभाव पड़ा। अब्बासी खलीफाओं ने सिन्ध में अपने अफसर भेजे और उमय्यद सूबेदार को वहाँ से मार भगाया। परिणाम यह हुआ कि दीर्घकाल तक एक तीव्र संघर्ष चलता रहा जिसने अरबों की गिरती हुई प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचाया। इसके उपरान्त सिन्ध के सूबेदार और सामन्त लगभग अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक हो गये। ८७१ ई. में सिन्ध ने खिलाफत से सम्बन्ध तोड़ कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, यद्यपि नाम के लिए अब भी खलीफा का प्रभुत्व बना रहा। मुल्तान और मंसूरा में दो स्थानीय सामन्तों ने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। मुल्तान में आरोर तक सिन्ध की घाटी का ऊपरी भाग सम्मिलित था और मंसूरा में खास सिन्ध। इन वंशों के शासकों ने सिन्धियों को भी शासन-व्यवस्था में स्थान दिया और हिन्दुओं तथा बौद्धों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी।

स्वर्गीय लेनपूल का मत है कि अरबों की सिन्ध-विजय इस्लाम तथा भारत के इतिहास में एक साधारण घटना थी। यह एक ऐसी विजय थी जिसका कोई गहरा परिणाम नहीं हुआ। भारतीय इतिहास के अनेक लेखकों ने इस

मत को सही मान लिया है। उनके मतानुसार सिन्ध में अरबों का इतिहास बताता है कि उनके इस प्रयास का कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं हुआ। यद्यपि सिन्ध का प्रान्त तुर्कों की विजय तक अरबों के हाथ में बना रहा, किन्तु वहाँ से वे अन्य किसी प्रान्त को जीतने का संगठित प्रयत्न न कर सके, समस्त भारत को तो जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता था। यहाँ पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार के अन्य देशों में अरब लोगों को उज्ज्वल विजयें प्राप्त हुई थीं। प्रारम्भ में तो इस देश में उन्हें सफलता मिली और ऐसा प्रतीत होता था कि आगे भी उनकी प्रगति जारी रहेगी, किन्तु वे सिन्ध तथा मुल्तान की सीमाओं से आगे न बढ़ सके। जहाँ-तहाँ इक्के-दुक्के धावे उन्होंने अवश्य किये। इसी कारण इतिहासकारों ने सिन्ध-विजय को एक साधारण घटना बतलाया है। जहाँ तक हमारे देशवासियों का सम्बन्ध था, उन्होंने इस घटना से कोई सबक नहीं सीखा। सिन्ध से अरबों को मार भगाने के लिए संगठित प्रयत्न करने की उन्होंने कोई आवश्यकता ही नहीं समझी और न भावी आक्रमणों से अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा करने के लिए ही उन्होंने मिलकर कार्य करने का प्रयत्न किया। तीन शताब्दियों बाद जब तुर्कों ने हमारे देश की सीमाओं का उल्लंघन किया, उस समय भी इस देश के लोग बाह्य जगत की घटनाओं के प्रति उतने ही उदासीन और असावधान थे जितने कि आठवीं शताब्दी में अरब आक्रमण के समय। इसीलिए कहा जाता है कि अरबों की सिन्ध-विजय का हमारे देश के इतिहास में विशेष महत्व नहीं है। अरब-सत्ता की जड़ें इस देश में स्थायी रूप से न जम सकीं, इसके इतिहासकारों ने अनेक कारण बतलाये हैं। उनको हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं: आन्तरिक और बाह्य। पहले कारणों में सबसे महत्वपूर्ण खलीफा के साम्राज्य की आन्तरिक दुर्बलता थी। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, ७५० ई. में दमिश्क में एक विद्रोह हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उमय्यद-वंश का पतन हो गया और अब्बासियों के हाथों में साम्राज्य की बागडोर आ गयी। इस विद्रोह ने खिलाफत की प्रतिष्ठा को बहुत ठेस पहुँचायी। दोनों वंशों के पारस्परिक द्वन्द्व का प्रभाव सिन्ध पर भी पड़ा। इस विद्रोह के परिणामस्वरूप बग़दाद में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण एक और क्रान्ति हुई, जिसने अरबों के चरित्र तथा जीवन-प्रणाली को ही बदल दिया। दूसरे, खलीफा हारूँ अल-रसीद के शासन-काल में अरब लोग अपनी प्राचीन शक्ति खो बैठें। इस्लाम में जो मौलिक और जीवनप्रद तत्व थे, उनसे उनका सम्पर्क टूट गया और वे विलासप्रिय हो गये। कुरान के उपदेशों की शुद्धता और अरब-जीवन की सादगी को छोड़कर वे नीरस दार्शनिक चिन्तन में अधिक आनन्द लेने लगे। इससे कालान्तर में उनके चरित्र का पतन हो

गया। न तो वे महान् सैनिक कार्यों के योग्य रहे और न शासन के क्षेत्र में ही उन्होंने मौलिकता और साहस का परिचय दिया। तीसरे, मुस्लिम-जगत में राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गयी, जिसने इस्लामी मिल्लत की एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया और उसमें अनेक गुट उठ खड़े हुए। धार्मिक क्षेत्र में भी फूट उत्पन्न हो गयी। अनेक विद्रोही सम्प्रदायों का उदय हुआ। चौथे, धार्मिक उत्साह के कारण अरब लोग सिन्ध को इतनी सरलता से जीतने में सफल हुए थे, किन्तु विजय के उपरान्त जब इस प्रान्त में उनकी स्थिति दृढ़ हो गयी तो उनका धार्मिक जोश ठण्डा पड़ गया और एकता भी नष्ट हो गयी। मिलकर तथा अनुशासन में रहकर काम करने के वे योग्य न रहे। पाँचवे, महत्वाकांक्षी तुर्कों ने बलपूर्वक इस्लामी साम्राज्य की शक्ति हथिया ली और खलीफा को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। इससे भी अरबों के प्रभुत्व को बहुत धक्का लगा। इन परिस्थितियों में अरब शासक सिन्ध की ओर अधिक ध्यान न दे सके। छठे, इस आन्तरिक उथल-पुथल के कारण अरब वाले सिन्ध में सेना न भेज सकें। इस कारण न तो सिन्ध पर ही वे स्थायी रूप से अधिकार रख सके और न भारत के अन्य प्रान्तों को जीतने का ही प्रयत्न कर सके।

बाह्य कारणों में शक्तिशाली राजपूत राज्यों का उल्लेख करना आवश्यक है, विशेपकर उनका जो उत्तर-पूरब में स्थित थे। इन राज्यों पर शासन करने वाले राजपूत-वंश अरबों से कहीं अधिक शक्तिशाली थे और विदेशी आक्रमण-कारियों के विरुद्ध एक-एक इंच भूमि के लिए संघर्ष करने को सन्नद्ध थे। दूसरे, समस्त भारत में हिन्दू पुरोहितों का एक शक्तिशाली वर्ग था, जिसका जनता पर बहुत प्रभाव था और जो विदेशी संस्कृति तथा जीवन-प्रणाली का कट्टर विरोधी था। इस पुरोहित-वर्ग के प्रभाव के कारण साधारण हिन्दू अपने को तथा अपनी संस्कृति को अरबों की संस्कृति से कहीं अधिक श्रेष्ठ समझते थे। उनकी दृष्टि में अरब लोग म्लेच्छ तथा बर्बर थे। तीसरे, आज की भाँति उस युग में भी सिन्ध मरुस्थल था और उसके आर्थिक साधन इतने अपर्याप्त थे कि शासन का व्यय चलाना भी कठिन था। इसलिए आर्थिक दृष्टि से वह एक अभावग्रस्त प्रान्त था और खलीफा को उससे कोई आय नहीं होती थी। सिन्ध के अरबों को अपने साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। यही कारण था कि अपने समृद्धशाली पड़ोसियों के विरुद्ध वे कुछ न कर सकते थे। इसके अतिरिक्त सिन्ध देश के एक महत्वहीन कोने में स्थित है, वहाँ से शेष भारत में प्रवेश करना कठिन है। इसलिए वहाँ से चलकर और उसे आधार बनाकर शेष भारत को जीतना किसी भी विदेशी शक्ति के लिए सम्भव नहीं था।

अरब-विजय के प्रभाव

राजनीतिक दृष्टि से अरबों की सिन्ध-विजय इस्लाम तथा भारत के इतिहास में एक महत्वहीन घटना थी। उसने लोगों की भाषा, कला, परम्पराओं, रीति-रिवाजों और रहन-सहन पर भी कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाला। वास्तव में अरबों ने इमारतों अथवा शासन-सम्बन्धी या सांस्कृतिक संस्थाओं के रूप में कोई ऐसे चिह्न नहीं छोड़े जिनका हम पर प्रभाव पड़ सकता अथवा जो उनके शासन की स्मृति-स्वरूप विद्यमान रहते। किन्तु इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है कि यह समझना गलत होगा कि अरबों की विजय ने हमारे देशवासियों पर प्रभाव डाला ही नहीं। उसने हमारे देश में इस्लाम का बीज बोया। प्रान्त की अत्यधिक जनता को अपना पैतृक धर्म छोड़कर इस्लाम अंगीकार करना पड़ा। इस प्रकार नये धर्म इस्लाम की जो सिद्धान्तों तथा जीवन-प्रणाली की दृष्टि से विदेशी था, हमारे देश में स्थायी रूप से जड़ें जम गयीं। बाद में उत्तर-पश्चिम से जो आक्रमणकारी आये, उन्होंने इस धर्म को सहायता और प्रोत्साहन दिया तथा भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति का अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए अनुचित लाभ उठाया। भाग्य-निर्णायक घटनाओं का यह पहला ताँता ऐसा लगा कि जिसके परिणाम-स्वरूप हमारे देश का विभाजन हुआ और १९४७ ई. में पाकिस्तान की स्थापना हो गयी।

भारतीय धर्म एवं संस्कृति का अरबों पर बहुत प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं की सभ्यता, दार्शनिक विचारों, आदर्शों तथा मानसिक प्रतिभा ने उन्हें स्तम्भित कर दिया। उन्होंने हम से बहुत कुछ सीखा, विशेषकर शासन, कला, ज्योतिष, संगीत, चित्रकला, चिकित्सा तथा स्थापत्य[13] के क्षेत्र में। उन्होंने हिन्दू पण्डितों की सहायता से संस्कृत के कुछ ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया जिनमें ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्म सिद्धान्त' तथा 'खण्ड खांड्यक' अधिक प्रसिद्ध थे। अरबों ने भारतीय शिल्पियों और चित्रकारों को मस्जिदें बनाने तथा सजाने के लिए नौकर रखा। इस प्रकार हमारे देश के सम्पर्क में आने से अरब-सभ्यता की बहुत उन्नति हुई। अरबों ने भारतीय ज्ञान को यूरोप में पहुँचाया, विशेषकर दर्शन, ज्योतिष तथा अंकों को।[14] आठवीं और नवीं शताब्दी में यूरोप में जो ज्ञान की ज्योति फैली, उसका मुख्य कारण अरबों का भारत से सम्पर्क था।

---

[13] अल-बरुनी कृत "इण्डिया", अनुवादक साचऊ, पृ० ३१।

[14] हावेल कृत "आर्यन रूल इन इण्डिया", पृ० २५६।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. DAUD-POTA : Chachnama (*Edited*).
2. ELLIOT & DOWSON : History of India as told by its own Historians, Vol. I.
3. MALLET : History of Sindh.
4. NADVI, SULAIMAN : Arabs and India (*Hindi & Urdu eds.*).
5. ALI, AMIR : History of the Saracens.
6. MAJUMDAR, R. C. : Arab Invasion of India.
7. WOOLSELEY, H. : Cambridge History of India, Vol. III.

अध्याय ३

हिन्दू अफ़ग़ानिस्तान—इसकी विजय एवं इस पर तुर्कों का अधिकार

अफ़ग़ानिस्तान* पर हिन्दू शासन (लगभग ४३०-४७० ई.)

सातवीं शताब्दी में अरब वाले इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद की शिक्षाओं से प्रेरित हो गये थे और नई एकता तथा शक्ति का अनुभव कर विश्व-विजय के स्वप्न देखने लगे थे। इस समय भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर तीन हिन्दू राज्य थे जो सिन्ध और काबुल (कैपिशी; कपिशा), जाबुल (जाबाल) या जाबुलिस्तान नाम से प्रसिद्ध थे। भौगोलिक परिस्थिति के कारण इन्हीं भारतीय राज्यों को अरबों के आक्रमण तथा मारकाट का मुकाबला करना पड़ा था। काबुल का राज्य काबुल (कुभ) नदी की घाटी से घिरा हुआ था और उत्तर में हिन्दूकुश (उपरिस्येन) अथवा परापौनिसस की पहाड़ियों तक फैला हुआ था। शाही (तुर्कशाही) नाम से प्रसिद्ध एक हिन्दू-वंश लगभग पाँचवीं शताब्दी के मध्य से इस प्रदेश पर शासन कर रहा था। ६३० ई. में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री युवानच्यांग (ह्वानत्साङ्)[१] ने अफ़ग़ानिस्तान की यात्रा की थी उस समय वहाँ पर एक योग्य एवं चतुर क्षत्रिय राजा शासन कर रहा था। इस राज्य की परिधि ४,००० मील थी, इसमें पूरब की ओर लघमान (लमघन), जलालाबाद (नगरहारा) जिला, पेशावर, चारसड्डा और सिन्ध के किनारे बसा हुआ उण्ड (गांधार प्रदेश) थे और दक्षिण में गोमल अथवा प्राचीन गोमती (वरन) नदी के दोनों तट, बन्नू का जिला तथा गज़ना (होसीना) का राज्य सम्मिलित थे। उत्तर-पूरब में यह काश्मीर तथा पश्चिम में ईरान की सीमा से मिला हुआ था। यहाँ का राजा क्षत्रिय था जिसके पूर्वज बर्हतिकीन[२] ने ४३० ई. के लगभग काबुल की घाटी में अपना अधिकार जमाया था। युवानच्यांग के काल में काबुल की गद्दी पर ऐसा शक्तिशाली

---

* अफ़ग़ानिस्तान का शुद्ध रूप अश्वायान (संस्कृत) तथा अश्वयोनि (ग्रीक) है।

१ थॉमस वाटर्स कृत "युवानच्यांग की भारत-यात्रा," जिल्द एक, पृ० १२२।

२ अल-बरुनी कृत "किताब-उल-हिन्द", अनुवादक साचऊ, जिल्द दो, पृ० १०-१५।

राजा था जिसने दस स्वतन्त्र राज्यों को अपने अधिकार में कर लिया था। इन राज्यों में लघमान, जलालाबाद तथा पेशावर प्रमुख राज्य थे। राजा बौद्ध था और जनता हिन्दू, जैन तथा बौद्ध थी। देश बौद्ध मठों से भरा हुआ था।[3]

जाबुल (जाबाल) का राज्य काबुल के दक्षिण में तथा वर्तमान बलोचिस्तान (परदायने अथवा गेड्रोशिया) के ठीक उत्तर में था। इसमें हेलमन्द (सेतुमन्त अथवा हेतुमेनेत) नदी की ऊपरी घाटी सम्मिलित थी और इसकी सीमा उस घाटी के पूरब और पश्चिम तक फैली हुई थी। सीस्तान (सीजिस्तान = शकस्थान) जर्राह झील पर बसा हुआ था और जारंग इसकी राजधानी थी जो इसी राज्य का एक अंग था। इसका राजा हिन्दू था और शाह अथवा शाह्य इसकी उपाधि थी। "सातवीं शताब्दी में ये दोनों राज्य भारत के अंग थे। राजनीति, संस्कृति, भाषा, साहित्य तथा धर्म की दृष्टि से भारतीय थे और इनके राजाओं के नाम भी भारतीय थे।[४]

अफग़ानिस्तान में अरबों की असफलता

६४३ ई. में अरबों ने ईरान को जीतकर उस पर अपना अधिकार जमा लिया और खिलाफत की सीमा को काबुल तथा जाबुल के हिन्दू राज्यों की पश्चिमी सीमा तक फैला दिया।[५] इन लोगों का हृदय विश्व-विजय की प्रबल आकांक्षाओं एवं पड़ोसी देशों से मूर्ति-पूजा को सदा के लिए समाप्त कर देने की प्रबल इच्छाओं से भरा हुआ था। अतः उनके लिए ६४३ ई. के आरम्भ में काबुल राज्य पर आक्रमण करना स्वाभाविक ही था। यह निश्चय है कि अरबों ने काबुल की घाटी को जीतने के लिए ६५० ई. (३० हिजरी संवत्) में सुदृढ़ प्रयत्न अवश्य किया होगा। उस वर्ष बसरा के गवर्नर जनरल अब्दुल्ला बिन अमीर ने अर-रबी इब्न ज़ियाद को सीस्तान के जीतने की आज्ञा दी थी। उस समय सीस्तान हिन्दू राज्य का एक प्रान्त था[६] और उसका प्रशासन भारतीय राजा का एक अफसर करता था। अर-रबी सीस्तान की राजधानी जारंग में आया जो जर्राह झील पर बसी हुई थी। यहाँ उसे प्रबल

---

[3] एस. बील द्वारा लिखित "ह्वानत्साङ् की जीवनी," पृ० ५४-७२ तथा १९२-१९५; थॉमस वाटर्स कृत "युवानच्यांग की भारत-यात्रा," जिल्द एक, पृ० १२२-१२३ तथा १८०-२८५; जिल्द दो, पृ० २६४-२६६।

[४] आर. सी. मजूमदार कृत "क्लासिकल एज", पृ० १६५।

[५] फिलिप के. हिट्टी कृत "द अरब्स्" (१९४८), पृ० ५०।

[६] सीस्तान या सीजिस्तान जो देश के दक्षिण-पश्चिम में बसा है, अब अफग़ानिस्तान के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय यह काबुल और जाबुल का प्रान्त था।

प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और युद्ध में अनेक अरब सैनिक बुरी तरह घायल हुए, फिर भी सीस्तान के गवर्नर को हराकर वह बुस्त तक बढ़ गया। परन्तु वहाँ से वह खदेड़ दिया गया और उसे उस सब को ही खो देना पड़ा जो उसने अब तक प्राप्त किया था।[७] ६५३ ई. में इब्न अमीर ने अब्दुर रहमान को सीस्तान का गवर्नर नियुक्त किया; जो अभी जीतना बाकी था। इस अफसर ने घोर युद्ध करने के बाद सीस्तान के एक भाग पर अधिकार कर लिया और यहाँ के गवर्नर सत्रप को बीस लाख दिरहम देने के लिए विवश किया। यह जूर के उस मन्दिर में गया जिसमें सोने की मूर्ति थी और जिसकी आँखों में लाल लगे हुए थे। इसने मूर्ति का एक हाथ काटकर लाल निकाल लिये और सत्रप से कहा, "सोना और रत्न रखो, मैं तो केवल यह दिखाना चाहता था कि मूर्ति कुछ भी हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकती है।"[८] इस सफलता के बाद अब्दर रहमान ने हेलमन्द पर बसे हुए बुस्त पर अपना अधिकार जमाया और फिर वहाँ से काबुल तक पहुँच गया। परन्तु उसके उत्तराधिकारी उमेर को हिन्दुओं ने खदेड़ दिया और जारंग पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया। मुआविया के राज्यकाल (६६१-६८० ई.) में अब्दुर रहमान पुनः सीस्तान का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने काबुल के राजा को पराजित कर नगर पर अधिकार कर लिया, और जाबुल के बुस्त तथा रख्खज को ले लिया। किन्तु उसके वापस जाते ही काबुल तथा जाबुल के राजाओं ने अरबों को खदेड़ दिया और नये अरब गवर्नर को सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार कुछ धन देकर उससे यह प्रतिज्ञा करायी गयी कि वह भविष्य में भारतीय सीमा पर कभी भी आक्रमण नहीं करेगा। ६८३ ई. में काबुल के अधिकारियों ने समझौते की शर्तों को तोड़कर अबू उबैदा इब्न ज़ियाद को जेल में डाल दिया। सीस्तान के गवर्नर याज़िद इब्न ज़ियाद ने बदला लेने का प्रयत्न किया किन्तु उसे जुनजाह की लड़ाई में हरा कर कत्ल कर दिया गया और उसकी सेना के बहुत-से वीर कत्ल कर दिये गये और बाकी सेना खदेड़ दी गयी। परिणाम यह हुआ कि सीस्तान अरबों के हाथ से फिर निकल गया और उन्हें अबू उबैदा की मुक्ति के लिए हिन्दुओं को पाँच लाख दिरहम देने पड़े। इतना होते हुए भी अरबों का विजयोत्साह किसी प्रकार भी नहीं घटा और कुछ दिन बाद ६८३ ई. में ही उन्होंने सीस्तान पर फिर अपने पैर जमा लिये। जाबुल के हिन्दू राजा ने अरबों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए जी-जान से मुकाबला

---

७ बिलादुरी, "किताब फ़ुतूह-अल-बुलदान" (हिट्टी तथा मुरगोटन का अंग्रेजी अनुवाद), जिल्द दो, पृ० १४१-१४३।

८ वही, पृ० १४४।

किया किन्तु वह लड़ाई में मारा गया। फिर भी लड़ाई जारी रही क्योंकि उसके पुत्र ने लड़ाई को बन्द करना स्वीकार नहीं किया। ६९२ ई. में सीस्तान का नया गवर्नर अब्दुल्ला देश के भीतरी भाग में प्रवेश भी कर गया परन्तु हिन्दुओं ने इसका मुकाबला किया और उसे यह लिखित प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि जब तक वह सीस्तान का गवर्नर है, तब तक रतबिल के देश के किसी भी भाग पर न तो वह हमला करेगा, न जलायेगा और न उजाड़ेगा। खलीफा अब्दुल मलिक (६८५-७०५ ई.) ने इस सन्धि को नहीं माना और अब्दुल्ला को उसके पद से प्रथक कर दिया।[९]

इराक के गवर्नर अल-हज्जाज के राज्य-काल में (६९६-७१३ ई.) उबैदुल्ला को सीस्तान भेजा गया। वहाँ से वह काबुल के पास के पहाड़ी मार्ग की ओर बढ़ता गया किन्तु वहाँ के हिन्दुओं ने उसके मार्ग को रोक दिया और उसे अपने तीन पुत्रों को काबुल के राजा के पास बन्धक के रूप में छोड़कर पीछे हटना पड़ा। इस अपमानजनक सन्धि के कारण अरबों में दो दल हो गये और एक दल के सेनापति शुराह ने पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया। किन्तु उसे बुरी तरह हराकर कत्ल कर दिया गया और उसकी सेना को बुस्त की ओर पीछे हटना पड़ा जिसमें बहुत-से सैनिक भूख-प्यास से मर गये। इस शोक में उबैदुल्ला मर गया। इस अपमान का बदला लेने के लिए अरबों ने एक शक्तिशाली सेना एकत्रित की और इसे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित करने के लिए बसरा और कुफा नगरों पर विशेष युद्ध-कर लगाये गये। अब्दुर रहमान के नेतृत्व में ६९९ ई. में इसे काबुल के राजा को जीतने के लिए भेजा गया। किन्तु अब्दुर रहमान भी हिन्दू राज्य को नहीं जीत सका और खूँख्वार हज्जाज को काबुल के राजा के साथ सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार हज्जाज ने ९ लाख दिरहम कर के रूप में लेना स्वीकार कर ७ वर्ष तक (एक दूसरे लेखक के अनुसार ९ वर्ष तक) काबुल पर आक्रमण नहीं करने का वायदा किया, और ७१० ई. में काबुल के राजा को ९ लाख दिरहम सिक्कों के रूप में देने के लिए तलवार के बल से भी विवश किया। परन्तु ७१४ ई. में हज्जाज की मृत्यु हो जाने पर काबुल के राजा ने कर देना अस्वीकार कर दिया और खलीफा सुलेमान के शासन-काल (७१५-७१७ ई.) में किसी प्रकार का भी कर नहीं दिया। अब्बासिद राजघराने ने, जिसने उम्मयद-वंश से ७४९ ई. में खिलाफत हस्तगत की, खलीफाओं के पूर्व गौरव को प्राप्त करने का पुनः प्रयत्न किया। खलीफा अल-मंसूर (७५४-७७५ ई.) इस वंश का दूसरा शासक था। उसने कांधार को जीतकर जाबुल से कर वसूल करने का भरसक प्रयत्न

---

९ बिलादुरी, पृ० १४३-१५०।

किया। यद्यपि अरबों ने अर-रख्ख़ज पर अधिकार कर लिया किन्तु वे सीस्तान पर अपना पूर्ण अधिकार न स्थापित कर सके।[१०] वे काबुल तथा जाबुल को भी जीतने का बराबर प्रयत्न करते रहे किन्तु इन प्रयत्नों में उन्हें विशेष सफलता न मिली। इस प्रकार अफ़ग़ानिस्तान के हिन्दू शक्तिशाली खिलाफत से दो सौ बीस वर्ष तक लोहा लेते रहे और विश्व-विजयी अरबों के बार-बार आक्रमण करने पर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को पूरी तरह प्राप्त कर लिया।

अफ़ग़ानिस्तान पर तुर्कों की विजय

मध्य-काल की सबसे बड़ी शक्ति जिस काम के करने में असमर्थ रही उसे एक छोटे-से राज्य के शासक ने कर दिखाया। यह था याक़ूब इब्न लायथ। याक़ूब ने सीस्तान में लुटेरे के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया था और वह बढ़ते-बढ़ते पर्सिया तथा उसके आसपास के उन राज्यों में सफ़रैद-वंश का संस्थापक हो गया जो काबुल तथा जाबुल नामक हिन्दू राज्यों के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में थे। उसकी इस सफलता के दो कारण थे—एक तो काबुल के प्रशासनाधिकारियों में मतभेद; और दूसरे, काबुल के प्रति याक़ूब का विश्वासघात। ८७० ई. में लगतोरमान नामक क्षत्रिय काबुल का अन्तिम शासक हुआ। इसे लल्य उपनाम कल्लढ़ नामक ब्राह्मण मन्त्री ने गद्दी से उतार दिया और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। यद्यपि राजतरंगिणी के लेखक कल्हन ने कल्लढ़ की योग्यता तथा शक्ति की बहुत प्रशंसा की है किन्तु इसे गद्दी हड़पे हुए एक वर्ष भी न हुआ था कि याक़ूब इब्न लायथ ने इसे हराकर काबुल के बाहर निकाल दिया। जाबुल प्रदेश के आक्रमण-काल में याक़ूब ने हिन्दू राजा के पास सन्देश भेजा कि वह हिन्दू राजा के सामने आत्म-समर्पण करने को तैयार है और उसकी इच्छा है कि उसे सेना के साथ स्वामिभक्ति प्रकट करने का अवसर दिया जाय, परन्तु यदि सेना को आत्म-समर्पण करने का अवसर न दिया गया तो वह छिन्न-भिन्न होकर दोनों के लिए घातक सिद्ध होगी। "याक़ूब के सैनिकों ने अपने घोड़ों के पेट के नीचे भाले छिपा रखे थे और वे स्वयं अपने कपड़ों के नीचे कवच पहने हुए थे। ईश्वर की कृपा से हिन्दू राजा की सेना भालों को नहीं देख पायी। याक़ूब ने कपट पूर्ण स्वामिभक्ति दिखाते हुए सिर झुकाया और भाला निकालकर रुसाल (हिन्दू राजा) की पीठ में भोंक दिया जिससे राजा तुरन्त ही मर गया। उसके गिरते ही याक़ूब के सैनिक शत्रुओं पर टूट पड़े और उन्होंने धर्म-द्रोहियों के सिरों को तलवार से काट-

---

[१०] बिलादुरी, जिल्द दो, पृ० १३९-१५५; इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द दो (द्वितीय संस्करण), पृ० ४०१-४२८, परिशिष्ट : नोट ए—"द हिन्दू किंग्स ऑफ काबुल।"

काटकर खून की नदी बहा दी। विधर्मी राजा के सिर को भाले की नोंक पर देखकर भाग निकले और परिणामस्वरूप बड़ा रक्तपात हुआ। याकूब को यह विजय ऐसे घृणित छल-कपट और विश्वासघात से प्राप्त हुई, जैसा पहले कभी नहीं किया गया था।"[११] इस भीषण विनाश के बाद लल्य के पैर काबुल से उखड़ गये। उसने काबुल को छोड़कर उदभण्ड को अपनी राजधानी बनाया। इसका वर्तमान नाम उण्ड है और जो सिन्ध नदी के उत्तर तट पर बसा हुआ है। यह स्थान रावलपिंडी जिले में अटक से १५ मील उत्तर में है। यह घटना[१२] ८७० ई. (२५६ हिजरी संवत्) की है जिसके बाद अफ़ग़ानिस्तान में हिन्दू-शासन सदा के लिए समाप्त हो गया।[१३]

BOOKS FOR FURTHER READING

1. THOMAS WATTERS : On Yuan Chwang's Travels in India, Vols. I & II.
2. AL BIRUNI : Kitab-ul-Hind, *translated into English by Schau*, Vols. I & II.
3. BEAL, S. : Life of Hiuen Tsang.
4. PHILIP, K. HITTI : The Arabs.
5. BILADURI : Kitab Futuh-ul-Buldan.
6. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vol. II.
7. RAY, H. C. : Dynastic History of Northern India, Vol. I.

---

[११] इलियट एण्ड डाउसन में नूरुद्दीन मुहम्मद उफी का जमी-उल-हिकायत, जिल्द दो (द्वितीय संस्करण), पृ० १७६-१७७।

[१२] इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द दो (द्वितीय संस्करण), पृ० ४१६; एम. ए. बी. गिब्ब कृत "द अरब कौंक्वेस्ट इन सेन्ट्रल एशिया", पृ० १५।

[१३] एच. सी. रे. पहले भारतीय इतिहासकार हुए जिन्होंने व्यवस्थित ढंग से अफ़ग़ानिस्तान के हिन्दू राज्य का वर्णन किया है। (देखिये उनकी पुस्तक "डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया," जिल्द एक, अध्याय दो) किन्तु उनकी पुस्तक के प्रकाशन के बाद ऐतिहासिक खोज में तीव्र प्रगति हुई है अतः इस विषय का अध्ययन नये ढंग से करना चाहिए।

अध्याय ४

मध्य-युग के आरम्भ में हिन्दू-राज्यों के पतन के कारण

भारत के उत्तर-पश्चिमी हिन्दू-राज्यों ने मध्य-एशिया के शक्तिशाली अरबों तथा तुर्कों का किस प्रकार सामना किया और उनके पतन के क्या कारण थे, इन सब ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन समुचित रीति से नहीं किया गया है। किसी भी आधुनिक इतिहासकार ने मनन और चिन्तन के आधार पर तथ्यों का विश्लेषण करते हुए इतिहास का ऐसा वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया है जिससे उन कारणों का ठीक पता लग जाय जिनसे उत्तर-पश्चिम के मुसलमानों के द्वारा हमारी अन्तिम पराजय हुई और हमारी स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी। हम इस्लाम-धर्मावलम्बियों के आक्रमण के ज्वार को अन्त समय तक रोकने में असफल रहे थे अतः लेखकों ने यह अनुमान लगा लिया है कि हमारा राजनीतिक, सामाजिक तथा सैनिक संगठन इतना निकम्मा रहा होगा कि विदेशियों से संघर्ष में आते ही वह छिन्न-भिन्न हो गया। आधुनिक यूरोपीय लेखकों ने तो अपने मस्तिष्क की सारी शक्ति लगाकर यह सिद्धान्त बना लिया है कि हिन्दू-जाति युद्ध-कौशल में मध्य-एशिया के अरबों तथा तुर्कों की अपेक्षा कहीं अधिक हीन थी और अब भी है और उनकी सम्मति में मध्य-युग के हिन्दू-राज्यों के पतन का यही मुख्य कारण था। उदाहरण के लिए लेनपूल ने लिखा है, "आक्रमणकारियों में संगठन तथा एकता थी और हिन्दुओं में फूट थी। आक्रमणकारी उत्तर के रहने वाले थे और हिन्दू दक्षिण के। आक्रमण-कारी बहादुर जाति के और अच्छी जलवायु के निवासी थे, उनमें इस्लाम धर्म का जोश था और धन एवं लूटमार का लालच था। यही हिन्दू तथा आक्रमण-कारियों में भेद था।"[1] एक अन्य मान्यता-प्राप्त इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है कि "आक्रमणकारी अच्छे योद्धा थे क्योंकि वे उत्तर के शीत-प्रधान देश से आये थे, माँसाहारी थे तथा युद्ध-कला में दक्ष थे।"[2] यह सब मत मध्य-

---

१ स्टेनले लेनपूल कृत "मध्यकालीन भारत"।

२ वी. ए. स्मिथ कृत "द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया"।

युग के पक्षपातपूर्ण मुसलमान इतिहासकारों के कथन पर आधारित है जिन्होंने अपने सहधर्मियों की वीरता का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया है और अपने विधर्मियों को अयोग्य दिखाया है। उन्होंने मुहम्मद गज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी के समय में होने वाले हिन्दुओं के पतन को तो अत्यन्त महत्व दिया है किन्तु उसके पहले सिन्ध, अफग़ानिस्तान तथा पंजाब के हिन्दुओं ने साढ़े तीन सौ वर्ष तक जो मुकाबला किया उसकी बिलकुल उपेक्षा कर दी है। परन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि हिन्दू तीन सौ पचास वर्ष तक बार-बार नये-नये तथा शक्तिशाली शत्रुओं के साथ संघर्ष करते रहे थे अतः इतने लम्बे संघर्ष के बाद उनका नैतिक तथा सैनिक पतन होना स्वाभाविक ही था। उपर्युक्त यूरोपीय कथन का थोथापन तो इस बात से ही भली-भाँति प्रतीत हो जाता है कि जिन अरबों ने सर्वप्रथम भारत के एक प्रान्त सिन्ध को अपने अधीन कर लिया था, वे एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के उन अनेक देशों के भी विजेता थे जिनमें मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, पुर्तगाल, स्पेन तथा फ्रांस का दक्षिणी आधा भाग शामिल था, जो अरबियर के उत्तर में शीत कटिबन्ध पर स्थित है और जहाँ के निवासी भी अरबों के समान ही माँस-भक्षी और युद्ध-कला में कुशल हैं। ध्यान देने की बात यह भी है कि इन्हीं अरबों ने मध्य एशिया के मंगोल, उज़बेक तथा तुर्क जैसी बड़ी-बड़ी खूँख्वार जातियों को पूर्णतया जीत लिया था जिनके चंगेजखाँ तथा तैमूर इत्यादि पूर्वज महान् सेनापति थे, जो सम्पूर्ण एशिया में सर्वश्रेष्ठ योद्धा मानी जाती थीं, और जो युद्ध-कौशल, घुड़सवारी तथा खूँख्वारपन में अरबों से भी बढ़ी-चढ़ी थीं। लेकिन बाद में इन्हीं पद दलित तुर्कों ने इस्लाम धर्म अपनाकर अफग़ानिस्तान में काबुल तथा जाबुल एवं पंजाब के उन हिन्दू-राज्यों को सफलतापूर्वक जीत लिया था जिन्हें अरब भी नहीं जीत सके थे, इन्हीं तुर्कों की ओटोमान तुर्क नाम की शाखा ने पन्द्रहवीं शताब्दी में पूरबी रोमन साम्राज्य, उसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया तथा पूरबी यूरोप के तमाम बालकन प्रायद्वीपों को जीत लिया तथा आस्ट्रिया की राजधानी वियना तक को आतंकित कर दिया, उनका दो सौ वर्ष से भी अधिक समय तक दक्षिण-पूरबी यूरोप पर प्रभुत्व रहा और तीन सौ वर्ष तक यूरोपीय जातियों के पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वे यूरोप से नहीं निकाले जा सके। परन्तु सातवीं-आठवीं शताब्दी के उन विश्व-विजेताओं की सन्तान आज पुनः छोटे-से इसराइल के मुट्ठी भर यहूदियों की दया पर निर्भर हो गयी है; यद्यपि इसराइल उन्हीं लोगों से घिरा हुआ है जिन्होंने पैगम्बर मुहम्मद के सन्देश को तीन महाद्वीपों में पहुँचाया था। इसी भाँति भारतवर्ष में भी जो नाटे मराठे शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में (सत्रहवीं शताब्दी में) उत्तर भारत में तुच्छ समझे जाते रहे वे ही बाद में गर्वीले, लम्ब-तड़ंग मुगलों और खूँख्वार

पठानों के लिए ऐसे भयानक बन गये कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के गुलामअली, मुर्तजा हुसैन जैसे मुस्लिम इतिहासकारों को न केवल उनके साहस की प्रशंसा ही करनी पड़ी अपितु यह कहना पड़ा कि दस मराठे सैनिक बीस से भी अधिक हृष्ठ-पुष्ट पठानों के लिए काफी हैं। इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि योद्धापन न तो शरीर की लम्बाई-चौड़ाई पर ही निर्भर होता है और न किसी वंश विशेष की सन्तान होने पर ही। वास्तव में भारतीय सैनिक तो युग-युगान्तर से ही बड़ा वीर रहा है; प्रथम तथा द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध में उसने एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक भागों में युद्ध किया है, और केवल गौरव ही प्राप्त नहीं किया अपितु यूरोपीय सेनापतियों तथा प्रवक्ताओं ने उसकी वीरता की भी प्रशंसा करनी पड़ी। अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्र-हित के लिए युद्ध करने वाले उसके मध्य-कालीन पूर्वज भी किसी प्रकार से योग्यता में कम नहीं रहे होंगे।

दूसरी बात यह है कि यदि विश्व-इतिहास के समकालीन लेखकों के कथन पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि विश्व की किसी भी जाति ने अरब तथा तुर्कों के आक्रमण का इतना लम्बा, दृढ़ और सफल मुकाबला नहीं किया जितना मध्य-युग के हिन्दुओं ने। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अनेक देशों ने तो अरबों के आक्रमणों के आगे कुछ वर्षों में ही घुटने टेक दिये थे, किन्तु सिन्ध ने तो पिचत्तर वर्ष बाद आत्म-समर्पण किया, हिन्दू अफग़ानिस्तान दो सौ बीस वर्ष तक लड़ता रहा और पंजाब एक सौ छप्पन वर्ष तक मुकाबला करता रहा। उदाहरण के लिए, अरबों ने सर्वप्रथम सीरिया पर आक्रमण किया, एक वर्ष में (६३५-६३६ ई.) ही इसका पतन हो गया, इसकी राजधानी दमिश्क के आत्म-समर्पण करते ही दूसरे नगरों ने भी तुरन्त ही विजेता के सामने अपना सर झुका दिया,[३] इराक का पतन बिना युद्ध के[४] ही ६३७ ई. में हो गया, ६३७ ई. के केडेसिया के प्रसिद्ध युद्ध में विजय पाने के पाँच वर्ष में ही अरबों ने सम्पूर्ण फारस के विशाल साम्राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया अर्थात फारस का पतन केवल दस साल[५] में ही हो गया और ६४३ ई. में अरब सैनिक भारत की सीमा तक पहुँच गये।[६] उन्होंने तूफानी आक्रमण कर आठ वर्ष के भीतर (६४२-६५० ई.) मध्य एशिया को जीत लिया, जो खूँख्वार तुर्क, तुर्कमान, उजबेक तथा मंगोलों का निवास-स्थान था। अरबों ने

---

३ फिलिप के. हिट्टी कृत "द अरब्स", पृ० ४९।

४ वही।

५ वही, पृ० ५०।

६ वही।

६३९ से ७०९ ई. के भीतर उत्तरी अफ्रीका के सारे देशों को जीतकर उन पर अधिकार जमा लिया। प्राचीन मिस्र का भी वही हाल हुआ अर्थात् पहले मिस्री सेना को हराया, फिर मिस्री नगरों का घेरा डाला और तत्पश्चात जीत के नारे लगाये। अरबों ने बेबीलोन पर भी इसी प्रकार अधिकार जमाया और एलेक्जेन्ड्रिया को भी एक ही वर्ष में जीत लिया।[७] ७११ ई. में मूसा का रहने वाला तथा बर्बर जाति का सेनापति तारीक़ अपनी सेना सहित जिब्राल्टर के तट पर उतरा और उसी वर्ष १९ जुलाई को स्पेन के राजा रोड्रिक को पराजित किया, जिसके विषय में उसके बाद कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। इस निर्णायक विजय के बाद मुसलमान स्पेन में होकर आगे बढ़ते ही चले गये।[८] और सात वर्ष के थोड़े से समय में ही उन्होंने (आइबेरियन) प्रायद्वीप पर विजय प्राप्त कर ली। यह प्रान्त मध्य-काल के यूरोपीय प्रान्तों में सबसे बड़ा और सुन्दर प्रान्त था जहाँ वे कई सौ वर्ष रहे।[९] लगभग बारह वर्ष के फुटकर आक्रमणों में फ्रांस का दक्षिणी आधा भाग जीत लिया गया। अरबों का सर्वप्रथम प्रतिरोध टूअर्स तथा प्वायटर्स के मैदान में किया गया जहाँ चार्ल्स मार्टल ने अक्टूबर ७३२ ई. में मुसलमानों के सेनापति अब्दुर रहमान को पराजित किया।

तीसरी बात यह है कि भारतीयों ने मुसलमान आक्रमणकारियों का एक लम्बी अवधि तक सफलता के साथ जो मुकाबला किया वह अपना महत्व रखता है और प्रशंसा के योग्य है। अरब और कुछ हद तक तुर्कों ने अपने विजित देशवासियों के धर्म, संस्कृति तथा रहन-सहन के ढंग को बिलकुल नष्ट कर दिया था किन्तु वे न तो हमें अपने में मिला सके और न हमारे धर्म और संस्कृति को नष्ट कर हमारे तथा हमारे पूर्वजों के पारस्परिक सम्बन्धों को ही विच्छिन्न कर सके। सच बात तो यह है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों के जीवन पर जितना हम प्रभाव डाल सके उतना वे हमारे ऊपर नहीं डाल सके।[१०] टाइटस का यह कहना बिलकुल ठीक है कि "इस्लाम पर हिन्दू-धर्म का जितना प्रभाव पड़ा उतना हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का नहीं पड़ा, और यह आश्चर्य की बात है कि अब भी हिन्दू-धर्म निर्भीकता तथा आत्मविश्वास के साथ अपने पथ पर उसी प्रकार अग्रसर है जैसे इन आक्रमणों के पहले चल रहा था।"[११]

---

[७] फिलिप के. हिट्टी कृत "द अरब्स", पृ० ५२।

[८] वही, पृ० ६५।

[९] वही, पृ० ६७।

[१०] वही, पृ० ७१।

[११] टाइटस कृत "इण्डियन इस्लाम"।

चौथी बात यह है कि यद्यपि सिन्ध तथा हिन्दू अफ़ग़ानिस्तान के पतन के बाद पहले अरबों के लिए और फिर तुर्कों के लिए आक्रमण का द्वार बिलकुल खुल गया था फिर भी अरब, सिन्ध और मुल्तान के अतिरिक्त हमारे देश की एक इंच भूमि को भी वह स्थायी रूप से नहीं जीत सके थे। तुर्कों को तो पंजाब पर अधिकार करने में डेढ़ सौ वर्ष (८७०-१०२६ ई.) लग गये थे। मुहम्मद ग़ोरी के ११७५ ई. में भारत पर प्रथम आक्रमण से १३१६ ई. में अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु तक तुर्कों को काश्मीर, आसाम तथा उड़ीसा को छोड़कर केवल शेष उत्तर भारत की विजय करने में ही डेढ़ सौ वर्ष लगे थे और इतने समय में भी यह विजय पूर्ण नहीं हो सकी थी। देश में जहाँ-तहाँ स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष होते ही रहे थे। इस बात को तो सभी जानते हैं कि मध्य-युग में राजस्थान को पूर्णतः कभी नहीं जीता गया, और सम्पूर्ण सल्तनत-काल (१२०६-१५२६ ई.) में गंगा-यमुना के दोआब के जमींदारों से कर वसूल करने के लिए प्रति वर्ष आक्रमण करना पड़ता था।[१२]

अतः हमारी पराजय के कारण कुछ और ही रहे होंगे। भारतीय इतिहास-कारों में मान्यता प्राप्त श्री यदुनाथ सरकार का कथन है कि देश का सबसे बड़ा शत्रु घर का भेदी होता है बाहर का नहीं। आन्तरिक कारणों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। दुर्भाग्यवश सातवीं शताब्दी से पहले उत्तर-पश्चिमी भारत, हिन्दू अफ़ग़ानिस्तान तथा सिन्धु सहित देश के शेष भाग से अलग हो गया था जिसका कारण यह था कि सिन्धु नदी के पार के भागों को रूढ़िवादियों ने "असभ्य जातियों से बसे देश" मान रखा था।[१३] उन प्रदेशों में, विशेषकर अफ़ग़ानिस्तान में, मिली-जुली जातियों का एक बहुत बड़ा समूह रहता था जिसमें हिन्दू ग्रीक, हिन्दू पार्थियन, कुषाण और हूण सम्मिलित थे, जो धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म को अपनाकर हिन्दुओं में घुल-मिल गये थे। देश के बढ़ते हुए रूढ़िवाद को यह सहन नहीं हुआ था। अतः देश के शेष भाग ने इन लोगों के मामलों में कोई विशेष रुचि नहीं ली थी। इन लोगों को भी अपने देशवासियों से किसी प्रकार की सहायता अथवा सहानुभूति की आशा नहीं रही थी और इन लोगों को अपने भुज-बल का भरोसा कर शत्रुओं से अकेले ही लोहा लेना पड़ा था।

दूसरा कारण यह है कि मौर्य-साम्राज्य के समाप्त होने के बाद भारत में ऐसी कोई संगठित शक्ति और साधन नहीं रह गये थे जो भारत की रक्षा करने

---

१२ देखिये मिनहाज-उस-सिराज कृत "तब्कात-ए-नासिरी"; बरानी कृत "तारीख-ए-फिरोजशाही"; इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द २-४।

१३ थॉमस वाटर्स कृत "ऑन युवानच्यांग ट्रेवेल्ज़ इन इण्डिया," जिल्द एक, पृ० १८०।

में समर्थ होते। कारण यह था कि हमारी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर तथा दूसरी सीमाओं पर छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य बन गये थे। अतः ये सीमाएँ अब सम्पूर्ण देश की सीमाएँ नहीं मानी जाती थीं। सम्पूर्ण भारत की तो बात दूर रही, उत्तर भारत की भी कोई ऐसी केन्द्रीय शक्ति नहीं थी जो सारे प्रदेश के हित को ध्यान में रखकर काम कर सकती। सिन्ध, काबुल तथा जाबुल के राजा वीर थे और इन देशों की जनता भी लड़ाकू थी। अतएव धन-जन की अल्प-शक्ति के होते हुए भी इन्होंने अपने युग के उस सबसे बड़े साम्राज्य का सामना किया जो अत्यधिक शक्तिशाली तथा साधन-सम्पन्न था। भारत के दूसरे राज्यों ने इन युद्धों में अपने युद्धों की सी रुचि न लेकर केवल पड़ोसी की सी ही रुचि ली जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू अफ़ग़ानिस्तान और सिन्ध अपने से बहुत बड़ी शक्ति का इन परिस्थितियों में एक अनिश्चित और लम्बी अवधि तक मुकाबला न कर सके।

तीसरा कारण यह है कि इसी अवधि में देश को ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया का भी अनुभव करना पड़ा। देश को दृष्टि में रखते हुए इसके तीन परिणाम हुए। ब्राह्मणवाद का पहला प्रभाव यह हुआ कि ब्राह्मण मन्त्री अपने क्षत्रिय तथा शूद्र राजाओं को गद्दी से हटाकर स्वयं उसके मालिक बन गये। इसका प्रभाव यह हुआ कि राजनीतिक क्रान्ति के साथ-साथ शासन में अस्थिरता आ गयी। ब्राह्मण लल्य, जो कल्लढ़ के नाम से भी प्रसिद्ध है, काबुल के लगतोरमन क्षत्रिय राजा का मन्त्री था। इसने राजा को गद्दी से उतारकर जेल में डाल दिया और ८७० ई. (२५६ हिजरी संवत्) में स्वयं गद्दी पर बैठ गया। यह एक ऐसा नाजुक समय था जबकि सफरीद याकूब बिन लायथ के आक्रमणों के कारण देश को शत्रु का बड़ा भारी मुकाबला करना था।[१४] अभी लल्य को राज्य हड़पे हुए एक वर्ष भी न होने पाया था कि याकूब ने उसे काबुल से मार भगाया और अफ़ग़ानिस्तान जो उत्तर-पश्चिमी भारत का शताब्दियों तक अंग रहा था, सदा के लिए इसके हाथ से निकल गया। सिन्ध में भी इसी प्रकार की घटना घटी। जिस समय सिन्ध पर अरबों के आक्रमण हो रहे थे उसी समय ब्राह्मण मन्त्री चच ने राजा साहसी राय द्वितीय को गद्दी से उतारकर उसका वध कर दिया और उसकी विधवा रानी के साथ विवाह कर ७०० ई. के लगभग वह स्वयं गद्दी का मालिक[१५] बन गया। चच ने जो राज्य हड़पा उसका मूल्य उसके पुत्र दाहिर को चुकाना

---

[१४] अल-बरुनी कृत "किताब-उल-हिन्द" (साचऊ कृत अनुवाद), जिल्द दो, पृ० १०-१३।

[१५] चचनामा; देखिये आर. सी. मजूमदार कृत "क्लासिकल एज", पृ० १६५।

पड़ा। ७१२ ई. में अरबों के सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने उसे हराकर मार डाला और सिन्ध में हिन्दू-राज्य सदा के लिए समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त कट्टरपंथी हिन्दू-धर्म के बढ़ जाने से सम्पूर्ण देश में बौद्ध हिन्दुओं के विरुद्ध हो गये और सिन्ध में तो वे राजवंश से ही उदासीन नहीं हुए वरन बहुत-से लोग तो आक्रामक अरबों से ही मिल गये और अपने राजा तथा देश के विरुद्ध अरबों की पर्याप्त सहायता भी की।[१६]

इसके अतिरिक्त एक बात और हुई कि धार्मिक कट्टरता तथा कर्मकाण्ड पद्धति सीधे-सीधे निर्धन हिन्दुओं के आडम्बररहित जीवन के किसी प्रकार भी अनुकूल नहीं रही। इन निर्धनों ने अपने तथा अपने नये स्वामियों के बीच एक चौड़ी खाई का अनुभव किया क्योंकि ये शासक लोग इन लोगों को अपने से प्रथक रखकर उस नीति को अपना रहे थे जो धर्म तथा समाज के लिए अत्यन्त घातक थी। सिन्ध के जाट तथा मेद इस नीति के ऐसे शिकार हुए कि बौद्धों की तरह वे भी दाहिर के विरुद्ध मुहम्मद बिन कासिम से जा मिले। ब्राह्मणवाद की कट्टरता का राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि हमारा सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हो गया। यदि यह संगठन छिन्न-भिन्न न होता तो हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता सदा बनी रहती।

चौथा कारण यह प्रतीत होता है कि उत्तर भारत की सर्वसाधारण जनता का नैतिक पतन हो गया था और उसमें व्यभिचार की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप उनकी युद्ध-कला का पतन हो गया था। कोणार्क, खजुराहो इत्यादि अन्य स्थानों में, यहाँ तक कि पुरी, चित्तौड़ तथा उदयपुर आदि के मन्दिरों के बाहर भी जो अश्लील मूर्तियाँ दिखाई देती हैं वे उस समय की जनता के चारित्रिक अधःपतन की साक्षी हैं। भले ही इनका आध्यात्मिक महत्व सिद्ध किया जाय तो भी इनसे व्यभिचार तथा नैतिक पतन का आभास अवश्य मिल जाता है।

पाँचवाँ कारण यह है कि उत्तर-काल में अफ़ग़ानिस्तान तथा सिन्ध के हिन्दुओं का विदेशी आक्रमणकारियों के साथ जो युद्ध हुआ उसमें हिन्दुओं को दुर्भाग्यवश एक ही समय में दो मोर्चों पर युद्ध करना पड़ा। आरम्भ में जब कँपिशी अथवा काबुल अरबों के साथ युद्ध कर रहा था तब काश्मीर उसके साथ था। काश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ (लगभग ७१३-७५० ई.) काबुल के शाही राजाओं का मित्र था क्योंकि उसकी सीमा पर भी अरबों का

---

१६ ऐसा प्रतीत होता है कि यह आन्दोलन बहुत फैल गया था और इस युग से पूर्व ही इसका आरम्भ हो गया था। एक नागर ब्राह्मण गोहिल्य या गुहिल राजा मानमोरी से चित्तौड़ की गद्दी छीनकर छठी शताब्दी में स्वयं राजा बन गया था।

आक्रमण हो रहा था। किन्तु ललितादित्य के उत्तराधिकारियों, विशेषकर शंकर-वर्मन, ने इस बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का त्याग कर दिया था जिसका परिणाम यह हुआ था कि काबुल के शासकों को अपनी सीमा को काश्मीर के नादान तथा लोलुप शासकों से बचाने के लिए पश्चिमी मोर्चे से अपने कुछ सैनिकों को समय-समय पर हटाना पड़ता था और काबुल के हिन्दुओं को जो शक्ति मुसलमान शत्रुओं को दूर करने में लगानी चाहिए थी वह शक्ति अब काश्मीर के विरुद्ध भी लगानी पड़ती थी।

अन्त में, यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध सम्बन्धी नीति तथा पैंतराबाजी में जो भी छोटी-छोटी भूलें हुईं वे भी किसी प्रकार से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि उन्हीं के कारण अन्त में देश के भाग्य का निर्णय हुआ। उदाहरण के लिए, अफ़ग़ानिस्तान तथा सिन्ध सरकारों ने अरबों की युद्ध सम्बन्धी महत्वा-कांक्षाओं और उनकी तैयारियों की अवहेलना की तथा समय पर उन्होंने देश की रक्षा का पर्याप्त प्रयत्न नहीं किया। ये सब बातें ऐसी हैं जिनकी किसी प्रकार भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दाहिर ने एक मूर्खता यह की कि उसने देबल तथा सिन्ध के दूसरे नगरों की रक्षा के लिए सेना नहीं भेजी और शत्रु को यह अवसर दिया कि वह इन्हें बारी-बारी से एक-एक करके जीत ले। जिस समय मुहम्मद बिन कासिम घोड़ों की बीमारी के कारण शक्तिहीन होकर दो महीने तक सिन्धु नदी के किनारे पड़ा रहा था और आमने-सामने की लड़ाई के लिए अपने को शक्तिहीन समझ रहा था उस समय भी दाहिर ने उस पर आक्रमण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया और वह यही सोचता रहा कि उसे खुल्लमखुल्ला तथा निर्णयात्मक युद्ध करना चाहिए।

जहाँ तक सामान्य कारणों का सम्बन्ध है हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यद्यपि अरब वीरता में हिन्दुओं से बढ़कर नहीं थे तो भी वे युद्ध-कला में अधिक दक्ष थे। इसका कारण यह था कि उनमें पूर्ण एकता थी और उनका सामाजिक संगठन अच्छा था। इस्लाम धर्म ने जाति तथा वंश के भेद-भावों को निर्मूल कर दिया था अतः मध्य एशिया के सभी इस्लाम-धर्मावलम्बी संगठित होकर पूर्णतः एक हो गये थे। दूसरी बात यह है कि वे शराब नहीं पीते थे क्योंकि प्राचीन मुसलमान कुरान की शिक्षाओं का कड़ाई से पालन करते थे और कुरान में शराब पीने की मनाही है। परिणाम यह हुआ कि आक्रामक सेना ने अभूतपूर्व साहस एवं एकता का परिचय दिया। हिन्दू सेना के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था क्योंकि वह जाति, धर्म तथा सामाजिक रूढ़ियों के पचड़े में पड़ी हुई थी।

दूसरी बात यह है कि आक्रामक अच्छे घुड़सवार थे। अच्छे घोड़े और हथियारों के कारण उनकी सेना हमारी सेना से कहीं अच्छी थी। इतिहास

में भी अरबी घोड़ों की प्रशंसा की गई है और तुर्कमान घोड़े तो अरबी घोड़ों से भी अच्छे होते थे। 'कैम्ब्रिज मेडिवियल हिस्ट्री' में लिखा है, "मध्य एशिया में तुर्कमान घोड़े सबसे अच्छे हैं। द्रुत-गति, परिश्रमशीलता सूझ-बूझ, बुद्धिमानी, स्वामिभक्ति तथा भूमि के पहचानने में ये सब नस्लों से अच्छे माने जाते हैं। तुर्कमान घोड़ा लम्बा, पतला और दुबला होता है, इसके पैर तथा गर्दन पतली तथा लम्बी होती है।.........तुर्कमान लूटमार का आक्रमण करते समय इन घोड़ों पर सवार होकर निर्जल रेगिस्तान में पाँच दिन में ६५० मील तक पार कर लेते थे।.........वे इस प्रकार की शिक्षा असीम बंजरों और रेगिस्तानों में हजारों वर्ष से ले रहे थे। लूटमार के लगातार जीवन के लिए अधिक से अधिक थकावट तथा कष्टों के सहने की आवश्यकता होती है और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि घोड़ा तथा घुड़सवार में ये दोनों गुण विद्यमान थे।"[१७] तुर्कों की जन्मभूमि तुर्कमानों की जन्मभूमि से थोड़ी दूर दक्षिण में है। ये भी लगभग इन जैसे ही हट्टे-कट्टे तथा कष्ट सहने में कुशल थे और अरबी अथवा तुर्कमानी घोड़ों पर चढ़ते थे। सर यदुनाथ सरकार का कहना है कि "तुर्क अपने घोड़ों की तेज चाल तथा घोड़े पर सवार होकर जोरदार आक्रमण के लिए इतने प्रसिद्ध थे कि एशियाई-जगत में किसी भी जाति के अच्छे वीर तथा सुसज्जित घुड़सवारों को तुर्क सवार (तुर्की घुड़सवार) पुकारा जाता था।[१८] इन आक्रमणकारियों के पास अनेक प्रकार के हथियार थे और इनके धनुष के दो टुकड़े होते थे जो एक धातु से जुड़े रहते थे। इनसे जो घातक वाण छूटते थे वे अस्सी से सौ कदम तक की मार करते थे और कवच तथा ढाल को सरलता से वेध देते थे। इनके साथ-साथ इनके पास लम्बे-लम्बे भाले भी थे। तुर्की अमीर और उनके घोड़े कवच पहने रहते थे और धनुष-वाण तथा भालों से लड़ते थे। इनके साथ इनके पास लम्बी और तेज तलवारें भी होती थीं।

तीसरा कारण यह था कि एक-दो राजाओं को छोड़कर सिन्ध, काबुल, जाबुल तथा पंजाब के राजाओं में सेनापति के वे गुण नहीं थे जो मुसलमान सेनापतियों में थे। कारण यह था कि इन राजाओं की सेनाएँ छोटी थीं और छोटी सेनाओं के सेनापतियों में वे गुण नहीं आ सकते जो बड़ी सेना के सेनापतियों में होते हैं। सच बात तो यह है कि इन राजाओं के पास धन-शक्ति तथा जन-शक्ति बहुत कम थी अतः ये बड़ी और अच्छी सेनाएँ नहीं रख सकते थे।

चौथा कारण यह था कि हमारे सेनाधिकारी तथा सेनापति सेना की

---

१७ "कैम्ब्रिज मेडिवियल हिस्ट्री," जिल्द एक, पृ० ३३१।

१८ "हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड" (संडे एडिशन), ७ मार्च, १९५४।

पैंतरेबाजी के उन साधनों की उन्नति करने में असफल रहे जो इस्लाम के जन्म के पूर्व ही एशिया के दूसरे देशों में उन्नत हो गये थे और जिन्हें इस्लाम धर्मावलम्बी अरब और तुर्कों ने उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। युद्ध-सम्बन्धी चालबाजी यह थी कि पहले धनुष-बारण से सुसज्जित तेज घुड़सवार धूआँधार बारण-वर्षा से शत्रु सेना में आतंक, भय तथा गड़बड़ी पैदा कर दें, तत्पश्चात एकबारगी घुड़सवार सेना शत्रु पर आक्रमरण कर दे। आक्रमरणकारी अपनी सेना के दस्तों को पाँच भागों में बाँटते थे अर्थात दक्षिरण दल, केन्द्र, वाम दल, आगे बढ़कर देखने वाला सुरक्षा-दल और कोतल दल। ये दल अर्द्ध-चन्द्राकार में खड़े किये जाते थे। ये दल न तो आक्रमरण करने के लिए समीप जाते थे और न आमने-सामने का ही आक्रमण करते थे। इनकी चाल यह होती थी कि वे अपनी सेना की बड़ी टुकड़ियों से भारतीय सेना को चारों ओर से घेर लेते थे और उन पर तेजी से बारण-वर्षा करने लगते थे। भारतीय सेना एक लम्बी पंक्ति में खड़ी होती थी और दक्षिरण-दल, केन्द्र तथा वाम दल में विभक्त होती थी। शत्रु केवल दिन ढलने के समय भारतीय सेना के किनारे के भागों के आसपास एकत्रित होकर आक्रमरण करते थे और भारतीय सेना में गड़बड़ी होने पर तुर्की घुड़सवार बारणों के बादल छा देते थे। तत्पश्चात आक्रमणकारी सेना के चन्द्रमा-रूपी किनारे के दोनों भाग भारतीय सेना के पिछले भाग को घेर लेते थे।

पाँचवा कारण यह था कि राजपूतों को अपनी तलवार की दक्षता का अभिमान था और वे युद्ध को एक खेल-प्रतियोगिता समझते थे जिसमें वे अपना कौशल तथा वीरता दिखाने का प्रयत्न करते थे। किन्तु अरब तथा तुर्क सैनिक विजय को लक्ष्य मानकर युद्ध करते थे और उनका विश्वास था कि युद्ध के समय निन्दित से निन्दित साधनों को भी काम में लाना अनुचित नहीं है। राजपूत न तो शत्रु की दुर्बलता का लाभ उठाना चाहते थे और न छल-कपट का प्रयोग ही उचित समझते थे किन्तु अरब तथा तुर्क सैनिक इन कामों में अत्यन्त कुशल थे।

छठा कारण यह था कि महमूद गज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी दोनों ने ही, और गज़नवी ने तो ग़ोरी से और भी अधिक, भारतीय जनता और सेना को अत्यधिक आतंकित कर ऐसा हताश कर दिया कि अन्त में उसका नैतिक पतन हो गया। उन्होंने हमारे अच्छे-अच्छे नगरों को बड़ी तेजी से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और देश में आग लगाकर तथा मारकाट मचाकर उसे उजाड़ दिया। इस प्रकार के काम बार-बार किये गये, अतः जनता अत्यन्त भयभीत हो गयी और उसने महमूद की सेना को अजेय समझ लिया। देश का राजनीतिक और सैनिक पतन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और लोगों ने भ्रमवश समझ लिया कि तुर्कों का मुकाबला करना व्यर्थ ही होगा। उस युग में इस प्रकार

की भावना ने हमारे समाज को हताश कर दिया था। अन्त में, यही कहना होगा कि अरब और तुर्क धार्मिक उत्साह से अत्यधिक प्रभावित थे। इस प्रभाव से वे यह विश्वास करने लगे थे कि ईश्वर ने उन्हें मूर्तियों को तोड़कर इस्लाम का प्रचार करने के लिए बनाया है। हमारे देशवासियों के सामने देश की सुरक्षा के अतिरिक्त और कोई आदर्श नहीं था। उनकी धार्मिक भावना ने ही उन्हें शत्रु का मुकावला करने के लिए ही प्रेरित किया था, शत्रु के देश पर आक्रमण करने की भावना ने नहीं। केवल शारीरिक शक्ति और सेना सम्बन्धी हथियार ही सेना के लिए पर्याप्त नहीं हैं; सेना को उत्साहित करने वाली भावना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि अस्त्र-शस्त्र।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. Lane-Poole, Stanley : Medieval India.
2. Smith, V. A. : The Oxford History of India.
3. Hitti, Philip K. : The Arabs.
4. Titus : Indian Islam.
5. Majumdar, R. C. : The Classical Age.
6. Cambridge Medieval History, Vol. I.
7. Hindustan Standard (*Sunday Edition*), 7th March, 1954.

अध्याय ५

महमूद गज़नवी के आक्रमण के समय का भारत

राजनीतिक अवस्था

गज़नवी-वंश के आक्रमणों के समय भारत की राजनीतिक दशा अरबों की सिन्ध-विजय के समय से एक प्रकार से बहुत भिन्न थी। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे देश में कोई विदेशी उपनिवेश न था, विदेशी सत्ता की उपस्थिति का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। पश्चिमी किनारे पर केवल कुछ अरब सौदागर रहते थे जिनका मुख्य पेशा व्यापार था। इसके विपरीत १०वीं शताब्दी में हमारे देश में मुल्तान और मंसूरा के दो विदेशी राज्य थे। इसके अतिरिक्त उन राज्यों की काफी जनता ऐसी थी जिसे मुसलमान बना लिया गया था। दक्षिण भारत में भी, विशेषकर मलाबार में, अरबों के उपनिवेश थे। वहाँ के शासकों ने मूर्खतावश विदेशियों को देशी जनता को मुसलमान बनाने की आज्ञा दे दी थी। जिन लोगों ने विदेशी धर्म अंगीकार कर लिया था, वे विदेशी ढंग का रहन-सहन भी पसन्द करने लगे थे और गज़नी तथा मध्य एशिया से आने वाले अपने मुसलमान भाइयों के साथ उनकी सहानुभूति थी। वास्तव में उनके लिए यह स्वाभाविक भी था। सुबुक्तगीन, महमूद गज़नवी और उनके १५० वर्ष बाद मुहम्मद ग़ोरी इस दृष्टि से भाग्यशाली थे कि उन्हें भारतीय जनता के एक अंग की नैतिक सहानुभूति प्राप्त थी।

मुल्तान और सिन्ध के अरब राज्य

यहाँ पर इन अरब राज्यों के इतिहास का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। इतना कहना पर्याप्त है कि उनमें सम्पूर्ण आधुनिक मुल्तान और सिन्ध सम्मिलित थे और ८७१ ई. में वे खिलाफत से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वतन्त्र हो गये थे। किन्तु इस देश में परदेशी होने के नाते उनकी स्थिति अधिक दृढ़ न थी। इसलिए नाममात्र के लिए वे खलीफा का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। वास्तव में यह उनकी कूटनीतिक चाल थी। समय-समय पर इन राज्यों के शासक-वंशों में परिवर्तन होते रहते थे। प्रारम्भ में करमाथी लोग मुल्तान में राज्य करते थे। फतेह दाऊद उनका शासक था। उस व्यक्ति में कुछ योग्यता थी। सिन्ध खास में अब भी अरबों का ही शासन था। अरबों की

राजनीतिक और धार्मिक नीति से परिचित होने पर भी पड़ोस के हिन्दू राज्यों ने इन राज्यों को किसी प्रकार से सताया नहीं। विचित्र बात यह थी कि हर जगह अरबों तथा नये भारतीय मुसलमानों के साथ सहृदयता का बर्ताव किया जाता था और उन्हें अपने धर्म का पालन करने तथा नये लोगों को मुसलमान बनाने की आज्ञा थी। देश के जीवन में वास्तव में उनका काफी महत्व था।

शेष भारत में देशी राजवंश शासन करते थे। इन राज्यों में निम्नलिखित प्रमुख थे :

हिन्दूशाही राज्य

पहला महत्वपूर्ण हिन्दू राज्य चिनाब नदी से हिन्दूकुश तक फैला हुआ था और काबुल उसमें सम्मिलित था। इस राजवंश ने २०० वर्षों तक अकेले ही अरब-आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया था। किन्तु अन्त में इसके शासकों को अफगानिस्तान (काबुल सहित) छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा और उदभण्डपुर अथवा वैहन्द को उन्होंने राजधानी बनाया। दसवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जयपाल इस राज्य पर शासन करता था। वह वीर, सैनिक तथा योग्य शासक था। उसके राज्य की स्थिति ऐसी थी कि गज़नी से आने वाले आक्रमणकारी का पहला प्रहार उसी को झेलना पड़ा।

काश्मीर

दूसरा महत्वपूर्ण राज्य काश्मीर का था। उसके उत्पल राजवंश की हिन्दूशाही राज्य तथा कन्नौज के साम्राज्य से टक्कर हो गयी। प्रसिद्ध राजा शंकरवर्मन ने काश्मीर राज्य की सीमाओं का अनेक देशों में विस्तार किया परन्तु वह उरस (आधुनिक हजारा जिला) के लोगों से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी मृत्यु के उपरान्त राज्य में अराजकता फैल गयी। इसलिए काश्मीर के ब्राह्मणों ने अपनी जाति के यशस्कर नामक व्यक्ति को सिंहासन पर बैठा दिया। उसके वंश का थोड़े समय पश्चात ही अन्त हो गया और पर्वगुप्त ने एक नये वंश की नींव डाली। पर्वगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र क्षेमेन्द्र हुआ। उसके समय में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसकी रानी दिद्दा के हाथ में रही। अन्त में इस शक्तिशाली स्त्री ने गद्दी पर अधिकार कर लिया और स्वयं शासिका बन बैठी। उसने १००३ ई. तक राज्य किया। तदुपरान्त संग्राम राजसिंहासन पर बैठा। उसने लोहर वंश की स्थापना की। इस प्रकार जब महमूद गज़नवी ने भारत के सिंहद्वार पर आक्रमण किया, उस समय काश्मीर के शासन की बागडोर एक स्त्री के हाथों में थी और देश की दशा अति शोचनीय थी।

कन्नौज

सम्राटों के क्रीड़ा-स्थल कन्नौज के प्रसिद्ध नगर पर प्रतिहार नामक एक नये राजवंश का ८३६ ई. के लगभग अधिकार हो गया था। प्रतिहार लोग अपने को रामायण के नायक श्री रामचन्द्र के अनुज लक्ष्मण का वंशज मानते थे। किन्तु विद्वानों का मत है कि वे गुर्जरों की सन्तान थे। कहा जाता है कि आठवीं शताब्दी में एक बार जब एक राष्ट्रकूट राजा ने उज्जैन में यज्ञ किया उस समय एक प्रतिहार सामन्त ने उसके द्वारपाल की हैसियत से काम किया। इसी प्रसंग में सम्भवतः सर्वप्रथम प्रतिहार शब्द का प्रयोग हुआ। वत्सराज प्रतिहार-वंश का प्रसिद्ध शासक हुआ। उसने सम्राट की उपाधि धारण की। उसका उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय भी यशस्वी योद्धा था। उसने बंगाल के धर्मपाल को पराजित किया; किन्तु राष्ट्रकूटों द्वारा उसे स्वयं हार खानी पड़ी। कन्नौज और मध्य-देश पर प्रतिहारों का प्रभुत्व कायम रहा। अपने उत्तर तथा दक्षिण के पड़ोसी राज्यों से भी उनका संघर्ष चलता रहा जिनमें कभी उनको सफलता मिली और कभी पराजय भोगनी पड़ी। दक्षिण के राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय ने प्रतिहार राजा महिपाल को बुरी तरह हराया और उसे अपनी राजधानी कन्नौज से भी हाथ धोना पड़ा। किन्तु एक चन्देल राजा ने उसे पुनः गद्दी पर बैठा दिया, फिर भी प्रतिहारों की शक्ति को भारी धक्का लगा। इस वंश के शासक गंगा की उपत्यिका के उत्तरी भाग तथा राजस्थान और मालवा के कुछ प्रदेशों पर राज्य करते रहे किन्तु उनकी सत्ता सदैव लड़खड़ाती रही। बुन्देलखण्ड के चन्देल, गुजरात के चालुक्य और मालवा के परमार जो पहले उनके अधीनस्थ सामन्त थे, स्वतन्त्र हो गये। प्रतिहार-वंश का अन्तिम राजा राज्यपाल हुआ। वह दुर्बल शासक था। उसकी राजधानी कन्नौज पर महमूद गज़नवी ने १०१८ ई. में आक्रमण किया। अपने अभ्युदय के काल में प्रतिहारों ने अरबों के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध करके उनसे देश की रक्षा की थी। किन्तु कालान्तर में उनकी शक्ति क्षीण हो गयी और ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुर्कों के आक्रमण के सामने वे न टिक सके।

बंगाल का पाल-वंश

पाल-वंश के शासक देवपाल ने ३९ वर्ष राज्य किया। ८३३ तथा ८७८ ई. के बीच किसी समय उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल हुए और उनके समय में बंगाल राज्य का तेजी से पतन होने लगा। परवर्ती पाल राजाओं का कन्नौज के प्रतिहारों से संघर्ष छिड़ गया जिसके कारण बंगाल को भीषण आपत्तियों का सामना करना पड़ा। ११वीं शताब्दी के प्रथम चरण में यहाँ महिपाल प्रथम ने राज्य किया जो महमूद गज़नवी का समकालीन था।

उसने कुछ हद तक अपने वंश के वैभव की पुनः स्थापना की, किन्तु बंगाल के कुछ भाग पर शक्तिशाली सामन्तों ने पहिले ही अधिकार कर लिया था और वे नाममात्र को ही पाल राजाओं का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। जिस समय उत्तर-पश्चिमी भारत में महमूद गज़नवी हत्या और लूट का काण्ड रच रहा था उसी समय बंगाल पर शक्तिशाली तामिल सम्राट राजेन्द्र चोल का आक्रमण हुआ। इस युद्ध में बंगाल को भीषण क्षति उठानी पड़ी, किन्तु भाग्य से दूरस्थ होने के कारण वह महमूद गज़नवी के आक्रमणों से मुक्त रहा।

छोटे राज्य

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में अन्य कई छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें गुजरात के चालुक्य, बुन्देलखण्ड के चन्देल और मालवा के परमार अधिक महत्वपूर्ण थे। पहले किसी समय वे कन्नौज के अधीन रह चुके थे किन्तु कन्नौज के दुर्बल प्रतिहारों के शासन-काल में वे स्वतन्त्र हो गये थे।

दक्षिण के राज्य

दक्षिण भारत के राजवंशों में निरन्तर संघर्ष चलता रहा, इसलिए वहाँ के निवासी अधिक उन्नति नहीं कर सके। दक्षिण के पूर्ववर्ती चालुक्यों और राष्ट्रकूटों में प्रभुता के लिए दीर्घकाल तक संघर्ष हुआ। ७५३ ई. में चालुक्यों की पराजय हुई। राष्ट्रकूट भी अपने पड़ोसी राज्यों के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करते रहे, इसलिए ९७३ ई. में उनका भी पतन हो गया। उनका स्थान परवर्ती चालुक्यों ने ले लिया। इसी प्रकार ९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रसिद्ध पल्लव-वंश का भी पराभव हो गया। ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दक्षिण में दो प्रसिद्ध राज्य थे; कल्याणी का परवर्ती चालुक्य राज्य और तंजौर का चोल राज्य। परवर्ती चालुक्य-वंश का संस्थापक तैल द्वितीय था। वह वातापी के चालुक्यों का वंशधर होने का दावा करता था। उसने आधुनिक हैदराबाद राज्य में स्थित कल्याणी को अपनी राजधानी बनाया। उसके उत्तराधिकारी तंजौर के चोल राजाओं के विरुद्ध संघर्ष में फँस गये। चोल लोग आदित्य के वंशज थे। रामराजा के समय में उनका महत्व बढ़ गया। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल महान् योद्धा और विजेता हुआ। उसने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में अनेक प्रदेश जीते। उसकी गणना उस युग के महानतम भारतीय शासकों में थी। जिस समय दक्षिण में चालुक्य और चोल निर्मम संघर्ष में रत थे, उत्तरी भारत में महमूद गज़नवी बड़े-बड़े साम्राज्यों को धूल में मिला रहा था।

सामाजिक तथा धार्मिक दशा

अरबों की सिन्ध-विजय के बाद लगभग ३०० वर्षों तक हमारा देश बाह्य

आक्रमणों से मुक्त रहा। इस प्रकार दीर्घकाल तक विदेशी आक्रमणों के भय से मुक्त रहने के कारण हमारी जनता में यह भावना उत्पन्न हो गयी कि भारत भूमि को कोई विदेशी शक्ति आक्रान्त कर ही नहीं सकती। कहा जाता है कि निरन्तर जागरूकता ही स्वाधीनता का मूल है, किन्तु उस युग में हमारे देश में इस भावना का लगभग लोप हो चुका था। हमारे शासक सैनिक विषयों में असावधान हो गये थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की किलेबन्दी नहीं की और न उन पर्वतीय देशों की रक्षा का ही प्रबन्ध किया जिनमें होकर विदेशी सेनाएँ हमारे देश में प्रवेश कर सकती थीं इसके अतिरिक्त हमारे लोगों ने उस नवीन रण-नीति और युद्ध-प्रणाली से भी सम्पर्क नहीं रखा जिसका विकास अन्य देशों में हो चुका था। यही नहीं, राष्ट्रीय उत्साह तथा देशभक्ति की भावनाओं का भी हमारे देश में पूर्णतया लोप हो चुका था क्योंकि ये भावनाएँ तो संकट के ही समय में अधिक बलवती होती हैं। प्रादेशिक देशभक्ति का तो वह युग भी नहीं था। देश-प्रेम की जो कुछ भावना थी वह भी इसलिए जाती रही थी कि भ्रमवश लोग यह समझते थे कि बाह्य आक्रमणों से हम पूर्णतया रक्षित हैं। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक के युग में विचारों की संकीर्णता हमारे देशवासियों के चरित्र का एक अंग बन गयी थी। उनका विश्वास था कि हम सृष्टि की सर्वोत्तम जाति और ईश्वर के चुने हुए लोग हैं और दूसरे लोग हमारे सम्पर्क में आने के योग्य नहीं हैं। अल-बरुनी नामक प्रसिद्ध विद्वान महमूद गजनवी के साथ हमारे देश में आया था। उसने यहाँ रह कर संस्कृत भाषा, हिन्दू धर्म तथा दर्शन का अध्ययन किया। वह आश्चर्य के साथ लिखता है कि "हिन्दुओं की धारणा है कि हमारे जैसा देश, हमारी जैसी जाति, हमारे जैसा राजा, धर्म, ज्ञान और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।" वह यह भी लिखता है कि हिन्दुओं के पूर्वज इतने संकीर्ण विचारों के न थे जितने इस युग (११वीं शताब्दी) के लोग थे। उसे यह देखकर भी बड़ा आश्चर्य हुआ था कि "हिन्दू लोग यह नहीं चाहते कि जो चीज एक बार अपवित्र हो चुकी है, उसे पुनः शुद्ध करके अपना लिया जाय।"

उस युग में हमारा देश शेष संसार से लगभग पूर्णतया प्रथक था। यही कारण था कि हमारे देशवासियों का अन्य देशों से सम्पर्क टूट गया और वे बाह्य जगत में होने वाली राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं से भी सर्वथा अनभिज्ञ रहे। अपने से भिन्न जातियों और संस्कृतियों से सम्पर्क न रहने के कारण हमारी सभ्यता गतिहीन होकर सड़ने लगी। वास्तविकता तो यह है कि इस युग में हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पतन के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे। इस युग के संस्कृत साहित्य में हम उतनी सजीवता और सुरुचि नहीं पाते, जितनी कि पाँचवीं और छठी शताब्दियों के साहित्य में।

हमारी स्थापत्य, चित्रकला तथा अन्य ललित कलाओं पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। हमारा समाज गतिहीन हो गया, जाति-बन्धन अधिक कठोर हो गये, स्त्रियों को वैधव्य के नियमों का कठोरता से पालन करने पर बाध्य किया गया, उच्च वर्णों से विधवा-विवाह की प्रथा पूर्णतया उठ गयी और खान-पान के सम्बन्ध में भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। अछूतों को नगर से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया।

धर्म समुचित व्यवहार और नैतिकता का मूल माना जाता है। किन्तु इस क्षेत्र में भी अधःपतन होने लगा था। शंकर महान् ने हिन्दू धर्म को पुनः संगठित किया था और उसे एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर खड़ा किया था, किन्तु सामाजिक दोषों को वे भी दूर नहीं कर सके। इस युग में वाममार्गी सम्प्रदायों की लोकप्रियता बढ़ने लगी, विशेषकर बंगाल तथा काश्मीर में। इनके अनुयायी सुरापान, माँसाहार, व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों में लिप्त हो गये। 'खाओ, पिओ और मस्त रहो' यही उनका सिद्धान्त था। इस प्रकार के दूषित विचार शिक्षा-संस्थाओं में भी प्रवेश कर गये, विशेषकर बिहार में विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में। इस विश्वविद्यालय की एक घटना से ज्ञात होता है कि नैतिक कोढ़ हमारे समाज में किस हद तक घर कर गया था। एक विद्यार्थी के पास शराब की एक बोतल पकड़ी गयी। विद्यालय के अधिकारियों द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया कि यह उसे एक भिक्षुणी ने दी है। अधिकारियों ने उस विद्यार्थी के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करनी चाही, किन्तु इस प्रश्न को लेकर विश्वविद्यालय में दो दल बन गये और एक संकट उपस्थित हो गया। जब एक उच्चतम शिक्षा-केन्द्र में इस प्रकार की घटनाएँ हो सकती थीं, तो प्रमादमय तथा विलासपूर्ण जीवन बिताने वाले उच्च तथा मध्यम श्रेणियों के लोगों की क्या दशा रही होगी, इसका भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे देश में अनेक बड़े-बड़े मठ थे। किसी समय वे शिक्षा तथा पवित्रता के उच्च केन्द्र माने जाते थे। अब वे भी विलास और प्रमाद के अड्डे बन गये। संन्यासियों का महत्व घट गया, यद्यपि साधारण जनता की उनके प्रति श्रद्धा बनी रही। देवदासी प्रथा इस युग का एक अन्य महान् दोष थी। प्रत्येक मन्दिर में देवता की सेवा के लिए अनेक अविवाहित लड़कियाँ रखी जाती थीं। इससे भ्रष्टाचार फैला और वैश्यागमन मन्दिरों में एक सामान्य नियम बन गया। निकृष्ट कोटि की अश्लीलता से पूर्ण तान्त्रिक साहित्य की इस युग में अधिक वृद्धि हुई। हमारे नैतिक जीवन पर इसका दूषित प्रभाव पड़ा। इस काल में महानतम विद्वानों के लिए भी अश्लील ग्रन्थ रचना बुरा न माना जाता था। काश्मीर के राजा के एक मन्त्री ने 'कुटिनी मतम' नाम की पुस्तक लिखी थी। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान क्षेमेन्द्र ने 'समय मत्रक' (वैश्या की आत्मकथा) नामक

ग्रन्थ रचा। "इस ग्रन्थ में नायिका अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों का वर्णन करती है। वह एक दरबारी स्त्री, एक सामन्त की रखैल, सड़कों पर घूमने वाली, कुटिनी, कपटी, भिक्षुणी, युवकों को भ्रष्ट करने और धार्मिक स्थानों की यात्रा करने वाली की हैसियत से जीवन बिता चुकी है।" इस प्रकार की सब चीजों ने समाज के उच्च तथा मध्यम वर्गों के लोगों को भ्रष्ट कर दिया। सम्भवतः साधारण जनता प्रचलित साहित्य और वाममार्गी धर्म के दूषित प्रभाव से मुक्त रही।

आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टि से देश समृद्ध था। खानों और खेती से उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति अनेक पीढ़ियों से जमा होती चली आयी थी। व्यक्तियों ने खूब धन संचित कर लिया था और मन्दिर तो उसके भण्डार थे। किन्तु आर्थिक दृष्टि से समाज के विभिन्न वर्गों में गहरी असमानता थी। राज-परिवारों के सदस्यों, सामन्तों तथा दरबारियों का जीवन अत्यन्त समृद्ध तथा विलासपूर्ण था। व्यापारी लोग करोड़पति थे और करोड़ों रुपया वे दान आदि में व्यय किया करते थे। गाँवों के साधारण लोग दरिद्र थे, यद्यपि अभाव-पीड़ित वे भी न थे। वे मितव्ययी थे। उनके पास थोड़ा सामान होता था। फिर भी संचित धन, शान्ति तथा व्यापार के कारण साधारणतया देश की आर्थिक दशा अच्छी थी। इसी अपार सम्पत्ति के लालच ने ही वास्तव में महमूद गज़नवी को भारत पर आक्रमण करने को प्रेरित किया। हमारे शासक यह नहीं जानते थे कि देश को बाह्य आक्रमणों से बचाकर इस सम्पत्ति की रक्षा कैसे करें। राजनीतिक ढाँचा अत्यन्त दुर्बल था। हर्षकालीन संस्थाएँ अब भी विद्यमान थीं, किन्तु जिस भावना से वे कार्य करती थीं, वह अब गिर चुकी थी। नौकरशाही भ्रष्ट थी और जनता की शक्ति भी अनेक दूषित प्रभावों के कारण क्षीण हो चुकी थी।

महमूद गज़नवी के समय के भारत की यह दशा थी कि बाहर से शक्तिशाली दिखायी देने पर भी वह इस योग्य न था कि अपने धर्म और स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. RAY, H. C. : Dynastic History of Northern India, Vol. II.
2. MAJUMDAR, R. C. : History of Bengal, Vol. I.
3. TRIPATHI, R. S. : History of Kanauj.
4. NILKANTHA SASTRI, K. A. : The Cholas.
5. NILKANTHA SASTRI, K. A. : The Pandya Kingdom.
6. PANNIKAR, K. M. : A Survey of Indian History.

अध्याय ६

महमूद ग़ज़नवी

तुर्कों का उत्थान

अपनी प्रारम्भिक विजयों के बावजूद अरब निवासी सिन्ध और मुल्तान के आगे अपने राज्य का विस्तार न कर सके थे। वास्तव में नवीं शताब्दी के मध्य में उनके शासन का महत्व जाता रहा। किन्तु जिस कार्य को उन्होंने आरम्भ किया, उसे तुर्कों ने पूरा किया। जिस युग के सम्बन्ध में हम लिख रहे हैं, उससे थोड़ा ही पहले तुर्कों ने इस्लाम अंगीकार कर लिया था। उनमें उस उत्साह और मस्तिष्क की संकीर्णता का आधिक्य था जो सर्वप्रथम किसी नये धर्म को अपनाने वालों में पाई जाती है। वे निर्भीक, वीर तथा पराक्रमी थे और आगे बढ़ने की प्रवृत्ति उनमें अत्यधिक बलवती थी। उनका दृष्टिकोण भी पूर्णतया भौतिकवादी था। इस्लाम ने उनकी असीम महत्वाकांक्षाओं को धार्मिकता का जामा पहना दिया था। अपने इन गुणों और दोषों के कारण वे पूरब में एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने के पूर्णतया योग्य थे।

उनके प्रारम्भिक धावे: सुबुक्तगीन

सर्वप्रथम जिन तुर्कों का भारत से सम्पर्क हुआ, वे ग़ज़नी के राजवंश के थे। उनका उत्थान बहुत ही तेजी से हुआ था। ९३२ ई. में अलप्तगीन नामक एक साहसी तुर्क नेता ने गज़नी में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। प्रारम्भ में वह गुलाम था और खुरासान तथा बुखारा के समानी शासक के सामन्त की हैसियत से कार्य करता था। उसके एक उत्तराधिकारी पिराई ने पंजाब के हिन्दू राजा पर आक्रमण किया। वह राजा हिन्दूशाही वंश का था और उसका विस्तृत राज्य चिनाब नदी से हिन्दूकुश पर्वत तक फैला हुआ था। काबुल भी उसमें सम्मिलित था। एक समय था जबकि सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान पर हिन्दूशाही वंश का अधिकार था। भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही भाग माना जाता था। राजनीतिक दृष्टि से भी वह चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से (तीसरी शताब्दी ई. पू.) भारत का एक प्रान्त बना रहा, यद्यपि बीच में कभी-कभी यह सम्बन्ध टूट भी गया। काबुल और जाबुल राज्य के शासक-वंश ने बड़ी वीरता से अरब-आक्रमण का सामना किया, किन्तु ६६४ ई. में अरबों

को सफलता मिली और इस राज्य के कुछ भाग पर उनका अधिकार हो गया। उसके १२,००० निवासियों को उन्होंने इस्लाम ग्रहण करने पर बाध्य किया। अपनी रक्षा के लिए शाही राजाओं ने ३०० वर्षों तक अरबों और तुर्कों के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध किये। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। गज़नी के नये राज्य के शासक शाही राज्य का अस्तित्व ही पूर्णतया मिटा देना चाहते थे क्योंकि उसकी उपस्थिति में उनके लिए भारत में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था। यही कारण था कि पिराई की विदेश-नीति का उसके उत्तराधिकारी सुबुक्तगीन ने भी अनुसरण किया। सुबुक्तगीन अलप्तगीन का गुलाम तथा दामाद था और ९७७ ई. में गज़नी के सिंहासन पर बैठा था। वह पराक्रमी तथा महत्वाकांक्षी शासक था। यद्यपि वह मध्य एशिया की राजनीति में बराबर उलझा रहा, फिर भी भारत की सीमाओं पर धावे मारने के लिए उसने समय निकाल लिया। पंजाब का राजा जयपाल सावधान था और वह इस उदीयमान राज्य के अस्तित्व से उठ खड़े होने वाले संकट को भली-भाँति समझता था। इसलिए उसने इस राज्य को पनपने के पहले ही नष्ट कर देने का संकल्प किया। इस उद्देश्य से ९८६-८७ ई. में उसने एक विशाल सेना लेकर गज़नी पर आक्रमण किया। दोनों दलों की शक्ति समान थी और उनमें से कोई भी पराजय स्वीकार करने के लिए तैयार न था। किन्तु दुर्भाग्य से एक भीषण झंझावात के कारण जयपाल की सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और उसे संधि करने पर बाध्य होना पड़ा। उसने बहुत-सा युद्ध का हर्जाना, ५० हाथी तथा अपनी कुछ भूमि सुबुक्तगीन को देने का वचन दिया। किन्तु लाहौर वापस आने पर उसने इन अपमानजनक शर्तों को पूरा करने से इन्कार कर दिया। तब बदला लेने की भावना से सुबुक्तगीन ने जयपाल के राज्य पर आक्रमण किया और लमग़ान को लूटा। जयपाल ने अपनी सहायता के लिए अनेक भारतीय राजाओं को आमन्त्रित किया और एक विशाल सेना लेकर गज़नी पर चढ़ गया। किन्तु इस बार भी युद्ध में सुबुक्तगीन की विजय हुई और लमग़ान तथा पेशावर तक उसका अधिकार हो गया।

महमूद का सिंहासनारोहण

९९७ ई. में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी। मरने से पहले उसने अपने छोटे पुत्र इस्माइल को उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। किन्तु उसके एक अन्य पुत्र महमूद ने इस्माइल को गृह-युद्ध में पराजित कर गद्दी पर अधिकार कर लिया। महमूद का जन्म १ नवम्बर, ९७१ ई. में हुआ था और ९९८ ई. में सिंहासन पर बैठने के समय उसकी अवस्था २७ वर्ष की थी। उस समय उसके राज्य में अफ़ग़ानिस्तान और खुरासान सम्मिलित थे। बग़दाद के खलीफा अल-कादिर बिल्लाह ने महमूद के पद को मान्यता प्रदान की और उसे

यमीन-उद-दौला तथा यमीन-उल-मिल्लाह की उपाधियों से विभूषित किया। इसीलिए उसका वंश यमीनी के नाम से विख्यात है।

महमूद का चरित्र

महमूद अत्यन्त महत्वाकांक्षी युवक था। कहा जाता है कि जब खलीफा ने उसके पास मान्यता-पत्र भेजा उस समय उसने प्रतिज्ञा की कि मैं प्रति वर्ष भारत के काफिरों पर आक्रमण करूँगा। उसने इस प्रण को निबाहने का प्रयत्न किया। महमूद की आकृति राजाओं की-सी न थी। उसका क़द बीच का और शरीर हृष्ट-पुष्ट था, किन्तु देखने में वह कुरूप था। शूरत्व भी उसमें असाधारण कोटि का न था, फिर भी वह महान् सेनानायक और उतना ही अच्छा सैनिक था। वह बुद्धिमान तथा चतुर था और मनुष्यों को परखने का राज्योचित गुण उसमें विद्यमान था। साहस, बुद्धिमत्ता और साधन-सम्पन्नता उसके विशेष गुण थे। इसके अतिरिक्त वह अत्यन्त कर्मठ और महत्वाकांक्षी था। राजनीति में वह दक्ष था और उसके स्वाभाविक हाव-भाव भी शासक के-से थे। ऐसा कोई व्यक्ति न था जिसके बिना उसका कार्य न चल सकता हो। अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन-मात्र समझता था। प्रोफेसर हबीब का मत है कि जीवन के प्रति महमूद का दृष्टिकोण पूर्णतया सांसारिक था और अंधभक्तिपूर्वक मुस्लिम उलैमा की आज्ञाओं का पालन करने के लिए वह तैयार न होता था। विद्वान लेखक की यह भी धारणा है कि महमूद धर्मान्ध न था। किन्तु उसके जीवन और कार्यों से स्पष्ट है कि इस्लाम में उसकी श्रद्धा थी और वह यह भी समझता था कि अकारण ही भारतीय काफिरों के राज्य पर आक्रमण करके मैं इस्लाम की सेवा कर रहा हूँ। उसका दरबारी इतिहासकार उतबी उसके भारत पर आक्रमणों को जिहाद समझता था जिसका उद्देश्य इस्लाम का प्रचार और कुफ्र का मूलोच्छेदन करना था। अपनी 'तारीख़-ए-यमीनी' में वह लिखता है, "सुल्तान महमूद ने पहले सीजिंस्तान पर आक्रमण करने का संकल्प किया, किन्तु बाद में उसने हिन्द के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) करना ही अधिक अच्छा समझा।" उतबी यह भी लिखता है कि "सुल्तान ने अपने मन्त्रियों की सभा बुलायी और उनसे कहा कि मुझे आशीर्वाद दो जिससे मैं धर्म का झण्डा ऊँचा करने, सदाचार का क्षेत्र विस्तृत करने, सत्य को प्रकाशित करने और न्याय की जड़ों को दृढ़ करने की अपनी इस योजना में सफलता प्राप्त कर सकूँ।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि महमूद के समकालीन विद्वानों का विश्वास था कि भारत पर आक्रमण करने की नीति का उसका मुख्य उद्देश्य धर्म-प्रचार था। इसके अतिरिक्त और भी कारण थे, इसमें सन्देह नहीं। महमूद महत्वाकांक्षी था और अधिक से अधिक विस्तृत साम्राज्य पर शासन

करने की उसकी अभिलाषा थी। सभी पराक्रमी लोगों की भाँति वह भी धन का लोभी था और उसने भारत की अपार धन-सम्पत्ति की कहानियाँ सुन रखी थीं। इसके अतिरिक्त महान् योद्धा होने के नाते वह सैनिक यश का भी भूखा था। वह यथार्थवादी था, और पड़ोस में स्थित एक शक्तिशाली तथा शत्रुतापूर्ण हिन्दू राज्य के अस्तित्व से उसकी स्वतन्त्रता और विशेषकर आक्रमणकारी नीति को खतरा था, इस बात को भी वह भली-भाँति समझता था। इन्हीं सब कारणों से सिंहासन पर बैठने के उपरान्त शीघ्र ही उसने भारत के विरुद्ध आक्रमणकारी नीति जारी रखने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

महमूद के भारत पर आक्रमण

भारत पर महमूद ने कितने आक्रमण किये, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। लेखकों की राय एक दूसरे के इतने विरुद्ध है कि उनकी निश्चित संख्या निर्धारित करना कठिन है। वास्तव में इस विवाद में पड़ना इतना आवश्यक भी नहीं है। हम यहाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण आक्रमणों का उल्लेख करेंगे।[1] सबसे पहला हमला १००० ई. में हुआ और महमूद ने कुछ सीमान्त किलों पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त उसने जयपाल के विरुद्ध कूच किया। जयपाल को महमूद के इतिहासकारों ने 'ईश्वर का शत्रु' लिखा है। इस आक्रमण के समय सुल्तान ने अत्यधिक सावधानी से काम लिया और स्वयं सेना का निरीक्षण करके उसमें से १५,००० सर्वोत्तम घुड़सवार छाँटे। २७ नवम्बर, १००१ ई. के दिन पेशावर के निकट घोर संग्राम हुआ। महमूद ने अश्वारोहियों का सफलतापूर्वक संचालन किया और वीरतापूर्वक युद्ध करने पर भी जयपाल की पराजय हुई। अपने पुत्रों, नातियों तथा अनेक सम्बन्धियों और पदाधिकारियों सहित वह बन्दी हुआ। उतबी लिखता है कि उन सब को जिनके चेहरे पर कुफ्र के चिह्न स्पष्ट दीख पड़ते थे, मजबूत रस्सियों से बाँधकर पापियों की भाँति सुल्तान के सम्मुख उपस्थित किया गया। ऐसा प्रतीत होता था मानो बाँधकर उन्हें नरक भेजा जा रहा है। उनमें से कुछ के हाथ बलपूर्वक पीछे बाँध दिये गये थे और कुछ को गर्दन पकड़ कर घूँसों द्वारा धकेला गया था। महमूद के सैनिकों ने जयपाल के कण्ठ से मणियों की माला उतार ली थी जिसका मूल्य दो लाख दिरहम था। इसी प्रकार उनके साथियों के आभूषण छीन लिये गये। विजेताओं को लूट में इतना धन मिला कि उसका हिसाब लगाना भी असम्भव है। जयपाल मुक्त कर दिया गया और उसके बदले में उसने महमूद को बहुत-सा धन तथा

---

१ सर हेनरी इलियट, जिल्द २, परिशिष्ट डी, पृ० ४३४-७८—"महमूद के सत्रह आक्रमणों का वर्णन," जिनसे प्रायः सब सहमत हैं।

५० हाथी देने का वचन दिया। अपनी इस विजय के उपरान्त महमूद जयपाल की राजधानी वैहन्द (उदभण्डपुर, आधुनिक उण्ड) तक आगे बढ़ा और मार्ग के प्रदेश को उसने निर्दयतापूर्वक लूटा। विजय-तिलक से विभूषित वह अपार धन लेकर गज़नी को लौट गया। एक अपवित्र म्लेच्छ के हाथों जयपाल को इतना अपमानित होना पड़ा, इसको वह सहन न कर सका और पश्चाताप से पीड़ित होकर चिता में उसने अपने को भस्म कर दिया। उसका पुत्र आनन्दपाल १००२ ई. में सिंहासन पर बैठा। इन घोर संकटों ने जयपाल के मित्रों तथा अनुयायियों को अत्यधिक हतोत्साह कर दिया होगा। इसके विपरीत विजय से महमूद तथा उसकी सेनाओं का मनोबल बहुत बढ़ गया होगा और उनकी विजय-पिपासा और भी अधिक तीव्र हो गयी होगी।

महमूद का दूसरा महत्वपूर्ण आक्रमण मुल्तान पर हुआ जहाँ पर करमाथी सम्प्रदाय का फतेह दाऊद शासन करता था। करमाथी लोग शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे और कट्टर सुन्नी उनसे घृणा करते थे। मुल्तान को विजय करने से पूर्व महमूद ने झेलम के बायें किनारे पर स्थित भेरा नगर पर आक्रमण किया। आनन्दपाल ने उसका विरोध किया किन्तु उसे मार्ग से धकेलते हुए महमूद १००६ ई. में मुल्तान पर चढ़ गया और उस पर अधिकार कर लिया। मुल्तान को महमूद ने जयपाल के एक नाती सुखपाल के सुपुर्द कर दिया। जयपाल की पराजय के बाद सुखपाल को महमूद बन्धक बनाकर गज़नी ले गया था और उसे बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया था। मुसलमान लोग उसे नौशाशाह कहते थे। अवसर पाकर सुखपाल ने इस्लाम त्याग दिया और महमूद के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। किन्तु १००८ ई. में सुल्तान ने मुल्तान लौटकर विद्रोह को दबा दिया और सुखपाल तथा दाऊद को कैद कर लिया। इस प्रकार मुल्तान महमूद के विस्तृत साम्राज्य का अंग बन गया।

आनन्दपाल ने दाऊद करमाथी को सहायता दी थी, इससे महमूद बहुत कुपित हुआ। उधर अफ़ग़ानिस्तान के शासक के हाथों में मुल्तान के चले जाने से आनन्दपाल के राज्य पर दो ओर से आक्रमण का भय उपस्थित हो गया था। इसलिए दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। महमूद का विश्वास था कि पंजाब पर पूर्णतया अधिकार किये बिना भारत में आगे बढ़ना और अपार धन लूटना असम्भव है। आनन्दपाल भी स्थिति को भली-भाँति समझता था। उसने एक विशाल सेना एकत्रित की। पड़ोसी राजाओं ने भी जो तुर्कों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के इच्छुक थे, उसकी सहायतार्थ सेनाएँ भेजीं। इस सेना को लेकर आनन्दपाल ने पेशावर की ओर कूच किया। महमूद ने वैहन्द के सामने के मैदान में उसका मुकाबला किया (१००९ ई. के लगभग) और उसकी सेनाओं पर भयंकर प्रहार किया। भारतीय सेना

क्षत-विक्षत होकर भाग खड़ी हुई। महमूद ने उसको खदेड़ा और कांगड़ा के पास नगरकोट के किले को घेर लिया। तीन दिन के भयंकर युद्ध के बाद नगर पर शत्रु का अधिकार हो गया। महमूद को लूट में बहुत-सा धन मिला जिसमें सोना व अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इस तरह सिन्ध से नगरकोट तक का समस्त प्रदेश गज़नी सुल्तान के अधीन हो गया। महमूद का इतिहासकार उतबी लिखता है कि नगरकोट की लूट में इतना धन मिला कि जितने भी ऊँट मिल सके, उन पर उसे लाद दिया गया, फिर भी बच रहा जिसे अफसरों में बाँट दिया गया। केवल सिक्कों का मूल्य ही ७०,००० दिरहम था। ७ लाख दिरहम के मूल्य का सोना-चाँदी भी मिला जिसका वजन ४०० मन था। इसके अतिरिक्त मोती और सुन्दर वस्त्र भी अत्यधिक मात्रा में प्राप्त हुए। इतने सुन्दर, कोमल और जड़ाऊ वस्त्र महमूद के लोगों ने कभी न देखे थे। लूट में एक सफेद चाँदी का घर भी मिला, जिसकी बनावट धनी पुरुषों के घरों की-सी थी और जो तीस गज लम्बा और पन्द्रह गज चौड़ा था। उसके विभिन्न भागों को अलग-अलग करके पुनः पूर्ववत जोड़ा जा सकता था। एक रूमी कपड़े का शामियाना भी था जिसकी लम्बाई ४० गज और चौड़ाई २० गज थी। वह ढले हुए दो सोने और दो चाँदी के खम्भों पर सधा हुआ था।

इन पराजयों के कारण हिन्दूशाही राज्य संकुचित होकर बहुत छोटा रह गया किन्तु वीर राजा आनन्दपाल हतोत्साह नहीं हुआ अपितु और भी अधिक दृढ़ता के साथ उसने शत्रु का प्रतिरोध करने का संकल्प किया। उसने नमक की पहाड़ियों के छोर पर स्थित नन्दन को अपनी राजधानी बना लिया। छोटी-सी सेना एकत्रित करके नमक की पहाड़ियों के क्षेत्र में उसने अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। वहीं पर शान्तिपूर्वक उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र त्रिलोचनपाल गद्दी पर बैठा। नये राजा को भी महमूद ने चैन नहीं लेने दिया और वह आगे बढ़ता ही गया। १०१४ ई. में अल्पकालीन घेरे के बाद उसने नन्दन पर भी अधिकार कर लिया। इस घेरे में त्रिलोचनपाल के पुत्र भीमपाल ने अतुल वीरता का परिचय दिया। इस पराजय के उपरान्त त्रिलोचनपाल ने भाग कर काश्मीर में शरण ली। महमूद उधर भी उसका पीछा करता हुआ गया और उसकी तथा उसके मित्र काश्मीर नरेश के सेनापति तुंग की संयुक्त सेनाओं को उसने पराजित किया, परन्तु महमूद ने काश्मीर में प्रवेश करना उचित नहीं समझा। त्रिलोचनपाल भी शरणार्थी की भाँति काश्मीर में अपने दिन नहीं काटना चाहता था और अपने पूर्वजों के राज्य पंजाब पर शासन करने की उसकी आकांक्षा थी। इसलिए लौटकर वह फिर पूरबी पंजाब में आ गया और शिवालिक पहाड़ियों में पुनः अपनी शक्ति की

स्थापना कर ली। उसने बुन्देलखंड के चन्देल राजा विद्याधर को अपना मित्र बना लिया। इस काल में विद्याधर की उत्तरी भारत के शक्तिशाली शासकों में गणना थी। महमूद ने इस संगठन को तोड़ने के उद्देश्य से १०१९ ई. में फिर भारत पर आक्रमण किया और रामगंगा के निकट युद्ध में त्रिलोचनपाल को पराजित किया। अब त्रिलोचनपाल के पास केवल नाममात्र का राज्य रह गया, और उसके अनुयायियों में फूट पड़ गयी। उनमें से ही किसी ने १०२१-२२ ई. में उसकी हत्या कर दी। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र भीमपाल हुआ जिसकी स्थिति एक साधारण सामन्त की-सी थी। १०२६ ई. में उसकी भी मृत्यु हो गयी और उसके साथ ही उत्तर-पश्चिमी भारत का शक्ति-सम्पन्न तथा गौरवशाली हिन्दूशाही राज्य भी पतन के गर्त में विलीन हो गया।

हिन्दूशाही राज्य जिसको तुर्की आक्रमण का प्रथम प्रहार सहना पड़ा था उसके पराभव में महमूद के लिए उत्तरी भारत में प्रवेश करना सरल हो गया। सबसे पहले उसने १००४ ई. में भटिण्डा के किले का घेरा डाला जो उत्तर-पश्चिम से गंगा की घाटी के मार्ग में पड़ता था। स्थानीय राजा विजय राय ने अत्यन्त वीरता से किले की रक्षा की किन्तु महमूद की सैनिक-शक्ति के सामने वह न टिक सका और किले पर शत्रु ने अधिकार कर लिया। नगर के उन सब निवासियों को जिन्होंने इस्लाम अंगीकार नहीं किया. तलवार के घाट उतार दिया गया। लूट में अतुल धन महमूद के हाथ लगा। इसके उपरान्त उसने हिन्दूशाही राज्य के पार्श्व को घेरने का प्रयत्न किया जिससे उस ओर से उसके यातायात के मार्ग को तथा उसकी आक्रमणकारी सेना के पिछावे को किसी प्रकार का संकट उपस्थित न हो सके। इसलिए १००६ ई. में उसने फतेह दाऊद करमाथी से मुल्तान छीनने का संकल्प किया, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

१००९ ई. में महमूद ने वैहन्द के पास आनन्दपाल को हराया और नगर-कोट पर अधिकार कर लिया। उसी वर्ष उसने आधुनिक अलवर जिले में स्थित नारायनपुर को जीत लिया। उस स्थान का व्यापारिक महत्व अधिक था क्योंकि मध्य एशिया तथा भारत के विभिन्न भागों से व्यापारिक वस्तुएँ वहाँ एकत्रित होती थीं। १०१४ ई. में थानेश्वर के पवित्र नगर को जहाँ चक्र-स्वामी का मन्दिर था, जीतने के उद्देश्य से महमूद ने गज़नी से प्रस्थान किया। मार्ग में एक हिन्दू राजा ने उसका प्रतिरोध किया और उसे भारी क्षति पहुँचायी। किन्तु जब वह थानेश्वर पहुँचा तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नगर-निवासियों ने अपनी रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। महमूद ने नगर को लूटा और चक्रस्वामी की मूर्ति को गज़नी भेज दिया जहाँ उसे एक सार्वजनिक चौक में फेंक दिया गया।

१०१५ तथा १०२१ ई. के बीच महमूद ने काश्मीर को जीतने का दो बार प्रयत्न किया किन्तु दोनों बार उसे असफल होकर लौटना पड़ा। अन्त में उसने इस सुन्दर घाटी की विजय का विचार ही त्याग दिया।

हिन्दूशाही राज्य एक बांध की भाँति तुर्की आक्रमणों की बाढ़ को रोके हुए था। उसके टूट जाने से समस्त उत्तरी भारत उसमें डूब गया। अवसर का अत्यधिक लाभ उठाने के उद्देश्य से महमूद ने गंगा की घाटी की ओर कूच किया और १०१८ ई. में मथुरा के लिए प्रस्थान किया, जो उत्तरी भारत का सबसे घना बसा हुआ तथा समृद्धशाली नगर था। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण वह हिन्दुओं का बेथेलहम था। नगर भली-भाँति सुरक्षित तथा विशाल मन्दिरों से सुशोभित था, किन्तु रक्षा-सेना ने पवित्र नगर तथा कलापूर्ण मन्दिरों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया। आक्रमणकारी सेना ने अनेक मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया तथा उनकी युग-युग से संचित सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। मथुरा कितना भव्य नगर था और धर्मान्ध मुसलमानों ने किस प्रकार उसका सत्यानाश किया, इसका अनुमान हम उतबी के लेख से लगा सकते हैं। वह लिखता है कि "महमूद ने एक ऐसा नगर देखा जो योजना तथा निर्माण-कला की दृष्टि से आश्चर्यजनक था। ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके भवन स्वर्ग के हैं। किन्तु नगर का सौन्दर्य शैतानी लोगों की कृति का परिणाम था, इसलिए कोई बुद्धिमान व्यक्ति उसके वर्णन को सुनकर विश्वास नहीं कर सकता था······उसके चारों ओर पत्थर के बने हुए एक हजार दुर्ग थे जिनका मन्दिरों की भाँति प्रयोग किया जाता था। उनके मध्य में एक सबसे ऊँचा मन्दिर था जिसके सौन्दर्य और सजावट का वर्णन करने में न किसी लेखक की लेखनी समर्थ है और न किसी चित्रकार की तूलिका। उस पर मन को स्थिर करना और विचार करना भी कठिन है।" सुल्तान महमूद अपनी यात्रा के संस्मरणों में स्वयं लिखता है कि "यदि कोई व्यक्ति उस जैसे भवन का निर्माण करना चाहे तो उसे एक हजार दीनार की एक लाख थैलियाँ व्यय करनी पड़ेंगी और कुशल से कुशल शिल्पियों की सहायता से भी वह २० वर्षों में पूरा नहीं होगा।" उतबी के कथनानुसार इन मन्दिरों में सोने की बहुमूल्य मूर्तियाँ थीं, उनमें से कुछ पाँच-पाँच हाथ ऊँची थीं और एक में ५०,००० दीनार के मूल्य की लाल मणियाँ जड़ी हुई थीं। एक अन्य मूर्ति में शुद्ध ठोस नीलम जड़ा हुआ था जिसका मूल्य ४०० मिश्काल था। आक्रमणकारियों को अनेक मूर्तियों के नीचे गड़ा हुआ बहुत-सा धन मिला। एक मूर्ति के नीचे तो ४ लाख स्वर्ण-मिश्काल के मूल्य का कोष मिला। अनेक अन्य मूर्तियाँ भी चाँदी की बनी होने के कारण बहुमूल्य थीं। महमूद ने समस्त नगर को धूल में मिला दिया और उसका

कोना-कोना लूट लिया। वृन्दावन में भी वध, लूट, दाह, हत्या और बलात्कार का काण्ड हुआ।

मथुरा से महमूद ने कन्नौज की ओर कूच किया जो हर्ष के समय से उत्तरी भारत के अनेक सम्राटों की राजधानी रह चुका था। वहाँ पर इस समय गुर्जर-प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक राज्यपाल शासन कर रहा था। महमूद के आगमन का समाचार सुनते ही वह भाग खड़ा हुआ। आक्रमणकारी ने नगर को घेर लिया और बिना युद्ध के ही उस पर अधिकार कर लिया।

कन्नौज को भी मथुरा की भाँति लूट तथा हत्या-काण्ड देखना पड़ा। यहाँ भी महमूद को लूट में अपार धन मिला। इसके बाद मार्ग के कुछ छोटे किलों को जीतता हुआ महमूद गज़नी को लौट गया।

मुसलमानों ने पवित्र मथुरा नगरी के मन्दिरों को जो अपवित्र और ध्वस्त किया उससे उत्तरी भारत के कुछ प्रमुख राजाओं की आत्मा को बड़ी ठेस लगी। इनमें बुन्देलखण्ड के चन्देल राजा का नाम अग्रगण्य है। इस शक्तिशाली राजा ने (उसे कोई गण्ड कहता है और कोई विद्याधर) अपने देश और धर्म की रक्षा के लिए कुछ प्रमुख शासकों का एक संघ बनाया। इस संघ के सदस्य कन्नौज के राज्यपाल से बहुत असन्तुष्ट थे क्योंकि वह बिना युद्ध किये ही अपनी राजधानी से भाग गया था। इसलिए उन्होंने राज्यपाल पर आक्रमण किया और युद्ध में उसे मार डाला। इस पर कुपित होकर महमूद ने फिर भारत पर आक्रमण किया क्योंकि वह अपने विरुद्ध भारतीय नरेशों का संघ नहीं बनने देना चाहता था।

१०१९ ई. में महमूद गज़नी से चला। मार्ग में हिन्दूशाही राजा त्रिलोचनपाल ने उसका मुकाबला किया किन्तु उसको हराता हुआ महमूद बुन्देलखण्ड की ओर बढ़ा। चन्देल राजा ने शक्तिशाली सेना लेकर उसके मार्ग को अवरुद्ध करना चाहा, किन्तु किसी अज्ञात कारण से रात्रि के समय वह रण-क्षेत्र से यकायक ही भाग खड़ा हुआ। इतनी विशाल सेना को देखकर महमूद का भी उत्साह भंग हो गया था किन्तु गण्ड के भाग जाने से उसका काम बन गया। उसने चन्देलों के सम्पूर्ण राज्य को बुरी तरह लूटा और अतुल लूट का धन लेकर १०२२ ई. में गज़नी को लौट गया।

उसी वर्ष के अन्त में चन्देलों की शक्ति का पूर्णतया नाश करने के उद्देश्य से महमूद फिर भारत आया। चन्देलों के प्रसिद्ध गढ़ कालिंजर पहुँचने से पहले मार्ग में उसने ग्वालियर के किले को जीतने का प्रयत्न किया क्योंकि वहाँ का राजा चन्देलों का करद सामन्त था। परन्तु किला इतना सुदृढ़ था कि महमूद उस पर अधिकार न कर सका। उसने मार्ग में अधिक विलम्ब करना उचित नहीं समझा इसलिए ग्वालियर के कछवाहा राजा से सन्धि करके वह कालिंजर

व्यवस्था स्थापित करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया। उसके नाम से न तो किसी स्थायी संस्था का ही सम्बन्ध है और न किसी राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी कार्य का। शिक्षा के क्षेत्र में उसने थोड़ा-बहुत प्रयास अवश्य किया, किन्तु साधारण जनता के हित के लिए नहीं, बल्कि एक संकुचित वर्ग के लिए और वह भी यश की अभिलाषा से। लेनपूल का यह मत उचित ही है :—"अपने पीछे उसने एक असम्बद्ध और अव्यवस्थित साम्राज्य छोड़ा। अपने जीवनकाल में तो उसने बड़ी तत्परता और सावधानी से उसकी रक्षा की थी, किन्तु जैसे ही उसकी आँखें बन्द हुईं, वह छिन्न-भिन्न होने लगा।" धन का असीम लालच उसके जीवन का सबसे बड़ा कलंक था। इससे उसकी कार्यक्षमता और ख्याति दोनों को काफी धक्का लगा। शाहनामा लिखने के लिए उसने फिरदौसी को प्रत्येक छन्द के लिए एक स्वर्ण-मुद्रा देने का वचन दिया था, किन्तु बाद में देने से इन्कार कर दिया। मृत्यु-शैय्या पर उसने यह सोचकर सिसकियाँ भरीं कि मैं अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति पीछे छोड़े जा रहा हूँ। ये कहानियाँ अक्षरशः सत्य भले ही न हों, किन्तु इनसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान होता है कि उसके जीवन-काल में तथा उसकी मृत्यु के बाद दीर्घकाल तक साधारण जनता की उसके चरित्र के विषय में क्या धारणा थी।

इन सब बातों के बावजूद भी महमूद चरित्र की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु योग्यता की दृष्टि से अवश्य ही एक महान् सुल्तान था और प्रोफेसर हबीब का मत ठीक ही है कि अपने समकालीन लोगों में वह चरित्र-बल से नहीं बल्कि योग्यता के कारण ही इतना उच्च पद प्राप्त कर सका।

महमूद के उत्तराधिकारी

महमूद का साम्राज्य इतना बड़ा था कि उसका उचित रूप से प्रबन्ध नहीं किया जा सकता था और इस बात को वह स्वयं भली-भाँति समझता था। सीलिए अपनी मृत्यु से पहले उसने उसके दो भाग कर दिये। एक अपने बेटे मसूद को दे दिया और दूसरा मुहम्मद को। किन्तु सिंहासनारोहण फिर भी शान्तिपूर्वक न हो सका और जैसे ही उसकी आँखें बन्द हुईं, दोनों भाइयों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। मसूद की विजय हुई। उसने अपने भाई को अन्धा करके कारागार में डाल दिया और १०३० से १०४० ई. तक १० वर्ष राज्य किया। खलीफा ने उसे सुल्तान की उपाधि प्रदान की। यद्यपि मसूद पराक्रमी था, फिर भी १०४० ई. में मर्व के युद्ध में सल्जूकों ने उसे पराजित किया और भागकर उसने लाहौर में शरण ली। महमूद के अन्तिम दिनों में तथा मसूद के सम्पूर्ण शासन-काल में पंजाब का शासन नाइबों के हाथ में था और मुसलमान पदाधिकारियों के द्रोह, स्वार्थपरता तथा अयोग्यता के कारण प्रान्त की शासन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। किन्तु तिलक नामक

एक हिन्दू ने मसूद की वफादारी के साथ सेवा की। उसका जन्म एक अत्यन्त साधारण परिवार में हुआ था किन्तु अपनी योग्यता के कारण महमूद के समय में ही वह मन्त्री के पद पर पहुँच गया था। परन्तु तिलक की वफादारी के बावजूद भी जब मसूद लाहौर पहुँचा उस समय पंजाब की दशा सन्तोषजनक नहीं थी। सल्जूकों के द्वारा पराजित होने के कारण मसूद की सेना छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। मार्ग में उसके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और उसे गद्दी से उतारकर उसके अन्धे भाई मुहम्मद के हवाले कर दिया। मुहम्मद ने मसूद का वध करवा दिया और स्वयं सुल्तान बन बैठा। परन्तु कुछ समय बाद मसूद के पुत्र मादूद ने कुछ प्रमुख सामन्तों की सहायता से अपना एक दल संगठित कर लिया, मुहम्मद को पराजित किया और उसका तथा उसके पुत्र का वध कर दिया।

मादूद दुर्बल शासक था। उसने १०४० से १०४६ ई. तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद फिर उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ और एक के बाद एक कई अयोग्य सुल्तान गज़नी की गद्दी पर बैठे। उन सबने थोड़े-थोड़े समय तक शासन किया और उन्हें भी अपयश ही भोगना पड़ा। पंजाब की कठिनाइयों के अतिरिक्त उन्हें सदैव सल्जूकों की उदीयमान शक्ति का भय बना रहता था। किन्तु गज़नी के पतनशील राजवंश को सबसे बड़ा संकट ग़ोर के छोटे-से राज्य के कारण उपस्थित हुआ। गज़नी और ग़ोर के इन दोनों राजवंशों में कौटुम्बिक प्रतिद्वन्द्विता चलती रही और ११५५ ई. में चरम सीमा पर पहुँच गयी। ग़ोर के अलाउद्दीन हुसैन ने गज़नी पर आक्रमण किया, उसे बुरी तरह लूटा और पूर्णतया जलाकर नष्ट कर दिया। इसलिए उनका नाम 'जहाँ-सोज़' (विश्व को जलाने वाला) पड़ गया। उसने गज़नी के सहस्रों व्यक्तियों का वध कर दिया और स्त्रियों तथा बच्चों को दासता की श्रृंखलाओं में जकड़ दिया। उसके द्वारा सभी इमारतों को खोद कर नष्ट कर दिया गया, केवल महमूद की समाधि बच रही। बारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने महमूद के वंश का नाश कर दिया।

गज़नवी शासन के अन्तर्गत पंजाब की दशा

महमूद ने पंजाब को अपने राज्य में मिलाकर उसका शासन एक सूबेदार के सुपुर्द कर दिया। इस प्रकार सिन्ध और मुल्तान के बाद यह हमारे देश का तीसरा प्रान्त था जो उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों के हाथ में चला गया। महमूद पहला तुर्क था जिसने हमारे एक प्रान्त पर शासन किया और एक राजवंश की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारियों ने गज़नी के पैतृक राज्य को खो देने के बाद लाहौर में शरण ली और वहाँ ११८६ ई. तक शासन किया जिसके बाद उनके वंश का नाश हो गया। महमूद के उत्तराधिकारियों

के समय में तुर्की पदाधिकारियों के द्रोह और अयोग्यता के कारण पंजाब की शासन-व्यवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गयी। सूबेदार अरियारुख ने प्रान्त की आय को ही गबन कर लिया अतः मसूद ने उसे गज़नी बुलाकर कत्ल करवा दिया। उसके बाद अहमद नियाल्तगीन सूबेदार हुआ जिसे यह भी पता न था कि ईमानदारी कहते किसे हैं और न शासन सम्बन्धी तथा सैनिक विषयों का ही अनुभव था। १०३३ ई. में उसने काज़ी अबुल हसन से झगड़ा कर लिया। लूटमार के उद्देश्य से उसने बनारस पर आक्रमण किया जहाँ बहुत-सा धन उसके हाथ लगा। नियाल्तगीन के इन कामों और इस प्रकार के कुप्रबन्ध के समाचार सुनकर मसूद बहुत घबड़ाया और उसको दण्ड देने के लिए उसने तिलक नामक हिन्दू सेनापति को भेजा। तिलक सुन्दर, योग्य तथा शिक्षित सैनिक था और महमूद के समय में ही उच्च पद पर पहुँच गया था। युद्ध मे अहमद नियाल्तगीन मारा गया। तिलक ने उसका सिर काट कर मसूद के पास भेज दिया। १०३६ ई. में मसूद ने अपने पुत्र मादूद को नियाल्तगीन के स्थान पर सूबेदार नियुक्त किया और १०३७ ई. में मसूद स्वयं भारत आया। १ जनवरी, १०३९ ई. को उसने हाँसी को घेर लिया, सहस्रों की संख्या में निर्दोष जनता का वध किया और स्त्रियों तथा बच्चों को गुलाम बनाया। परन्तु १०४० ई. में मसूद को सल्जूकों के हाथों भयंकर हार खानी पड़ी इसलिए गज़नी छोड़कर वह लाहौर की ओर भागा। मार्ग में उसके अनुयायियों ने विद्रोह किया, उसे कैद कर लिया तथा उसके भाई मुहम्मद को गद्दी पर बिठला दिया।

उसके बाद मादूद शासक हुआ (१०४०-४९ ई.)। उसने लाहौर के सूबेदार नामी को मार कर पंजाब पर अधिकार कर लिया। मादूद के शासन-काल में पंजाब गज़नी राज्य का अंग बना रहा किन्तु वहाँ की जनता को उसके शासन में तनिक भी श्रद्धा न थी। १०४४ ई. में दिल्ली के राजा महिपाल ने गज़नवी सूबेदार से हाँसी, थानेश्वर और कांगड़ा छीन लिये और उन स्थानों में पुनः हिन्दू देवताओं को प्रतिष्ठित किया। उसने लाहौर को भी घेर लिया किन्तु उस पर अधिकार किये बिना ही उसे वापस लौटना पड़ा। १०४८ ई. में मादूद ने अपने बेटे महमूद और मंसूर को क्रमशः लाहौर और पेशावर का सूबेदार नियुक्त किया किन्तु शासन में भ्रष्टाचार और दुर्बलता पूर्ववत बनी रही। दिसम्बर, १०४९ ई. में मादूद की मृत्यु हो गयी। उसके बाद दीर्घकाल तक षड्यन्त्र और दरबारी उपद्रव चलते रहे। एक के बाद एक कई दुर्बल सुल्तान गज़नी की गद्दी पर बैठे, किन्तु वे नाममात्र को शासक थे। उनमें से इब्राहीम ने अवश्य शान्तिपूर्वक दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग किया और ४२ वर्ष के शासन के बाद १०९९ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र मसूद तृतीय

ने १७ वर्ष तक राज्य किया। उसकी मृत्यु (१११५ ई.) के बाद उत्तराधिकार के लिए युद्ध छिड़ गया जिसमें सल्जूकों ने अर्सलाँ के विरुद्ध बहराम का साथ दिया। १११८ ई. में अर्सलाँ पराजित हुआ और मारा गया। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी खुसरवशाह को ११६० ई. में गुज़ तुर्कमानों ने हराकर गज़नी की गद्दी पर अधिकार कर लिया। वह भागकर पंजाब आया क्योंकि केवल वह प्रान्त ही अब गज़नवी वंश के हाथों में रह गया था। उसकी मृत्यु के बाद (११६० ई.) उसका पुत्र मलिक खुसरव पंजाब की गद्दी पर बैठा जो कोमल-हृदय तथा विलासी शासक था। उसके समय में जिलों के पदाधिकारी अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक बन बैठे। इसी समय गज़नवी वंश के लिए एक नया संकट उपस्थित हो गया। मुहम्मद ग़ोरी ने जो अपने भाई ग़ियासुद्दीन द्वारा गज़नी का शासक नियुक्त किया गया था, थोड़ा-थोड़ा करके पंजाब का प्रदेश जीत लिया। ११८६ ई. में उसने मलिक खुसरव को कैद करके सम्पूर्ण पंजाब पर अधिकार कर लिया और खुसरव को उसकी मृत्यु (११९२ ई.) तक कारागार में ही रखा।

वंशावली वृक्ष : यामिनी-वंश

सुबुक्तगीन

(१) महमूद गज़नवी — इस्माइल

(२) मुहम्मद — (३) मसूद प्रथम — (७) अब्दुररशीद

मजदूद — (४) मादूद — (६) अली — (८) फर्रुखज़ाद — (९) इब्राहीम

(५) मसूद द्वितीय — महमूद — मंसूर — (१०) मसूद तृतीय

(११) शेरज़ाद — (१२) अरसैन — (१३) बहरामशाह

(१४) खुसरवशाह

(१५) खुसरव मलिक

(मुहम्मद ग़ोरी द्वारा कैद किया गया और मारा गया)
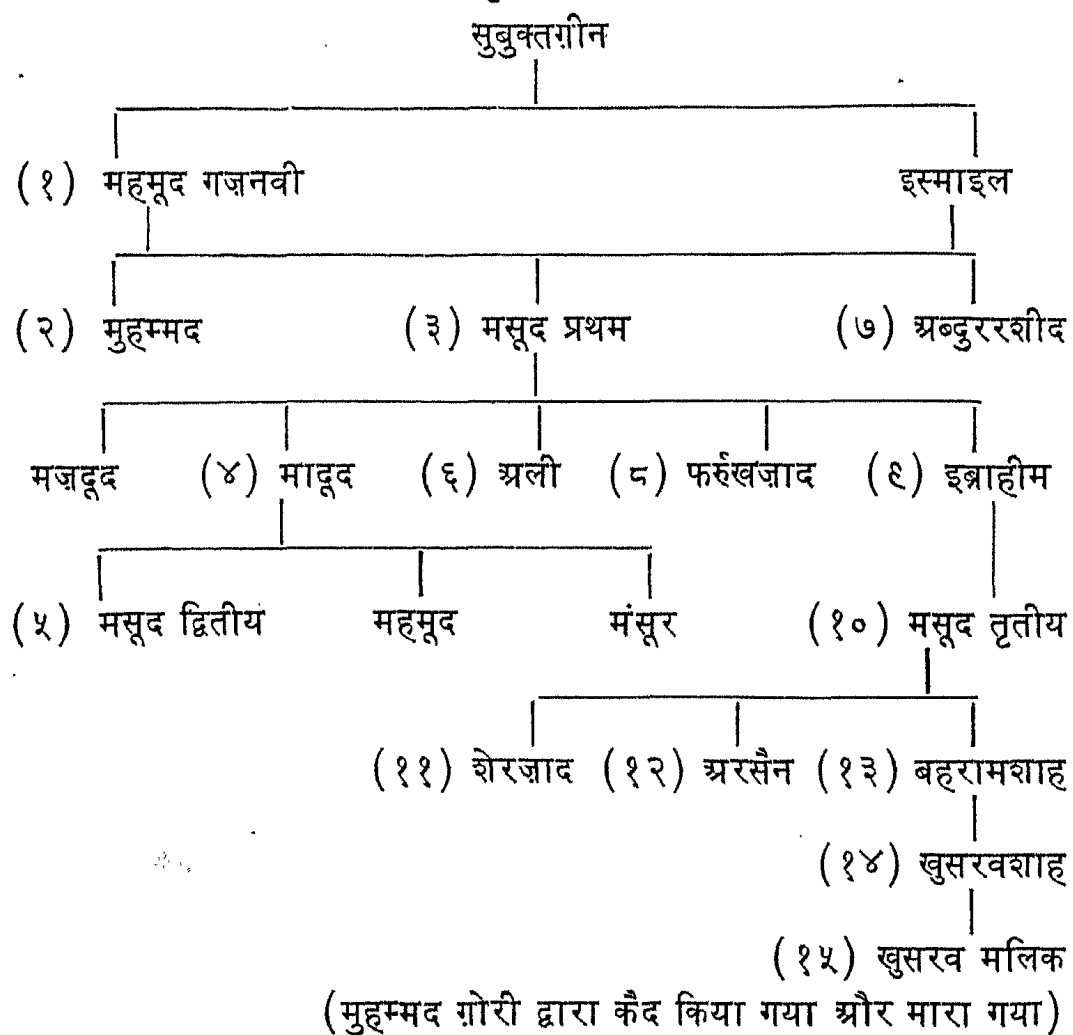
BOOKS FOR FURTHER READING

1. HABIB, MOHD. : Sultan Mahmud of Ghazni.
2. NAZIM, MOHD. : Life & Times of Sultan Mahmud of Ghazni.
3. ELLIOT & DOWSON : History of India etc., Vol. II.
4. AL-BERUNI : India.
5. HAIG, W. (*ed.*) : Cambridge History of India, Vol. III.

अध्याय ७

मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण के समय भारत की दशा

बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में उत्तर-पश्चिमी भारत में पंजाब, मुल्तान और सिन्ध तीन विदेशी राज्य थे।

गज़नवी शासन के अन्तर्गत पंजाब

पंजाब को ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में महमूद ने जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। तब से वह ११८६ ई. तक गज़नवी-साम्राज्य का अभिन्न अंग बना रहा। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, गुज़ तुर्कों ने खुसरव शाह को गज़नी से मार भगाया था और पंजाब में आकर उसने शरण ली थी। उसके उत्तराधिकारियों ने भी गज़नी को पूर्णतया छोड़कर पंजाब को ही अपना घर बनाया। लाहौर उनकी राजधानी थी। इस प्रकार इस देश में सिन्ध के बाद पंजाब दूसरा मुस्लिम राज्य था। जिसमें उत्तर में पेशावर तथा सियालकोट सम्मिलित थे, उत्तर-पूरब में उसकी सीमाएँ जम्मू के हिन्दू राज्य तक पहुँचती थीं और दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में उसकी सीमाएँ घटती-बढ़ती रहती थीं। चौहान नरेश पृथ्वीराज प्रथम को मुसलमानों से बराबर युद्ध करना पड़ा और उसके उत्तराधिकारी अजमराज को गज़नी के एक अधिकारी बहलीम ने ११९२ ई. में हराकर नागौर छीन लिया। परन्तु विग्रहराज तृतीय ने ११६७ ई. में पंजाब के गज़नवी सुल्तान से हाँसी छीन लिया और उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीराज द्वितीय ने तुर्की आक्रमणों से रक्षा करने के लिए उसकी किले-बन्दी की। कुछ वर्ष बाद पृथ्वीराज द्वितीय ने भटिण्डा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार चौहान राज्य की सीमाएँ उत्तर में आधुनिक फीरोजपुर तक पहुँच गयीं। महमूद के उत्तराधिकारियों के समय में पंजाब के तुर्की राज्य का पतन होने लगा। चारों ओर भ्रष्टाचार और अयोग्यता का राज्य फैल गया। गज़नवी वंश का अन्तिम शासक मलिक खुसरव विलासी तथा निकम्मा था। उसने शासन की बागडोर पूर्णतया अपने पदाधिकारियों के हाथों में छोड़ दी और वे स्वतन्त्र बन बैठे परन्तु इस स्वाभाविक पतन के बावजूद भी कभी-कभी सुल्तान की सेना का कोई सेनापति पड़ोस के हिन्दू राज्यों पर आक्रमण कर दिया करता था और उन्हें बरबाद करके बहुमूल्य लूट ले

जाता था। किन्तु अशक्त तथा जर्जरित गज़नवी शासकों में इस प्रकार के साहसी व्यक्ति अपवाद थे, सामान्य नहीं। वास्तव में लाहौर के गज़नवी सुल्तान को सदैव ही राजपूतों के आक्रमण का भय बना रहता था।

करमाथियों की अधीनता में मुल्तान

मुल्तान का प्रान्त सिन्धु-घाटी के उत्तरी भाग में स्थित था जहाँ शिया सम्प्रदाय के अनुयायी करमाथी मुसलमान शासन करते थे। इस प्रान्त को महमूद ने जीत लिया था, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद करमाथी शासकों ने फिर अपने को स्वतन्त्र कर लिया था। सम्भवतः उच्च भी करमाथी राज्य में सम्मिलित था।

सुम्र शासन के अन्तर्गत सिन्ध

मुल्तान के दक्षिण में निचले सिन्ध का प्रदेश स्थित था। देबल उसकी राजधानी थी। महमूद ने इसको भी जीत लिया था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद सुम्र नाम की स्थानीय जाति ने पुनः अपनी स्वाधीनता स्थापित कर ली थी। सुम्र लोग मुसलमान थे, किन्तु उनकी उत्पत्ति के विपय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। करमाथियों की भाँति वे भी शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

राजपूत : उनके गुण-दोष

शेष भारत में राजपूत राज्य करते थे। वे प्राचीन क्षत्रियों के वंशज होने का दावा करते थे और सूर्य तथा चन्द्र से अपनी उत्पत्ति मानते थे। किन्तु इतिहासकारों का मत है कि राजपूत मिश्रित नस्ल के थे। उनकी नसों में प्राचीन क्षत्रियों के अतिरिक्त उन विदेशी आक्रमणकारियों का रक्त भी बहता था जो कालान्तर में हिन्दू-समाज में विलीन हो गये थे। राजपूत शूर-वीर थे और निर्भीकता, साहस तथा वीरोचित सम्मान की दृष्टि से उनका चरित्र तुर्कों से कहीं ऊँचा था। उन्हें अपनी तलवार चलाने की कला पर घमण्ड था और युद्ध उनके लिए एक मनोरंजन का साधन था। किन्तु जाति-भक्ति की भावना ने उनके इन गुणों को ढक लिया था। उनके सामाजिक संगठन का आधार मुख्यतया सामन्तवादी था और सैनिक यश की पिपासा उनमें इतनी बलवती थी कि उनके अन्य सभी काम केवल इसी उद्देश्य से किये जाते थे। आगे चलकर यह ही उनके पतन का मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

अन्हिलवाड़ के चालुक्य

पश्चिमी भारत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजवंश अन्हिलवाड़ के चालुक्यों का था। उनका राज्य विदेशियों द्वारा शासित उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों से मिला हुआ था। जयसिंह सिद्धराज (११०२-११४३ ई.) के समय में इस वंश का अधिक

उत्कर्ष हुआ। उसने मालवा के परमार राज्य का अधिकांश भाग जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। चित्तौड़ के गुहिलौतों को उसने पराजित किया और नाडौल तथा काठियावाड़ में गिरनार को जीतकर अपनी विजय को पूरा किया। अजमेर के चौहानों से उसका संघर्ष हो गया जिसके कारण चालुक्यों की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी और उनकी गणना द्वितीय श्रेणी के राजवंशों में होने लगी। धीरे-धीरे मालवा, चित्तौड़ तथा पश्चिमी और दक्षिणी राजपूताना के अनेक प्रदेशों ने पुनः अपनी स्वाधीनता स्थापित कर ली। केवल गुजरात और काठियावाड़ चालुक्यों के अधीन रह गये। मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण के समय मूलराज द्वितीय चालुक्य वंश का शासक था।

अजमेर के चौहान

राजपूतों का दूसरा महत्वपूर्ण राज्य अजमेर के चौहानों का था। इस वंश की स्थापना एक सामन्त ने की थी। ११वीं शताब्दी में अजयपाल ने अजमेर की नींव डाली। अर्णोराज (११५३-११६४ ई. के लगभग) के शासन-काल में कुछ समय के लिए चौहानों को चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु शीघ्र ही वे फिर स्वाधीन हो गये और उत्तर-पूरबी राजपूताना को जीतकर उन्होंने अपनी शक्ति को और भी अधिक बढ़ा लिया। वीसलदेव (विग्रहराज तृतीय) ने ११५१ ई. में तोमरों से दिल्ली और कुछ समय उपरान्त गज़नवी-वंश के लोगों से हाँसी छीन ली। पृथ्वीराज द्वितीय इस वंश का महत्वपूर्ण शासक हुआ। उसने ११६७ से ११६९ ई. तक राज्य किया। उसी का पुत्र पृथ्वीराज तृतीय (११७८-११९३ ई.) था जो राय पिथौरा के नाम से विख्यात है। उसने चन्देल राजा परमर्दी देव को हराकर महोबा पर अधिकार कर लिया। किन्तु अपने पड़ोसियों से उसका सम्बन्ध अच्छा न था।

कन्नौज के गहड़वार

इस युग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजपूत राजवंश कन्नौज के गहड़वारों का था। प्रारम्भ में गहड़वार राज्य में केवल काशी (बनारस), कौशल (अवध), कौशिक (इलाहाबाद) तथा इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली प्रदेश) सम्मिलित थे। किन्तु गहड़वार राजाओं ने धीरे-धीरे चारों दिशाओं में अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया। उनकी इस विजय-नीति के कारण कन्नौज की गणना देश के सबसे बड़े राज्यों में होने लगी। गोविन्दचन्द्र इस वंश का महान् शासक हुआ। उसके समय में कन्नौज की पूरबी सीमा पटना तक पहुँच गयी। उसका उत्तराधिकारी विजयचन्द्र हुआ जिसने ११५५ से ११७० ई. तक राज्य किया। उसने भी अपने पूर्वजों की आक्रमणकारी नीति जारी रखी। मुहम्मद ग़ोरी का समकालीन जयचन्द इस वंश का अन्तिम शासक हुआ।

INDIA IN 1030 A.D.
Mahmud of Ghazni.
Bukhara
Samarqand
TRANS-OXIANA
CHINA
Balkh
Ghur
Herat
Waihand
HINDUSHAHI
KASHMIR
UTPALAS
Kabul
Srinagar
Ghazni
Peshawar
Nandanah
Bhera
Sialkot
Kandahar
TIBET
Kangara
Lahore
Dipalpur
Multan
Sarhind
Bhatinda
PERSIA
Kalat
Uch
Sunam
Thaneshwar
Hisar
Hansi
Amaroha
Delhi
CHAUHAN
Mathura
Alwar
Kanauj
Lucknow
Ayodhya
SIN
Ajmer
Agra
PRATIHARAS
Siwana
Jalor
Gwalior
Amarkot
Thatta
Debal
Abu
Chittor
Mahoba
Patliputra
PALAS
Banaras
Kalinjar
Gaya
Gaur
Anhilwara
CHANDELAS
Ujjain
Sonargaon
Bhilsa
Dhar
Nadia
Chatgaon
CHALUKYAS
Mandu
Somanath
PARAMARAS
Illichpur
Daman
Jajnagar
Deogiri
Thana
Bombay
Chaul
ARABIAN SEA
CHALUKYAS
BAY OF BANGAL
Warangal
Kalyani
Haiderabad
Rajamundry
Dabhol
Raichur
Sandabur
CHOLAS
Kanchi
Kampil
ANDAMANIS
Dwarasamudra
Calicut
Boundary of the Empire
Over-run by Mahmud
Tanjore
PANDYAS
CEYLON
Miles
Colombo
Copyright DHARMA BHANU.

की ओर बढ़ा। कालिंजर को घेर लिया गया किन्तु सरलता से उस पर अधिकार न हो सका। घेरा दीर्घकाल तक चलता रहा। महमूद गज़नी लौटने का इच्छुक था इसलिए उसने चन्देल राजा से सन्धि कर ली। राजा ने कर के रूप में ३०० हाथी सुल्तान को देना स्वीकार कर लिया। कहा जाता है कि उसने महमूद की प्रशंसा में एक कविता भी लिखी जिसे सुनकर सुल्तान इतना प्रसन्न हुआ कि उसने १५ किले उसे इनाम के रूप में दे दिये। इस सन्धि के उपरान्त लूट का धन लेकर महमूद गज़नी को लौट गया।

भारत में महमूद का अन्तिम प्रसिद्ध आक्रमण सोमनाथ पर हुआ जो काठियावाड़ के तट पर स्थित था। कहा जाता है कि सोमनाथ के मन्दिर के पुजारियों ने यह शेखी मारी थी कि भगवान सोमनाथ दूसरे देवताओं से अप्रसन्न हो गये हैं जिसके कारणवश ही बुतशिकन महमूद उन्हें तोड़ने और लूटने में समर्थ हुआ है। ब्राह्मणों के इस अहंकार से क्रुद्ध होकर ही महमूद ने सोमनाथ पर आक्रमण करने का संकल्प किया।

१७ अक्टूबर, १०२४ ई. के दिन वह एक विशाल सेना लेकर गज़नी से चल पड़ा। कहा जाता है कि इससे बड़ी सेना का उसने पहले कभी संचालन नहीं किया था। २० नवम्बर को वह मुल्तान पहुँचा। चूँकि उसे राजपूताना के दुर्गम मरुस्थल में से होकर गुजरना था इसलिए मार्ग में उसने अत्यधिक सावधानी से काम लिया। प्रत्येक सैनिक को अपने साथ सात दिन के लिए भोजन, पानी और चारा ले चलने के लिए बाध्य किया गया। इसके अतिरिक्त महमूद ने सम्पूर्ण सेना के लिए पर्याप्त भोजन और पानी का प्रबन्ध किया, जिसे ३०,००० ऊँटों पर लादा गया। जनवरी १०२५ ई. में जब सुल्तान अन्हिलवाड़ पहुँचा तो उसे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि राजा भीमदेव अपने अनुयायियों सहित राजधानी से भाग गया है। जो लोग पीछे रह गये थे उन्हें आक्रमणकारियों ने हराया और लूट लिया। किन्तु नगर की जनता तथा सोमनाथ मन्दिर के पुजारी अपने स्थानों पर ही डटे रहे क्योंकि उनका विश्वास था कि भगवान सोमनाथ की उपस्थिति के कारण हम लोग पूर्णतया सुरक्षित हैं। महमूद ने बिना अधिक कठिनाई के स्थान पर अधिकार कर लिया और कत्लेआम की आज्ञा दे दी। ५०,००० से भी अधिक स्त्री-पुरुष मौत के घाट उतार दिये गये। सुल्तान ने स्वयं सोमनाथ की मूर्ति को तोड़कर उसके टुकड़ों को गज़नी, मक्का और मदीना भिजवा दिया। वहाँ वे गलियों में और खास मस्जिद की सीढ़ियों पर डलवा दिये गये जिससे नमाज के लिए जाने वाले मुसलमान उन्हें अपने पैरों के नीचे रौंद सकें। इस मूर्ति की गणना संसार की महान् आश्चर्यजनक वस्तुओं में की जाती थी। वह मन्दिर के बीच में स्थित थी और नीचे अथवा ऊपर से बिना किसी सहारे के सधी हुई थी।

हिन्दुओं की उसमें अत्यधिक श्रद्धा थी और मुसलमान अथवा काफिर जो भी उसे आकाश में स्थित देखता था, आश्चर्यान्वित हो जाता था। छत में चक-मक पत्थर के जो टुकड़े रखे हुए थे, उन्हें महमूद ने हटवा दिया। तुरन्त ही मूर्ति पृथ्वी पर गिर पड़ी और तोड़कर उसे क्षार-क्षार कर दिया गया। कहा जाता है कि मन्दिर की लूट में २०,००,००० दीनार से भी अधिक का धन आक्रमणकारियों को प्राप्त हुआ जिसे लेकर महमूद सिन्ध के मार्ग से गज़नी लौट गया। उसका अन्तिम आक्रमण सिन्ध के जाटों पर १०२७ ई. में हुआ क्योंकि सोमनाथ से पिछले वर्ष गज़नी को जाते समय मार्ग में जाटों ने उसे बहुत क्षति पहुँचायी थी। इस आक्रमण के साथ-साथ ही भारत में महमूद के कार्यों का इतिहास भी समाप्त हो गया। १०३० ई. में वह स्वयं इस संसार से चल बसा।

महमूद के कार्यों का मूल्यांकन

महमूद की गणना एशिया के महानतम मुसलमान शासकों में है। वह एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था जो इराक तथा कैस्पियन सागर से गंगा तक फैला हुआ था और बग़दाद के खलीफा के साम्राज्य से भी कहीं अधिक विस्तृत था। उसने स्वयं अपने बाहुबल से इस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। अपने पिता से विरासत में उसे केवल गज़नी और खुरासान के प्रान्त मिले थे। महमूद पूर्ण स्वेच्छाचारी शासक था। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसी के हाथ में केन्द्रित थी। उसके मन्त्री उसके सेवक मात्र थे जिन्हें वह स्वयं इच्छानुसार नियुक्त और पदच्युत किया करता था। उसकी इच्छा ही कानून थी। राज्य की कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका का वह प्रमुख था और वही स्वयं अपना महासेनानायक था। उसकी शक्ति तथा अधिकारों पर केवल दो ही अंकुश थे—परम्परागत मुस्लिम कानून और सैनिक विद्रोहों का भय। किन्तु अपने राज्य में महमूद ने सफलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन किया और शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखी। इन्हीं सफलताओं के कारण उसकी गणना उस युग के महानतम शासकों में है, और इससे ही यप भी स्पष्ट है कि उसमें पर्याप्त शासन-सम्बन्धी योग्यता थी।

महमूद वीर सैनिक तथा महान् सेनानायक था। कहा जाता है कि उसमें असाधारण व्यक्तिगत पराक्रम न था, किन्तु वह निर्भीक तथा साहसी था। सेनानायक की हैसियत से सफलता उसको इसलिए प्राप्त हुई कि वह उपलब्ध सामग्री का अत्यन्त कुशलता से उपयोग कर सकता था। साथ ही साथ प्राचीन व्यवस्था में उसने नवीन जीवन फूँक दिया। मानवीय चरित्र का वह अच्छा पारखी था। अपने अनुयायियों तथा सैनिकों के गुणों को वह भली-भाँति समझता था। यही कारण था कि अपनी योजनाओं को सफल बनाने के लिए

वह प्रत्येक से अपनी इच्छा और उसकी योग्यतानुसार कार्य करवाने में सफल होता था। वास्तव में जन्म से ही उसमें सफल नेता के गुण विद्यमान थे। उसकी सेना समान तत्वों से मिलकर नहीं बनी थी और उसमें विभिन्न नस्लों तथा धर्मों के लोग सम्मिलित थे जैसे अरब, अफगान, तुर्क तथा हिन्दू। किन्तु अपने योग्य सेनानायकत्व के कारण उसने उसे एकता के दृढ़ सूत्र में बाँध दिया था।

कभी-कभी मान लिया जाता है कि महमूद ने केवल हिन्दुओं के विरुद्ध ही जो अपनी अत्यधिक प्राचीन और पथरायी हुई समाज-व्यवस्था के कारण अशक्त और निरुत्साह हो चुके थे, असाधारण सैनिक-कौशल का परिचय दिया और इसीलिए उसके सेनानायकत्व की अतिरंजित भाषा में प्रशंसा की जाती है। किन्तु यह मत गलत है क्योंकि अपने मध्य एशिया तथा ईरान के शत्रुओं के विरुद्ध भी उसे उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त हुई थी जितनी कि भारत में।

महमूद स्वयं सुसंस्कृत तथा विद्वानों और कलाकारों का संरक्षक था। वह विद्वान था और कविता में भी उसकी कुछ गति थी। गज़नी को उसने सुन्दर महलों, मस्जिदों, विद्यालयों और समाधियों से सुशोभित किया। योग्य तथा विख्यात विद्वानों को उसने अपने दरबार में एकत्रित किया जिनसे वह साहित्यिक तथा धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद किया करता था। अल-बरुनी, फिरदौसी, ऊंसुरी तथा फर्रुखी उसके दरबार के सबसे अधिक देदीप्यमान रत्न थे। उसका सचिव प्रसिद्ध विद्वान उतबी था। महमूद तथा उसके युग की ऐतिहासिक जानकारी के लिए हम उसी की योग्यता के ऋणी हैं। महमूद ने गज़नी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की और सम्पूर्ण मुस्लिम-जगत से प्रतिभावान कलाकारों को अपने दरबार में आमन्त्रित किया।

अपने राज्य में महमूद अपनी न्यायप्रियता के लिए भी अधिक विख्यात था। एक विद्वान ने लिखा है कि "महमूद न्यायप्रिय शासक, विद्या का प्रेमी और दयालु स्वभाव तथा शुद्ध विचारों का व्यक्ति था।" वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और धार्मिक नियमों का कट्टरता से पालन करता था। वह इस बात का भी ध्यान रखता था कि उसकी मुस्लिम प्रजा शुद्ध सुन्नी धर्म से विचलित न होने पाये। उसने धर्म-द्रोहियों को दण्ड दिया और करमाथी आदि इस्लाम के विद्रोहियों पर धार्मिक अत्याचार भी किये।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मुहम्मद हबीब का मत है कि महमूद धर्मान्ध न था और भारत पर आक्रमण उसने धार्मिक उद्देश्यों को लेकर नहीं वरन लूट के लालच से किये थे। विद्वान प्रोफेसर का यह भी कहना है कि चूँकि इस्लाम लूट और आततायीपन का समर्थन नहीं करता है अतः महमूद ने भारत में बर्बरतापूर्ण कृत्य करके तो इस्लाम का अपकार ही किया था। किन्तु महमूद एक पवित्र मुसलमान शासक था जो अपने धर्म के नियमों का

अत्यन्त सावधानी से पालन करता था और इस सम्बन्ध में उसके समकालीन मुसलमानों को किसी प्रकार का सन्देह नहीं था बल्कि वे उसे आदर्श मुस्लिम शासक मानते थे। उस युग के सभी मुसलमान इस विषय में एकमत थे कि भारत पर आक्रमण करके महमूद ने इस्लाम की सेवा ही नहीं की थी बल्कि उसके गौरव को बहुत बढ़ाया था। जहाँ तक इस मत का सम्बन्ध है कि इस्लाम इस प्रकार के आततायीयन और अत्याचारों का समर्थन नहीं करता है, जो महमूद ने भारतवासियों पर किये थे, हमें केवल एक ही बात याद रखनी है और वह यह है कि इतिहास के विद्यार्थी को किसी धर्म के मतवादों से प्रयोजन नहीं है। उसे तो केवल यह देखना है कि उसके अनुयायियों के कार्यों और आचरण पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है और यह एक निर्विवाद सत्य है कि महमूद के समय में तथा उसके बाद शताब्दियों तक जो लोग इस्लाम की व्याख्या करने के अधिकारी समझे जाते थे, उनका यह स्पष्ट मत था कि गज़नी का सुल्तान कभी भी इस्लाम के कट्टर नियमों से विचलित नहीं हुआ था और भारत में अपने आचरण द्वारा उसने इस्लाम का मस्तक ऊँचा किया।

उस युग के भारतीय महमूद को शैतान का अवतार मानते थे। उनकी दृष्टि में वह एक साहसी डाकू, लालची लुटेरा तथा कला का निर्दयी नाशक था क्योंकि उसने हमारे दर्जनों समृद्धशाली नगरों को लूटा तथा अनेक मन्दिरों को जो कला के आश्चर्यजनक आदर्श थे, धूल में मिला दिया। वह सहस्रों निर्दोष स्त्रियों और बच्चों को दास बनाकर ले गया। जहाँ भी वह गया, वहाँ अत्यन्त निर्दयतापूर्वक उसने हत्याकाण्ड किया और हमारे सैकड़ों देशवासियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध मुसलमान बनाया। जो विजेता अपने पीछे ऊजड़ नगरों और गाँवों तथा निर्दोष मनुष्यों की लाशों को छोड़ जाता है, उसे भावी पीढ़ियाँ केवल आततायी राक्षस समझकर ही याद रख सकती हैं, अन्य किसी प्रकार से नहीं।

शासक की हैसियत से भारत के इतिहास में महमूद का कोई स्थान नहीं है। हिन्दूशाही राजवंश के पतन के बाद पंजाब को उसने भौगोलिक, सैनिक तथा सामाजिक कारणों से अपने राज्य में मिलाया क्योंकि इस प्रदेश पर अधिकार किये बिना उसके यातायात का मार्ग सुरक्षित नहीं रह सकता था और न वह निर्भयतापूर्वक गंगा-यमुना के दोआब को पदाक्रान्त कर सकता था। फिर भी हमें मानना पड़ेगा कि महमूद ने भारत में तुर्की सत्ता की नींव डाली, क्योंकि उसने देहली की भावी सल्तनत की संस्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। महमूद राजनीतिज्ञ नहीं था। उसकी शासन सम्बन्धी योग्यता का भी अतिरंजित वर्णन किया गया है। प्रोफेसर एस. आर. शर्मा का मत है कि अपने लोगों के लिए वह देवदूत-तुल्य था। किन्तु वास्तव में उसने अपने राज्य में शान्ति और

बुन्देलखण्ड के चन्देल तथा चेदि के कलचुरी

दो अन्य राजपूत-वंशों का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि वे शक्तिशाली ही नहीं थे अपितु निरन्तर अपने पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध में रत रहे। वे कालिंजर और महोबा के चन्देल तथा चेदि के कलचुरी थे। चन्देलों ने ११वीं शताब्दी में गंगा-यमुना दोआब के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया था। बुन्देलखण्ड भी उनके राज्य में सम्मिलित था। मदनवर्मन इस वंश का विख्यात शासक हुआ। उसने मालवा के परमारों तथा गुजरात के सिद्धराज को पराजित किया। आधुनिक मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले में स्थित त्रिपुरी के कलचुरियों को भी उसने हराया। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग १२वीं शताब्दी के अन्त में कलचुरी चन्देलों के अधीनस्थ सामन्त हो गये। किन्तु आगे चलकर चन्देलों को भी गहड़वारों द्वारा पराजित होना पड़ा। परमर्दी देव इस वंश का अन्तिम महत्वपूर्ण राजा हुआ। अजमेर के पृथ्वीराज द्वितीय ने उसे हराकर उसके राज्य का बहुत-सा भाग चौहान राज्य में मिला लिया। इस युग के प्रारम्भ में चन्देल राज्य में महोबा, कालिंजर, खजुराहो तथा अजयगढ़ सम्मिलित थे; सम्भवतः झाँसी भी उनके राज्य का एक अंग था। मालवा के परमारों की राजधानी धार थी। अपने महानतम शासक भोज (१०१०-१०५५ ई. लगभग) के समय में वे बहुत शक्तिशाली और प्रसिद्ध हो गये थे। किन्तु १२वीं शताब्दी में उनका भी अधःपतन हो गया। मुहम्मद ग़ोरी के समय में इस वंश का शासक एक महत्वहीन सामन्त था और गुजरात के चालुक्यों के अधीन था।

उत्तरी बंगाल के पाल

पूरबी भारत में पाल और सेन दो प्रसिद्ध राजपूत राज्य थे। एक समय था जबकि पाल-साम्राज्य में सम्पूर्ण बंगाल और बिहार सम्मिलित थे। किन्तु अब वह वेग से अधःपतन की ओर जा रहा था। १२वीं शताब्दी में इस वंश के एक राजा रामपाल ने उत्कल, कलिंग और कामरूप को जीतकर कुछ समय के लिए पुनः अपने पूर्वजों की साम्राज्यवादी प्रतिष्ठा की स्थापना की। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद पाल-वंशीय शासक पुनः प्रमाद में फँस गये। ब्रह्मपुत्र की घाटी स्वतन्त्र हो गयी। इसी समय दक्षिणी बंगाल भी पाल राज्य से प्रथक हो गया। चारों ओर छोटे-छोटे सामन्तों ने सिर उठाया और स्वतन्त्र बन बैठे। कुमारपाल (११२६-११३०ई.), मदनपाल (११३०-११५० ई.) आदि इस वंश के परवर्ती शासक अत्यन्त दुर्बल थे। उनके समय में विशाल पाल-साम्राज्य संकुचित होकर छोटा-सा राज्य रह गया। बिहार उनके हाथों से निकल गया तथा हज़ारीबाग में नये राजवंश उठ खड़े हुए। पाल राज्य में केवल उत्तरी बंगाल रह गया।

बंगाल का सेन राज्य

पाल-साम्राज्य के पतन से सबसे अधिक लाभ सेन-वंश को हुआ। सेनों के विषय में लोगों की यह धारणा थी कि वे दक्षिण से आये थे और ११वीं शताब्दी में उन्होंने पूरबी भारत में अपनी सत्ता की नींव डाली थी। इस वंश के एक सदस्य विजयसेन (१०९७-११५९ ई.) ने पूरबी बंगाल पर अधिकार कर लिया। उसने कामरूप, कलिंग और दक्षिणी बंगाल से निरन्तर युद्ध किया और महत्वपूर्ण विजयें प्राप्त कीं। कहा जाता है कि उसने मिथिला (उत्तरी बिहार) के नान्यदेव को भी हराया। बल्लाल सेन (११५९-११७० ई.) और लक्ष्मण सेन (११७०-१२०६ ई.) इस वंश के अन्तिम शासक हुए। उनके राज्य में उत्तरी तथा पूरबी बंगाल, मिथिला और पश्चिम में मिथिला से लगे हुए कुछ जिले सम्मिलित थे। लक्ष्मण सेन के समय में उसकी वृद्धावस्था तथा आन्तरिक फूट के कारण सेन राज्य बहुत दुर्बल हो गया।

पिछले पृष्ठों में हम जो कुछ लिख चुके हैं, उससे स्पष्ट है कि उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जिनका एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार था। बहुधा एक राज्य पर अनेक राजवंशों के लोग अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। इसका निर्णय केवल तलवार से ही हो सकता था। इसलिए इस सम्पूर्ण युग में उत्तरी भारत के राजपूत राजा अपने पड़ोसियों से निरन्तर युद्ध करते रहे। यही कारण था कि वे उत्तर-पश्चिमी भारत में पंजाब, मुल्तान, सिन्ध आदि विदेशी राज्यों में होने वाली घटनाओं की ओर ध्यान न दे सके। ऐसी स्थिति में उनके लिए विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध संयुक्त होना असम्भव था। जनता का विदेशियों के विरुद्ध संगठित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था क्योंकि उस युग में देश के जीवन में जनता का कोई महत्व न था। तुर्कों को पंजाब, मुल्तान और सिन्ध से जहाँ स्थायी रूप से उन्होंने अपने पैर जमा लिये थे, मार भगाने के लिए आपस में संगठित होना भारतीय नरेशों के लिए और भी अधिक कठिन था।

देश की शासन-व्यवस्था, का आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ और इस काल में भी वही दशा थी जो ११वीं शताब्दी में थी, जिसका हम पहले वर्णन कर चुके हैं। परन्तु वास्तव में हमारी सभ्यता अब गतिहीन हो चुकी थी और इसीलिए अधःपतन की ओर जा रही थी।[1]

---

[1] देखिये इसी पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय (पृष्ठ ४९-५५)।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. RAY, H. C. : Dynastic History of Northern India, Vol. II.
2. MAJUMDAR, R. C. : History of Bengal, Vol. I.
3. TRIPATHI, R. S. : History of Kanauj.
4. NILKANTH SASTRI : The Cholas.
5. NILKANTH SASTRI : The Pandya Kingdom.
6. PANNIKAR, K. M. : A Survey of Indian History.

अध्याय ८

मुहम्मद ग़ोरी

ग़ोर का प्रारम्भिक इतिहास

ग़ोर का पहाड़ी जिला गज़नी तथा हिरात के बीच पहाड़ों में स्थित है। दसवीं शताब्दी में वह एक स्वतन्त्र राज्य था। एक ताजिक़ परिवार के लोग जिनके पूर्वज ईरान से आये थे, वहाँ शासन करते थे। इतिहास में वे शंसबनी वंश के नाम से विख्यात हैं। १००९ ई. में महमूद गज़नवी ने ग़ोर के शासक मुहम्मद बिन सूरी को पराजित किया और उसे अपना करद सामन्त बना लिया। उस समय से ग़ोर के शासक को गज़नी की अधीनता में रहना पड़ा। किन्तु महमूद की मृत्यु के बाद गज़नी का पतन आरम्भ हो गया। ग़ोर राज्य ने इस स्थिति से लाभ उठाया। दोनों राज्यों के शासक-वंशों में संघर्ष आरम्भ हो गया। गज़नी के सुल्तान बहराम ने ग़ोर के राजकुमार मलिक कुतुबुद्दीन हसन का वध कर दिया। इससे कुपित होकर हसन के भाई सैफ़ुद्दीन सूरी ने गज़नी पर आक्रमण किया और बहराम को पराजित किया। झगड़ा बढ़ता गया और उसने एक पारिवारिक कलह का रूप धारण कर लिया। सैफ़ुद्दीन के छोटे भाई अलाउद्दीन हुसैन ने गज़नी को पूर्णतया जलाकर ख़ाक कर दिया और जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं वह 'जहाँ-सोज़' के नाम से विख्यात हुआ। अलाउद्दीन ने सल्जुक-वंश के अन्तिम सम्राट संजर से भी युद्ध किया। संजर उस समय अनेक कठिनाइयों से घिरा हुआ था, इसलिए अलाउद्दीन नष्ट होने से बच गया। उसने बरमैन, तुर्किस्तान, जरूम, बुस्त तथा मुरग़ाव नदी की घाटी में स्थित ग़रजिस्तान को जीत लिया। अपने शासन के अन्तिम दिनों में बलख़, तुर्किस्तान और हिरात से उसे हाथ धोने पड़े। किन्तु राज्य के अन्य भागों पर उसका अधिकार कायम रहा। ११६१ ई. में अलाउद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसका एक अन्य भाई सैयुद्दीन गद्दी पर बैठा। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका चचेरा भाई ग़ियासुद्दीन ग़ोर की गद्दी पर बैठा। उसने गज़नी पर जो उसके पूर्वजों के हाथों से निकल गयी थी, पुनः अधिकार कर लिया और कुछ नये प्रदेशों को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया परन्तु अपनी महत्वाकांक्षाओं के कारण वह ख्वारिज़्म के शाह के विरुद्ध युद्ध में फँस

INDIA IN 1206 A.D.
Muhammad of Ghur.
TRANS-OXIANA
CHINA
KASHMIR
TIBET
NEPAL
TIRHUT
PALAS
SENAS
PERSIA
AFGHANISTAN
CHAUHAN
CHALUKYAS
PARAMARAS
MALWA
CHANDELAS
KALACHURIS
YADAVAS
KAKATIYAS
HOYASALAS
PANDYAS
CEYLON
ARABIAN SEA
BAY OF BANGAL
ANDAMAN IS.
Bukhara
Samarqand
Balkh
Ghur
Herat
Kabul
Ghazni
Waihand
Peshawar
Srinagar
Nandanah
Sialkot
Lahore
Kandahar
Firozpur
Sarasuti
Multan
Tarain
Samana
Thaneshwar
Bhatinda
Kalat
Uch
Hansi
Delhi
Meerut
Badaun
Koil
Chandwar
Kanauj
Thungir
Nagaur
Jaisalmer
Sehwan
Ajmer
Bayana
Ranthambhor
Gwalior
Mansura
Amarkot
Nadol
Thatta
Jalor
Abu
Debal
Chittor
Mahoba
Banaras
Patliputra
Lakhanauti
Uddandapur
Vihar
Gaya
Nadia
Kalinjar
Anhilwara
Bhilsa
Jabalpur
Sonargaon
Chatgaon
Satgaon
Dwarika
Somenath
Asirgarh
Doman
Jaynagar
Deogiri
Thana
Bombay
Chaul
Kalyani
Rajamundry
Warangal
Dabhol
Raichur
Karnul
Karwar
Kanchi
Kampil
Dwarasamudra
Tanjore
Madura
Boundary of the Ghuri Empire.
Extent of Conquests.
Over-run by Aibak.
0 50 100 150 200 250 300
Miles
Copyright DHARMA BHANU

गया। प्रारम्भ में ग़ियासुद्दीन को कुछ सफलता मिली और खुरासान के पड़ोस के अनेक जिलों को भी उसने जीत लिया, किन्तु अन्त में अन्धखुद के युद्ध में उसकी पराजय हुई। उत्तर-पश्चिम में उसने जो अनेक प्रदेश जीते थे, उनमें से केवल हिरात और बलख उसके अधिकार में रह गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग़ोर के शासकों को उत्तर-पश्चिम में अपनी आक्रमणकारी नीति से अधिक लाभ नहीं हुआ। इसीलिए उन्होंने भारत की ओर ध्यान दिया। ग़ोर के सुल्तान ग़ियासुद्दीन ने ११७३ ई. में अपने छोटे भाई शाहबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मुहम्मद को गज़नी का सूबेदार नियुक्त किया। मुहम्मद ने अपने बड़े भाई के साथ अच्छा सम्बन्ध कायम रखा और पूर्ण रूप से उसके प्रति वफादार रहा। यद्यपि गज़नी में वह स्वतन्त्र शासक की हैसियत से राज्य करता था, फिर भी उसने सिक्कों पर अपने भाई का नाम उत्कीर्ण कराया और उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि एक अधीनस्थ राजा को अपने प्रभु के प्रति करना चाहिए। यही मुहम्मद ग़ोरी भारत पर आक्रमण करने वाला तीसरा मुसलमान नेता था।

मुहम्मद के आक्रमणों के कारण

मुहम्मद ग़ोरी महत्वाकांक्षी और साहसी व्यक्ति था। गज़नी का शासक होने के नाते वह अपने को पंजाब का न्यायोचित अधिकारी समझता था क्योंकि पहले पंजाब गज़नी-साम्राज्य का अंग रह चुका था। उसके परिवार तथा गज़नवी वंश में संघर्ष चल रहा था। इस तथ्य ने भी उसे पंजाब पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया क्योंकि उस समय पंजाब महमूद गज़नवी के एक वंशज खुसरवशाह अथवा खुसरव मलिक के अधीन था। इसके अतिरिक्त ख्वारिज़्म के शाह के विरुद्ध भी ग़ोरों का दीर्घकाल से युद्ध चल रहा था। अपने उस मुख्य शत्रु के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के लिए भी पंजाब पर अधिकार करना ग़ोर-वंश के लिए अत्यन्त आवश्यक था। मुल्तान के करमाथी तथा लाहौर के गज़नवी इन दोनों शत्रुओं से ग़ोरियों के पिछावे को भयंकर संकट उपस्थित हो सकता था, इसलिए उनका नाश करना अभिवांछनीय ही नहीं अपितु अति आवश्यक था। वह युग ऐसा था जिसमें सैनिक यश को अधिक महत्व दिया जाता था, इसलिए मुहम्मद ग़ोरी भी विजय तथा शक्ति की अभि-लाषा से उतावला हो रहा था। सभी महत्वाकांक्षी व्यक्तियों की भाँति वह भी एक वृहद् साम्राज्य का निर्माण करके धन और प्रतिष्ठा कमाना चाहता था। वह धार्मिक मुसलमान था इसलिए भारत से मूर्ति-पूजा का नाश करने और वहाँ के हिन्दुओं को मुहम्मद का सन्देश देने को वह अपना पवित्र कर्तव्य समझता था। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मुहम्मद का दृष्टिकोण उतना धार्मिक नहीं था जितना कि राजनीतिक। इसलिए उसका मुख्य उद्देश्य

विजय थी न कि इस्लाम का प्रचार। दूसरा उद्देश्य वांछनीय था, किन्तु उसकी पूर्ति विजय द्वारा सरलता से हो सकती थी।

सिन्ध तथा मुल्तान की विजय

मुहम्मद ग़ोरी का पहला आक्रमण ११७५ ई. में मुल्तान पर हुआ। उस प्रान्त पर उस समय करमाथी लोग शासन करते थे जो इस्लाम-द्रोही माने जाते थे। मुहम्मद ने नगर पर अधिकार करके उसे अपने सूबेदार के सुपुर्द कर दिया। इसके उपरान्त वह ऊपरी सिन्ध में स्थित उच्च की ओर बढ़ा। एक कहानी प्रचलित है कि उच्च पर उस समय एक भट्टी राजपूत राज्य करता था, उसकी रानी मुहम्मद के कुचक्रों में फँस गयी, उसने अपने पति को विष देकर मरवा डाला तथा किला आक्रमणकारी के हवाले कर दिया। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने इस कहानी को गलत सिद्ध कर दिया है क्योंकि यह निश्चित है कि किसी भी भट्टी राजपूत ने सिन्ध के किसी भी भाग पर कभी शासन नहीं किया और इस समय उच्च सम्भवतः एक करमाथी मुसलमान के अधिकार में था। मुल्तान की भाँति उच्च को भी मुहम्मद ने ११७५ ई. में ही जीता और सम्भवतः धोखे से। वह सम्पूर्ण सिन्ध को जीतकर अपने राज्य में मिलाना चाहता था, इसलिए ११८२ ई. में उसने निचले सिन्ध पर आक्रमण किया और वहाँ के सुम्र शासक को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया।

अन्हिलवाड़ में मुहम्मद की पराजय

मुहम्मद का दूसरा आक्रमण गुजरात के बघेल राजा भीम द्वितीय की राजधानी अन्हिलवाड़ अथवा पाटन पर हुआ। अन्हिलवाड़ का शासक यद्यपि युवक ही था किन्तु वह वीर तथा निर्भीक था और उसके पास एक विशाल सेना थी। ११७८ ई. में उसने मुहम्मद को भयंकर पराजय दी और अपने देश के बाहर खदेड़ दिया। इससे आक्रमणकारी इतना आतंकित हुआ कि इसके बीस वर्ष बाद तक उसने गुजरात पर आक्रमण करने का विचार भी नहीं किया।

पंजाब विजय : गज़नवी वंश का अन्त

अब मुहम्मद ने अनुभव किया कि सिन्ध तथा मुल्तान को आधार बनाकर भारत को जीतने का प्रयत्न करना एक भारी भूल थी और चूँकि भारत का सिंह-द्वार पंजाब था, इसलिए उसने अब अपनी नीति बदल दी और पंजाब में होकर इस देश के मध्य में घुसने का संकल्प किया। ११७९ ई. में उसने पेशावर पर आक्रमण किया और उसे गज़नवी शासक से छीन लिया। दो वर्ष बाद उसने लाहौर पर आक्रमण किया। खुसरव मलिक ने आक्रमणकारी की सेवा में बहुमूल्य भेंट

तथा अपने एक पुत्र को बन्धक के रूप में भेजा। इस सरल विजय ने मुहम्मद की आक्रमणकारी महत्वाकांक्षा को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया। ११८५ ई. में उसने फिर पंजाब पर आक्रमण किया, ग्रामीण प्रदेशों को लूटा और सियालकोट के किले पर अधिकार कर लिया। किले की उसने मरम्मत करायी और अपने सैनिक उसकी रक्षा के लिए नियुक्त कर दिये। अब खुसरव मलिक को स्पष्ट हो गया कि आक्रमणकारी समस्त पंजाब को उसके दुर्बल हाथों से छीनने पर तुला हुआ है, इसलिए आत्म-रक्षा के लिए उसे प्रयत्न करना ही पड़ा। उसने नमक की पहाड़ियों के प्रदेश में रहने वाली खोक्खर नाम की हिन्दू जाति से मित्रता कर ली जिनकी जम्मू के राजा चक्रदेव से शत्रुता थी। उनकी सहायता से खुसरव ने सियालकोट को घेरा किन्तु मुहम्मद की सेना ने उसे मार भगाया। ११८६ ई. में मुहम्मद स्वयं पंजाब आया और लाहौर को घेर लिया। उसने चक्रदेव से पहले ही मित्रता कर ली थी। कहा जाता है कि इस हिन्दू राजा के निमन्त्रण पर ही मुहम्मद ने पंजाब पर आक्रमण और सियालकोट के किले पर अधिकार किया था। यद्यपि जम्मू के नये राजा विजयदेव ने मुहम्मद की सहायता की, फिर भी केवल सैनिक-बल से लाहौर विजय करने की उसे आशा न रही। इसलिए उसने कूटनीति और छल से काम लिया। उसने खुसरव को अपने खेमे में मुलाकात के लिए बुलाया और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। किन्तु उसके साथ विश्वास-घात किया गया और उसे बन्दी बनाकर ग़रजिस्तान भिजवा दिया गया जहाँ मुहम्मद की आज्ञानुसार ११९२ ई. में उसका वध कर दिया गया। इस प्रकार मुलतान, सिन्ध और लाहौर ग़ोर-साम्राज्य के अंग बन गये, पंजाब में गज़नवी शासन का अन्त हो गया, और इस प्रान्त पर अधिकार हो जाने से मुहम्मद के लिए भारत की विजय का मार्ग खुल गया।

हिन्दुस्तान से उसका सम्पर्क

अब मुहम्मद के राज्य की सीमाएँ अजमेर तथा दिल्ली के पराक्रमी राजा पृथ्वीराज के राज्य को छूने लगीं। राजपूतों को सुबुक्तगीन और महमूद गज़नवी के समय से ही मुसलमान तुर्कों का कुछ अनुभव हो गया था और वे अपने नये पड़ोसियों की आक्रमणकारी प्रवृत्ति को ११वीं शताब्दी के हिन्दू-राजाओं की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते थे। किन्तु यह कहना गलत होगा कि मुसलमानों के सम्पर्क में आने से वे अधिक बुद्धिमान हो गये थे। वास्तव में कभी-कभी उन्हें लाहौर में शासन करने वाले पतनशील गज़नवी वंश के साहसी सेनापतियों के इक्के-दुक्के धावों का सामना करना पड़ता था जिन धावों ने उन्हें तुर्की संकट के प्रति सजग कर दिया था। कुछ राजपूत राजाओं ने, विशेषकर कन्नौज तथा अजमेर के शासकों ने, अपनी सेनाओं के उचित संगठन

की ओर भी ध्यान दिया और गज़नवियों के पंजाब प्रान्त के सीमान्त जिलों पर आक्रमण किये। चौहानों ने हाँसी और भटिण्डा को जीत लिया था जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। इस अनुभव को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि इस समय भारत के राजपूत राजा विदेशी आक्रमणों के प्रति उतने असावधान न थे जितने कि उनके पूर्वज ११वीं शताब्दी में महमूद गज़नवी के धावों के समय थे।

तराइन के युद्ध में मुहम्मद की पराजय

ग़ोर से आने वाली आक्रमणकारी सेनाओं का प्रथम प्रहार अजमेर के चौहान-नरेश को झेलना पड़ा। उसका राज्य अजमेर से लेकर दिल्ली तक फैला हुआ था, इसलिए देश की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा का उत्तर-दायित्व उसी पर था। उत्तर-पश्चिम से होने वाले सम्भावित आक्रमणों के विरुद्ध भारत के सिंहद्वार की रक्षा करने के लिए चौहानों ने भटिण्डा तक अपने राज्य के सीमान्त नगरों की सुदृढ़ किलेबन्दी कर ली थी। मुहम्मद ग़ोरी ने पहला आक्रमण भटिण्डा पर किया और ११८९ ई. में उसे घेर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज तैयार नहीं था और आक्रमण भी धोखे से किया गया था, अतः नगर की रक्षा-सेना को पराजित होकर हथियार डालने पड़े।

किले की रक्षा के लिए मुहम्मद ने जियाउद्दीन नामक सेनापति की अधीनता में सैनिक नियुक्त कर दिये। किन्तु जैसे ही सुल्तान वापस जाने को तैयार हुआ, पृथ्वीराज किले को छीनने के उद्देश्य से सेना लेकर पहुँच गया। कहा जाता है कि पृथ्वीराज की सेना में दो लाख अश्वारोही और तीस हजार हाथी थे। किन्तु यह कथन निश्चय ही अतिरंजित है। वीर चौहान का सामना करने के लिए मुहम्मद को फिर मुड़ना पड़ा। ११९१ ई. में भटिण्डा के पास तराइन गाँव के मैदान में दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। पृथ्वीराज के सैनिकों ने सुल्तान पर भयंकर प्रहार किये और उसे बुरी तरह हराया। मुहम्मद के स्वयं गहरे घाव लगे और उसका एक ख़लजी अफसर उसे घोड़े पर बिठलाकर युद्ध-क्षेत्र से भगा ले गया। पृथ्वीराज ने लौटकर भटिण्डा का किला घेर लिया किन्तु सेनापति जियाउद्दीन से उसको छीनने में १३ महीने लग गये।

तराइन के युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय

भारत के हिन्दू राजाओं के हाथों मुहम्मद की यह दूसरी पराजय थी। अन्हिलवाड़ के भीमदेव द्वितीय के हाथों उसे जो हार खानी पड़ी थी उससे भी अधिक अपमान उसे इस पराजय के कारण सहना पड़ा। अतः ग़जनी लौटने

पर वह कभी सुख से नहीं सोया और सदैव चिन्ता तथा वेदना में लिप्त रहा। इस हार का बदला लेने के लिए उसने भीषण तैयारियाँ कीं और जब वे पूरी हो गयीं तो १ लाख और २० हजार चुनी हुई अश्वारोही सेना को लेकर भारत की ओर चल पड़ा। लाहौर पहुँचकर उसने किवाम-उल-मुल्क नामक अपने दूत को पृथ्वीराज के पास भेजा और उससे अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा। अपनी तैयारियाँ पूरी करने तथा पृथ्वीराज को धोखे में डालने के उद्देश्य से मुहम्मद ने यह चाल चली थी किन्तु चौहान-नरेश आसानी से उसकी इस चाल में नहीं आया। वह तुरन्त ही भटिण्डा की ओर चल पड़ा और अन्य राजपूत राजाओं को भी अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित किया। सम्मिलित सेना को लेकर जिसमें फरिश्ता के अनुसार पाँच लाख घुड़सवार और तीन हजार हाथी थे (यह गणना निश्चय ही अतिरंजित होगी), पृथ्वीराज ने तराइन के ही युद्ध-क्षेत्र में आक्रमणकारी का पुनः मुकाबला किया। मुहम्मद ने अपनी सेना को पाँच भागों में विभक्त किया। चार को उसने राजपूतों पर चारों ओर से आक्रमण करने को भेजा और एक को रिजर्व में रखा। मिनहाज-उस-सिराज लिखता है कि "सुल्तान ने अपनी सेना को योजनानुसार युद्ध के लिए खड़ा किया। उसके मुख्य अंग को जिसके पास झण्डे, शामियाने, हाथी आदि बड़ी संख्या में थे, उसने पीछे रखा। युद्ध की योजना पूर्ण रूप से निश्चित करके वह सावधानी से आगे बढ़ा। घुड़सवारों को जिनके पास भारी हथियार नहीं थे, उसने दस-दस हजार की चार टुकड़ियों में बाँटा और दायें-बायें तथा आगे-पीछे चारों ओर से शत्रु पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। जब शत्रु ने आक्रमण के लिए अपनी सेना इकट्ठी की, तब इन अश्वारोही टुकड़ियों ने एक दूसरे को सहायता दी और पूरे जोश से उस पर धावा बोल दिया। इस रण-नीति से काफिरों की पराजय हुई, सर्वशक्तिमान ईश्वर ने हमें विजयी बनाया और शत्रु सेनाएँ भाग खड़ी हुईं।" राजपूतों ने अत्यन्त वीरता से युद्ध किया किन्तु मुहम्मद की युद्ध-नीति के आगे वे जब चारों ओर के प्रहारों को झेलते हुए थक गये तब संध्या समय मुहम्मद ने अपनी रिजर्व टुकड़ियों को उन पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस अन्तिम प्रहार को राजपूत योद्धा न झेल सके। पृथ्वीराज का सेनापति खांडेराव जिसने तराइन के प्रथम युद्ध में ग़ोरी को पराजित किया था, मारा गया और पृथ्वीराज का भी उत्साह भंग हो गया। पृथ्वीराज अपने हाथी को छोड़कर एक घोड़े पर सवार हुआ और युद्ध-क्षेत्र से भागा किन्तु सरस्वती के पास पकड़ा गया और मुहम्मद पूर्णरूपेण विजयी हुआ।

पृथ्वीराज की कब और कैसे मृत्यु हुई, इस सम्बन्ध में एक से अधिक मत हैं। मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार तो उसका तुरन्त ही पकड़कर वध कर

दिया गया था। किन्तु हसन निज़ामी का कथन है कि मुसलमान उसे पकड़कर अजमेर ले गये जहाँ कुछ समय बाद विद्रोह के अपराध में उसका वध कर दिया गया। यह दूसरा मत सही प्रतीत होता है क्योंकि पृथ्वीराज के कुछ सिक्के अब भी विद्यमान हैं जिन पर संस्कृत में 'हम्मीर' खुदा हुआ है। इससे यही विदित होता है कि पृथ्वीराज ने मुहम्मद की अधीनता स्वीकार कर ली थी और तराइन के द्वितीय युद्ध के बाद भी वह कुछ समय तक जीवित रहा था। चन्दवरदाई का कथन है कि मुसलमान पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर गज़नी ले गये और वहाँ मुहम्मद ग़ोरी को मार डालने के अपराध में उसका वध किया गया परन्तु तथ्यों से इस कथन की पुष्टि नहीं होती।

तराइन के दूसरे युद्ध के परिणाम

तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास की एक युग-परिवर्तनकारी घटना है। यह युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ और इससे मुहम्मद ग़ोरी की भारत-विजय निश्चित हो गयी। उसने चौहानों की सैनिक-शक्ति को पूर्णतया भंग कर दिया। तराइन की विजय के उपरान्त मुहम्मद ने शीघ्र ही हाँसी, कुहराम, सरस्वती आदि सैनिक महत्व के स्थानों पर अधिकार कर लिया और उनकी रक्षा के लिए तुर्क सैनिक नियुक्त कर दिये। हमारे इतिहास में पहली बार मुहम्मद ने हिन्दुस्तान के बीचोंबीच एक विदेशी तुर्की राज्य की नींव डाल दी किन्तु उसने अनुभव किया कि पृथ्वीराज के सम्पूर्ण राज्य का शासन-भार सीधा अपने ऊपर ले लेना अनुपयुक्त था, अतः उसने पृथ्वीराज के एक पुत्र को अपने सामन्त की हैसियत से चौहानों की गद्दी पर बैठा दिया। इसी प्रकार खांडेराव के उत्तराधिकारी एक तोमर राजकुमार को उसने दिल्ली का शासक स्वीकार कर लिया और दिल्ली के पास इन्द्रप्रस्थ में अपने सबसे अधिक विश्वसनीय नायब कुतुबुद्दीन ऐबक की अधीनता में एक तुर्क सेना रख दी। सभी विजित स्थानों में हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े गये और उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी की गयीं तथा मुस्लिम परम्परा के अनुसार सभी स्थानों में इस्लाम को राज्य-धर्म घोषित कर दिया गया। अजमेर में मुसलमानों ने मन्दिरों को ध्वस्त किया और विग्रहराज चौहान द्वारा संस्थापित प्रसिद्ध विद्यालय को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया।

बुलन्दशहर, मेरठ तथा दिल्ली पर अधिकार

इस महत्वपूर्ण सफलता के बाद मुहम्मद ग़ोरी विजित स्थानों को ऐबक की अधीनता में छोड़कर गज़नी को लौट गया। उसकी अनुपस्थिति में अजमेर में भयंकर विद्रोह हुआ जिसमें चौहानों ने अपनी स्वाधीनता पुनः प्राप्त करने तथा तुर्कों को मार भगाने का प्रयत्न किया और जटवन नामक एक हिन्दू

सरदार ने हाँसी में तुर्की सेना को घेर लिया। ऐबक वहाँ पहुँचा, विद्रोही को पराजित किया और बागड़ के पास युद्ध में उसको मार डाला। इसके उपरान्त ऐबक ने धोखे से डोर राजपूतों को हराकर उनसे बुलन्दशहर अथवा बरन छीन लिया। डोर सरदार चन्द्रसेन ने वीरता से शत्रु का मुकाबला किया किन्तु उसका एक सम्बन्धी अजयपाल ऐबक से जा मिला और उससे भारी रिश्वत लेकर अपने परिवार का नाश करने में शत्रु की सहायता की। इस विजय के बाद ऐबक ने मेरठ पर अधिकार कर लिया और उसकी रक्षा के लिए तुर्की सैनिक नियुक्त कर दिये। ११९३ ई. में तोमर राजा को हटाकर उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया जिसका उसने बहाना यह किया कि राजा ने तुर्की सैनिकों के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया था। उसी वर्ष से दिल्ली मुहम्मद ग़ोरी के भारतीय राज्य की राजधानी हो गयी।

अजमेर में दूसरा विद्रोह

भारतवासी तुर्की शासन को सहन न कर सकते थे क्योंकि वह विदेशी और मुस्लिम था अतः पृथ्वीराज के एक भाई हरिराज ने मुहम्मद ग़ोरी की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर रणथम्भौर को घेर लिया जहाँ ऐबक ने क़िवान-उल-मुल्क की अधीनता में एक तुर्की फौज रख दी थी। कुछ चौहानों ने पृथ्वीराज के पुत्र को भी जिसने तुर्कों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, अजमेर से मार भगाया। अतः चौहानों का दमन करने के लिए ऐबक को स्वयं जाना पड़ा। उसने रणथम्भौर तथा अजमेर को पुनः जीत लिया और अपने स्वामी के सामन्त को पुनः अजमेर की गद्दी पर बिठला दिया। किन्तु वह वीर हरिराज को न हरा सका। इसी समय डोर राजपूतों ने विद्रोह किया जिसके कारण ऐबक ने दूसरी बार यमुना को पार किया और ११९४ ई. में अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया।

कन्नौज के जयचन्द की पराजय

जिस समय ऐबक राजपूतों के विद्रोहों का दमन करने में लगा हुआ था, मुहम्मद ग़ोरी अपनी सेना लेकर फिर हिन्दुस्तान में आ पहुँचा। इस बार उसका उद्देश्य कन्नौज तथा बनारस के राजा जयचन्द को पराजित करना था। मुसलमान लेखकों ने जयचन्द को उस समय का महानतम हिन्दू राजा कहा है। दिल्ली की सेना के साथ ऐबक भी मुहम्मद की सहायता के लिए पहुँच गया। इस सम्मिलित सेना को लेकर ग़ोरी बनारस की ओर बढ़ा। गहड़वार नरेश जयचन्द ने उत्तरी भारत के प्रभुत्व के लिए पृथ्वीराज के विरुद्ध संघर्ष किया था और तुर्की आक्रमणकारी के विरुद्ध उसकी सहायता नहीं की थी। अतः अब उसे अकेले ही लड़ना पड़ा। उसके स्काउटों की शत्रु से छुटपुट

झपटें हुईं, किन्तु वे पराजित हुए। तब जयचन्द ने स्वयं आक्रमणकारी के विरुद्ध कूच किया और कन्नौज तथा इटावा के बीच यमुना के किनारे चन्दवार[1] नामक स्थान पर उसका सामना किया। उसने शत्रु पर भयंकर प्रहार किये। ग़ोरी घुटने टेकने ही वाला था कि राजा की आँख में एक घातक तीर लगा और वह मारा गया जिससे हिन्दू सेना में घबड़ाहट फैल गयी। जयचन्द की मृत्यु से हमारी सेना में जो भगदड़ मची, उसका मुहम्मद ने तुरन्त ही लाभ उठाया और अपने सैनिकों को इकट्ठा करके उसे खदेड़ दिया। यह घटना ११९४ ई. की है। तराइन की भाँति चन्दवार की विजय से भी एक बड़ा राज्य मुहम्मद के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। विजेता ने तुरन्त ही बनारस की ओर कूच किया जो जयचन्द का प्रिय निवास-स्थान था। वहाँ एक भारी कोष उसके हाथ लगा जिसे वह १४०० ऊँटों पर लादकर ले गया। जयचन्द के राज्य के कुछ अन्य महत्वपूर्ण नगरों पर भी जहाँ गहड़वारों के खजाने थे, मुसलमानों ने अधिकार कर लिया परन्तु राजधानी कन्नौज को वे ११९८ ई. तक भी विजय नहीं कर पाये और जयचन्द के वंशज उसके राज्य के एक छोटे-से भाग पर शासन करते रहे क्योंकि उस समय उसको जीतने योग्य मुहम्मद में शक्ति नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कन्नौज जीतने पर भी तुर्क उस पर बहुत दिनों तक अधिकार न कायम रख सके और गहड़वारों ने उसे शीघ्र ही फिर जीत लिया था।

अजमेर में तीसरा विद्रोह

इस विजय के बाद मुहम्मद ग़ज़नी को लौट गया। उसकी अनुपस्थिति में यहाँ अनेक विद्रोह हुए जिनका कुतुबुद्दीन को दमन करना पड़ा। इसमें पहला विद्रोह कोल (अलीगढ़) के निकट हुआ जिसका मुख्य कारण डोर राजपूतों का प्रबल स्वातन्त्र्य-प्रेम था। कोल के रक्षक तुर्की सैनिकों की सहायतार्थ स्वयं कुतुबुद्दीन को दिल्ली छोड़कर जाना पड़ा और विद्रोहियों का दमन करने में वह सफल हुआ। दूसरा विद्रोह अजमेर और उसके आसपास के प्रदेश में हुआ। राजपूतों ने, विशेषकर चौहानों ने, राजस्थान से तुर्कों को भगाकर अपनी दासता का अन्त करने के लिए यह तीसरा प्रयत्न किया। इस विद्रोह का कर्णधार पराक्रमी हरिराज था जो पहले दो बार अपनी वीरता का परिचय दे चुका था। उसने अजमेर से अपने भतीजे को मार भगाया और दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। दिल्ली की ओर कूच करने वाली राजपूत सेना को रोकने के लिए ऐबक ने स्वयं शीघ्र अजमेर की ओर प्रस्थान

---

[1] आधुनिक अनुसन्धानों से ज्ञात होता है कि फीरोजाबाद से दो मील की दूरी पर स्थित चन्दवार गाँव के पास यह युद्ध हुआ होगा।

किया। राजपूत सेना के सेनापति झटराय ने ऐबक द्वारा घिर जाने के डर से पीछे हटकर अजमेर के दृढ़ किले में शरण ली। हरिराज भी वहीं पहुँच गया। ऐबक ने किले को घेर लिया। कुछ दिनों बाद भूख से मरने के डर से हरिराज चिता में जलकर भस्म हो गया। ऐबक ने पुनः अजमेर में प्रवेश किया, पृथ्वीराज के पुत्र को हटाकर उसके स्थान पर एक तुर्की सूबेदार नियुक्त किया और पृथ्वीराज के पुत्र को रणथम्भौर का किला दे दिया।

ग्वालियर के किले पर अधिकार

११९५-९६ ई. में मुहम्मद ने फिर भारत पर आक्रमण किया और जादौं-भट्टी राजपूतों की राजधानी बयाना को घेर लिया। राजा कुमारपाल ने थंगीर के किले से शत्रु का मुकाबला किया किन्तु अन्त में उसे हथियार डालने पड़े। आक्रमणकारी ने थंगीर और विजय-मन्दिरगढ़ के किलों पर अधिकार कर लिया और उनकी रक्षा के लिए बहाउद्दीन तुग़रिल की अधीनता में तुर्की सैनिक नियुक्त कर दिये। तुग़रिल ने सुल्तान-कोट में एक सैनिक चौकी कायम की जिसे आधार बनाकर वह मैदानी प्रदेशों में सैनिक कार्यवाही कर सकता था। इस कार्य को पूरा करने के उपरान्त मुहम्मद ने ग्वालियर के किले का घेरा डाला; किन्तु किला इतना सुदृढ़ था कि बिना दीर्घकालीन घेरे के उसे जीतना कठिन था। अपने सैनिक-यश को कहीं धब्बा न लग जाय, इस डर से मुहम्मद ने ग्वालियर छोड़ दिया और राजा से सन्धि कर ली जिसके अनुसार राजा सुलक्षणपाल ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु मुहम्मद ने शीघ्र ही इन शर्तों का उल्लंघन किया और थोड़े ही समय बाद किले पर अधिकार करने के लिए बयाना से तुग़रिल को पुनः भेज दिया। इस साहसी तुर्क ने ग्वालियर के सभी यातायात के मार्ग काट दिये और पास के मैदानों से उसका पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया, जिसके कारण किले में रसद पहुँचना मुश्किल हो गया। राजपूत डेढ़ वर्ष तक युद्ध करते रहे किन्तु अन्त में किला छोड़ने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा और तुग़रिल ने उस पर अधिकार कर लिया।

राजस्थान में चौथा विद्रोह

राजपूतों के लिए विदेशी शासन के कड़वे घूँट को निगलना मुश्किल था। ११९६ ई. में चौथी बार उन्होंने तुर्की हुकूमत का जुआ उतार फेंकने का प्रयत्न किया। इस बार मेद तथा चौहानों ने श्रीगणेश किया। उन्होंने अन्हिल-वाड़ के चालुक्य राजा को आमन्त्रित किया और उसके साथ तुर्की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए एक संयुक्त मोर्चा कायम किया। उन्होंने अजमेर की तुर्क रक्षा-सेना को घेर लिया। अतः उसने ऐबक से सहायता के लिए जोरदार अपील

की। ऐबक प्रत्युत्तर अजमेर पहुँचा। किन्तु राजपूतों ने उसे पराजित किया और उसने भागकर अजमेर के किले में शरण ली। राजपूतों ने फिर किले को घेर लिया। सौभाग्य से उसी समय गज़नी से कुमुक आ गयी और राजपूतों को घेरा उठाना पड़ा। अब ऐबक को बदला लेने का अवसर मिला। उसने गुजरात के चालुक्य राजपूतों की राजधानी अन्हिलवाड़ पर आक्रमण करने की योजना बनायी। चालुक्यों ने आबू पर्वत के पास ऐबक के विरुद्ध मोर्चा खड़ा किया। चालाकी से ऐबक ने उन्हें उस सामरिक महत्व के स्थान से नीचे मैदान में खींच लिया। वहीं पर दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ जिसमें ऐबक की विजय हुई। इसके दो मुख्य कारण थे: प्रथम, उसके सैनिकों की गति इतनी क्षिप्र थी कि सरलता से उन्हें आवश्यकतानुसार विभिन्न दिशाओं में घुमाया जा सकता था; और दूसरे, ऐबक ने युद्ध में सहसा-आक्रमण की नीति से काम लिया। इस विजय के बाद ऐबक ने अन्हिलवाड़ को, जिसे चालुक्य राजा भीम खाली कर गया था, लूटा। फरिश्ता के अनुसार उसने एक तुर्की अफसर को अन्हिलवाड़ का सूबेदार नियुक्त किया। किन्तु यह कथन गलत है। यदि हम यह भी मान लें कि उसने किसी व्यक्ति को नियुक्त किया था तो भी यह निश्चित है कि उसे शीघ्र ही वह स्थान छोड़कर भागना पड़ा होगा, क्योंकि आबू सहित समस्त चालुक्य राज्य १२४० ई. तक चालुक्य राजाओं के अधिकार में रहा।

बुन्देलखण्ड की विजय

अगले तीन-चार वर्षों में ऐबक ने अनेक छोटे-मोटे आक्रमण किये। ११९७-९८ ई. में उसने राष्ट्रकूट राजपूतों से बदायूँ छीन लिया। बनारस भी पहली विजय के बाद तुर्कों के हाथ से निकल गया था। ऐबक ने उसे फिर जीता। चन्दवार और कन्नौज पर भी उसने ११९७ ई. में पुनः अधिकार कर लिया और दूसरे वर्ष उसने मालवा के एक भाग को रौंद डाला किन्तु राजपूताना और मालवा में उसे स्थायी सफलता नहीं मिली। इस समय तक लगभग समस्त मध्य भारत पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो चुका था; केवल एक महत्वपूर्ण राजवंश शेष था जो अभी तक स्वतन्त्र था। यह बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश था। उसके राज्य की उत्तरी सीमाएँ तुर्की राज्य को छूती थीं। बनारस तथा गहड़वार राज्य के अन्य भागों की विजय के समय से ही साहसी तुर्क नेता चन्देल राज्य की सीमाओं पर धावा मारा करते थे। १२०२-३ ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक ने चन्देल राजा परमर्दी देव की सैनिक राजधानी कालिंजर पर आक्रमण कर दिया। चन्देलों ने अत्यन्त वीरता और साहस के साथ युद्ध किया; किन्तु शत्रु सेना की अधिकता के कारण उन्हें भागकर किले में शरण लेनी पड़ी। घेरा दीर्घकाल तक चलता रहा और परमर्दी देव उससे इतना परेशान हुआ कि अन्त में वह तुर्कों का प्रभुत्व स्वीकार करने को तैयार हो गया। किन्तु

समझौते पर हस्ताक्षर होने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गयी, उसके मुख्य मन्त्री अजयदेव ने प्रस्ताव वापिस ले लिया और युद्ध जारी रखा। उसके पास किले में काफी रसद थी और पास के पहाड़ी झरनों से उसे ख़ूब पानी मिलते रहने का विश्वास था। तुर्कों ने सम्भवतः स्थानीय गुप्तचरों से चन्देलों की शक्ति का पता लगा लिया और चालाकी से झरने के बहाव का मार्ग बदल दिया। जब अजयदेव ने देखा कि सैनिकों के लिए पानी की एकदम कमी हो गयी है तो उसने सन्धि की प्रार्थना की और कालिंजर का किला खाली कर दिया। इस प्रकार कालिंजर, महोबा और खजुराहो पर तुर्कों का अधिकार हो गया जिनको उन्होंने एक सैनिक ज़िले के रूप में संगठित कर दिया।

बिहार की विजय

जिस समय कुतुबुद्दीन ऐबक मध्य हिन्दुस्तान के बिखरे हुए स्थानों को जीतने में व्यस्त था, उसी समय उसके एक साधारण सेनापति इख़्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख़्तियार ख़लजी ने हमारे देश के पूरबी प्रान्तों को जीतने की योजना बनायी। यह सेनानायक कुरूप और भद्दी आकृति का था। इसलिए वह अपनी योग्यता और महत्वाकांक्षा के उपयुक्त पद न पा सका था। उसकी वीभत्स आकृति के कारण गज़नी और दिल्ली में तो उसे कोई नौकरी ही न मिल सकी थी। इसलिए वह अवध के हाकिम हिसामुद्दीन अबुल-वक के यहाँ भरती हो गया। वहाँ उसने योग्यता, साहस और साधन-सम्पन्नता का परिचय दिया, जिसके फलस्वरूप भगवत और म्यूली के गाँव उसे जागीर के रूप में मिल गये। इससे उसके पास इतने साधन हो गये कि उसने अफ़ग़ानिस्तान के पूरबी सीमान्त इलाकों से आने वाले अपनी ही भाँति के ख़लजी साहसिकों की एक छोटी-सी फौज तैयार कर ली जिसे लेकर उसने बिहार में कर्मनासा, नदी के उस पार के प्रदेश पर धावे मारना आरम्भ कर दिया। कन्नौज तथा बनारस के गहड़वारों के पराभव के बाद यह प्रान्त दुर्बल हो गया था और उसकी शासन-व्यवस्था पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। इसलिए इख़्तियारुद्दीन जिसने बार-बार धावे मारकर बहुत धन और यश कमा लिया था, इस प्रदेश की सम्पत्ति को लूटने के लिए और भी अधिक लालायित हो उठा। एक बार वह इसी प्रकार लूटमार करता हुआ उदन्दपुर (बिहार) तक पहुँच गया। उसने उसको लूटा और नष्ट कर दिया। उस नगर में एक विश्वविद्यालय था। उसकी रक्षा के लिए नियुक्त थोड़े-से सैनिकों को तुर्कों ने मार भगाया, नगर-निवासियों को जिनमें अधिकतर बौद्ध-भिक्षु थे तलवार के घाट उतार दिया, और नगर तथा उसके विशाल पुस्तकालय पर अपना अधिकार कर लिया। मुसलमानों ने पुस्तकालय को जला दिया अथवा नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता; किन्तु तुर्क साहसिकों के लिए जिन्हें विधर्मी साहित्य में श्रद्धा

न थी, उन पुस्तकों का कोई मूल्य नहीं था। इसलिए यह भी सम्भव हो सकता है कि उन्होंने उन्हें भस्म कर दिया हो। इस विजय के उपरान्त इख्तियारुद्दीन आगे बढ़ता गया और विक्रमशिला और नालन्दा के विद्या-केन्द्रों पर अधिकार कर लिया और उदन्दपुर में एक किले का निर्माण कराया। ये घटनाएँ १२०२-३ ई. की हैं।

बंगाल की विजय

इन सफलताओं से इख्तियारुद्दीन का साहस इतना बढ़ गया कि उसने बंगाल को भी जीतने का संकल्प किया। बंगाल पर उस समय सेन-वंश का राजा लक्ष्मण सेन राज्य करता था। बंगाल का शासक वृद्ध होने के साथ-साथ प्रमादी तथा कर्तव्य-विमुख भी था। यद्यपि उसके राज्य की पश्चिमी सीमाओं पर लगातार तुर्कों के आक्रमण हो रहे थे, फिर भी उसने अपने राज्य की रक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया था और आक्रमणकारी तुर्कों से अपनी पश्चिमी सीमाओं की रक्षा की तो उसने जरा भी कोशिश नहीं की थी। इख्तियारुद्दीन राजा लक्ष्मण सेन के निकम्मेपन से भली-भाँति परिचित था और यह भी जानता था कि सैनिक-प्रबन्ध के विषय में वह पूर्णतया असावधान था। इसलिए उस प्रदेश में उसने अपने भाग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया। १२०४-५ ई. में किसी समय वह अपनी सेना लेकर चल पड़ा और दक्षिणी बिहार में झारखण्ड के जंगलों को तेजी से पार करता हुआ नदिया जा पहुँचा। नदिया बंगाल की दो राजधानियों में से एक थी और राजा का निवास-स्थान भी वहीं था। इख्तियारुद्दीन इतनी तेजी से आगे बढ़ा कि उसकी सेना पीछे छूट गयी और केवल १८ सैनिक उसके साथ नदिया तक पहुँच सके। तुर्क सैनिकों ने फाटक के रक्षकों को काट डाला और बलपूर्वक भीतर घुस गये। लक्ष्मण सेन दोपहर का भोजन करने बैठा ही था कि फाटक पर होने वाले शोरगुल से वह बेहद घबरा गया और महल के पीछे के दरवाजे से भाग खड़ा हुआ। उसका भागना निर्णायक सिद्ध हुआ। राजा के सैनिक नगर की रक्षा के लिए समय पर एकत्रित न हो सके। तब तक इख्तियारुद्दीन की सेना भी आ गयी और बिना किसी विरोध के उसने नगर पर अधिकार कर लिया। सदैव की भाँति यहाँ भी तुर्कों ने हत्या तथा लूट का काण्ड रचा। लूट में अपार सम्पत्ति उनके हाथ लगी। इसके उपरान्त वह उत्तर की ओर बढ़ा और गौड़ के पास लख-नौती में जाकर जम गया। लक्ष्मण सेन ने पूरबी बंगाल में शरण ली और कुछ समय तक वहाँ शासन करता रहा।

इख्तियारुद्दीन ने सम्पूर्ण बंगाल पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं किया। तिब्बत और चीन को जीतने का उसने अवश्य निश्चय किया; किन्तु यह कार्य असम्भव था। अतः मार्च, १२०६ ई. में अपनी इस मूर्खता के कारण

उसे बहुत क्षति उठानी पड़ी। उसकी सेना भी पूर्णतया नष्ट हो गयी। देवकोट में जब वह लाया गया, उस समय तक वह अधमरा हो चुका था। वहीं अलीमर्दान ख़लजी नामक उसके एक सहायक ने उसका धोखे से वध कर दिया।

मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु : उसकी सफलताएँ

कुतुबुद्दीन ऐवक को भारत के विजित प्रदेशों का शासन-भार सौंपकर मुहम्मद गज़नी लौट गया क्योंकि उधर उसे अपने मध्य-एशियाई शत्रुओं से निबटना था। मध्य एशिया में ख्वारिज़्म का शाह उसका मुख्य शत्रु था जिसके विरुद्ध उसे कुछ सफलता मिली भी परन्तु यह स्थायी सिद्ध नहीं हुई। करा-ख़िताइस (Qara-khitais) की सहायता से ख्वारिज़्म की सेना ने १२०४ ई. में अन्धखुद के युद्ध में मुहम्मद को भयंकर पराजय दी और वह स्वयं बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर अपनी राजधानी ग़ोर पहुँच सका। अन्त में उसे ख्वारिज़्म के शाह अलाउद्दीन के साथ एक रक्षा-सन्धि करने पर बाध्य होना पड़ा जिसके अनुसार उसे हिरात और बलख को छोड़कर मध्य एशिया के अपने सभी विजित प्रदेश त्याग देने पड़े। मुहम्मद की अन्धखुद की पराजय का समाचार वनाग्नि की भाँति चारों ओर फैल गया और युद्ध में उसके स्वयं भी मारे जाने की अफवाह उड़ा दी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब की दुर्दम्य जनता ने उसके विरुद्ध आम विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। मुहम्मद के एक अफसर ऐबक-बक ने मुलतान के सूबेदार को मार डाला और वह स्वयं वहाँ का शासक बन बैठा। उसके इस द्रोह तथा विश्वासघात ने स्थिति और भी अधिक खराब कर दी। खोक्खर तथा अन्य उच्छृंखल जातियों ने जो लाहौर और गज़नी के बीच में निवास करती थीं, खुले रूप से विद्रोह कर दिया और चिनाब तथा झेलम के दोआब को लूटने लगीं। उन्होंने लाहौर को भी जीतने का प्रयत्न किया। सड़कों पर विद्रोही छा गये और पंजाब से गज़नी को राजस्व भेजना कठिन हो गया। अतः विद्रोहियों का दमन करने के लिए मुहम्मद को फिर पंजाब आना पड़ा। उसने कुतुबुद्दीन को आज्ञा भेजी कि तुरन्त ही झेलम के पास आकर उससे मिले। मार्ग में विद्रोहियों ने ऐबक को घेर लिया किन्तु वह उन्हें हराता और खदेड़ता हुआ अपने स्वामी के पास जा पहुँचा। ऐबक को साथ लेकर मुहम्मद लाहौर आया और स्थिति को ठीक करके गज़नी के लिए प्रस्थान कर गया। मार्ग में जब वह दमयक नामक स्थान पर डेरा डाले १५ मार्च, १२०६ ई. के दिन संध्या की नमाज़ पढ़ रहा था, उस समय कुछ शिया तथा हिन्दू खोक्खर विद्रोहियों ने उसका वध कर दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक योग्यता में मुहम्मद ग़ोरी महमूद गज़नवी

की समानता नहीं कर सकता है क्योंकि उसे अनेक बार भारतीय नरेशों द्वारा पराजित होना पड़ा था, जबकि महमूद को सर्वत्र विजय प्राप्त हुई थी। प्रभाव तथा वैभव की दृष्टि से भी उसको महमूद के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। किन्तु व्यावहारिक शासन-कौशल, रचनात्मक प्रतिभा तथा वास्तविक सफलताओं की दृष्टि से गज़नी के उस प्रसिद्ध सुल्तान से मुहम्मद कहीं अधिक श्रेष्ठ था। महमूद की भाँति उसे भी यह समझने में देर न लगी कि भारत की राजनीतिक दशा बिगड़ चुकी थी। किन्तु महमूद यहाँ के धन को लूटकर ही सन्तुष्ट हो गया था, जबकि मुहम्मद ने इस देश के विस्तृत भाग को जीतकर एक साम्राज्य का निर्माण किया। वह राज्य का भूखा था जिसे वह अपने उत्तराधिकारियों को विरासत में देना चाहता था। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि महमूद की अपेक्षा मुहम्मद के उद्देश्य अधिक महान् थे।

मुहम्मद में परिस्थितियों को समझने तथा उन पर अधिकार करने की योग्यता और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प के साथ कार्य करने की अद्भुत क्षमता थी। यही उसकी सफलता के मुख्य कारण थे। उसमें धैर्य की मात्रा अधिक थी और कभी भी अन्तिम रूप से पराजय को स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं होता था। उसने भली-भाँति यह समझ लिया था कि मध्य एशिया में ख्वारिज़्म शाह जैसे प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध सफलता मिलना कठिन था, इसीलिए उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति और योग्यता इस देश में पैर जमाने के प्रयत्न में लगा दी। वह मानव-चरित्र का अच्छा पारखी था इसलिए अपने गुलामों को उसने संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया और उन्होंने भी अपने व्यवहार द्वारा उसकी परख और विश्वास को उचित सिद्ध किया। यद्यपि उसके कोई पुत्र नहीं था किन्तु कुतुबुद्दीन आदि उसके गुलाम उसके बाद कार्य-भार को सँभालने को उद्यत थे। मुहम्मद कोरा सैनिक ही न था, संस्कृति से भी उसको प्रेम था। फ़खरुद्दीन राजी तथा नजामी उरूजी आदि कवि उसके दरबार में संरक्षण पाते थे। अतः मुहम्मद भारत में तुर्की-साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था।

हमारी पराजय के कारण

विद्यार्थियों को यह जानने की अवश्य जिज्ञासा होगी कि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में महमूद गज़नवी और बारहवीं के अन्त में मुहम्मद ग़ोरी के हाथों भारतवासियों की पराजय के क्या मुख्य कारण थे। एल्फिंस्टन, लेनपूल, विंसेंट स्मिथ आदि अंग्रेज इतिहासकारों का मत है कि भारतीयों की पराजय इसलिए हुई कि उनकी तुलना में तुर्क कहीं अधिक अच्छे सैनिक थे क्योंकि वे शीत प्रदेशों के निवासी थे, माँस खाते थे और युद्ध-प्रिय थे। इस मत में गम्भीरता नहीं है और इसके पीछे राजनीतिक मन्तव्य छिपे हुए हैं। हमारे देश का सम्पूर्ण इतिहास

हमारे सैनिकों की श्रेष्ठता का साक्षी है। दासता और पतन के युग में भी भारतीय सैनिक विश्व के विभिन्न रण-क्षेत्रों में अपनी सैनिक-प्रतिभा का परिचय दे चुके हैं। सभी जानते हैं कि प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों में भारतीय सैनिकों ने यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका में सर्वत्र गौरव और यश प्राप्त किया है। अतः यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि हमारे पूर्वज जो हमारी अपेक्षा कहीं अधिक स्वतन्त्र थे और जो राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध करते थे, वे सैनिक दृष्टि से इस पीढ़ी के लोगों से घटिया रहे होंगे। यहाँ पर इस मत की समीक्षा करना भी तथ्यहीन है कि शीत जलवायु के निवासी अथवा माँसाहारी अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक अच्छे सैनिक और योग्य होते हैं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह मत वैज्ञानिक परीक्षण के सामने नहीं टिक सकता। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूलना चाहिए कि महमूद गज़नवी अथवा मुहम्मद ग़ोरी के समय के भारतीय सैनिक पूर्णतया निरामिष-भोजी नहीं थे और न आज हैं। इसलिए हमें अपनी पराजय के कारण अन्यत्र ही ढूँढ़ने पड़ेंगे। हम उन्हें दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) सामान्य, तथा (२) विशेष। सामान्य कारणों में देश की राजनीतिक फूट का प्रथम स्थान है। प्रत्येक राजा को अकेले ही युद्ध करना पड़ा था मानो वह केवल अपने और अपने राज्य के लिए ही लड़ रहा हो, सम्पूर्ण देश के लिए नहीं। घोर संकट के समय में भी हमारे शासक मिलकर अपनी सुरक्षा के लिए आक्रमणकारी के विरुद्ध युद्ध न कर सके। इसलिए राजनीतिक एकता, उचित संगठन और योग्य नेतृत्व का अभाव ही हमारे देशवासियों की विवशता और पराजय के मुख्य सामान्य कारण थे। इसके अतिरिक्त हमारा सैनिक संगठन पुराने तथा पिछड़े सिद्धान्तों पर आधारित था। न तो हमारी सेनाओं का संगठन ही उचित था और न उनके अस्त्र-शस्त्र ही समय के अनुकूल थे। अन्य देशों में रण-नीति का जो विकास हो चुका था, उससे भी हमारे सेनापति परिचित न थे। यह दोष हमारे इतिहास के प्रत्येक युग में देखने को मिलता है जबकि दूसरे देशों के सैनिक इस क्षेत्र में प्रगतिशील थे, भारतीय जहाँ के तहाँ रहे। इसलिए अस्त्र-शस्त्रों तथा समर-नीति दोनों की दृष्टि से विदेशी हम से अधिक श्रष्ठ थे। मुगल-सम्राट बाबर ने १५२६ ई. में अपने संस्मरणों में लिखा था कि भारतीय मरना जानते हैं, युद्ध करना नहीं। वे वीर थे और युद्ध-क्षेत्र में अपने प्राणों का उत्सर्ग करने से नहीं डरते थे किन्तु उनमें शत्रु की दुर्बलताओं का लाभ उठाकर युद्ध के दाँव-पेचों का प्रयोग करने की योग्यता न थी। राजपूतों को अपनी तलवार चलाने की कला पर घमण्ड था और युद्ध को वे रणकौशल तथा वीरता के प्रदर्शन के लिए एक टूर्नामेंण्ट समझते थे। इसके विपरीत तुर्क लोग विजय के उद्देश्य से लड़ते थे और 'युद्ध में सब कुछ उचित है' वाले

सिद्धान्त का अनुसरण करते थे। तीसरे, भारतीय जनता ने अपने नेताओं और सैनिकों का साथ नहीं दिया। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उनके प्रति उदासीन थी, किन्तु उसकी यह गलत धारणा थी कि युद्ध करना हमारा कर्तव्य नहीं है। सम्भवतः उसका यह भी विश्वास था कि दिल्ली के सिंहासन पर कोई भी बैठे हमारे भाग्य में परिवर्तन होने से रहा। यदि सैनिकों के पीछे जनता दूसरी रक्षा-पंक्ति का काम करने को उद्यत होती तो सम्भवतः राजपूत राजा एक ही युद्ध के दाँव पर सर्वस्व न लगाकर बार-बार शत्रु का प्रतिरोध करते रहते। चौथे, महमूद गज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी दोनों ने, विशेषकर पहले ने 'सहसा-आक्रमण' की नीति से काम किया जिससे हमारी जनता का उत्साह भंग हो गया और मनोबल टूट गया। विद्युत-गति से वे हमारे सैनिकों तथा सुन्दर नगरों पर झपट पड़े और तलवार तथा अग्नि द्वारा देश को उन्होंने ऊजड़ कर दिया। इस नीति का अगणित बार प्रयोग किया गया और हमारी जनता इतनी भयभीत और आतंकित हो गई कि महमूद गज़नवी की सेनाओं को वह अजय समझने लगी। इस प्रकार सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उस युग के भारतीयों का मनोबल चूर्ण हो गया और वे तुर्कों का प्रतिरोध करना व्यर्थ समझने लगे। इस भावना के कारण हमारे समाज को लकवा-सा मार गया। पाँचवें, तुर्क लोग महान् धार्मिक तथा सैनिक उत्साह से अनुप्राणित थे जबकि संकट के समय में भारतवासियों के मनोबल को दृढ़ रखने के लिए कोई उपयुक्त आदर्श न था। शारीरिक शक्ति और अस्त्र-शस्त्रों से ही किसी सेना की साज-सज्जा पूरी नहीं हो जाती और उत्साहवर्धक आदर्श उतना ही आवश्यक है जितनी कि सैनिक-शिक्षा तथा अस्त्र-शस्त्र।

विशेष कारणों का हम यहाँ विस्तार से उल्लेख नहीं कर सकते। तुर्क आक्रमणकारी शत्रु की शक्ति का पूरा पता लगा लेते थे और उसकी दुर्बलताओं का अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते थे परन्तु हमारे राजाओं ने शत्रु के सैनिक-संगठन की कमजोरियों को जानने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया। सुल्तानों का यह नियम था कि युद्ध से पहले वे सदैव रण-क्षेत्र की जाँच-पड़ताल कर लेते थे और लड़ाई में भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखते थे। भारतीय नरेश सदैव सेना को दक्षिण, वाम तथा मध्य पार्श्वों में विभक्त करके शत्रु पर सम्मुख से प्रहार करते थे। किन्तु तुर्कों की सेना में उपर्युक्त तीन मार्गों के अतिरिक्त अग्रगामी तथा सुरक्षित दो अन्य वाहिनियाँ भी होती थीं। सुरक्षित अथवा रिजर्व वाहिनी को पीछे तैयार रखा जाता था और जब हमारी सेनाएँ थककर चकनाचूर हो जाती थीं तब सुल्तान उसे युद्ध में झोंक देता था। इसके भी उदाहरण उपलब्ध हैं कि तुर्क लोग उन तालाबों और नदियों को दूषित कर देते थे जिनसे हमारे सैनिकों को पानी मिलता था।

कभी-कभी वे पानी के सोतों के मार्ग को ही बदल देते थे। शत्रु के रसद के मार्ग को काट कर उसे भूखों मारने के उद्देश्य से वे आसपास के प्रदेश को तहस-नहस कर दिया करते थे। किन्तु उस युग के किसी भी मुस्लिम लेखक ने इसका उल्लेख नहीं किया है कि किसी भारतीय नरेश ने कभी भी इस प्रकार की रण-नीति अपनायी थी।

यही नहीं, हमारे राजाओं ने अनेक मूर्खतापूर्ण गलतियाँ कीं। सिन्ध के राजा दाहिर की इस प्रकार की भूलों का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। पंजाब के जयपाल तथा उत्तरी भारत के अन्य राजाओं ने भी इसी प्रकार की गलतियाँ कीं। अपमान को न सह सकने के कारण जयपाल ने अपने को चिता में तो भस्म कर दिया किन्तु उससे यह न हो सका कि शत्रु से लड़ने की नये ढंग से तैयारियाँ करता। जिस युद्ध में वाणों का प्रयोग होता था उसमें हाथियों से भी हमारी सेनाओं को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई। वे घबड़ाकर युद्ध से भाग खड़े होते थे। हमारे सैनिकों का मुख्य हथियार तलवार थी जबकि तुर्क लोग तीर-कमान से युद्ध करते थे और हमारे मन्द-गति वाले टट्टुओं तथा पर्वताकर हाथियों से भी तुर्कों की क्षिप्र-गति वाली अश्वारोही सेना कहीं अधिक श्रेष्ठ थी।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. SIRAJ, M. : Tabqat-i-Nasiri, *translated into English by Raverty.*
2. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vol. II.
3. VAIDYA, C. V. : Downfall of Hindu India.
4. OJHA, G. H. : History of Rajputana (*Hindi ed.*).
5. HABIBULLAH : Foundation of Muslim Rule in India.

वंशावली वृक्ष : शंसबनी-वंश
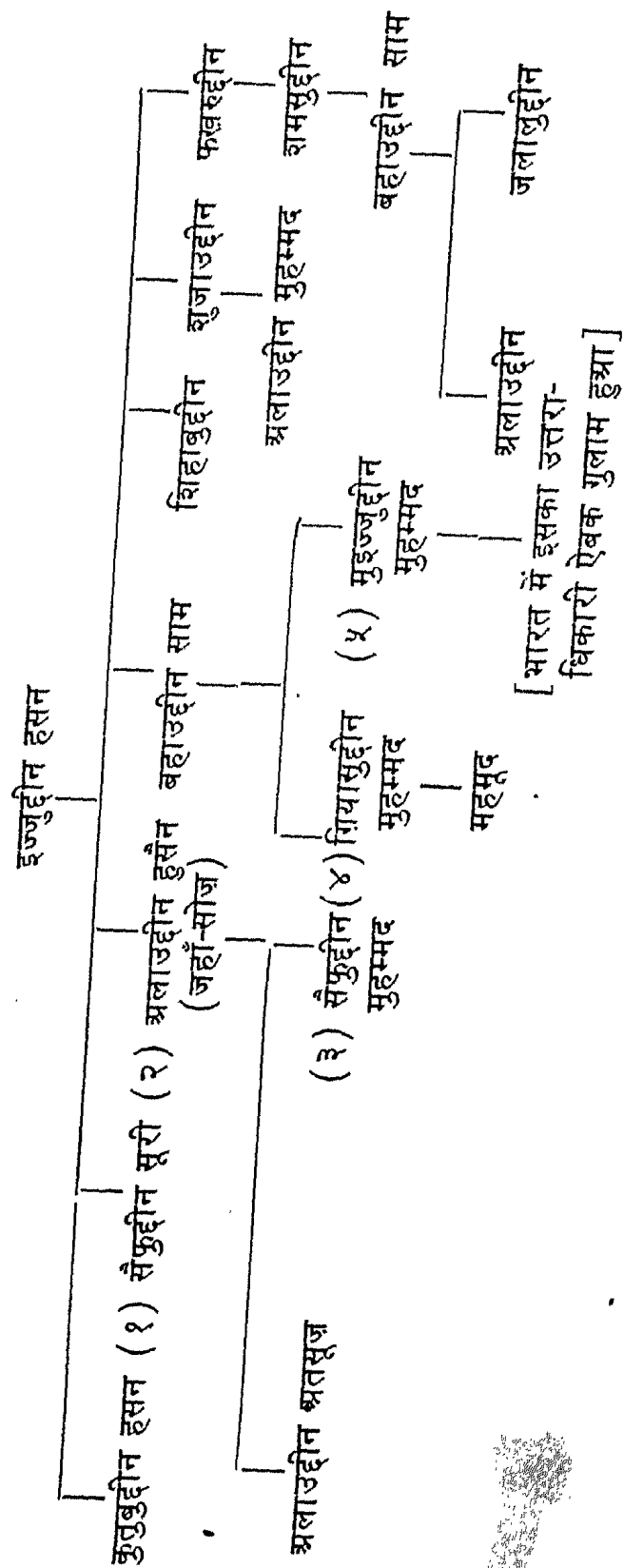
अध्याय ६

कुतुबुद्दीन ऐबक तथा उसके उत्तराधिकारी

गुलाम वंश : अनुपयुक्त नाम

मुहम्मद ग़ोरी के कोई पुत्र न था अतः गज़नी में अलाउद्दीन उसका उत्तराधिकारी हुआ, किन्तु शीघ्र ही महमूद बिन ग़ियासुद्दीन ने उसे अपदस्थ करके गद्दी पर अधिकार कर लिया। ग़ोरी के भारतीय साम्राज्य का स्वामी उसका सबसे महत्वपूर्ण गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक हुआ, जिसने एक नये राजवंश की नींव डाली, जो गुलाम-वंश के नाम से विख्यात है। इस नाम में शाब्दिक विरोध तो है ही, इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह गलत है। सन १२०६ से १२९० ई. तक के युग में दिल्ली पर एक नहीं वरन तीन वंशों ने शासन किया और इन वंशों के संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश और बलबन एक ही पूर्वज की सन्तान न थे। केवल इन वंशों के संस्थापक ही अपने प्रारम्भिक जीवन में गुलाम रह चुके थे, उनके अन्य सदस्य नहीं। वे भी सुल्तान होने के बहुत पहले से गुलाम नहीं रहे थे और कुतुबुद्दीन को छोड़कर सबने गद्दी पर बैठने के पूर्व ही अपनी दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी।

भारत के प्रारम्भिक मुसलमान शासकों के सम्बन्ध में एक और भी लोकप्रिय गलत धारणा चली आ रही है। सन १२०६ से १५२६ ई. तक के समस्त युग को भ्रमवश 'पठान-युग' कहा गया है। किन्तु १४५१ ई. तक इस युग के सभी शासक तुर्क थे, पठान अथवा अफ़ग़ान नहीं। केवल एक वंश जिसने १४५१ से १५२६ ई. तक दिल्ली पर राज्य किया, पठान नस्ल का था। इसलिए इस युग को (१२०६-१५२६ ई.) 'पठान-युग' कहना गलत है। इसका शुद्ध नाम 'दिल्ली सल्तनत' का युग होना चाहिए।

कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६-१२१० ई.)

प्रारम्भिक जीवन

भारत में तुर्की साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक के माता-पिता तुर्क थे और तुर्किस्तान के निवासी थे। बाल्यकाल में ही लोग उसे दास बनाकर निशापुर ले गये थे और वहाँ के क़ाज़ी ने उसे खरीद लिया था। जब उसके पहले स्वामी की मृत्यु हो गयी तो उसके पुत्रों ने उसे फिर बेच दिया

था और अन्ततोगत्वा वह मुहम्मद ग़ोरी का गुलाम हो गया। निशापुर में काज़ी के पुत्रों के साथ कुतुबुद्दीन ने साधारण लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त घोड़े की सवारी सीख ली और कुछ सैनिक शिक्षा भी प्राप्त कर ली। गज़नी में उसने अपने साहस, मर्दाना चाल-ढाल और विशेषकर उदारता के कारण अपने नये स्वामी का भी ध्यान आकर्षित कर लिया। उसने कर्तव्यनिष्ठा और स्वामि-भक्ति का परिचय दिया जिससे प्रसन्न होकर मुहम्मद ग़ोरी ने उसे अपनी सेना की एक टुकड़ी का नायक बना दिया। इसके उपरान्त वह अस्तबलों के अध्यक्ष (अमीर अखुर) के पद पर नियुक्त हुआ। तराइन के द्वितीय युद्ध के उपरान्त ११९२ ई. में मुहम्मद ने उसे अपने भारतीय साम्राज्य का शासक नियुक्त किया और अपनी अनुपस्थिति में राज-काज चलाने का उसे पूर्ण अधिकार दे दिया। ऐबक ने दिल्ली के निकट इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया।

अपने स्वामी की अनुपस्थिति में कुतुबुद्दीन ने ११९२ ई. में अजमेर और मेरठ में विद्रोहों का दमन किया। तदुपरान्त उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया जो आगे चलकर इस देश के तुर्की-साम्राज्य की राजधानी बनी। ११९४ ई. में उसने अजमेर के दूसरे विद्रोह का दमन किया और फिर कन्नौज के गहड़वारों के विरुद्ध युद्ध में अपने स्वामी को सहयोग दिया। उस युद्ध में जिसमें जयचन्द की पराजय और मृत्यु हुई, ऐबक ने महत्वपूर्ण भाग लिया। ११९५ ई. में उसने कोइल (अलीगढ़) पर अधिकार कर लिया और वहाँ से फिर चौहानों के तीसरे विद्रोह का दमन करने के लिए अजमेर गया। इसी रण-यात्रा के दौरान में उसने रणथम्भौर के प्रसिद्ध किले को जीत लिया। ११९६ ई. में मेदों ने ऐबक को घेर लिया किन्तु वह इस भयंकर परिस्थिति से निकलने में सफल हुआ। तदुपरान्त शीघ्र ही उसने अन्हिलवाड़ की ओर कूच किया और उसे लूटा तथा नष्ट-भ्रष्ट किया। ११९७-९८ ई. में ऐबक ने बदायूँ, चन्दवार और कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने राजपूताना में सैनिक कार्यवाहियाँ प्रारम्भ कीं और सिरोही राज्य तथा मालवा के कुछ भाग को विजय कर लिया। किन्तु उसकी ये विजयें स्थायी सिद्ध नहीं हुईं। १२०२-३ ई. में ऐबक ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया और चन्देल राजा परमर्दी देव को हराकर कालिंजर, महोबा और खजुराहो पर अधिकार कर लिया। उसके सहायक सेनानायक इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार ख़लजी ने बिहार तथा बंगाल के कुछ भागों को जीत लिया, जिसका हम पिछले पृष्ठों में उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने स्वामी की मृत्यु से पहले तथा स्वयं सिंहासन पर बैठने से पूर्व ही कुतुबुद्दीन लगभग समस्त उत्तरी भारत का स्वामी था और अपने स्वामी के सहायक सेनापति और प्रतिनिधि की हैसियत से इस देश में कार्य कर रहा था।

सिंहासनारोहण

ऐसा प्रतीत होता है कि मुहम्मद ग़ोरी की भी यह इच्छा थी कि कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में उसका उत्तराधिकारी बने क्योंकि १२०६ ई. में उसने उसे नियमित रूप से अपना प्रतिनिधि (वाइसराय) नियुक्त कर मलिक की उपाधि से विभूषित किया था। जब मुहम्मद की मृत्यु का समाचार विदित हुआ तो लाहौर के नागरिकों ने कुतुबुद्दीन को राज-शक्ति धारण करने के लिए आमन्त्रित किया। वह दिल्ली से लाहौर पहुँचा और राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली, किन्तु उसका राज्याभिषेक मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु के तीन महीने बाद २४ जून, १२०६ ई. के दिन सम्पन्न हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि बीच का यह समय कुतुबुद्दीन ने अपने समर्थकों का शक्तिशाली दल बनाने में व्यय किया। वास्तव में सिंहासन पर बैठने से पहले ही उसने चतुर वैवाहिक नीति द्वारा अपनी स्थिति दृढ़ कर ली थी। उसने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश, बहिन का नासिरुद्दीन कुबाचा तथा स्वयं अपना ताजुद्दीन एल्दौज की पुत्री के साथ कर लिया था। सिंहासनारोहण के समय उसने मलिक तथा सिपहसालार की उपाधियाँ धारण कीं, 'सुल्तान' की नहीं। ऐसा ज्ञात होता है कि उसने न तो अपने नाम के सिक्के जारी किये और न खुतबा ही पढ़वाया। इसका कारण सम्भवतः यह था कि कानूनी दृष्टि से वह उस समय तक भी गुलाम ही था। नियमानुसार दासता से मुक्ति उसे १२०८ ई० से पहले नहीं प्राप्त हुई। किन्तु उसके स्वामी के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने उसके पास राज्य-चिह्न तथा ध्वज भेज दिया था और सुल्तान की उपाधि प्रदान की थी अतः कानूनी दोष कुछ भी रहा हो, किन्तु वास्तविक रूप से कुतुबुद्दीन सम्पूर्ण भारत का सुल्तान हो गया था।

सुल्तान की हैसियत से कुतुबुद्दीन के कार्य

कुतुबुद्दीन ने चार वर्ष शासन किया। इस काल में उसने कोई नई विजयें नहीं प्राप्त कीं। उसे इतना समय नहीं मिला कि सुदृढ़ शासन-व्यवस्था की स्थापना कर सकता। उसका शासन-प्रबन्ध पूर्णतया सैनिक था और सेना की सहायता पर निर्भर था। राजधानी में एक शक्तिशाली सेना के अतिरिक्त उसने हिन्दुस्तान के सभी भागों में महत्वपूर्ण नगरों में रक्षा-सेनाएँ नियुक्त कीं। स्थानीय शासन उसने भारतीय पदाधिकारियों के हाथों में छोड़ रखा था और राजस्व-सम्बन्धी पुराने नियमादि भी पूर्ववत् बने रखे। राजधानी तथा प्रान्तीय नगरों में शासन चलाने के लिए मुसलमान पदाधिकारी नियुक्त किये गये। उनमें से अधिकतर सैनिक ही थे। सम्भवतः एक काज़ी राजधानी में और एक-एक प्रत्येक विजित प्रान्त में रहा होगा। परन्तु न्याय-व्यवस्था भद्दी, भौंड़ी

और अव्यवस्थित थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुतुबुद्दीन में रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था और उसने सुदृढ़ शासन-व्यवस्था की नींव नहीं डाली।

विदेश-नीति

कुतुबुद्दीन का सम्पूर्ण राज्य-काल विदेशी झगड़ों में ही बीता। सर्वप्रथम, उसे अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी ताजुद्दीन एल्दौज और नासिरुद्दीन कुबाचा से निबटना पड़ा जो शक्तिशाली राज्यों के शासक थे और अपने को सुल्तान का समानपदी समझते थे। दूसरे, वे हिन्दू सामन्त जिनका मुहम्मद ग़ोरी के समय में दमन किया गया था, उसकी मृत्यु का लाभ उठाकर पुनः अपनी खोयी हुई स्वाधीनता प्राप्त करने के इच्छुक थे। १२०६ ई. में चन्देल राजपूतों ने अपनी राजधानी कालिंजर को पुनः जीत लिया था, हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में गहड़वारों ने फर्रुखाबाद तथा बदायूँ के प्रदेशों में अपनी खोयी हुई शक्ति को बहुत कुछ पुनः प्राप्त कर लिया था और प्रतिहारों ने पुनः ग्वालियर पर अधिकार कर लिया था। उधर इख्तियारुद्दीन की मृत्यु के बाद बिहार और बंगाल में भी विद्रोह की ज्वाला भड़कने लगी थी।

किन्तु दिल्ली के नये तुर्की राज्य के लिए सबसे बड़ा संकट मध्य एशिया की ओर से था। ख्वारिज़्म के शाह की गज़नी तथा दिल्ली पर दृष्टि थी। इसलिए कुतुबुद्दीन का सबसे पहला कार्य था ख्वारिज़्म के शाह को दिल्ली तथा गज़नी पर अधिकार करने और राजपूतों को अपने राज्यों को पुनः जीतने से रोकना तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी कुबाचा और एल्दौज का दमन करना। वह पूर्ण गम्भीरता के साथ इस कार्य में जुट गया। उत्तर-पश्चिम से आने वाले संकट का सामना करने के लिए उसने दिल्ली को छोड़कर लाहौर को अपना निवास-स्थान बनाया और अपना शेष जीवन उसी नगर में बिताया। मुहम्मद ग़ोरी की मृत्यु के बाद ताजुद्दीन एल्दौज ने गज़नी पर अधिकार कर लिया था, किन्तु उसे उस नगर को छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा और भागकर वह पंजाब की ओर आया। ऐबक ने सफलतापूर्वक उसका प्रतिरोध किया और पंजाब में उसके पैर नहीं जमने दिये। किन्तु उसे डर था कि कहीं गज़नी की खाली गद्दी पर ख्वारिज़्म का शाह अधिकार न करले। उधर गज़नी के नागरिकों ने भी कुतुबुद्दीन को आमन्त्रित किया। इसलिए शाह की योजनाओं को विफल करने के उद्देश्य से १२०८ ई. में वह गज़नी पहुँचा और उस पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसके शासन से जनता सन्तुष्ट नहीं हुई, अतः चालीस दिन बाद ही उसे गज़नी छोड़नी पड़ी और एल्दौज ने पुनः गज़नी पर अधिकार कर लिया। कुतुबुद्दीन ने एल्दौज के हिन्दुस्तान पर प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्नों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया और दिल्ली को मध्य एशिया की राजनीति में नहीं फँसने दिया।

इख्तियारुद्दीन ख़लजी की मृत्यु के बाद बिहार और बंगाल का दिल्ली से सम्बन्ध टूटने का भय हो गया था और अलीमर्दान खाँ लखनौती में स्वतन्त्र शासक बन बैठा था। किन्तु स्थानीय ख़लजी सरदारों ने उसे पकड़कर कारागार में डाल दिया और उसके स्थान पर मुहम्मद शेरा को गद्दी पर बिठला दिया। अलीमर्दान खाँ किसी प्रकार कैद से भाग निकला और दिल्ली जा पहुँचा। उसने ऐबक को बंगाल के मामले में हस्तक्षेप करने के लिए राजी कर लिया और कुतुबुद्दीन के प्रतिनिधि कैमाज़ रूमी के प्रयत्नों के कारण बड़ी कठिनाई के बाद ख़लजियों ने ऐबक का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। अलीमर्दान बंगाल का सूबेदार नियुक्त हो गया और उसने दिल्ली सुल्तान को वार्षिक कर देने का वचन दिया।

उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा बंगाल की राजनीति में कुतुबुद्दीन इतना उलझा रहा कि उसे राजपूतों के विरुद्ध आक्रमणकारी नीति जारी रखने का अवसर नहीं मिला। १२१० ई. में पोलो खेलते समय घोड़े से गिरकर उसकी मृत्यु हो गयी और लाहौर में उसे दफनाया गया। उसकी कब्र पर एक अत्यन्त साधारण-सा स्मारक खड़ा किया गया जो उत्तरी भारत के पहले स्वतन्त्र तुर्की सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है।

उसका मूल्यांकन

कुतुबुद्दीन एक महान् सेनानायक था। वह प्रतिभाशाली सैनिक था और हीन तथा दरिद्र अवस्था से उठकर शक्ति तथा यश के शिखर पर पहुँच गया था। उसमें उच्चकोटि का साहस और निर्भीकता थी और वह उन योग्य तथा शक्तिशाली गुलामों में से था जिनके कारण मुहम्मद ग़ोरी को भारत में इतनी सफलता प्राप्त हुई थी। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, ऐबक ने भारत में अपने स्वामी के लिए अनेक नगर और राज्य जीते थे किन्तु अपने शासन-काल में वह कोई विजय नहीं प्राप्त कर सका। इसका मुख्य कारण उसकी अन्य उलझनें थीं। योग्य सेनानायक होने के अतिरिक्त ऐबक को साहित्य से भी अनुराग था। वह सुरुचिपूर्ण व्यक्ति था और हसन निज़ामी तथा फ़ख्रे मुदीर जैसे विद्वान उसके दरबार में आश्रय पाते थे जिन्होंने अपने ग्रन्थ उसे समर्पित किये थे। स्थापत्य में भी उसकी रुचि थी। उसने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़कर उनकी सामग्री से दो मस्जिदें बनवायी थीं — एक दिल्ली में जो कुवत-उल-इस्लाम के नाम से विख्यात है और दूसरी अजमेर में जिसे 'ढाई दिन का झोंपड़ा' कहते हैं।

मुसलमान लेखकों ने उसकी उदारता की प्रशंसा की है। उनका कथन है कि वह लाखाबख्श के नाम से प्रसिद्ध था। किन्तु वह हत्याओं के लिए भी बदनाम था और लाखों ही व्यक्तियों का उसने वध करवाया था। ऐसा प्रतीत

होता है कि उसने धार्मिक सहिष्णुता की उदार नीति का अनुसरण नहीं किया, यद्यपि दो बार उसने पराजित हिन्दू राजाओं के लिए मुहम्मद से सिफारिश की थी। उसमें रचनात्मक प्रतिभा नहीं थी अतः उसने न तो शासन-सम्बन्धी संस्थाओं की ही स्थापना की और न कोई सुधार ही किये। परन्तु उसकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने गजनी से सम्बन्ध-विच्छेद करके भारत को उसके प्रभुत्व से मुक्त कर दिया।

आरामशाह (१२१०–१२११ ई)

कुतुबुद्दीन की मृत्यु भारत में तुर्की-साम्राज्य की स्थापना के कुछ वर्ष बाद ही हो गयी। इसीलिए उसके अनुयायियों में भारी घबराहट फैली। लाहौर में उसके अफसरों ने उसके पुत्र आरामशाह को गद्दी पर बिठला दिया, किन्तु दिल्ली के नागरिकों ने उसका समर्थन नहीं किया क्योंकि वह दुर्बल तथा अयोग्य नवयुवक था। उनका विचार था कि तुर्की शासन के इस संकटमय युग में राज्य की बागडोर एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में होनी चाहिए जो योग्य सैनिक तथा अनुभवी शासक हो। इसलिए प्रमुख काज़ी की सलाह से उन्होंने कुतुबुद्दीन के दामाद बदायूँ के शासक इल्तुतमिश को राजमुकुट धारण करने के लिए आमन्त्रित किया। किन्तु आरामशाह अपनी इच्छा से सिंहासन छोड़ने के लिए उद्यत नहीं था अतएव वह इल्तुतमिश के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार हो गया। नासिरुद्दीन कुबाचा ने जो कुतुबुद्दीन के समय में उच्च का शासक था, इल्तुतमिश और आरामशाह के इस पारस्परिक द्वन्द्व का लाभ उठाना चाहा। वह मुलतान की ओर बढ़ा और उस पर अधिकार कर लिया। बंगाल के शासक अलीमर्दान ने भी दिल्ली के प्रभुत्व को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार आरामशाह के शासन में दिल्ली का नव-स्थापित तुर्की साम्राज्य चार स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया। लाहौर के लोगों ने आरामशाह का साथ दिया। उनकी सहायता से उसने इल्तुतमिश के विरुद्ध कूच किया जिसने दिल्ली में अपने को सुल्तान घोषित कर दिया था। किन्तु इस युद्ध में आरामशाह पराजित हुआ और सम्भवतः मार डाला गया। आरामशाह का अपयश-पूर्ण शासन केवल आठ महीने चला।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. Elliot & Dowson : History of India etc., Vols. II & III.
2. Vaidya, C. V. : Downfall of Hindu India.
3. Ojha, G. H. : History of Rajputana (*Hindi ed.*).
4. Habibullah : Foundation of Muslim Rule in India.
5. Siraj, M. : Tabqat-i-Nasiri, *translated into English by Raverty*.

अध्याय १०

इल्तुतमिश तथा उसके उत्तराधिकारी

इल्तुतमिश (१२११–१२३६ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

इल्तुतमिश का पूरा नाम शम्स-उद्-दीन इल्तुतमिश था। वह मध्य एशिया के इल्बारी कबीले के तुर्क माता-पिता से उत्पन्न हुआ था और बाल्यकाल में ही उसके ईर्षालु भाइयों ने उसे दास बनाकर बेच दिया था। जमालुद्दीन नामक एक व्यापारी उसे खरीदकर गज़नी ले गया। तदुपरान्त वह दिल्ली लाया गया और दुबारा कुतुबुद्दीन के हाथों बेच दिया गया। बाल्यकाल से ही इल्तुतमिश के ललाट पर होनहार चिह्न थे। अपने स्वामी कुतुबुद्दीन के विपरीत वह सुन्दर था। उसने सैनिक-शिक्षा प्राप्त की थी तथा लिखना-पढ़ना भी सीख लिया था। कहा जाता है कि मुहम्मद ग़ोरी पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था, इसलिए उसकी सिफारिश करते हुए उसने कुतुबुद्दीन को लिखा, "इल्तुतमिश के साथ अच्छा व्यवहार करना। किसी दिन वह ख्याति प्राप्त करेगा।" इसके बाद इल्तुतमिश का उत्थान बड़े वेग से हुआ। वह एक के बाद एक उच्च पद प्राप्त करता गया और अन्त में 'अमीरे शिकार' बन गया। ग्वालियर की विजय के बाद ग्वालियर का किला उसे सौंप दिया गया और तदुपरान्त वह बरन (बुलन्दशहर) का शासक नियुक्त हुआ। कुतुबुद्दीन ने अपनी पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। उसे बदायूँ का सूबेदार नियुक्त किया और १२११ ई. में वह सुल्तान के पद पर पहुँच गया।

सिंहासनारोहण

दिल्ली की गद्दी पर इल्तुतमिश का जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं था, इसलिए कुछ लेखकों का मत है कि उसने अनियमित रूप से गद्दी हड़प ली थी।[1] किन्तु वास्तव में यह मत गलत है। गद्दी हड़पने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता जबकि उस समय देश में कोई एक संयुक्त तुर्की-साम्राज्य था ही नहीं,

---

[1] आर. पी. त्रिपाठी कृत "सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन," पृ० २५।

और जैसा कि हम पहले कह आये हैं, हिन्दुस्तान जिसे तुर्कों ने हाल ही में जीता था, चार स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया था—लाहौर, बदायूँ, लखनौती तथा मुल्तान और उच्च। इल्तुतमिश दिल्ली के अफसरों तथा सामन्तों का उम्मीदवार था और दिल्ली उस समय हिन्दुस्तान का प्रमुख नगर माना जाता था। इसके विपरीत आरामशाह को केवल लाहौर के एक दल का समर्थन प्राप्त था जो उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना कि दिल्ली का दल। इसके विपरीत इल्तुतमिश योग्य सेनानायक था और व्यवहार-कुशल शासक की हैसियत से अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुका था। सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम भी नहीं था क्योंकि बहुत पहले कुतुबुद्दीन से वह मुक्ति-पत्र प्राप्त कर चुका था। उसमें योग्यता और कर्मनिष्ठा थी और वह कुतुबुद्दीन से भी अधिक गम्भीर, धार्मिक तथा संयमी था। इस्लामी कानून के अनुसार योग्यतम व्यक्ति ही राजसत्ता का अधिकारी माना जाता था और उसकी तुलना में आरामशाह दुर्बल तथा अयोग्य था। अतः इन परिस्थितियों में दिल्ली की गद्दी के लिए सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति वह ही था।

उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

जिस समय इल्तुतमिश गद्दी पर बैठा, दिल्ली की सल्तनत का अस्तित्व लगभग नष्ट हो चुका था। उसके अधिकार में केवल दिल्ली, बदायूँ तथा बनारस से लेकर शिवालिक पहाड़ियों तक का प्रदेश था। पंजाब उसका विरोधी था। कुबाचा मुल्तान का स्वामी था और उसने अपने राज्य को विस्तृत करके भटिण्डा, कुहराम और सरस्वती भी उसमें सम्मिलित कर लिये थे। आरामशाह और इल्तुतमिश के पारस्परिक झगड़े का लाभ उठाकर उसने लाहौर पर भी अधिकार कर लिया था। बंगाल और बिहार भी दिल्ली से प्रथक हो गये थे, और लखनौती का अलीमर्दान स्वतन्त्र शासक बन बैठा था। राजपूत राजाओं ने जिन्हें मुहम्मद गोरी और कुतुबुद्दीन ने पराजित किया था, दिल्ली को कर भेजना बन्द कर दिया और उसके प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। जालोर तथा रणथम्भौर स्वतन्त्र हो गये। अजमेर, ग्वालियर और दोआब ने भी तुर्की-साम्राज्य का जुआ उतार फेंका। ताजुद्दीन एल्दौज ने पुनः समस्त हिन्दुस्तान पर अपने प्रभुत्व का दावा किया। दिल्ली में भी कुचक्र चल रहे थे। वहाँ के कुछ शाही रक्षकों ने आरामशाह से मिलकर विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। इस प्रकार हम देखते हैं, कि जिस समय इल्तुतमिश गद्दी पर बैठा, दिल्ली सल्तनत की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी।

एल्दौज से संघर्ष

अपनी स्थिति को संकटमय समझकर इल्तुतमिश ने कूटनीति से काम लिया। वह यथार्थवादी था, इसलिए उसने एल्दौज से, जो समस्त हिन्दुस्तान

पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था और दिल्ली सुल्तान को अपने अधीन समझता था, समझौता कर लिया। उसने एल्दौज की प्रभुता स्वीकार करने का बहाना किया और उसके भेजे हुए छत्र, दण्ड आदि राज-चिन्ह स्वीकार कर लिये। चतुर कूटनीति द्वारा उसने दिल्ली में आरामशाह के दल का दमन कर दिया और शाही रक्षकों को भी अपने नियन्त्रण में कर लिया। आन्तरिक कठिनाइयों से मुक्ति पाने पर उसने एल्दौज की ओर ध्यान दिया जिसने कुबाचा को लाहौर से निकालकर पंजाब के अधिकांश भाग पर आधिपत्य जमा लिया था। इल्तुतमिश को डर था कि कहीं ख्वारिज़्म का शाह हिन्दुस्तान को गज़नी का अधीनस्थ राज्य मानकर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न न करे। उसे रोकने की सुल्तान को विशेष चिन्ता थी। इसलिए जब १२१५ ई. में ख्वारिज़्म के शाह द्वारा पराजित होकर एल्दौज ने गज़नी से भागकर लाहौर में शरण ली, तो इल्तुतमिश ने तुरन्त ही उसके विरुद्ध कूच किया और तराइन के युद्ध-क्षेत्र में उसे हराया। एल्दौज स्वयं बन्दी बनाकर बदायूँ भेज दिया गया जहाँ शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार दिल्ली का गज़नी से सम्बन्ध-विच्छेद पूर्ण हो गया। सिद्धान्त की दृष्टि से तो नहीं किन्तु यथार्थ में अब दिल्ली सल्तनत प्रभुत्व-सम्पन्न हो गयी। उस समय तो लाहौर को इल्तुतमिश ने नासिरुद्दीन कुबाचा के हाथों में ही रहने दिया किन्तु दो वर्ष बाद (१२१७ ई.) उसे भी जीतकर दिल्ली राज्य में मिला लिया।

मंगोल आक्रमण का भय

इसी समय दिल्ली की नवस्थापित तुर्की सल्तनत के लि[illegible]लों के आक्रमण का भय उपस्थित हो गया। अपने महान् योद्धा तमूजिन[२] के जो चंगेज़ खाँ के नाम से विख्यात है, नेतृत्व में मंगोल तातारी के पठार पर स्थित अपनी जन्मभूमि से निकल पड़े और ख्वारिज़्म के साम्राज्य को उन्होंने पूर्णतया नष्ट करके उस पर अधिकार कर लिया। ख्वारिज़्म का शाह कैस्पियन तट की ओर भाग गया और उसका युवराज जलालुद्दीन माँगबर्नी भागकर पंजाब की ओर आया। मंगोल लोग बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी अत्यन्त खूँख्वार थे। उन्होंने निर्दयतापूर्वक माँगबर्नी का पीछा किया। उसने भागकर पंजाब में शरण ली और सिन्ध सागर दोआब के ऊपरी भाग पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने शक्तिशाली खोक्खर सामन्त से अपनी पुत्री का

---

२ चंगेज़ खाँ के जीवन तथा उसकी सफलता के लिए देखिये—माइकेल प्रोडिन कृत "मंगोल ऐम्पायर," पृ० २१-२३० (जॉर्ज ऐलिन एण्ड अन्विन, लन्दन द्वारा प्रकाशित)।

विवाह कर दिया और उत्तर-पश्चिमी पंजाब और मुल्तान की विजय-योजना में उसकी सहायता प्राप्त की। खोक्खरों की सहायता से माँगबर्नी ने कुबाचा को मार भगाया और सिन्ध सागर दोआब पर अधिकार कर लिया। उसने रावी तथा चिनाब के प्रदेश पर भी आक्रमण किया और सियालकोट जिले में स्थित पस्तूर को जीत लिया। तदुपरान्त वह लाहौर की ओर बढ़ा और इल्तुतमिश के पास अपना दूत भेजकर उससे शरण माँगी। इल्तुतमिश दुविधा में पड़ गया। एक शरणार्थी राजा को शरण न देना शिष्टाचार के विरुद्ध था, किन्तु चंगेज़ खाँ जैसे शक्तिशाली आक्रमणकारी को निमन्त्रण देना भी बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं था क्योंकि माँगबर्नी का पीछा करते हुए मंगोल १२२० ई. में सिन्ध तक तो आ ही पहुँचे थे। इसके अतिरिक्त इल्तुतमिश दिल्ली राज्य को मध्य एशिया की राजनीति में नहीं फँसने देना चाहता था। इन सब चीजों को ध्यान में रखते हुए उसने माँगबर्नी को शरण देने से नम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया और उससे पंजाब छोड़ जाने की प्रार्थना की। ख्वारिज़्म के राजकुमार ने इस उत्तर को अपना अपमान समझा और बदला लेने की भावना से दक्षिण-पूरबी पंजाब में इल्तुतमिश के राज्य पर आक्रमण करने की तैयारी शुरू कर दी। इस पर दिल्ली सुल्तान भी आक्रमणकारी को मार भगाने के उद्देश्य से युद्ध के लिए तैयार हो गया। किन्तु अन्त में माँगबर्नी ने इल्तुतमिश से टक्कर लेना उचित नहीं समझा और कुबाचा से मुल्तान छीनने का प्रयत्न किया। इस प्रकार इल्तुतमिश की दूरदर्शितापूर्ण नीति के कारण एक महान संकट, जिसने दिल्ली को आ घेरा था, टल गया। चंगेज़ खाँ एक तटस्थ [illegible] की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहता था, इसलिए वह अफ़ग़ानिस्तान से वापिस लौट गया और दिल्ली राज्य एक भयंकर संकट से बच गया। यदि इल्तुतमिश ने इससे भिन्न नीति अपनायी होती तो दिल्ली सल्तनत आरम्भ में ही नष्ट हो गयी होती, किन्तु इससे देश को अवश्य लाभ हुआ होता क्योंकि मंगोल लोग बौद्ध थे और उनमें तथा भारतीय जनता में बहुत कुछ समानता थी, इसलिए कालान्तर में वे भारतीय समाज में घुल-मिल गये होते जबकि तुर्कों के लिए यह कभी भी सम्भव नहीं हो सका।

कुबाचा की पराजय तथा मृत्यु

मंगोल अफ़ग़ानिस्तान से ही वापिस लौट गये थे इसलिए माँगबर्नी भी तीन वर्ष भारत में रहकर १२२४ ई० में वापस लौट गया और उसके पंजाब में इतने समय तक ठहरने का मुख्य परिणाम यह हुआ कि कुबाचा की शक्ति नष्ट हो गयी। सिन्ध सागर दोआब तथा मुल्तान के कुछ भाग पर तो ख्वारिज़्म की सेना का पहले ही अधिकार हो गया था। कुबाचा के राज्य के दक्षिण-पूरबी भाग को जो पहले दिल्ली राज्य का अंग रह चुका था, अब इल्तुतमिश ने

सरलता से जीत लिया और इस प्रकार भटिण्डा, कुहराम, सरस्वती तथा हाकरा के किनारे का प्रदेश उसके अधिकार में आ गया। माँगबर्नी के लौट जाने के बाद केवल मुल्तान और सिन्ध कुबाचा के हाथ में रह गये थे अतः ख्वारिज़्म की सेनाओं की गतिविधि के कारण कुबाचा की शक्ति पर जो प्रभाव पड़ा था उसका इल्तुतमिश पूरा लाभ उठाना चाहता था। इसलिए उसने उसके राज्य पर दो दिशाओं से आक्रमण करने की योजना बनायी। पहले उसने लाहौर को जीतने का प्रबन्ध किया। तदुपरान्त उसने १२२८ ई. में दो सेनाएँ भेजीं, एक लाहौर से मुल्तान पर और दूसरी दिल्ली से उच्च पर आक्रमण करने के लिए। कुबाचा घबड़ा गया और निचले सिन्ध में स्थित भक्कर के किले में जाकर शरण ली। तीन महीने के घेरे के बाद उच्च का पतन हो गया। कुबाचा चक्कर में पड़ गया और सन्धि की बातचीत की। इल्तुतमिश ने उससे बिना शर्त के हथियार डालने को कहा, किन्तु इसके लिए वह तैयार नहीं हुआ। तब दिल्ली की सेनाओं ने भक्कर पर भयंकर प्रहार किया जिससे कुबाचा इतना आतंकित हुआ कि निराश होकर वह सिन्धु में कूद पड़ा और डूबकर मर गया। यह घटना १२२८ ई. की है। मुल्तान और उच्च को जीतकर दिल्ली राज्य में मिला लिया गया और देबल के सुम्र शासक सिनानुद्दीन चनीसर ने इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार मुल्तान और सिन्ध दिल्ली राज्य के अभिन्न अंग हो गये।

नये जीते हुए प्रदेशों को तीन सूबों में संगठित कर दिया गया—लाहौर, मुल्तान और सिन्ध। लाहौर के प्रान्त में सम्पूर्ण पंजाब सम्मिलित नहीं था। उत्तर में सियालकोट इल्तुतमिश के राज्य की सीमा थी, सिन्ध सागर दोआब खोक्खर जाति के अधिकार में था और पश्चिम की ओर स्थित बनियान का प्रदेश जलालुद्दीन माँगबर्नी के सहायक सैफुद्दीन कार्लूग के हाथों में। उपर्युक्त तीनों प्रान्तों के सूबेदारों को समस्त पंजाब जीतकर दिल्ली राज्य में मिलाने की आज्ञा दी गयी। अतः उन्होंने अनेकों आक्रमण किये और नमक की पहाड़ियों में स्थित नन्दन के किले पर अधिकार कर लिया। परन्तु सैनिक कार्यवाहियों तथा सावधानी के बावजूद भी इल्तुतमिश दृढ़ता से पश्चिमी पंजाब को अपने अधिकार में नहीं रख सका।

बंगाल की पुनर्विजय

कुतुबुद्दीन ने बंगाल पर दिल्ली का प्रभुत्व पुनः स्थापित किया था। किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त खलजी शासक अलीमर्दान ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। वह अत्याचारी था, इसलिए ख़लजियों ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया, उसका वध कर दिया और बंगाल की गद्दी पर हुसामुद्दीन एवाज़ का अधिकार हो गया। उसने सुल्तान ग़ियासुद्दीन की उपाधि धारण की।

बिहार को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और जाजनगर, तिरहुत, बंग तथा कामरूप के पड़ोसी राज्यों से कर वसूल किया। इल्तुतमिश एक ऐसे प्रान्त की स्वतन्त्रता नहीं सहन कर सकता था जो प्रारम्भ में दिल्ली सुल्तान के अधीन रह चुका था। अतः जैसे ही मंगोलों का भय जाता रहा वैसे ही उसने बिहार को पुनः जीतने के लिए सेना भेजी और १२२५ ई. में सुल्तान स्वयं युद्ध-क्षेत्र में उतरा। एवाज़ ने बिना लड़े ही इल्तुतमिश का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और युद्ध का हर्जाना तथा वार्षिक कर देने का वचन दिया। सुल्तान ने मलिक जानी को बिहार का सूबेदार नियुक्त किया, किन्तु जैसे ही उसने पीठ फेरी एवाज़ ने पुनः अपने को स्वाधीन कर लिया। बाध्य होकर इल्तुतमिश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन महमूद को जो अवध का शासक था, एवाज़ को दण्ड देने के लिए भेजा। नासिरुद्दीन ने १२२६ ई. में लखनौती को जीत लिया, एवाज़ को युद्ध में हराया और उसे मार डाला। इस प्रकार बंगाल पुनः दिल्ली सल्तनत का प्रान्त बन गया। किन्तु नासिरुद्दीन की शीघ्र ही मृत्यु हो गयी, लखनौती में पुनः विद्रोह हुआ और बल्का खिल्जी नामक एक व्यक्ति उस प्रान्त की गद्दी पर बैठ गया। इसलिए इल्तुतमिश को १२३० ई. में दूसरी बार लखनौती के विरुद्ध सेना भेजनी पड़ी। बल्का युद्ध में हारा और मारा गया और बंगाल पुनः दिल्ली राज्य में मिला लिया गया। इल्तुतमिश ने अब बंगाल और बिहार को प्रथक करके उनके लिए अलग-अलग सूबेदार नियुक्त कर दिये।

राजस्थान का पुनः स्वतन्त्र होना

ऐबक की मृत्यु के बाद के काल में हमारे देशवासियों ने विदेशियों की दासता से अपने को मुक्त करने का जबर्दस्त प्रयत्न किया। प्रत्येक स्थान पर राजपूतों ने साहस से काम लिया और तुर्की सूबेदारों को मार भगाने का भरसक प्रयत्न किया। चंदेलों ने कालिंजर तथा अजयगढ़ पुनः जीत लिये और प्रतिहारों ने ग्वालियर से, मुस्लिम सेना को भगाकर किले पर पुनः अधिकार कर लिया और नरबर तथा झाँसी को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। रणथम्भौर के चौहान शासक ने भी तुर्की सैनिकों को निकाल दिया और जोधपुर तथा उसके आस-पास के प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। जालोर के चौहानों ने नाडोल, मन्दौर, भरमेर, रत्नपुर, साँचोर, राधाधार, खेरा, रामसीन तथा भीनमल को जीत लिया और तुर्कों को पराजित किया। उत्तरी अलवर में जादोंभट्टी राजपूतों ने अपनी स्वाधीनता की स्थापना कर ली और अजमेर, बयाना और थंगीर ने भी तुर्की सत्ता को समाप्त करके अपने को पुनः स्वतन्त्र कर लिया।

राजपूताना में इल्तुतमिश की सैनिक कार्यवाहियाँ

दिल्ली राज्य का एक विस्तृत भाग उससे प्रथक हो गया, इससे सुल्तान के शासन में दुर्बलता आ गयी होगी, किन्तु इल्तुतमिश डरने अथवा लड़खड़ाने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने खोये हुए प्रान्तों को पुनः जीतने का दृढ़ संकल्प किया। जैसे ही उसे मंगोल-आक्रमण के भय से मुक्ति मिली, वैसे ही उसने पुनर्विजय का कार्य आरम्भ कर दिया। १२२६ ई. में उसने सेना लेकर राजस्थान के मध्य में प्रवेश किया और रणथम्भौर को घेर लिया तथा उस पर अधिकार करके रक्षा के लिए अपने सैनिक नियुक्त कर दिये। तदुपरान्त उसने परमारों की राजधानी मन्दौर पर आक्रमण किया और उसे भी जीतकर अपनी सेना वहाँ रख दी। १२२८-२९ ई. में उसने जालोर का घेरा डाला। चौहान राजा उदयसिंह ने प्रबल प्रतिरोध किया, किन्तु अन्त में उसे हथियार डालने पड़े। उसने सुल्तान को वार्षिक कर देने का वचन दिया और इस शर्त पर जालोर का राज्य उसे लौटा दिया गया। इसके बाद बयाना और थंगीर पर अधिकार कर लिया गया। फिर अजमेर की बारी आयी। यहाँ भी इल्तुतमिश को प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, किन्तु अन्त में अजमेर, साँभर तथा उसके निकटवर्ती जिलों पर उसका अधिकार हो गया। जोधपुर में स्थित नागोर जो ग़ज़नवी सुल्तान बहराम के समय से ही तुर्कों के हाथों में था, कुतुबुद्दीन की मृत्यु के उपरान्त स्वतन्त्र हो गया था। इल्तुतमिश ने उस पर पुनः अधिकार कर लिया। १२३१ ई. में ग्वालियर का घेरा डाला गया। प्रतिहार राजा मलयवर्मन देव ने पूरे एक वर्ष तक वीरतापूर्वक युद्ध किया, किन्तु अन्त में उसे भी पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

बयाना और ग्वालियर के सूबेदार मलिक तयसाई को सुल्तान ने कालिंजर जीतने के लिए भेजा। चन्देल राजा त्रिलोक्यवर्मन तुर्की सेना का मुकाबला नहीं कर सका और कालिंजर को छोड़कर भाग गया। तुर्कों ने उसे लूटा किन्तु पड़ोस के चन्देलों ने उन्हें इतना त्रस्त किया कि वे अधिक प्रगति न कर सके और भाग खड़े हुए। उपर्युक्त विजयों के अतिरिक्त इल्तुतमिश ने स्वयं गुहिलौतों की राजधानी नागदा पर आक्रमण किया परन्तु वहाँ के राजा क्षेत्रसिंह ने सुल्तान को पराजित किया और मार भगाया। इसमें इल्तुतमिश को भारी क्षति उठानी पड़ी। सुल्तान ने गुजरात के चालुक्यों पर भी आक्रमण किया, किन्तु वहाँ भी उसकी सेना को पराजित होकर लौटना पड़ा। १२३४-३५ ई. में उसने मालवा पर चढ़ाई की, भिलसा और उज्जैन को लूटा तथा महाकाल के प्राचीन मन्दिर को ध्वस्त कर दिया; किन्तु उस प्रदेश पर शासन करने वाले परमारों को भूमि सम्बन्धी क्षति नहीं उठानी पड़ी। कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने, विशेषकर वूल्ज़ले हेग ने, इल्तुतमिश को मालवा विजय का श्रेय दिया है, किन्तु यह सत्य

से बहुत दूर है। उस प्रदेश पर सुल्तान ने केवल लूट की दृष्टि से धावा किया था, विजय के उद्देश्य से नहीं।

दोआब की पुर्नविजय

दोआब के लोग भी दिल्ली के तुर्की शासक की दुर्बलताओं से लाभ उठाने में राजस्थान से पीछे नहीं रहे। जिस समय इल्तुतमिश तुर्की रक्षकों के विद्रोह का दमन करने में लगा हुआ था, उसी समय आधुनिक उत्तर प्रदेश के अनेक जिलों ने अपनी स्वाधीनता पुनः स्थापित कर ली। बदायूँ, कन्नौज तथा बनारस के कुछ जिले तुर्कों के हाथ से निकल गये, कतेहर (आधुनिक रुहेलखण्ड) का प्रान्त दिल्ली से प्रथक हो गया और इन सब प्रदेशों से तुर्की सैनिकों को हिन्दुओं ने मार भगाया। जैसे ही इल्तुतमिश ने दिल्ली में अपना प्रभुत्व दृढ़ता से स्थापित कर लिया वैसे ही उसने दोआब के हिन्दुओं के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। एक-एक करके बदायूँ, कन्नौज तथा बनारस जीत लिये गये। कतेहर तथा उसकी राजधानी अहिक्षत्र (आधुनिक आंवला) पर भी सुल्तान का अधिकार हो गया। इसके उपरान्त उसने घाघरा के उत्तर में स्थित बहराइच पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। उस पर भी अधिकार हो गया। अवध ने भी तुर्की सत्ता का जुआ उतार फेंका था, इसलिए उसे भी पुनः जीतना आवश्यक था। भयंकर युद्ध के पश्चात उस पर पुनः दिल्ली की सत्ता स्थापित की गयी किन्तु अवध के नये सूबेदार इल्तुतमिश के सबसे बड़े पुत्र नासिरुद्दीन महमूद को स्थानीय जातियों के विरुद्ध जिन्होंने अपने धर्म और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए डट कर तुर्कों का मुकाबला किया, निरन्तर युद्ध करना पड़ा। इन लोगों का नेता वर्तू (अथवा पिर्थू) नामक एक अत्यन्त वीर तथा साहसी योद्धा था। उसने बारम्बार तुर्कों को पराजित किया और लगभग १,२०,००० शत्रु सैनिक मार डाले। पिर्थू की मृत्यु के बाद ही अन्तिम रूप से उस प्रान्त पर दिल्ली का आधिपत्य स्थापित किया जा सका। चन्दवार तथा तिरहुत पर भी सुल्तान ने आक्रमण किये; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तिरहुत पर वह अधिकार नहीं कर सका।

इल्तुतमिश की मृत्यु

जब इल्तुतमिश बनियान पर आक्रमण करने के लिए जा रहा था, तभी मार्ग में वह बीमार पड़ गया। उसने अपना कार्यक्रम स्थगित कर दिया और रुग्णावस्था में ही दिल्ली वापस लौट गया। हकीम लोग उसके रोग को अच्छा नहीं कर सके और अप्रैल १२३६ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसका चरित्र तथा सफलताएँ

इल्तुतमिश वीर किन्तु सावधान सैनिक था। उसमें साहस, बुद्धिमत्ता,
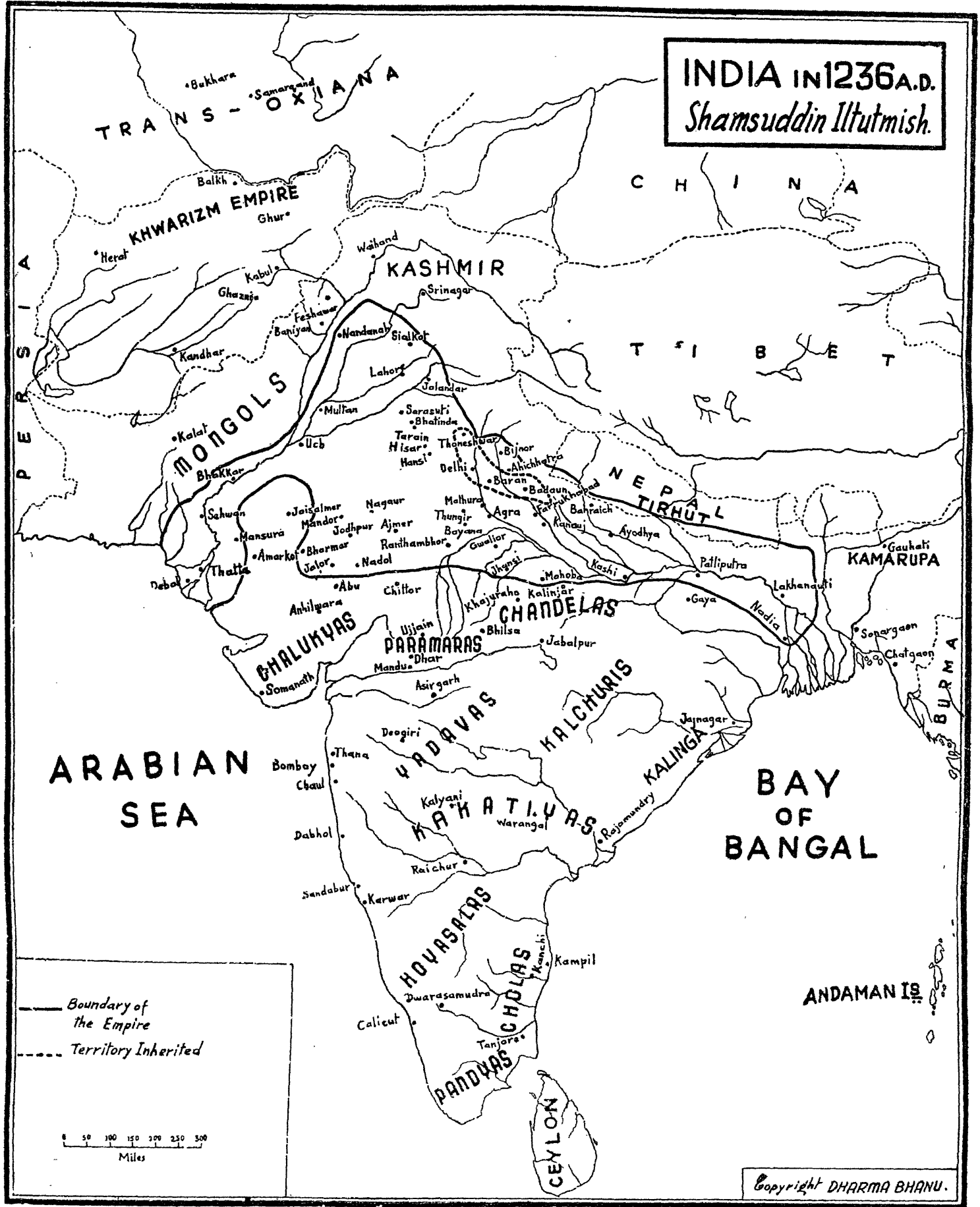
INDIA IN 1236 A.D.
Shamsuddin Iltutmish.
TRANS-OXIANA
Bukhara
Samarqand
Balkh
KHWARIZM EMPIRE
Ghur
Herat
PERSIA
Kabul
Ghazni
Peshawar
Baniyan
Kandhar
Wahand
KASHMIR
Srinagar
Nandanah
Sialkot
Lahore
Jalandar
Multan
MONGOLS
Kalat
Uch
Bhakkar
Sarasuti
Bhatinda
Tarain
Hisar
Hansi
Thaneshwar
Delhi
Bijnor
Ahichhatra
Baran
Badaun
Farrukhabad
Bahraich
Kanauj
Ayodhya
NEPAL
TIRHUT
CHINA
TIBET
Sahwan
Jaisalmer
Nagaur
Mandor
Jodhpur
Ajmer
Mathura
Thangir
Agra
Bayana
Mansura
Amarkot
Bharmar
Ranthambhor
Gwalior
Jalor
Nadol
Jhansi
Mahoba
Kashi
Patliputra
Gauhati
KAMARUPA
Debal
Thatta
Abu
Chittor
Khajuraho
Kalinjar
Gaya
Lakhanauti
Nadia
Anhilwara
CHANDELAS
CHALUKYAS
Ujjain
Bhilsa
PARAMARAS
Jabalpur
Sonargaon
Chatgaon
BURMA
Mandu
Dhar
Somanath
Asirgarh
KALCHURIS
Jajnagar
Deogiri
YADAVAS
Thana
Bombay
Chaul
KALINGA
ARABIAN SEA
Kalyani
KAKATIYAS
Warangal
Rajamundry
BAY OF BANGAL
Dabhol
Raichur
Sandabur
Karwar
HOYASALAS
CHOLAS
Kanchi
Kampil
Dwarasamudra
Calicut
Tanjore
PANDYAS
ANDAMAN Is.
CEYLON
Boundary of the Empire
Territory Inherited
0 50 100 150 200 250 300
Miles
Copyright DHARMA BHANU.

संयम तथा दूरदर्शिता आदि महत्वपूर्ण गुण थे। वह योग्य तथा कुशल शासक भी था। जो व्यक्ति प्रारम्भ में गुलाम का गुलाम रह चुका था, उसके लिए दिल्ली की गद्दी प्राप्त कर लेना और उस पर २५ वर्ष तक शासन करना कोई साधारण बात नहीं थी। अपने स्वामी तथा पूर्वाधिकारी कुतुबुद्दीन की भाँति उसे एक विशाल साम्राज्य की नैतिक तथा भौतिक सहायता प्राप्त नहीं थी। उसकी सम्पूर्ण सफलताओं का श्रेय स्वयं उसी को था। उसने अपना जीवन अत्यन्त हीनावस्था से प्रारम्भ किया था परन्तु उसने कुतुबुद्दीन के अधूरे कार्य को पूरा किया और उत्तरी भारत में शक्तिशाली तुर्की साम्राज्य की स्थापना की। उसने मुहम्मद ग़ोरी द्वारा विजित प्रदेशों को पुनः जीता और राजपूताना तथा आधुनिक उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित किया। मुल्तान और सिन्ध कुतुबुद्दीन के हाथ से निकल चुके थे। इल्तुतमिश ने उन्हें पुनः जीतकर दिल्ली सल्तनत का अंग बनाया। उसने तुर्की सल्तनत की विजयों को नैतिक प्रतिष्ठा प्रदान की। उसने उसकी मंगोलों के आक्रमणों से उस समय रक्षा की जबकि मध्य एशिया के बड़े-बड़े राज्य उनके प्रहारों से चकनाचूर होकर धराशायी हो गये थे। इसके अतिरिक्त उसने अपने तुर्की प्रतिद्वन्द्वियों का दमन किया और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसने एक सैनिक राजतन्त्र की नींव डाली जो आगे चलकर ख़लजियों के नेतृत्व में निरंकुशता की पराकाष्ठा को पहुँच गया।

इल्तुतमिश पहला तुर्क सुल्तान था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के जारी किये। उसके चाँदी के टंका का वजन १७५ ग्रेन था और उस पर अरबी भाषा में लेख उत्कीर्ण था। वह विद्वानों के गुणों की सराहना करता था और स्थापत्य से उसे प्रेम था। उसने दिल्ली में प्रसिद्ध कुतुबमीनार का निर्माण कराया। इल्तुतमिश धार्मिक मुसलमान था। वह नियमपूर्वक प्रति दिन पाँच बार नमाज़ पढ़ता तथा अन्य धार्मिक कृत्य किया करता था। शिया आदि असनातनी इस्लामी सम्प्रदायों के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण न था। दिल्ली के इस्माइली शियाओं ने उसकी धार्मिक अत्याचारों की नीति के विरुद्ध विद्रोह किया और उसकी हत्या का भी षड्यन्त्र किया, किन्तु विद्रोह दबा दिया गया और बड़ी संख्या में उनका वध कर दिया गया। हिन्दुओं के प्रति भी उसका व्यवहार इससे अधिक अच्छा नहीं रहा होगा।[3] तत्कालीन लेखकों

3 उसने भेलसा के मुख्य मन्दिर को तथा उज्जैन के महाकाल के उस मन्दिर को नष्ट कर दिया था, जिसके निर्माण में तीन सौ वर्ष लगे थे। वह विक्रमादित्य तथा अन्य प्रजावत्सल राजाओं की अष्टधातु-निर्मित मूर्तियों को भी अपने साथ दिल्ली ले गया था। (तबक़ात-ए-नसीरी—अनुवादक रैवर्टी)

ने उसकी धार्मिकता तथा इस्लाम की सेवा की प्रशंसा की है, इसी से सिद्ध होता है कि उसने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू जनता के प्रति धार्मिक अत्याचार की नीति जारी रखी होगी। वास्तव में उसने मुस्लिम उलेमा को सन्तुष्ट किया और उनसे राज्य की सेवा करवायी। इल्तुतमिश ने शासन-संस्थाओं का निर्माण नहीं किया। वह रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न राजनीतिज्ञ न था। कुतुबुद्दीन की भाँति उसने भी प्राचीन देशी संस्थाओं को पूर्ववत चलने दिया और केवल उच्च क्षेत्रों में ही उसने कुछ इस्लामी प्रणालियों और परिपाटियों को प्रचलित किया।

इल्तुतमिश के तीन मुख्य कार्य थे—(१) नव-स्थापित तुर्की राज्य को नष्ट होने से बचाना, (२) उसे वैधानिक स्थिति प्रदान करना, और (३) दिल्ली की गद्दी पर अपने पुत्रों का उत्तराधिकार निश्चित करके अपने वंश की स्थायी नींव डालना। फरवरी, १२२९ ई. में खलीफा अल-मुस्तसीर बिल्लाह ने उसे इस्लामी शासक की खिल्लत भेजकर उसकी सत्ता को धार्मिक तथा राजनीतिक मान्यता प्रदान की। उपर्युक्त ठोस सफलताओं के कारण ही उसे दिल्ली सल्तनत का प्रथम सुल्तान कहा गया है और वास्तव में १२०६ से १२९० ई. तक दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाले तीन राजवंशों के शासकों में इल्तुतमिश का ही प्रथम स्थान है।

रुकनुद्दीन फीरोज़शाह (१२३६ ई.)

इल्तुतमिश का ज्येष्ठ पुत्र नासिरुद्दीन महमूद जो सुल्तान के पुत्रों में सबसे अधिक योग्य था, अपने पिता को अत्यन्त संतप्त छोड़कर १२२९ ई. में मर गया। सुल्तान की दृष्टि में उसका दूसरा पुत्र फीरोज गद्दी पर बैठने के योग्य नहीं था क्योंकि वह प्रमादी और उत्तरदायित्वहीन था तथा अपना अधिकतर समय इन्द्रिय-भोगों में नष्ट किया करता था। उसके दूसरे पुत्रों की अवस्था बहुत कम थी। इसलिए उसने अपनी सबसे बड़ी पुत्री रजिया को जो चतुर, साहसी एवं योग्य स्त्री थी, अपनी उत्तराधिकारिणी बनाने का निश्चय किया। किन्तु यह एक नया प्रयोग था और मुस्लिम-कानून की भावनाओं के विरुद्ध था। इसके अतिरिक्त सुल्तान के पुत्रों और उसके अनुयायियों ने भी इसका विरोध किया। किन्तु इल्तुतमिश ने इन सब विरोधों को दबा दिया और अमीरों तथा दरबारियों की भी स्वीकृति प्राप्त कर ली। रजिया का नाम चाँदी के सिक्के (टंका) पर खुदवाया गया, किन्तु इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उसके इस निर्णय को उलट दिया गया और उसके सबसे बड़े जीवित पुत्र रुकनुद्दीन फीरोज़ को गद्दी पर बैठाया गया। वह नवयुवक खुले हृदय का व्यक्ति था और उसकी माँ शाह तुर्कन कुचक्र रचने में अत्यन्त कुशल थी। इसलिए दरबारियों तथा सरकारी

पदाधिकारियों में से अनेक उसके अनुयायी हो गये। इल्तुतमिश की मृत्यु के समय उसने बड़ी चतुराई से काम लिया और अपने दल की सहायता से अपने पुत्र का राज्याभिषेक करा लिया। कदाचित फीरोज़ ने भी अपने पिता की भाँति दीर्घकाल तक राज्य किया होता, यदि उसमें संयम तथा शासन सम्बन्धी योग्यता होती। किन्तु सिंहासनारोहण के तुरन्त बाद ही उसने आमोद-प्रमोद तथा शान-शौकत का जीवन आरम्भ कर दिया और राज्य की समस्त शक्ति उसकी माँ ने हड़प ली। शाह तुर्कन जो पहले रनिवास में एक दासी थी, अत्यन्त महत्वाकांक्षिणी स्त्री थी और राज्य की नीति पर उसका पूर्ण नियन्त्रण था। उसने अपनी पत्नियों तथा उनके पुत्रों पर अत्याचार किये। उधर फीरोज़ ने अपने निजी आमोद-प्रमोद में धन नष्ट किया और दिल्ली की जनता में सोने की बखेर की। परिणामस्वरूप इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। शीघ्र ही बाह्य तथा आन्तरिक संकट उठ खड़े हुए। गज़नी, किरमान तथा बनियान के शासक सैफ़ुद्दीन हसन कार्लूग ने सिन्ध तथा उच्च पर आक्रमण कर दिया। सरकारी पदाधिकारियों का भी एक दल नये सुल्तान के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। स्वयं सुल्तान के भाई ग़ियासुद्दीन ने जो अवध का सूबेदार था, खुले रूप से विद्रोह किया। उसने बंगाल से दिल्ली को जाने वाले राज्य-कोष को छीन लिया और हिन्दुस्तान के अनेक नगरों को लूटा। मुल्तान, लाहौर, हाँसी तथा बदायूँ के शासकों ने फीरोज़ के विरुद्ध परस्पर एक समझौता कर लिया और उसे गद्दी से उतारने के लिए दिल्ली की ओर चल पड़े। विद्रोहियों का सामना करने के लिए फीरोज़ को भी राजधानी छोड़कर आगे बढ़ना पड़ा। उसकी अनुपस्थिति में रज़िया ने उसके तथा उसकी माता के विरुद्ध फैले हुए जनता के असन्तोष का लाभ उठाया। शुक्रवार की नमाज़ के समय वह लाल वस्त्र धारण करके जनता के सामने उपस्थित हुई और उससे घृणित शाह तुर्कन के विरुद्ध सहायता माँगी। उसने लोगों को यह भी याद दिलाया कि इल्तुतमिश ने उसे अपनी उत्तराधिकारिणी चुना था। सैनिक पदाधिकारियों ने भी दिल्ली की जनता का साथ दिया, फीरोज़ के लौटने से पहले ही रज़िया को सिंहासन पर बैठा दिया तथा शाह तुर्कन को कारागार में डाल दिया। १२३६ ई. में फीरोज़ को भी पकड़कर कत्ल कर दिया गया। वह केवल सात महीने राज्य कर पाया।

रज़िया (१२३६–१२४० ई.)

रज़िया केवल नाममात्र के लिए शासक हुई। उसे दिल्ली की जनता तथा अमीरों का समर्थन प्राप्त था, किन्तु बदायूँ, मुल्तान, हाँसी और लाहौर के सूबेदार जिनका इस चुनाव में कोई हाथ नहीं था, इसके निश्चित विरोधी थे। फीरोज़ का वज़ीर निज़ामुल मुल्क जुनैदी भी उनसे जा मिला। षड्यन्त्रकारियों

ने रज़िया को राजधानी में घेर लिया। यद्यपि इस गुट को पराजित करना उसकी शक्ति से परे था, किन्तु उसने बड़ी कुशलता से कूटनीतिक चाल चली और षड्यन्त्रकारियों में फूट डाल दी। विद्रोही सूबेदार परस्पर लड़ पड़े और उनका गुट छिन्न-भिन्न हो गया। अब रज़िया ने उन पर आक्रमण किया और उनमें से दो को पकड़कर कत्ल कर दिया। वज़ीर अपनी प्राण-रक्षा के लिए भाग खड़ा हुआ किन्तु सिरमूर की पहाड़ियों में उसकी भी मृत्यु हो गयी।

इस विजय से रज़िया की प्रतिष्ठा बढ़ गयी और स्थिति दृढ़ हो गयी। उसने राज्य के उच्च पदों का पुनः वितरण किया और ख्वाजा मुहाजबुद्दीन को अपना वज़ीर नियुक्त किया। प्रान्तीय सूबेदारों के पदों पर भी उसने नये व्यक्ति नियुक्त किये। लखनौती से देबल तक सम्पूर्ण हिन्दुस्तान ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। बंगाल भी पुनः दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत आ गया। किन्तु रज़िया की सफलता ही उसके पतन का मुख्य कारण सिद्ध हुई। उसने ताज की शक्ति को निरंकुश बनाने का प्रयत्न किया। तुर्की अमीर जिन्होंने अपने को एक सैनिक बिरादरी के रूप में संगठित कर लिया था और कुतुबुद्दीन के समय से ही राज्य की शक्ति पर एकाधिकार स्थापित कर रखा था, एक शक्तिशाली तथा निरंकुश शासक को जो अपनी इच्छा को सर्वोच्च बनाने पर तुली हुई थी, सहन नहीं कर सकते थे। वे समझते थे कि हमारे बिना राज्य का काम नहीं चल सकता, इसलिए वे सुल्तान को अपना केवल प्रमुख मात्र मानते थे। वे उसे इससे उच्च पद देने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त सनातनी मुसलमान रज़िया से इसलिए अप्रसन्न थे कि उसने स्त्रियों की पोशाक तथा पर्दा को त्याग दिया था। वह पुरुषों के वस्त्र पहनती, जनता के सामने घोड़े पर सवार होती और खुले दरबार में राज-काज करती थी। उसने अपने शासन को दृढ़ तथा शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। वह सैन्य-संचालन करती तथा युद्ध में भाग लेती थी। बूढ़े तुर्क योद्धा एक स्त्री के, चाहे वह रानी ही क्यों न हो, इस प्रकार के आचरण को कलंकपूर्ण मानते थे। रज़िया का जमालुद्दीन याकूत नामक एक हब्शी अफसर पर जो घोड़ों का सर्वोच्च अधिकारी था, विशेष अनुराग था। सम्भवतः उसने जान-बूझकर इस नीति को अपनाया था क्योंकि तुर्क अमीरों का राजकीय पदों पर जो एकाधिकार था, उसे वह तोड़ना चाहती थी।

रज़िया का पतन

उपर्युक्त कारणों से रज़िया के विरुद्ध षड्यन्त्र आरम्भ हो गया। उसके नेता दरबार तथा प्रान्तों के अमीर और मलिक थे। वे रज़िया को अपदस्थ करके ऐसे व्यक्ति को गद्दी पर बैठाना चाहते थे, जो दुर्बल हो और उनकी इच्छानुसार काम करे। षड्यन्त्रकारियों का प्रमुख नेता इख्तियारुद्दीन आइतीन

था जो अमीर-ए-हाजिब के पद पर कार्य कर रहा था और भटिण्डा का शासक मलिक अल्तूनिया तथा लाहौर का सूबेदार कबीरखाँ अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। षड्यन्त्रकारी रज़िया की सैनिक शक्ति और सैनिकों की उसके प्रति भक्ति को भली-भाँति जानते थे, इसलिए वे उसे दूर स्थान पर ले जाकर समाप्त करना चाहते थे। इस योजना के अनुसार लाहौर के शासक कबीरखाँ ने १२४० ई. में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। रानी शीघ्र ही विद्रोह का दमन करने वहाँ पहुँची। कबीरखाँ पराजित हुआ और भाग खड़ा हुआ, किन्तु चिनाब नदी पर मंगोलों की उपस्थिति के कारण उसके भागने का मार्ग रुका हुआ था। इसलिए लौटकर उसने बिना शर्त अपने को रानी के सुपुर्द कर दिया। इस प्रकार विजयी होकर रज़िया राजधानी लौट आयी। किन्तु षड्यन्त्रकारियों ने अपनी योजना नहीं छोड़ी। रज़िया के लौटने के पन्द्रह दिन के भीतर ही दूसरा विद्रोह हुआ। इस बार भटिण्डा के सूबेदार अल्तूनिया ने जो अमीर-ए-हाजिब का मित्र था, विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। ऋतु की अत्यधिक गर्मी की चिन्ता न करते हुए रज़िया ने विद्रोहियों के विरुद्ध कूच किया। इस बार षड्यन्त्रकारियों ने बड़ी सावधानी से अपना जाल बिछाया था अतः जैसे ही रज़िया भटिण्डा पहुँची उनके कुछ एजेण्टों ने घोड़ों के अध्यक्ष याकूत को गाली दी और पकड़ कर मार डाला। इस प्रकार रानी का दल बहुत दुर्बल हो गया, वह बहुत घबड़ा गयी और षड्यन्त्रकारियों ने उसे पकड़कर जेल में डाल दिया (अप्रेल, १२४० ई.)। इल्तुतमिश के तीसरे पुत्र बहराम को गद्दी पर बैठा कर षड्यन्त्रकारी दिल्ली लौट आये। ताज के विरुद्ध युद्ध में उनकी विजय हो गयी।

बहराम के सिंहासनारोहण के समय राजकीय पदों का जो वितरण हुआ उसमें अल्तूनिया को अपनी इच्छानुसार पद नहीं मिला, इसलिए वह असन्तुष्ट हो गया। उसने बदला लेने के लिए नयी योजना बनायी। अगस्त, १२४० ई. में उसने रज़िया को भटिण्डा के किले की जेल से मुक्त करके उससे विवाह कर लिया और उसके साथ दिल्ली पर अधिकार करने के लिए चल पड़ा। किन्तु वे बहराम की सेना द्वारा पराजित होकर भटिण्डा की ओर लौटने को बाध्य हुए। उनके सैनिकों ने भी उनका साथ छोड़ दिया और १३ अक्टूबर, १२४० ई. के दिन कुछ हिन्दू डाकुओं ने कैथल के पास उनका वध कर दिया।

रज़िया के कार्यों का मूल्यांकन

रज़िया ही केवल ऐसी मुसलमान स्त्री थी जो दिल्ली की गद्दी पर बैठी। यद्यपि उसने केवल साढ़े तीन वर्ष राज्य किया, फिर भी निस्सन्देह वह एक अत्यन्त सफल तथा असाधारण शासिका थी। वह वीर, कर्मठ, योग्य सैनिक तथा

सेनानायक थी। राजनीतिक कुचक्रों तथा कूटनीति में वह दक्ष थी। उसने भारत में तुर्की सल्तनत की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना की, ताज की शक्ति में वृद्धि की और उसे निरंकुश बनाने का प्रयत्न किया। वास्तव में वह दिल्ली की पहली तुर्क सुल्तान थी जिसने अमीरों और मलिकों को अपनी आज्ञा मानने पर बाध्य किया। कुतुबुद्दीन अमीरों में मुख्य अमीर था और इल्तुतमिश अपने समान अमीरों के सम्मुख गद्दी पर बैठने में झेंपता था। इस भाँति रज़िया से पहले और बाद के इल्तुतमिश वंश के सभी सदस्य व्यक्तित्व और चरित्र की दृष्टि से उससे कहीं अधिक दुर्बल थे। इसलिए इल्तुतमिश के वंश में रज़िया प्रथम तथा अन्तिम सुल्तान थी जिसने केवल अपनी योग्यता और चरित्र-बल से दिल्ली सल्तनत की राजनीति पर अधिकार रखा। तत्कालीन इतिहासकार मिनहाजुद्दीन सिराज लिखता है कि वह महान् शासिका, बुद्धिमान, ईमानदार, उदार, शिक्षा की पोषक, न्याय करने वाली, प्रजापालक तथा युद्धप्रिय थी।··· उसमें वे सभी प्रशंसनीय गुण थे जो एक राजा में होने चाहिए। परन्तु अन्त में, बड़े संताप के साथ वह उसके चरित्र के विषय में लिखता है, "ये सब श्रेष्ठ गुण उसके किस काम के थे ?"

सामान्यतया यह विश्वास चला आता है कि रज़िया का पतन इसलिए हुआ कि वह स्त्री थी, क्योंकि तुर्क अमीर स्त्री के शासन में रहना पसन्द नहीं करते थे। किन्तु उसके पतन का मुख्य कारण तुर्की सैनिक अमीरों की बलवती महत्वाकांक्षा भी था। वे सुल्तान को अपने हाथों की कठपुतली बनाकर राज्य की शक्ति पर अपना एकाधिकार कायम रखना चाहते थे किन्तु रज़िया ने प्रारम्भ से ही इसके विरुद्ध नीति का अनुसरण किया। उसने सम्पूर्ण शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करके अपने को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न किया। उसका स्त्री होना तो उसके असामयिक अन्त का केवल गौण कारण ही था।

मुईजुद्दीन बहरामशाह (१२४०-१२४२ ई.)

नया सुल्तान इल्तुतमिश का तीसरा पुत्र था। उसे इस निश्चित शर्त पर गद्दी पर बैठाया गया था कि वह तुर्क अमीरों और मलिकों को पूर्णरूप से राजशक्ति का उपभोग करने देगा और स्वयं केवल राज्य मात्र ही करेगा, शासन नहीं। तुर्क अमीरों को उसने नाइब-ए-मुमालिक़ात को नियुक्त करने का भी अधिकार दे दिया जो उसी समय नया स्थापित किया गया था। अतः इख्तियारुद्दीन एतगीन नामक व्यक्ति इस उच्च पद पर नियुक्त किया गया। मुहाजबुद्दीन वज़ीर के पद पर कार्य करता रहा, किन्तु अब इस पद का महत्व गौण रह गया था। इस भाँति राज्य में तुर्क सैनिक अमीरों का प्रभुत्व पूर्ण हो गया।

नाइब-ए-एतगीन ने सुल्तान की बहुत कुछ शक्ति हड़प ली। उसने सुल्तान के कुछ विशेषाधिकार भी छीन लिये, जैसे अपने फाटक पर नौबत बजवाना और अपने यहाँ हाथी रखना। उसने बहराम की एक बहिन से विवाह कर लिया और इस प्रकार वह सुल्तान से भी अधिक शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण हो गया। अपने विशेषाधिकारों पर होने वाले आक्रमणों को बहराम सहन न कर सका। इसलिए उसने नाइब का उसी के दफ्तर में वध करवा दिया। किन्तु सुल्तान की विजय क्षणिक सिद्ध हुई। यद्यपि नाइब के पद पर किसी नये व्यक्ति को नहीं नियुक्त किया गया, किन्तु बदरुद्दीन शंकर ने जो अमीर-ए-हाजिब के पद पर कार्य कर रहा था और 'चालीस' के नाम से विख्यात तुर्क अमीरों के मण्डल का प्रभावशाली सदस्य था, वे सब अधिकार हड़प लिये जो पहले नाइब के हाथों में थे। अतः सुल्तान इससे ईर्ष्या करने लगा। वज़ीर पहले ही से शंकर के विरुद्ध था। दोनों ने संयुक्त रूप से अमीर-ए-हाजिब का विरोध किया। उधर अमीर-ए-हाजिब भी सुल्तान को गद्दी से उतारने के लिए षड्यन्त्र रच रहा था जिसकी सूचना वज़ीर ने सुल्तान को दे दी। सुल्तान ने शंकर को बर्खास्त करके बदायूँ में निर्वासित कर दिया किन्तु शंकर बिना सुल्तान की आज्ञा के ही दरबार में लौट गया, इसलिए पकड़कर उसका वध कर दिया गया। तुर्क अमीर जो एतगीन के वध के कारण पहले से ही सुल्तान से अप्रसन्न थे, अब और भी अधिक भयभीत हो गये। तुर्क उलेमा भी सुल्तान के विरोधी थे क्योंकि उनमें से एक का उसकी आज्ञानुसार वध कर दिया गया था। वज़ीर मुहाज़बुद्दीन को सुल्तान से अलग शिकायतें थीं। इस प्रकार एक सर्वव्यापी षड्यन्त्र रचा गया। इसी समय १२४१ ई. में मंगोलों ने पंजाब पर आक्रमण किया और लाहौर को घेर लिया। नगर की रक्षा के लिए एक सेना भेजी गयी। वज़ीर भी उसके साथ गया, किन्तु मार्ग में उसने अफसरों को बता दिया कि सुल्तान ने तुम्हें गिरफ्तार करके वध करने की गुप्त आज्ञा भेजी है। सैनिक-गण क्रोध से प्रज्ज्वलित होने लगे और सुल्तान से बदला लेने का प्रण करके वे उसे पदच्युत करने के लिए मार्ग से ही लौट आये। दिल्ली के नागरिकों ने निर्मोह होकर युद्ध किया किन्तु सेना के सामने वे न टिक सके, दूसरे दिन ही नगर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया और मई, १२४२ ई. में बहराम को पकड़कर कत्ल कर दिया गया।

अलाउद्दीन मसूदशाह (१२४२—१२४६ ई.)

सल्तनत में तुर्क अमीरों का प्रभुत्व पूर्णरूप से स्थापित हो गया और सुल्तान को फिर उनके हाथों पराजित होना पड़ा। विजयी अमीरों ने अपने में से ही किसी सदस्य को गद्दी पर बैठा दिया होता, किन्तु पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वे अपने में से योग्यतम व्यक्ति के गुणों को न परख सके थे। परिणाम-

स्वरूप उन्होंने इल्तुतमिश के पौत्र तथा रुकनुद्दीन फीरोज़शाह के पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को इस शर्त पर गद्दी पर बैठाया कि वह अपने पूर्वाधिकारी द्वारा किये गये समझौते की शर्तों का पालन करेगा और राज्य की समस्त शक्ति 'चालीस' के सुपुर्द करके स्वयं केवल सुल्तान की उपाधि का उपभोग करेगा। नाइब का पद पुनः स्थापित किया गया और उस पर ग़ोर के एक शरणार्थी मलिक कुतुबुद्दीन हसन को नियुक्त किया गया। राज्य के शेष पदों पर 'चालीस' के सदस्यों का एकाधिकार कायम हो गया। दरबार में वज़ीर मुहाज़बुद्दीन का आधिपत्य था और जो अधिकार पहले नाइब के हाथों में थे, उनका भी उपयोग वही करता था। नाइब के पद का महत्व बहुत घट गया। शीघ्र ही वज़ीर तथा तुर्क अमीरों में झगड़ा हो गया। मुहाज़बुद्दीन अपदस्थ कर दिया गया और उसके स्थान पर नजमुद्दीन अबू बक्र नाम का व्यक्ति नियुक्त किया गया। अमीर-ए-हाजिब का पद बलबन को मिला जो आगे चलकर कुछ ही वर्षों में दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। यद्यपि अमीरों में बलबन नीची कक्षा का था, किन्तु अपनी योग्यता और चरित्र-बल के कारण दल में उसी का प्रभुत्व था। धीरे-धीरे उसने लगभग सम्पूर्ण शक्ति हथिया ली और अमीरों का ध्यान पारस्परिक झगड़ों से हटाकर राजपूतों तथा मंगोलों के विरुद्ध आक्रमणों की ओर आकृष्ट किया। अपनी इस नीति में उसे इतनी सफलता मिली कि तुर्की सल्तनत की प्रतिष्ठा कुछ अंशों में पुनः स्थापित हो गयी और मसूद का शासन-काल अपेक्षाकृत शान्ति से बीता और चार वर्ष तक चला।

फिर भी आन्तरिक ईर्ष्या और कलह का पूर्णरूप से अन्त नहीं हुआ। विद्रोहों तथा फूट के कारण राज्य में अव्यवस्था रही। बंगाल के सूबेदार तुगनखाँ ने दिल्ली के प्रभुत्व को मानने से इन्कार कर दिया। उसने बिहार को भी अपने राज्य में मिला लिया और अवध पर आक्रमण किया। मुल्तान और उच्च भी दिल्ली से प्रथक हो गये। १२४५ ई. में सैफुद्दीन हसन कार्लूग ने मुल्तान पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। मंगोल भी उत्तरी पंजाब पर चढ़ आये। उन्होंने उच्च को भी घेरने का प्रयत्न किया, किन्तु दिल्ली से उसकी रक्षा के लिए एक सेना पहुँच गयी, इसलिए उन्हें वापिस लौटना पड़ा।

यद्यपि स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी, फिर भी उसमें कुछ सुधार हो रहा था और राजधानी में धीरे-धीरे बलबन का प्रभाव और महत्व बढ़ रहा था। किन्तु स्वयं बलबन ने इल्तुतमिश के एक अन्य पुत्र नासिरुद्दीन महमूद से मिल कर सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। षड्यन्त्र का परिणाम यह हुआ कि मसूद गद्दी से उतार दिया गया और जून, १२४६ ई. में नासिरुद्दीन महमूद का राज्याभिषेक हो गया।

नासिरुद्दीन महमूद (१२४६–१२६५ ई.)

सिंहासनारोहण तथा चरित्र

नासिरुद्दीन महमूद १० जून, १२४६ ई. के दिन दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसके सिंहासनारोहण के समय से सुल्तान तथा अमीरों में शक्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा था, वह समाप्त हो गया। उसमें तुर्की अमीरों की विजय हुई। नासिरुद्दीन महमूद ने समझौते की शर्तों का वफादारी के साथ पालन किया और स्वतः समस्त शक्ति 'चालीस' के नेता बलबन को सौंप दी। नया सुल्तान स्वभाव से ही महत्वाकांक्षाओं से रहित, भीरु तथा नम्र था। वह केवल राजत्व के बाह्य रूप से ही सन्तुष्ट था, वास्तविक सत्ता उसने अमीरों के हाथों में छोड़ रखी थी। वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। अनेक कारणों से उसकी इस स्वाभाविक धार्मिकता में और भी अधिक वृद्धि हो गयी। उसे अपने पूर्वाधिकारियों के भाग्य का जिन्हें अमीरों के हाथों अनेक दुःख भोगने पड़े थे, भली-भाँति स्मरण था। इसके अतिरिक्त, हिन्दू सामन्त अपनी खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए राज्य में आन्तरिक अशान्ति थी और मंगोलों के आक्रमणों का भय भी सदैव बना रहता था। इस सुल्तान की सादगी तथा पवित्रता के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उसकी रानी स्वयं अपने हाथों से भोजन बनाया करती थी। एक बार रसोईघर में उसकी उँगलियाँ जल गयीं। उसने सुल्तान से शिकायत की और एक नौकरानी रखने के लिए कहा। नासिरुद्दीन ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया और कहा कि मैं केवल राज्य का ट्रस्टी हूँ और राज्य के धन को अपने सुख के लिए व्यय नहीं कर सकता। निस्सन्देह ये कहानियाँ अतिरंजित हैं। यह असम्भव है कि सुल्तान की पत्नी के लिए जो बलबन की पुत्री थी, कोई नौकरानी न रही हो। हमें यह भी ज्ञात है कि उसके अनेक स्त्रियाँ और दासियाँ थीं। इस और इस प्रकार की अन्य किंवदन्तियों में केवल इतना ही सत्य का अंश प्रतीत होता है कि नासिरुद्दीन महमूद को दिखावे का जीवन पसन्द नहीं था और वह अपना अधिकतर समय कुरान की प्रतिलिपियाँ बनाने और दानादि उदार कार्यों में व्यतीत करता था। वास्तव में इसके अतिरिक्त वह और कुछ कर भी नहीं सकता था क्योंकि उन परिस्थितियों में सुल्तान की भाँति रहना उसके लिए असम्भव था। यह तथ्य कि उसने बलबन से मिलकर अपने भतीजे तथा हितैषी मसूद के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, सिद्ध करता है कि वह सांसारिक महत्वाकांक्षाओं से सर्वथा मुक्त नहीं था। किन्तु वह इतना बुद्धिमान था कि अपनी दुर्बलताओं तथा सम्भव और असम्भव के भेद को भली-भाँति समझता था। इस समझदारी तथा अपने

स्वाभाविक चरित्र के कारण ही वह बीस वर्ष तक राज्य कर सका और १२६५ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

बलबन–वास्तविक शासक (१२४६-१२५२ ई.)

नासिरुद्दीन महमूद को सिंहासन पर बैठाने का श्रेय बलबन को ही था, इसलिए सुल्तान ने सम्पूर्ण शक्ति 'चालीस' के उस नेता के हाथों में सौंप दी। ऐसा प्रतीत होता है कि अबू बक्र नाममात्र को वज़ीर बना रहा, और बलबन के पक्ष में सम्मिलित हो गया। सबसे अधिक महत्वपूर्ण पद बलबन के सम्बन्धियों को मिले। उसका अनुज कश्लूखाँ अमीर-ए-हाजिब के पद पर नियुक्त हुआ। लाहौर तथा भटिण्डा की सूबेदारी उसके चचेरे भाई शेरखाँ को मिली। बलबन जो सुल्तान के राज्याभिषेक के दिन से ही प्रधान मन्त्री का कार्य करता आया था, १२४९ ई. में नाइब-ए-मुमालिक़ात नियुक्त किया गया। उसी दिन उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान के साथ कर दिया, जिससे उसकी स्थिति और भी अधिक दृढ़ हो गयी और अन्य तुर्क अमीरों से वह बहुत ऊँचा उठ गया। इस प्रकार राजशक्ति पर बलबन का एकाधिकार स्थापित हो गया और उसका उपयोग उसने अपने-अपने सम्बन्धियों तथा देश में तुर्की सल्तनत की नींव दृढ़ करने के लिए किया।

बलबन का क्षणिक पराभव : रायहन का प्रधान मन्त्री होना (१२५३ ई.)

बलबन के उत्कर्ष के कारण तथा इसलिए कि उसने अनैतिक रूप से अपनी शक्ति का उपयोग किया, राज्य में उसके विरुद्ध एक दल खड़ा हो गया जिसका नेता इमादुद्दीन रायहन था, जो हिन्दू से मुसलमान हो गया था। बलबन के निरंकुशतापूर्ण आचरण से नासिरुद्दीन महमूद भी अप्रसन्न था, इसलिए वह भी षड्यन्त्रकारियों के दल में सम्मिलित हो गया और बलबन तथा उसके भाई को अपदस्थ करने के लिए उसने आज्ञा जारी कर दी। उन्हें दरबार छोड़कर अपने-अपने प्रान्तों में जाने की आज्ञा दे दी गयी। राजकीय पदों का पुनः वितरण किया गया। रायहन प्रधान मन्त्री बना। वज़ीर का पद जुनैदी को मिला। इतिहासकार मिनहाज काज़ी के पद से प्रथक कर दिया गया और उसके स्थान पर शम्सुद्दीन नियुक्त हुआ। बलबन के चचेरे भाई शेरखाँ से भटिण्डा और मुल्तान की सूबेदारी छीन ली गयी और वे प्रान्त अर्सला खाँ को सौंप दिये गये। इस प्रकार राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर रायहन के उम्मीदवारों का अधिकार हो गया। इस भाँति राजशक्ति हड़पने के लिए रायहन की निन्दा की गयी है। उसे धर्मच्युत हिन्दू, शक्ति हड़पने वाला, षड्यन्त्रकारी आदि नामों से पुकारा गया है। किन्तु सत्य यह है कि वह उतना ही भला मुसलमान था जितना कि कोई तुर्क। वह न तो आततायी लुटेरा था और

न गुण्डा। वह कुशल राजनीतिज्ञ था अतः अहंकारी बलबन तथा उसके दल के विरुद्ध सुल्तान के असन्तोष का लाभ उठाकर उसने राजशक्ति पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। वह भारतीय मुसलमानों के दल का नेता था, जिनकी संख्या तेजी से बढ़ रही थी और जो अब तत्कालीन राजनीति में भाग लेने लगे थे। विदेशी तुर्क तथा उनके साथी भारतीय मुसलमानों के भी वैसे ही शत्रु थे जैसे कि हिन्दुओं के। वे यह नहीं सहन कर सकते थे कि कोई भारतीय मुसलमान राज्य के महत्वपूर्ण पद पर पहुँच सके। इसलिए तत्कालीन लेखकों ने रायहन के चरित्र और १२५३ ई. के परिवर्तन की ऐसे अशिष्ट शब्दों में निन्दा की है।

बलबन की पुनर्नियुक्ति (१२५४ ई.)

यद्यपि निम्न वर्गों के लोग रायहन के शासन से सन्तुष्ट थे, फिर भी वह अधिक समय तक न टिक सका। दरबार तथा प्रान्तों के तुर्क अमीर यह नहीं सहन कर सकते थे कि एक भारतीय मुसलमान राज्य का वास्तविक प्रमुख बन बैठे। बलबन के नेतृत्व में एकत्रित होकर उन्होंने उसके विरुद्ध कार्य करने का निश्चय किया। १२५४ ई. में उनकी संयुक्त सेनाओं ने राजधानी की ओर कूच किया। सुल्तान ने भी दिल्ली से निकलकर समाना के निकट खेमे गाड़ दिये। दोनों दलों में युद्ध होने ही वाला था कि महमूद का साहस टूट गया और बाध्य होकर उसने विद्रोहियों के प्रस्ताव को मानकर रायहन को पदच्युत कर दिया। तदनुसार रायहन को बदायूँ भेज दिया गया और कुछ समय बाद फिर बहराइच। बलबन फिर नाइब के पद पर नियुक्त कर दिया गया और उसे महत्वपूर्ण पदों पर अपने उम्मीदवार नियुक्त करने की आज्ञा दे दी गयी। इतिहासकार मिनहाज को पुनः काजी का पद मिल गया। अब तुर्क अमीरों का प्रभुत्व निर्विवाद स्थापित हो गया और महमूद के शासन के अन्त तक कायम रहा।

बलबन द्वारा विद्रोहियों का दमन

अब बलबन ने ताज की शक्ति को सुसंगठित करने की नीति को पुनः अपनाया। उसने विद्रोहियों का दमन करने तथा प्रान्तों को सल्तनत का प्रभुत्व पुनः स्वीकार करने पर बाध्य करने का संकल्प किया। कुछ समय से बंगाल की दशा अस्त-व्यस्त थी। सूबेदार तुगनखाँ ने दिल्ली की सत्ता को स्वीकार करना बन्द कर दिया और स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करने लगा। उसने अवध पर भी आक्रमण कर दिया। बलबन को शीघ्र ही बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया क्योंकि उड़ीसा में जाजनगर के राजा द्वारा पराजित होने पर तुगनखाँ ने दिल्ली-सुल्तान से सहायता के लिए

प्रार्थना की। उसकी सहायता के लिए बलबन ने तैमूरखाँ के नेतृत्व में एक सेना भेज दी, किन्तु तैमूर को उसने तुगन को दण्ड देकर उससे बंगाल का सूबा छीन लेने की भी आज्ञा दी और उसे इस कार्य में सफलता मिली। मुआवजे के रूप में तुगन को अवध की जागीर दे दी गयी। किन्तु शीघ्र ही १२४६ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। इसके उपरान्त भी बंगाल ने दिल्ली-सुल्तान को बहुत कष्ट पहुँचाया। १२५५ ई. में तुगन के एक उत्तराधिकारी युजबक-ए-तुगरिलखाँ ने सुल्तान की उपाधि धारण कर ली, अपने नाम के सिक्के जारी किये और खुतबा पढ़वाया। किन्तु १२५७ ई. के लगभग उसने कामरूप पर आक्रमण किया जिसमें वह मारा गया। इसके उपरान्त बंगाल पर पुनः दिल्ली की सत्ता स्थापित हो गयी।

तीन-चार वर्ष के भीतर ही फिर बंगाल में उपद्रव खड़ा हो गया। कड़ा के सूबेदार अर्सलाखाँ ने लखनौती पर अधिकार कर लिया और स्वतन्त्र रूप से बंगाल में शासन करने लगा। नासिरुद्दीन महमूद के शासन के अन्त तक बंगाल स्वतन्त्र ही बना रहा।

उत्तर-पश्चिम में भी बलबन को विद्रोही सूबेदारों का सामना करना पड़ा। उस प्रदेश में दिल्ली की सत्ता पूर्णरूप से स्थापित नहीं हो पायी थी। इसके तीन कारण थे—(१) बनियान में सैफुद्दीन कार्लूग की उपस्थिति, जो महत्वाकांक्षी शासक था और मुल्तान एवं सिन्ध तक अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था, (२) मंगोलों का निरन्तर दबाव, और (३) स्थानीय पदाधिकारियों का द्रोह जो दिल्ली तथा ईरान के मंगोलों के कुचक्रों में भाग लेकर अपने भाग्य का निर्माण करना चाहते थे। १२४९ ई. में सैफुद्दीन कार्लूग ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया। किन्तु शीघ्र ही उसे उसको छोड़ना पड़ा। कुछ वर्ष उपरान्त मुल्तान तथा उच्च के सूबेदार कश्लूखाँ ने दिल्ली के प्रभुत्व से अपने को मुक्त करके ईरान के शासक हुलागू की अधीनता स्वीकार कर ली। उसने अवध के सूबेदार कुतलगखाँ से सन्धि कर ली और दोनों ने मिलकर दिल्ली पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। किन्तु बलबन की जागरूकता तथा क्रियाशीलता के कारण उनकी यह योजना विफल रही। दिल्ली-सुल्तान तथा हुलागू के बीच एक समझौता हो गया। हुलागू ने अपना एक राजदूत दिल्ली भेजा और सुल्तान को यह आश्वासन दिया कि मैं भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करूँगा। किन्तु पंजाब में उपद्रव जारी रहे। १२५४ ई. में लाहौर पर भी मंगोलों का अधिकार हो गया। अब पंजाब का केवल दक्षिण-पूरब का छोटा-सा भाग दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत रह गया और उत्तर-पश्चिम का शेष प्रदेश मंगोलों के प्रभाव-क्षेत्र में चला गया। सिन्ध तथा मुल्तान भी किसी प्रकार दिल्ली सल्तनत के अंग बने रहे।

अनेक हिन्दू सामन्त अपनी खोयी हुई स्वाधीनता पुनः स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका प्रतिरोध करना बलबन के सामने सबसे कठिन काम था। उसने पहले दोआब के विद्रोहियों का दमन किया। इस कार्य में उसे महीनों लग गये और विकट युद्ध करना पड़ा। यमुना की उपजाऊ घाटी में उसने एक प्रसिद्ध सामन्त को पराजित किया, जिसको मिनहाज ने दलकी वा मलकी कहा है और एच. सी. राय ने चन्देल वंश का त्रैलोक्य वर्मा बताया है। (Dynastic History, Vol. II, pp. 720-30)। अनेक पुरुषों का वध कर दिया गया और स्त्रियों तथा बच्चों को गुलाम बना लिया गया। इसके उपरान्त उसने दिल्ली के दक्षिण में मेवात की जनता के उपद्रवों को कुचलने का कार्य अपने ऊपर लिया। यहाँ पर भी उसने अपनी स्वाभाविक पाशविकता का परिचय दिया। रणथम्भौर पर उसने अनेक आक्रमण किये और अन्त में उसे पुनः जीत लिया। १२४७ ई. में उसने कालिंजर के चन्देल राजा के विद्रोह को दबाया। १२५१ ई. में उसने ग्वालियर के हिन्दू राजा पर चढ़ाई की, किन्तु मालवा और मध्य भारत में तुर्की सत्ता पुनः स्थापित करने का उसने प्रयत्न नहीं किया।

नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु

नासिरुद्दीन महमूद के अन्तिम दिनों के सम्बन्ध में हमें जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस युग के इतिहास के लिए प्रथम श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ तबक़ात-ए-नासिरी है, किन्तु वह सहसा १२६० ई. के मध्य में समाप्त हो जाता है और जियाउद्दीन बरनी अपनी तारीख़-ए-फीरोज़शाही बलबन के सिंहासनारोहण के वर्ष से प्रारम्भ करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के अन्तिम पाँच वर्ष भी शान्तिपूर्वक बीते; किन्तु १२६५ ई. में उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी। उसके कोई पुत्र न था। इसलिए बलबन उसका उत्तराधिकारी बना।

वंशावली-वृक्ष : इल्तुतमिश परिवार
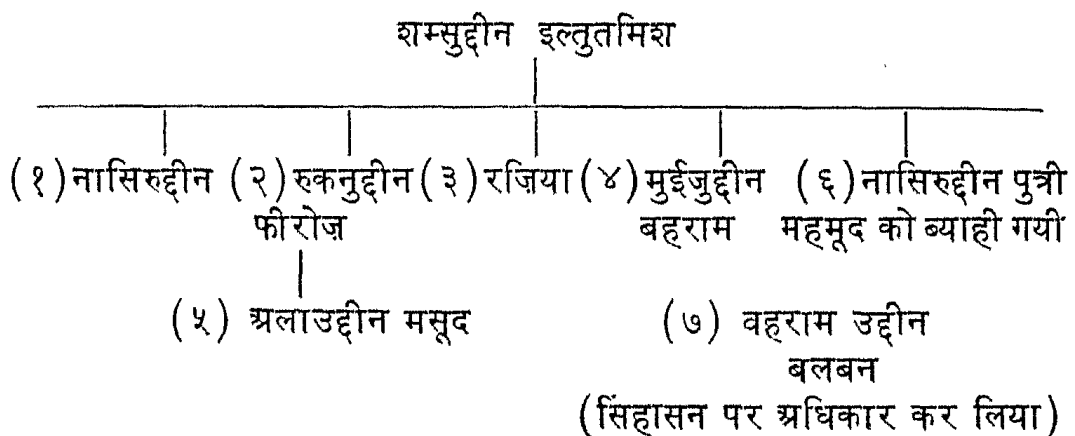
BOOKS FOR FURTHER READING

1. SIRAJ, M. : Tabqat-i-Nasiri, *translated by Raverty*.
2. OJHA, G. H. : History of Rajputana (*Hindi ed.*).
3. HABIBULLAH : Foundations of Muslim Rule in India.
4. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vols. II & III.

अध्याय ११

बलबन तथा उसके उत्तराधिकारी

बलबन (१२६५-१२८७ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

बलबन का मूल नाम बहाउद्दीन था। इल्तुतमिश की भाँति वह भी इल्बारी तुर्क था और उसका पिता १०,००० परिवारों का खान था। किशोरावस्था में बलबन को मंगोल पकड़ ले गये और गज़नी ले जाकर उन्होंने उसे बसरा के एक ख्वाजा जमालुद्दीन नामक व्यक्ति के हाथों बेच दिया। ख्वाजा उसे दिल्ली लाया जहाँ इल्तुतमिश ने उसे खरीद लिया। बहाउद्दीन में होनहार के लक्षण थे। इल्तुतमिश ने उसे चालीस गुलामों के प्रसिद्ध दल का सदस्य बना दिया। अपनी बुद्धि, योग्यता तथा स्वामिभक्ति के कारण उसने उन्नति की और रज़िया के शासन-काल में अमीरे शिकार के पद पर पहुँच गया। रज़िया के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने वाले अमीरों को उसने सहयोग दिया और रानी को अपदस्थ करने में उनकी सहायता की। रज़िया के बाद के सुल्तान बहराम ने उसे पंजाब के गुड़गाँव जिले में रेवाड़ी की जागीर दे दी और शीघ्र ही हाँसी का जिला भी उसमें सम्मिलित कर दिया गया। बलबन के बुद्धिमत्तापूर्ण शासन के कारण जिले की जनता की भौतिक दशा में काफी सुधार हुआ। १२४६ ई. में उसने मंगोलों के विरुद्ध एक सेना भेजी और उन्हें उच्च का घेरा उठाने पर बाध्य किया। सम्भवतः मसूद को अपदस्थ करने तथा नासिरुद्दीन को गद्दी पर बिठाने के लिए वही उत्तरदायी था क्योंकि १२४६ ई. में वह नये सुल्तान का प्रमुख परामर्शदाता नियुक्त हुआ। कुछ वर्षों बाद उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान के साथ करके उससे सम्बन्ध जोड़ लिया। सुल्तान ने उसे उलगखाँ की उपाधि प्रदान की और नाइब-ए-मुमालिक़ात नियुक्त किया। उसके विरुद्ध रायहन के कुचक्रों के विफल हो जाने से उसकी स्थिति और भी अधिक दृढ़ हो गयी और अब वह दिल्ली सल्तनत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हो गया।

नासिरुद्दीन के नाइब के रूप में बलबन ने जो कार्य किये उनका हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं। उसने समस्त राजशक्ति हड़प ली किन्तु उसका उपयोग उसने ताज के हितों के लिए किया। नाइब की हैसियत से उसने शासन-व्यवस्था

में नवीन जीवन फूँक दिया और विकेन्द्रीयकरण की शक्तियों को रोका। अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता तथा राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले हिन्दुओं का उसने सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया और मंगोलों को दिल्ली की ओर बढ़ने से रोका। नाइब की हैसियत से वास्तव में उसने दिल्ली सल्तनत की महान् सेवाएँ कीं।

राज्यारोहण

इब्नबतूता, इमामी आदि परवर्ती लेखकों का मत है कि गद्दी हड़पने की इच्छा से बलबन ने नासिरुद्दीन महमूद को विष देकर मरवा डाला था किन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने इस कहानी को निराधार सिद्ध कर दिया है। यद्यपि राज्य की वास्तविक प्रभुत्व-शक्ति बलबन के हाथों में थी और नासिरुद्दीन के कोई पुत्र नहीं था किन्तु वृद्धावस्था और सिंहासन पर बैठने की महत्वाकांक्षा के कारण, जैसा कि उसके पुत्र बुगराखाँ ने संकेत किया है, उसने नवयुवक सुल्तान को विष देकर मरवा डाला। कुछ भी रहा हो, १२६५ ई. में नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु के बाद बलबन जिसका राजसत्ता पर पहले से ही अधिकार था, ग़ियासुद्दीन बलबन के नाम से सिंहासन पर बैठा।

ताज की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना

बलबन का राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्त

ताज की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करना बलबन के सामने तात्कालिक काम था। दीर्घ राजनीतिक अनुभव ने उसे सिखा दिया था कि तुर्की अमीरों की शक्ति का नाश किये बिना सुल्तान न तो राजशक्ति का ही उपभोग कर सकता है और न अपनी प्रजा का सम्मान-पात्र ही बन सकता है। वह स्वयं अपनी आँखों से देख चुका था कि तुर्की सैनिक अमीरों के कारण सुल्तान की स्थिति गिर कर एक साधारण सामन्त की सी रह गयी थी। इतिहासकार बरनी लिखता है कि नासिरुद्दीन के अन्तिम दिनों में सुल्तान की प्रतिष्ठा पूर्णतया नष्ट हो चुकी थी। प्रजा के हृदय में न उसका भय था, न उसके प्रति श्रद्धा। "सरकार का भय जो सुशासन का आधार और राज्य के यश तथा वैभव का स्रोत है, लोगों के हृदय से जाता रहा था और देश दुर्दशा का शिकार था।" बलबन ने इस दुर्दशा का अन्त तथा ताज की शक्ति और प्रतिष्ठा की वृद्धि करने का संकल्प किया जिससे प्रजा के हृदय में आतंक कायम हो सके। राजत्व के सम्बन्ध में बलबन का सिद्धान्त राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त के सदृश था। अपने पुत्र बुगराखाँ के समक्ष उसने इन शब्दों में अपने सिद्धान्त की व्याख्या की, "राजा का हृदय ईश्वरीय कृपा का विशेष भण्डार होता है, और इस दृष्टि से कोई भी मनुष्य उसकी समानता नहीं कर सकता।"

एक दूसरे अवसर पर उसने राजा के व्यक्तित्व की पवित्रता पर जोर दिया। उसका विश्वास था कि राज-शक्ति स्वभाव से ही निरंकुश है। उसका यह भी विश्वास था कि प्रजा से आज्ञा पालन करवाने तथा राज्य को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि सुल्तान पूर्णरूपेण निरंकुश हो। निरंकुश शासक के रूप में सफलता प्राप्त करने के लिए उसने अपनी निजी प्रतिष्ठा में वृद्धि करने का विशेष प्रयत्न किया। अपने को उसने पौराणिक तुर्की वीर तूरान के अफ्रासीयाब का वंशज बतलाया, जान-बूझकर एकान्त-निवास करने लगा और एक विशेष प्रकार की गम्भीरता उसने धारण करली। सिंहासन पर बैठते ही उसने मद्यपान तथा आमोदप्रिय लोगों का साथ त्याग दिया। उसके व्यवहार में अत्यधिक गम्भीरता आ गयी और सामान्य लोगों से वार्तालाप करना भी उसने बन्द कर दिया। अपने दरबार की रस्मों को उसने ईरानी आदर्श पर ढालने का प्रयत्न किया और दरबार में मध्य एशिया के सल्जूक तथा ख्वारिज़्मी सुल्तानों के ढंग का शिष्टाचार प्रचलित किया। उसने लम्बे तथा भयानक लोगों को अपना अंगरक्षक नियुक्त किया जो सदैव नंगी तथा चमचमाती हुई तलवारें लिये उसके आसपास खड़े रहते थे। दरबार में सुल्तान का अभिवादन करने के लिए उसने सिर्जिदा और पैबोस का नियम जारी किया। दरबारी वैभव की तड़क-भड़क बढ़ाने के लिए उसने प्रति वर्ष ईरानी त्यौहार नौरोज़ का मनाना आरम्भ किया। दरबारियों तथा सरकारी पदाधिकारियों के लिए उसने मद्यपान का निषेध कर दिया, उनके लिए विशेष प्रकार की पोशाक निश्चित की और ऐसे रस्म निर्धारित किये जिनसे तनिक भी विचलित होने की किसी को आज्ञा नहीं थी। दरबार में हँसने तथा मुस्कराने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बलबन स्वयं सार्वजनिक स्थानों में इन नियमों का अत्यन्त कठोरता से पालन करता था। सामान्य लोगों की तो बात ही क्या, नीची कक्षा के अमीरों से भी मिलना और बातचीत करना वह पसन्द नहीं करता था। नीची जाति के लोगों से उसे घृणा थी। दिल्ली के एक व्यापारी ने सुल्तान से मुलाकात करने की आज्ञा माँग कर अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति उसे अर्पित करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु बलबन ने उससे मिलना स्वीकार नहीं किया। अपने ज्येष्ठ पुत्र युवराज मुहम्मद की मृत्यु का समाचार सुनकर भी वह विचलित नहीं हुआ और शासन सम्बन्धी दैनिक कार्य पूर्ववत करता रहा, यद्यपि अपने निवास-कक्ष में जाकर वह बिलख-बिलखकर रोता था। इस प्रकार कठोर नियमों तथा रस्मों द्वारा बलबन ने सिंहासन की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना की। उस युग में दिल्ली सल्तनत ही प्रथम श्रेणी का मुस्लिम राज्य था जो मंगोलों के सत्यानाशी क्रोध के बावजूद अक्षुण्ण बना रहा। इससे बलबन की प्रतिष्ठा में और भी अधिक वृद्धि हुई।

'चालीस' के मण्डल का नाश

बलबन ने अनुभव किया कि सुल्तान की निरंकुशता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा तुर्की अमीर थे, जिनका नेतृत्व 'चालीस' के मण्डल के हाथों में था। प्रमुख तुर्की अमीरों के इस मण्डल ने सुल्तान को अपने हाथों की कठपुतली बना लिया था और सल्तनत की सभी महत्वपूर्ण जागीरें तथा पद आपस में बाँट लिये थे। इस मण्डल का प्रादुर्भाव इल्तुतमिश के समय में हुआ था और इसके सभी सदस्य प्रारम्भ में उस सुल्तान के गुलाम थे। इल्तुतमिश तो अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने तथा 'चालीस' पर नियन्त्रण रखने में सफल रहा, किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त सुल्तानों तथा 'चालीस' के बीच तीव्र संघर्ष चला, जिसमें 'चालीस' की विजय हुई और उसके सदस्यों ने इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों को अपनी इच्छानुसार नाच नचाया। बलबन ने गद्दी को अपने तथा अपने वंशजों के लिए सुरक्षित बनाने के हेतु इस मण्डल को नष्ट करने का संकल्प किया। सर्वप्रथम उसने निम्न कोटि के तुर्कों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया और इस प्रकार उन्हें 'चालीस' के समकक्ष बना दिया। तदुपरान्त उसने उसके सदस्यों का दमन करने तथा प्रजा की दृष्टि में उनका महत्व गिराने के लिए साधारण अपराधों के लिए भी उन्हें कठोर दण्ड दिये। बदायूँ के गवर्नर मलिक बक़बक ने जो एक प्रमुख अमीर तथा 'चालीस' का एक सदस्य था, अपने एक नौकर को इतना पिटवाया कि उसकी मृत्यु हो गयी। जब उसके विरुद्ध बलबन से शिकायत की गयी तो सुल्तान ने आज्ञा दी कि उसे जनता के सामने कोड़ों से पीटा जाय। एक अन्य अमीर हैबातखाँ ने जो अवध का शासक था, शराब के नशे में एक आदमी का वध कर दिया। बलबन ने आज्ञा दी कि हैबातखाँ के ५०० कोड़े लगाये जायँ और तदुपरान्त उसे मृत पुरुष की विधवा के सुपुर्द कर दिया जाय। हैबातखाँ ने २०,००० टंका देकर किसी प्रकार मुक्ति प्राप्त कर ली किन्तु इतना लज्जित हुआ कि मृत्युपर्यन्त अपने घर से बाहर नहीं निकला। अवध के शासक अमीनखाँ को जो बंगाल के शासक तुग़रिल बेग द्वारा पराजित होकर भाग आया था, बलबन ने अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया। कहा जाता है कि बलबन ने अपने चचेरे भाई शेरख़ाँ को जो 'चालीस' का योग्य तथा प्रमुख सदस्य था और भटिण्डा, भटनेर, समाना तथा सुनम का सूबेदार था, विष देकर मरवा डाला था क्योंकि सुल्तान उसकी योग्यता और महत्वाकांक्षा के कारण उससे डाह रखता था। उसकी मृत्यु के बाद कोई ऐसा विरोधी नहीं रह गया जो बलबन की पूर्ण निरंकुशता के मार्ग में काँटा सिद्ध हो सकता। इस प्रकार सुल्तान ने कपटपूर्ण तथा बर्बर तरीकों से 'चालीस' के मण्डल का नाश कर दिया और उसके जो सदस्य मरने तथा पदच्युत होने से बच रहे, उनका उसने कठोरता से दमन कर दिया।

गुप्तचर विभाग का संगठन

बलबन अपनी निरंकुश नीति को कार्यान्वित करने में इसलिए सफल हुआ कि राजधानी तथा प्रान्तों में होने वाली घटनाओं और अमीरों तथा सरकारी पदाधिकारियों की आकांक्षापूर्ण योजनाओं के सम्बन्ध में उसे सही समाचार शीघ्रता से प्राप्त हो जाते थे। बलबन की शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चल सकी इसका मुख्य श्रेय उसके गुप्तचर विभाग को था, जिसके संगठन में उसने अपना अधिक समय तथा धन व्यय किया। उसने प्रत्येक सरकारी विभाग, प्रत्येक प्रान्त और यहाँ तक कि प्रत्येक जिले में गुप्त संवाददाता नियुक्त कर दिये। संवाददाताओं के चरित्र तथा राजभक्ति की वह बड़ी सावधानी से छान-बीन करता था। उसने उन्हें अच्छे वेतन दिये और गवर्नरों तथा सेनानायकों की अधीनता से उन्हें मुक्त रखा। उन्हें प्रतिदिन सुल्तान के पास महत्वपूर्ण घटनाओं का समाचार भेजना पड़ता था। यदि कोई संवाददाता अपने कर्तव्य का उचित रूप से पालन न करता था तो उसे ऐसा दण्ड दिया जाता था जो दूसरों के लिए उदाहरण का काम करे। बदायूँ के संवाददाता को जिसने मलिक बक़बक के सम्बन्ध में सुल्तान को उचित समाचार नहीं भेजा था, नगर के फाटक पर लटका दिया गया था। इस प्रकार सुसंगठित गुप्तचर-व्यवस्था बलबन के निरंकुश शासन का मुख्य आधार बन गयी।

सेना का पुनःसंगठन

बलबन की निरंकुशता का मुख्य आधार-स्तम्भ उसकी शक्तिशाली सेना थी। उसके पुनःसंगठन की ओर उसने यथोचित ध्यान दिया। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय से तुर्की सिपाहियों को सैनिक सेवा के बदले में नगद वेतन नहीं, बल्कि भूमि-कर का कुछ भाग दिया जाता था। उनमें से कुछ को वे प्रदेश जागीर रूप में दे दिये जाते थे जिन्हें जीतकर दिल्ली सल्तनत में नहीं मिलाया जाता था जिससे वे स्वयं उन्हें जीतने का प्रयत्न करें। इल्तुतमिश ने भी सैनिक सेवा के बदले में जागीरें प्रदान करने की पुरानी नीति का ही अनुकरण किया। इन सैनिकों के उत्तराधिकारी भी उन जागीरों का उपभोग करते रहे, यद्यपि उनमें से अनेक ऐसे थे जो सैनिक कर्तव्यों का पालन नहीं करते थे और अनेक ऐसे थे जो कभी-कभी राज्य की सैनिक सेवा करते थे। वे समझते थे कि हमारी भूमि पर तो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। बलबन ने इस प्रकार के जागीरदारों के इतिहास की जाँच करवायी जिससे ज्ञात हुआ कि अधिकतर भूमि वृद्ध पुरुषों के अधिकार में थी जो राज्य की किसी भी रूप में सेवा नहीं करते थे। सुल्तान ने आज्ञा निकाली कि वृद्धों, अनाथों और विधवाओं से भूमि वापस ले ली जाय और उन्हें नगद पेंशनें दे दी जायँ। जो लोग जवान तथा सैनिक सेवा के योग्य थे उनकी जागीरें उनके अधिकार में रहने दी गयीं, किन्तु उनके गाँवों से भूमि-

कर वसूल करने का कार्य केन्द्रीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया और जागीर-दारों को नगद रुपया देने का नियम बना दिया गया। सुल्तान की इन आज्ञाओं के विरुद्ध जागीरदारों ने जोरदार आवाज उठायी। वे दिल्ली के बूढ़े कोतवाल फखरुद्दीन के पास पहुँचे जो बलबन का मित्र था और उससे इस मामले में सुल्तान से सिफारिश करने की प्रार्थना की। कोतवाल के अनुनय-विनय करने पर बलबन ने वृद्ध जागीरदारों के सम्बन्ध में अपनी आज्ञा रद्द कर दी, इसलिए सुल्तान के इस सुधार का अधिक प्रभाव नहीं हुआ। सिपाहियों को भी सैनिक सेवा के बदले में भूमि देने की पुरानी नीति जारी रही। बहुधा सैनिक लोग अपने स्थान पर किराये के सिपाही भेज दिया करते थे जिनके पास अस्त्र-शस्त्रादि भी समुचित नहीं होते थे। यह प्रथा अवश्य बन्द हो गयी।

बलबन ने इमाद-उल-मुल्क को जो अत्यन्त योग्य तथा सजग अफसर था, सेना-मन्त्री (दीवान-ए-आरिफ़) के पद पर नियुक्त किया और सेना का सम्पूर्ण प्रबन्ध उसी को सौंप दिया। उसको वित्त-मन्त्री के नियन्त्रण से भी मुक्त कर दिया गया। इमाद ने सैनिकों की भरती, वेतन तथा साज-सज्जा के सम्बन्ध में विशेष रुचि से काम किया। उसने सैनिक अनुशासन स्थापित किया और अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण तथा ईमानदारी की नीति द्वारा सेना को अत्यन्त बलशाली बना दिया। बलबन ने सैनिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किये किन्तु उसकी जागरूकता तथा कठोरता और सेना-मन्त्री के ब्यौरे की चीजों के प्रति अत्यधिक ध्यान के कारण सेना की योग्यता तथा मनोबल में बहुत उन्नति हुई। सल्तनत की शक्ति वास्तव में उसी पर निर्भर थी।

विद्रोहों का दमन

मध्यकालीन भारत के इतिहास के विद्यार्थी बहुधा इस महत्वपूर्ण तथ्य को भूल जाते हैं कि कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर कैकुबाद की मृत्यु तक सम्पूर्ण तथा-कथित गुलाम शासन-काल में तुर्की सुल्तान इस देश में नये प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य में नहीं मिला सके और उनका समय और शक्ति उन इलाकों की पुनर्विजय में ही व्यय हो गयी जिन्हें मुहम्मद गोरी ने जीता था, किन्तु जो उसके उत्तराधिकारियों के हाथ से निकल गये थे। जब बलबन गद्दी पर बैठा तो उसके सम्मुख भी वही पुराना प्रश्न उपस्थित हुआ कि हिन्दू राजाओं से नये प्रदेशों को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिलाया जाय अथवा नहीं। उसके कुछ मित्रों ने उसे विजय-नीति का अनुसरण करने की ही सलाह दी, किन्तु सुल्तान यथार्थवादी था, इसलिए उसने अनुभव किया कि ऐसा करने से भयंकर संकट के उपस्थित होने की आशंका है, मंगोलों के लिए दिल्ली पर आक्रमण का मार्ग खुल जायगा और आन्तरिक अव्यवस्था की शक्तियाँ उठ खड़ी होंगी। इसलिए उसने नवीन देशों को न जीतने का निर्णय किया। उसने पुरानों को

ही पुर्नविजय करना तथा दिल्ली सल्तनत के अधिकार में जो कुछ था उसको सुसंगठित करना ही अधिक उचित समझा ।

यह कार्य भी दुःसाध्य था । हिन्दुस्तान के अधिकतर भागों में हमारे देशवासियों ने तुर्की सत्ता का जुआ उतार फेंका और तुर्की शासकों तथा सैनिकों को अपने यहाँ से खदेड़ दिया । उन्होंने तुर्की प्रदेशों को लूटना तथा नष्ट-भ्रष्ट करना आरम्भ किया जिससे न तो खेती हो सके और न तुर्क पदाधिकारी लगान ही वसूल कर सकें । दोआब तथा अवध में निरन्तर विद्रोह होता रहा। कतेहर (आधुनिक रुहेलखण्ड) में सुल्तान के सैनिक तनिक भी भूमि-कर नहीं वसूल कर पाते थे । राजपूतों की लूटमार के कारण यातायात के मार्ग सुरक्षित नहीं रहे थे । बदायूँ, अमरोहा, पटियाली तथा कम्पिल में विद्रोही राजपूतों के गढ़ थे, जहाँ से निकलकर वे तुर्कों पर अत्याचार करते, किसानों को कृषि करने से रोकते, यात्रियों को लूटते तथा फिर अपने स्थानों को लौट जाते । दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश में डाकुओं की भरमार थी । वे दिल्ली की जनता को लगभग प्रतिदिन लूटते थे । उनके भय के कारण मध्याह्न की नमाज़ के उपरान्त नगर के फाटक बन्द कर दिये जाते थे । बंगाल, बिहार, राजस्थान आदि दूरवर्ती प्रदेशों में इससे भी अधिक खराब दशा थी । उस युग के हमारे देशभक्त नेताओं ने लूट तथा नाश की नीति का अनुसरण किया जिससे तुर्कों को देश में अपनी सत्ता सुदृढ़ तथा सुसंगठित करने का अवसर न मिल सके । किन्तु दुर्भाग्य से प्रथम श्रेणी के नेतृत्व के अभाव के कारण वे संयुक्त होकर पर्याप्त सैनिक शक्ति न संचित कर सके जिससे वे तुर्कों को देश से मार भगाने में सफल हो सकते ।

विद्रोहों का दमन करने का कार्य अत्यन्त दुःसाध्य था, फिर भी बलबन ने अपना संकल्प नहीं त्यागा । अपने राज्यारोहण के प्रथम वर्ष में ही उसने विद्रोहियों तथा डाकुओं का दमन करके दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश को सुरक्षित बना दिया। उसने उनको कठोर दण्ड दिये, बनों को साफ करवाया और दिल्ली के समीप ग्रामीण क्षेत्रों में चार दुर्गों का निर्माण कराया तथा उसमें दुर्धर्ष अफ़ग़ान सैनिक नियुक्त किये । दूसरे वर्ष उसने दोआब तथा अवध में सैनिक कार्यवाही आरम्भ की । समस्त प्रदेश को उसने अनेक सैनिक क्षेत्रों में विभक्त किया और जंगलों को साफ करने तथा स्वाधीनता-प्रेमी हिन्दू डाकुओं तथा सामन्तों के गिरोहों के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाने के लिए कर्मठ तथा योग्य पदाधिकारी नियुक्त किये । भोजपुर, पटियाली, कम्पिल तथा जलाली में उसने सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं और उनमें अर्ध-बर्बर अफ़ग़ान सैनिक रखे । तदुपरान्त बलबन ने कतेहर की ओर कूच किया । वहाँ उसने अपने सैनिकों को गाँवों पर आक्रमण करने, मकानों को जलाने तथा सम्पूर्ण पुरुष-जनता को

कत्ल करने की आज्ञा दी। निर्दोष स्त्रियों तथा बच्चों को तुर्क दास बनाकर ले गये। इन बर्बर तरीकों से सुल्तान ने लोगों के हृदय में आतंक कायम किया और समस्त प्रदेश को ऊजड़ कर दिया। प्रत्येक जंगल तथा गाँव में मनुष्यों की लाशों को सड़ता हुआ छोड़ दिया गया। थोड़े-बहुत लोग जो यत्र-तत्र छिपे रहे वे भी भय के कारण पूर्णतया दब गये। इतिहासकार बरनी लिखता है कि इसके उपरान्त फिर कभी कतेहर-निवासियों ने सिर नहीं उठाया और वह प्रदेश यात्रियों किसानों तथा सरकारी पदाधिकारियों के लिए पूर्णतया सुरक्षित हो गया।

राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड में भी विद्रोहों का दमन करने के लिए सेनाएँ भेजी गयीं किन्तु उन प्रदेशों में उन्हें केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हो सकी।

बंगाल की पुनर्विजय

बंगाल ने पूर्व-सुल्तानों की भाँति बलबन को भी अत्यधिक कष्ट दिया। उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर मंगोलों के सम्भावित आक्रमण तथा सुल्तान की वृद्धावस्था से प्रोत्साहित होकर बंगाल के सूबेदार तुगरिलखाँ ने जिसने बलबन के शासन के प्रथम वर्ष में दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था, १२७९ ई. में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। उसने सुल्तान की उपाधि धारण की, अपने नाम के सिक्के जारी किये तथा खुतबा पढ़वाया। विद्रोहों का दमन करने के लिए बलबन ने अवध के शासक अमीनखाँ को भेजा। किन्तु अमीनखाँ की पराजय हुई। इस पर बलबन को इतना क्रोध आया कि उसने उसको अवध के फाटक पर लटकवा दिया। इसके उपरान्त तिर्मिती के नेतृत्व में सुल्तान ने दूसरी सेना भेजी। उसकी भी वही दशा हुई जो उसके पूर्वाधिकारी अमीनखाँ की हुई थी। एक तीसरी सेना भी इसी प्रकार पराजित होकर लौट आयी। अब बलबन का धीरज जाता रहा और उसने स्वयं बंगाल के लिए कूच करने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। दो लाख फौज तथा अपने द्वितीय पुत्र बुग़राखाँ को साथ लेकर वह लखनौती के निकट जा पहुँचा। तुगरिलखाँ राजधानी छोड़कर पूरबी बंगाल की ओर भागा। बलबन ने विद्रोही का पीछा किया और ढाका के समीप सुनारगाँव पहुँच गया। ढाका से आगे बहुत दूर पर तुगरिलखाँ बकतार द्वारा पकड़ा गया और पूरबी बंगाल के हाजीनगर में उसका वध कर दिया गया। अब सुल्तान लौटकर लखनौती आया और वहाँ तुगरिल के अनुयायियों को उसने कठोर दण्ड दिये। इतिहासकार बरनी लिखता है कि "मुख्य बाजार के दोनों ओर एक-दो मील लम्बी सड़क पर एक खूँटों की पाँति गाड़ी गयी और उन पर तुगरिल के साथियों के शरीर को ठोका गया। देखने वालों ने ऐसा भयंकर दृश्य कभी नहीं देखा था और बहुत-से लोग तो आतंक तथा घृणा से मूर्छित हो गये।" इस प्रकार अपनी प्रतिशोध की प्यास को तृप्त

करके बलबन ने बुग़राखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे दिल्ली के प्रति वफादार रहने की सलाह दी। उसने अपने पुत्र से कहा, "मैं जो कहता हूँ उसे समझो और इस बात को मत भूलो कि यदि हिन्द, सिन्ध, मालवा, गुजरात, लखनौती अथवा सुनारगाँव के सूबेदार विद्रोही होकर दिल्ली के विरुद्ध तलवार उठायेंगे तो उन्हें, उनकी स्त्रियों, पुत्रों और अनुयायियों को भी वही दण्ड मिलेगा जो तुगरिल तथा उसके साथियों को मिला है।" अन्त में जब उसे विश्वास हो गया कि बंगाल में विद्रोह नहीं होगा तब वह दिल्ली लौट गया। इसके उपरान्त दिल्ली की सेना के भगोड़ों को भी जो तुगरिल से जाकर मिल गये थे किन्तु जो अब बन्दी बना लिये गये थे, सुल्तान ने तुगरिल के साथियों की भाँति ही दण्ड देने का संकल्प किया। किन्तु एक काज़ी के अनुनय-विनय करने पर उसने अपनी योजना में कुछ परिवर्तन कर दिया। अपराधियों में जो साधारण कोटि के लोग थे उन्हें क्षमा कर दिया गया, उनसे जो ऊँची कक्षा के थे उन्हें अल्प-काल के लिए दण्ड दिया गया और जो उनसे भी अधिक उच्च श्रेणी के थे उन्हें कारागार में डाल दिया गया। किन्तु उनमें जो अफसर थे उन्हें भैंसों पर बिठाकर दिल्ली की सड़कों पर घुमाया गया।

मंगोल-आक्रमण

हम पहले लिख आये हैं कि सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर मंगोलों के आक्रमण का सदैव भय बना रहता था और इसीलिए बलबन विजय के हेतु आक्रमणकारी नीति का अनुसरण नहीं कर सका था। मंगोल लोग उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर आ धमके और लाहौर पर उन्होंने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। उस दिशा में केवल सिन्ध और मुल्तान दिल्ली के अधीनस्थ शासकों के अधिकार में रह गये थे और उन प्रान्तों पर भी उत्तर-पश्चिम से आक्रमण का भय बना रहता था। सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए बलबन ने एक दुर्ग-श्रृंखला का निर्माण कराया और बलिष्ठ अफ़ग़ान सैनिक उसकी रक्षा के लिए नियुक्त किये। उस समस्त प्रदेश को उसने अपने चचेरे भाई शेरखाँ के सुपुर्द किया। शेरखाँ पराक्रमी योद्धा था। उसकी निर्भीकता ने मंगोलों के हृदय में आतंक स्थापित कर दिया और खोक्खर जैसी उद्दण्ड जातियाँ भी उससे अत्यन्त भयभीत हो गयीं। १२७० ई. के लगभग उसकी मृत्यु से एक योग्य सीमा-रक्षक उठ गया। अब बलबन ने सम्पूर्ण सीमान्त प्रदेश को दो भागों में विभक्त किया। सुनम तथा समाना के प्रान्त को उसने अपने छोटे पुत्र बुग़राखाँ तथा मुल्तान, सिन्ध और लाहौर को ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मदखाँ को सौंप दिया। शाहज़ादा मुहम्मद योग्य सैनिक तथा कुशल शासक था। साहित्य में उसकी विशेष रुचि थी। भारत के दो महानतम

फारसी कवि अमीर खुसरव तथा अमीर हसन ने अपना साहित्यिक जीवन उसी के दरबार में प्रारम्भ किया। उसने उस युग के महानतम फारसी कवि शेख सादी को भी अपने दरबार में आमन्त्रित किया, किन्तु वृद्धावस्था के कारण कवि ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक इस सम्मान को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। मुहम्मद ने मंगोलों की प्रगति को रोकने के लिए ठोस कार्य किये, फिर भी उन्होंने उत्तरी पंजाब को लूटा और सतलज को पार कर लिया। मुहम्मद तथा बुग़राखाँ ने अपनी संयुक्त सेनाएँ भेजीं जिन्होने आक्रमणकारियों को पराजित किया और मार भगाया। किन्तु १२८६ ई. में मंगोल पुनः भारत में आ धमके और इस बार उन्होंने युद्ध में मुहम्मद को मार डाला। उस समय बलबन की अवस्था ८० वर्ष से अधिक हो चुकी थी। ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु के समाचार ने उसे पूर्णतया भूमिसात कर दिया तथापि वृद्ध सुल्तान उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा के कार्य की ओर ध्यान देता रहा। उसने लाहौर पर पुनः अधिकार कर लिया किन्तु मंगोलों के विरुद्ध उसे इससे अधिक सफलता नहीं मिली और दिल्ली की सत्ता लाहौर के उस पार न बढ़ सकी। रावी के पश्चिम का प्रदेश भी मंगोलों के ही अधिकार में बना रहा।

बलबन की मृत्यु

शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु का हम उल्लेख कर चुके हैं। बलबन के वंश की सम्पूर्ण आशाएँ उसी पर केन्द्रित थीं। उत्तराधिकार के लिए उसका पहले ही नाम निर्देशित कर दिया गया था। उसकी मृत्यु ने बलबन पर घातक प्रहार किया परन्तु यह समाचार सुनकर भी बलबन अविचलित रूप से राजकीय कर्तव्यों का पालन करता रहा, यद्यपि रात्रि के समय अपने निवास-कक्ष में वह बिलख-बिलखकर रोया करता था। वास्तव में इस वज्राघात से वह कभी सँभल न सका। अपना अन्त निकट समझकर उसने द्वितीय पुत्र बुग़राखाँ को बुलाया और रुग्णावस्था में अपने साथ रहने को कहा। किन्तु बुग़राखाँ उत्तर-दायित्वहीन व्यक्ति था और पिता के कठोर स्वभाव से डरता था। इसलिए वह चुपके से लखनौती को खिसक गया। तब बलबन ने मुहम्मद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी चुना जिसके उपरान्त कुछ ही दिनों के भीतर उसका देहान्त हो गया (लगभग १२८७ ई. के मध्य में)।

बलबन का मूल्यांकन

लगभग चालीस वर्ष तक दिल्ली सल्तनत की बागडोर बलबन के हाथों में रही। पहले सुल्तान के नाइब और फिर सुल्तान के रूप में उसने राज-काज चलाया। इस सम्पूर्ण युग में उसका एक ही मुख्य उद्देश्य था—हिन्दुस्तान में नव-स्थापित तुर्की सल्तनत को सुसंगठित करना। इसमें सन्देह नहीं कि इस

INDIA IN 1287 A.D.
Bahauddin Balban.
TRANS-OXIANA
CHINA
KASHMIR
TIBET
MONGOLS
PERSIA
TIRHUT
KAMARUPA
KATEHAR
MEWAT
CHANDELAS
CHALUKYAS
YADAVAS
KAKATIYAS
KALINGA
HOYASALAS
PANDYAS
CEYLON
BURMA
ARABIAN SEA
BAY OF BANGAL
ANDAMAN IS.
Boundary of the Empire.
Territory Inherited.
Miles.
Copyright DHARMA BHANU.
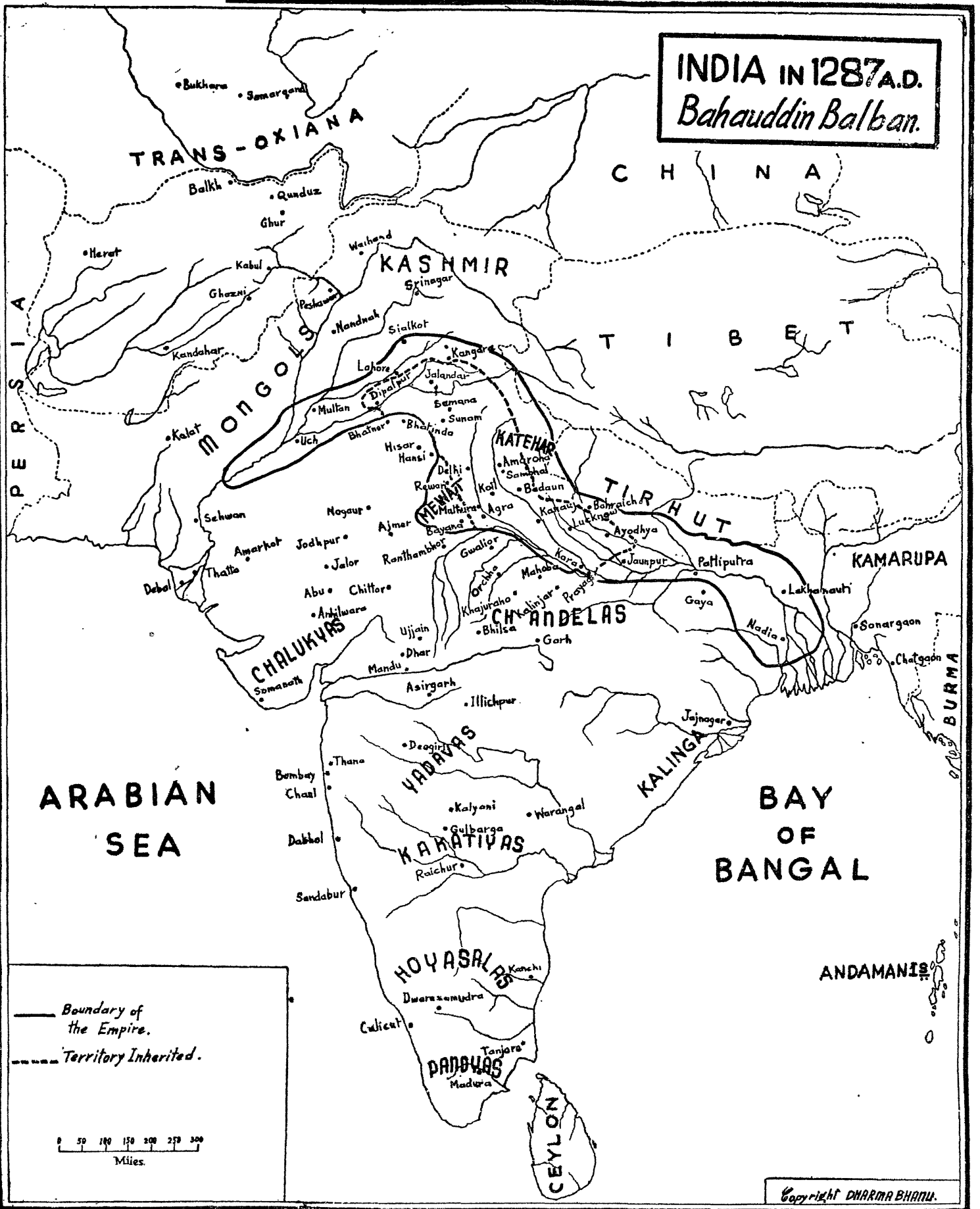
कार्य में उसे महान् सफलता प्राप्त हुई। उसने आन्तरिक शान्ति की पुनः स्थापना की और सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करके उसको मंगोलों के आक्रमणों से बचाया। उसने पड़ोसी हिन्दू शासकों की भूमि को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। इसलिए नहीं कि वह उनकी स्वाधीनता अपहरण करना अनुचित समझता था बल्कि इसलिए कि उसे विश्वास था—और उसका यह विश्वास ठीक ही था—कि नये प्रदेशों को जीतने के हेतु आक्रमणकारी युद्ध चलाने से सुव्यवस्था नष्ट हो जायगी और इस देश में तुर्कों के सीमित साधनों तथा जनसंख्या पर आवश्यकता से अधिक बोझ पड़ेगा। बलबन के पूर्वाधिकारियों के शासन-काल में ताज की प्रतिष्ठा गिर चुकी थी, उसका उसने पुनरुत्थान किया। उसने बड़े-बड़े तुर्क सामन्तों की शक्ति को कुचलकर इस देश में तुर्की शासन को एक नया रूप दिया। निस्सन्देह वह योग्य तथा कठोर शासक और सफल सुल्तान था।

उसने निर्दयता से तथा सर्वत्र आतंक स्थापित करके अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त की। अपने शत्रुओं को उसने जो दण्ड दिये वे आवश्यकता से अधिक कठोर, निर्दयतापूर्ण और यहाँ तक कि बर्बर थे किन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसके पीछे उसका मन्तव्य अपने हार्दिक उद्देश्यों को प्राप्त करना था। बलबन पक्का सुन्नी मुसलमान था। इस्लाम द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का वह बड़ी सावधानी से पालन करता था।

सच्चरित्र मुस्लिम धर्माधीशों के सत्संग में उसकी अधिक रुचि थी। कहा जाता है कि वह सदैव उन्हीं के साथ भोजन करता और उनसे मुस्लिम क़ानून तथा धर्म पर वार्तालाप किया करता था। वह धर्मान्ध था तथा अपनी बहु-संख्यक प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण था। मानवोचित सहानुभूति का उसमें पूर्ण अभाव था, इसीलिए अवस्था, पद अथवा लिंग के लिए उसके हृदय में सम्मान नहीं था। बलबन विद्या तथा शिक्षा का पोषक था। उसने मध्य एशिया के अनेक राजकुमारों तथा विद्वानों को अपने यहाँ शरण दी। ये लोग मंगोलों के चंगुल से बचने के लिए अपने देश से भागकर आये थे। सुल्तान ने उनके निर्वाह के लिए समुचित भत्तों तथा राजधानी में प्रथक निवास-गृहों का प्रबन्ध किया। बलबन का दरबार इस्लामी विद्या तथा संस्कृति का केन्द्र था। उसे स्थापत्य से विशेष प्रेम था। दिल्ली के पूर्व-सुल्तानों की भाँति उसमें भी रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था। उसमें व्यवस्था कायम करने की शक्ति थी, नई चीजों का आविष्कार करने की नहीं। उसने नई शासन सम्बन्धी अथवा सैनिक संस्थाओं को जन्म नहीं दिया, किन्तु उसकी निरन्तर जागरूकता तथा दत्तचित्तता के कारण पुरानी संस्थाओं ने अधिक सुचारु रूप से कार्य किया। उसका राजस्व सम्बन्धी सिद्धान्त राजाओं

के दैवी अधिकार के सिद्धान्त से मिलता-जुलता था और विशुद्ध निरंकुशवाद उसकी नीति का आधार-स्तम्भ था। तुर्की नस्ल की श्रेष्ठता में उसका विश्वास था। गैर-तुर्कों को शासन में स्थान देना उसे पसन्द न था और भारतीय मुसलमानों को राजकीय पदों पर नियुक्त करने के वह सर्वथा विरुद्ध था। एक अफसर ने अमरोहा जिले के कार्यालय में एक भारतीय मुसलमान को क्लर्क के पद पर नियुक्त कर दिया था, इसके लिए बलबन ने उसे बहुत डाटा-फटकारा। साधारण लोगों को वह घृणा की दृष्टि से देखता था और निम्न-कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों से बात करना भी वह अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझता था। अपने स्वभाव, शिक्षा तथा विश्वास सभी की दृष्टि से वह साधारण लोगों के दृष्टिकोण को समझने तथा उनके प्रति सहानुभूति दिखाने के अयोग्य था।

बलबन ने तुर्की सल्तनत की रक्षा का सुप्रबन्ध किया और उसे नया जीवन प्रदान किया, यही उसका सबसे महान् कार्य था। उसने ताज की प्रतिष्ठा का पुनरुत्थान किया, यह उसकी दूसरी सफलता थी। राज्य में सर्वत्र पूर्ण शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना उसका अन्य महत्वपूर्ण कार्य था। उस युग में तुर्की सल्तनत को जिन कठिनाइयों और संकटों का सामना करना पड़ा उनको देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि बलबन की उपर्युक्त सफलताएँ साधारण कोटि की न थीं। तथाकथित गुलाम सुल्तानों में इल्तुतमिश के बाद उसका दूसरा स्थान है।

कैकुबाद (१२८७-१२९० ई.)

बलबन ने अपनी मृत्यु से पहले कैखुसरव को उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, किन्तु उसके अमीरों ने जिनका नेता दिल्ली का कोतवाल फख़रुद्दीन था, उसे हटाकर बुग़राखाँ के पुत्र कैकुबाद को सिंहासन पर बिठाया।

राज्यारोहण के समय कैकुबाद की अवस्था केवल सत्रह वर्ष की थी। उसका पालन-पोषण उसके दादा बलबन के संरक्षण में हुआ था जो आचार-विचार के सम्बन्ध में अत्यन्त कट्टर था। उसे न किसी सुन्दरी का मुख देखने दिया गया था और न शराब का स्वाद ही लेने की आज्ञा दी गयी थी। अब वह सब प्रतिबन्धों से मुक्त हो गया और एक विशाल राज्य का स्वामी बन गया, इसलिए उसकी दबी हुई वासनाएँ उमड़ पड़ीं और वह शराब, स्त्री-प्रसंग तथा तड़क-भड़क के जीवन में लिप्त हो गया। उसके दरबारियों ने भी उसका अनुसरण किया क्योंकि पूर्व-सुल्तान द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों से वे ऊब गये थे। ऐसे जवान, अनुभवहीन तथा आमोद-प्रिय सुल्तान के लिए शासन-व्यवस्था की उपेक्षा करना स्वाभाविक ही था। राज्य की शक्ति दिल्ली के कोतवाल के दामाद निजामुद्दीन नामक एक चरित्रहीन कुचक्री के हाथों में चली गयी। कैकुबाद उसके हाथों की कठपुतली बन गया। इस परिवर्तन का लाभ

उठाकर मंगोलों ने अपने नेता तैमूरखाँ के नेतृत्व में पंजाब पर आक्रमण किया और समाना तक बढ़ आये। भाग्य से मलिक बक़बक ने उन्हें लाहौर के निकट पराजित किया और उनमें से लगभग एक हजार को बन्दी बनाकर दिल्ली ले आया जहाँ उनका कत्ल कर दिया गया। राज्य के भीतर महत्वाकांक्षी व्यक्तियों ने कानून तथा व्यवस्था की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया और निजामुद्दीन ने स्वयं गद्दी प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने सभी योग्य प्रतिद्वन्द्वियों को अपने मार्ग से हटाने का प्रयत्न किया।

कैकुबाद का पिता बुग़राखाँ बलबन के समय से ही बंगाल की सूबेदारी करता आया था। जब उसने दिल्ली के ये समाचार सुने तो एक शक्तिशाली सेना लेकर वह राजधानी की ओर चल पड़ा। कहा जाता है कि अपने दुर्बल पुत्र के हाथों से गद्दी छीन लेना उसका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु एक अन्य लेखक का कहना है कि वह कैकुबाद को उचित सलाह देना चाहता था जिससे वह आमोद-प्रिय जीवन त्यागकर राजकाज की ओर ध्यान देने लगे। उसका उद्देश्य कुछ भी रहा हो, १२८८ ई. में वह अयोध्या के निकट घाघरा के किनारे आ डटा। कैकुबाद ने भी एक उतनी ही बड़ी सेना लेकर उसके विरुद्ध कूच किया। निजामुद्दीन ने पिता और पुत्र को मिलने से रोकने का भरसक प्रयत्न किया और कैकुबाद को उसने युद्ध के लिए भड़काया। किन्तु बलबन के समय के कुछ स्वामिभक्त सेवकों के प्रभाव के कारण अन्त में पिता-पुत्र में समझौता हो गया। यह निश्चय हुआ कि बुग़राखाँ दिल्ली सुल्तान का जो बंगाल के शासक का प्रभु था, अभिवादन करेगा। बुग़राखाँ कैकुबाद का अभिवादन करने के लिए राजी हो गया। जब यह रस्म समाप्त हो गयी तो कैकुबाद का हृदय द्रवित हो गया। वह अपने पिता के चरणों पर गिर पड़ा और उसे ले जाकर उसने गद्दी पर बिठाया। कुछ दिन वे साथ-साथ रहे। विदाई के समय बुग़राखाँ ने अपने पुत्र को अपना ढंग बदलने तथा निजामुद्दीन जैसे सलाहकार से पिण्ड छुड़ाने की सलाह दी। इस भेंट के उपरान्त वे अपने-अपने स्थानों को लौट गये। कैकुबाद ने थोड़े ही समय के लिए पिता की सलाह के अनुसार कार्य किया। कुछ दिनों के लिए उसने भोग-विलास से मुख मोड़ लिया और निजामुद्दीन को विष देकर मरवा डाला। तदुपरान्त वह पुनः पूर्ववत् प्रमाद तथा इन्द्रिय-सुखों में लिप्त हो गया। निजामुद्दीन की मृत्यु के बाद जलालुद्दीन फीरोज़ नामक एक ख़लजी अमीर को सुल्तान ने बुलन्दशहर की जागीर प्रदान की और अपनी सेना का सेनापति नियुक्त किया। इस नियुक्ति के कारण दरबारियों में फूट पड़ गयी।

तुर्की अमीर जो ख़लजियों को गैर-तुर्क समझते थे, जलालुद्दीन के शत्रु थे। इसके कुछ ही समय बाद कैकुबाद को लकवा मार गया। इसलिए तुर्की अमीरों

ने उसके पुत्र को जो अभी शिशु ही था, शम्सुद्दीन कयूमर्स के नाम से सिंहासन पर बिठा दिया। उन्होंने तुर्कों को संगठित करके जलालुद्दीन का वध करने का प्रयत्न किया। किन्तु जलालुद्दीन पहले से सावधान था, इसलिए उसने उनकी योजना पूरी होने से पूर्व ही दिल्ली पर अधिकार कर लिया। कैकुबाद का वध करवाकर वह स्वयं नये सुल्तान का संरक्षक बन बैठा। यह प्रबन्ध अस्थायी था और चल नहीं सकता था अतः जलालुद्दीन ने कयूमर्स का वध करवा दिया और स्वयं मार्च, १२९० ई. में सिंहासन पर बैठ गया। इस प्रकार तथाकथित गुलाम-वंश का अन्त हो गया।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. Barani, Jia-ud-din : Tarikh-i-Firozshahi.
2. Siraj, Minhaj-ud-din : Tabqat-i-Nasiri.
3. Ojha, G. H. : History of Rajputana. (*Hindi ed.*)
4. Habibullah : Foundations of Muslim Rule in India.
5. Elliot & Dowson : History of India, etc., Vols. II & III.

अध्याय १२

तथाकथित गुलाम सुल्तानों की शासन-व्यवस्था

राज्य-विस्तार

सामान्यतया लोग नहीं जानते हैं कि हिन्दुस्तान में मुहम्मद गोरी द्वारा स्थापित राज्य का विस्तार उसके उत्तराधिकारी गुलाम सुल्तानों के शासन-काल में उतना ही बना रहा। यदि कोई परिवर्तन हुआ भी तो उसके फलस्वरूप वह सिकुड़ ही गया, उसमें वृद्धि नहीं हुई। मुहम्मद गोरी तथा सुल्तान होने से पहले कुतुबुद्दीन ऐबक ने जितनी भूमि जीत ली थी उसमें तथाकथित गुलाम सुल्तानों में से कोई भी उल्लेखनीय वृद्धि नहीं कर सका। सल्तनत के अन्तर्गत बसने वाले हिन्दू-शासकों ने बारम्बार इस युग में तुर्की प्रभुत्व का जुआ उतार फेंकने का प्रयत्न किया। मिनहाजुद्दीन सिराज द्वारा रचित 'तबकाते-नासिरी' का सरसरी दृष्टि से निरीक्षण करने से ही ज्ञात होता है कि सुल्तानों को प्रति वर्ष विद्रोही हिन्दुओं तथा विरोधी किसानों का दमन करने के लिए सैनिक यात्राएँ करनी पड़ती थीं। लगभग प्रत्येक सुल्तान को एक ही भू-प्रदेश अनेक बार जीतना पड़ता था। इन परिस्थितियों में गुलाम सुल्तानों के सामने समस्या यह थी कि अपने पूर्वाधिकारियों से प्राप्त राज्य की रक्षा कैसे की जाय, आक्रमणकारी युद्धों द्वारा नये प्रदेश जीतने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। प्रत्येक शासन-काल में सल्तनत की सीमाएँ घटती-बढ़ती रहती थीं। सामान्यतया उसकी सीमाएँ उत्तर में हिमालय की तराई तक पहुँचती थीं और दक्षिण में एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा बंगाल से सिन्ध तक जाती थी जिसके अन्तर्गत उत्तरी बंगाल, उत्तरी बिहार, बुन्देलखण्ड का कुछ भाग, ग्वालियर, रणथम्भौर, अजमेर तथा नागपुर आ जाते थे और जो जैसलमेर के उत्तरी भाग में होती हुई आगे चलकर सिन्ध को गुजरात से अलग करती थी। पूरब में ढाका के पश्चिम तक आधा बंगाल दिल्ली सल्तनत का अंग था। उत्तर-पश्चिमी सीमा साधारणतया झेलम तक पहुँचती थी किन्तु कभी-कभी सिकुड़कर व्यास तक ही रह जाती थी। बहुधा लाहौर, सिन्ध और मुल्तान सल्तनत के अन्तर्गत बने रहे। नमक की [illegible], जम्मू तथा काश्मीर और पंजाब के उत्तर-पूरबी तथा उत्तर-पश्चिमी कोने दिल्ली-राज्य की सीमाओं के बाहर थे। इन सीमाओं के भीतर भी अनेक स्वतन्त्र हिन्दू सामन्त राज्य करते थे, मुख्यतया हिमालय की

तराई, दोग्राब के उत्तरी भाग राजस्थान तथा बुन्देलखण्ड में। इन्हें दिल्ली सुल्तान कभी पूर्णतया विजय नहीं कर पाये थे। इसीलिए अपने राज्य की सीमाओं के भीतर भी गुलाम सुल्तान निरंकुश सत्ता का उपभोग नहीं कर पाते थे।

राज्य का रूप

अन्य सभी इस्लामी राज्यों की भाँति भारत में तुर्की सल्तनत भी साम्प्रदायिक आधार पर टिकी हुई थी। कुरान तथा मुस्लिम शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित इस्लामी नियम उसके मुख्य आधार थे। कुरान के नियम धार्मिक थे और शरा कहलाते थे। इस्लाम राज-धर्म था और सिद्धान्त की दृष्टि से राज्य के सभी साधन उसके प्रचार के लिए उपलब्ध थे। किन्तु व्यवहार में इन सिद्धान्तों में अनेक रूपभेद होगये थे। भारत जैसे देश में ये रूपभेद अवश्यम्भावी थे क्योंकि यहाँ की बहुसंख्यक जनता गैर-मुस्लिम थी और यहाँ की राजनीतिक परिस्थितियाँ भी उससे बहुत भिन्न थीं जिसकी कल्पना मुस्लिम शास्त्रकारों ने की थी।

शुद्ध इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार मुस्लिम राज्य का वास्तविक राजा ईश्वर माना जाता है। सांसारिक राजा तो उसका प्रतिनिधि मात्र है और कुरान द्वारा जो उसकी इच्छा प्रकट होती है उसको वह कार्यान्वित करता है। राज्य की प्रमुख शक्ति उस व्यक्ति के हाथ में रहती थी जिसको मिल्लत अथवा देश की समस्त मुस्लिम जनता निर्वाचित करती थी। किन्तु इस सिद्धान्त को अरब में भी सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। भारत में तो वह एक ढकोसला-मात्र रह गया। प्रारम्भ में जो तुर्क हमारे देश में आये उनमें उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था और न कोई ऐसी सर्वमान्य प्रणाली थी जिसके अनुसार विवादग्रस्त उत्तराधिकार के प्रश्न को हल किया जा सकता। १३वीं शताब्दी में सामान्यतया यह नियम था कि नया सुल्तान स्वर्गीय सुल्तान के परिवार के बचे हुए सदस्यों में से चुना जाता था। वंश, योग्यता, स्वर्गीय सुल्तान की इच्छा तथा अमीरों का समर्थन—चुनाव में मुख्यतया यही तत्व निर्णायक सिद्ध होते थे। किन्तु वास्तव में शक्तिशाली अमीरों की इच्छा पर ही चुनाव निर्भर रहता था। स्मरण रखने की बात यह है कि चोटी के अमीर सदैव राज्य के हितों का नहीं अपितु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का ध्यान रखते थे।

दिल्ली सल्तनत सैनिक राज्य था और जनता की इच्छा पर नहीं बल्कि शक्ति पर आधारित था। उसकी समस्त भूमि पर शक्तिशाली तुर्की सैनिकों का अधिकार था। देश के भीतर सामरिक महत्व के स्थानों पर रक्षा-सेनाएँ नियुक्त कर दी गयी थीं। सीमाओं पर अनेक किलों का निर्माण किया गया

था और उनमें तुर्की सैनिक रखे जाते थे । ये किले सैनिक चौकियों का काम करते थे । विदेशी होने के कारण सरकार के केवल दो ही कार्य थे—लगान वसूल करना तथा शान्ति और व्यवस्था कायम रखना । जनता के हितों से उसे कोई प्रयोजन न था ।

प्रारम्भ में भारत की तुर्की सल्तनत में मुसलमान और विशेषकर तुर्क मुसंलमान ही नागरिक माने जाते थे । राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू जनता को नागरिकता के अधिकार नहीं प्राप्त थे । गैर-मुसलमान जिम्मी कहलाते थे । जब तुर्कों ने हमारे देश को जीता तो अन्य मुस्लिम विजेताओं की भाँति उन्होंने भी हमारी जनता से तीन चीजों में से एक को चुनने को कहा—इस्लाम अंगीकार करना अथवा मृत्यु अथवा जज़िया देकर दलित प्रजा की भाँति जीवन बिताना । विजित जनता में से बहुसंख्यक लोगों ने जज़िया देना स्वीकार कर लिया, इसलिए उन्हें जीवित रहने की आज्ञा मिल गयी । जिम्मियों पर अनेक निर्योग्यताएँ लगायी गयीं । राज्य की नौकरियों, नागरिक अधिकारों, न्याय तथा कर के सम्बन्ध में उनके साथ मुसलमानों के सदृश्य व्यवहार नहीं किया गया । उलेमा जो इस्लामी कानून के संरक्षक माने जाते थे, विजित लोगों के कट्टर शत्रु थे । वे हिन्दुओं को पूर्णरूपेण मुसलमानों का टहलुआ बनाकर रखना चाहते थे । जो सुल्तान विशेष रूप से उलेमा के चंगुल में होते थे वे अपनी प्रजा पर धार्मिक अत्याचार करते तथा मूर्ति-पूजा का नाश करने के लिए लगन के साथ प्रयत्न करते थे । किन्तु साधारण समय में यह अपवाद था, नियम नहीं । यद्यपि ऐसा नहीं प्रतीत होता कि कभी सरकार की ओर से हिन्दुओं का पूर्णरूपेण मूलोच्छेदन करने का प्रयत्न किया गया हो, तथापि देश की बहुसंख्यक जनता तुर्कों के विदेशी शासन में सुखी नहीं थी । डा. आई. एच. कुरैशी तथा डा. मेहदी हुसैन आदि आधुनिक मुस्लिम इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तुर्क मुसलमानों ने गैर-मुस्लिम जनता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये और उनके शासन में हिन्दू अपने पूर्व-राजाओं के शासन से भी अधिक सुखी और प्रसन्न थे । किन्तु उनके तर्क विश्वसनीय नहीं हैं और उनकी आलोचना करना निरर्थक होगा । ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना भी गलत होगा कि तुर्की मुसलमानों ने इस देश के लोगों को मुसलमान बनाकर अपने नव-स्थापित राज्य में धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया ।

खलीफा से सम्बन्ध

प्रारम्भ में मुसलमानों का विश्वास था कि खिलाफत ही केवल मुस्लिम राज्य है और खलीफा उसका धार्मिक तथा लौकिक प्रमुख है । किन्तु १६वीं शताब्दी तक खिलाफत छिन्न-भिन्न हो गयी और अनेक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य अथवा राष्ट्र उठ खड़े हुए । फिर भी अपनी सुविधा के लिए ये नये स्वतन्त्र

मुस्लिम राज्य कम से कम सिद्धान्त-रूप से ख़लीफा को अपना धार्मिक तथा राजनीतिक नेता अथवा प्रमुख स्वीकार करते थे। अपने सिक्कों तथा खुतबों में खलीफा का नाम जोड़ते थे। १२५८ ई. में मंगोल नेता बौद्ध हुलागू ने खलीफा का वध कर बग़दाद पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, किन्तु उसके बाद भी सिद्धान्त-रूप से खलीफा का प्रभुत्व कायम रहा। अन्तिम खलीफा के एक चाचा ने भागकर मिस्र में शरण ली। वहाँ के सुल्तानों ने उसे अपना आध्यात्मिक प्रमुख मान लिया। इस प्रकार यह मिथ्या सिद्धान्त १६वीं शताब्दी तक चलता रहा जबकि अन्तिम नाम-मात्र के ख़लीफा ने सिद्धान्त रूप से अपने अधिकार कुस्तुन्तुनिया के सुल्तान सुलेमान द्वितीय को अर्पित कर दिये।

महमूद गज़नवी को बग़दाद के अब्बासी खलीफा ने सुल्तान की उपाधि प्रदान की थी। मुहम्मद ग़ोरी ने अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम उत्कीर्ण करवाया था। हिन्दुस्तान के प्रारम्भिक तुर्की सुल्तानों का भी हित इसी में था कि लोग उन्हें खलीफा द्वारा नामनिर्देशित समझें। वे इस्लामी राज्य की कल्पित एकता की परम्परा की उपेक्षा करना उचित नहीं समझते थे। इल्तुतमिश दिल्ली का पहला तुर्क सुल्तान था जिसने खलीफा से सुल्तान की खिल्लत प्राप्त की। उसने अपने सिक्कों पर बग़दाद के खलीफा का नाम खुदवाया। तथाकथित गुलाम-वंश के सम्पूर्ण युग में इल्तुतमिश ने किसी भी उत्तराधिकारी को इस प्रकार इस्लामी राज्य के प्रमुख से खिल्लत नहीं प्राप्त हुई। फिर भी इस वंश के सभी शासक सिद्धान्त-रूप से अपने को खलीफा का नाइब मानते रहे और ऐसा करना एक फैशन बन गया था।

केन्द्रीय सरकार

सुल्तान

व्यावहारिक रूप से दिल्ली का सुल्तान सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शासक था और उस पर किसी बाह्य शक्ति अथवा सत्ता का नियन्त्रण नहीं था। वह पूर्ण-रूपेण निरंकुश था। राज्य की कार्यपालिका का वह उच्चतम प्रमुख था। वही न्याय का स्रोत समझा जाता था और कानून की व्याख्या करने का सर्वोच्च अधिकार उसी को प्राप्त था। इस प्रकार वह राज्य की सम्पूर्ण जनता का लौकिक प्रमुख तथा शासक और मुस्लिम सम्प्रदाय का धार्मिक प्रमुख था। उसकी शक्तियाँ अनेक तथा असीम थीं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे सीमाबद्ध थीं क्योंकि उसे उलेमा की सलाह सुननी पड़ती थी और जनता के विद्रोह का सदैव भय बना रहता था। देश के अलिखित तथा परम्परागत नियमों का सम्मान करना भी आवश्यक था। सब परिस्थितियों के अन्तिम विश्लेषण से हम इस

परिणाम पर पहुँचते हैं कि सुल्तान की वास्तविक शक्ति उसके सैनिक बल पर निर्भर थी। यदि उसके हाथों में पर्याप्त शक्ति होती तो वह उपर्युक्त सभी विचारों का उल्लंघन करके अपनी इच्छानुसार शासन कर सकता था। किन्तु इस प्रकार के सुल्तान बहुत कम होते थे। इस सम्पूर्ण युग में बलबन ही एक ऐसा व्यक्ति था। शेष सभी, यहाँ तक कि इल्तुतमिश भी अमीरों की राय लेता और उनकी इच्छानुसार कार्य करता था।

मन्त्री

दिल्ली सुल्तानों की शासन-व्यवस्था में योजना का सर्वथा अभाव था। केन्द्रीय सरकार का निर्माण तथा विकास ऊटपटाँग ढंग से हुआ था। राजधानी में चार महत्वपूर्ण मन्त्री थे—वज़ीर, आरिज़े-मुमालिक, दीवाने-इंशा तथा दीवाने-रसालात। वज़ीर को हम मुख्य मन्त्री कह सकते हैं। राजस्व तथा वित्त-विभाग उसके अधीन थे। इसके अतिरिक्त वह अन्य मन्त्रियों के काम का भी निरीक्षण करता था। वज़ीर मुख्यतया असैनिक पदाधिकारी था किन्तु कभी-कभी उसे सैन्य संचालन भी करना पड़ता था। सैनिक-वेतन-सम्बन्धी कार्यालय का भी वह नियन्त्रण करता था। उसकी सहायतार्थ एक नाइब होता था और एक विशाल सचिवालय था जिसमें अनेक सचिव और दर्जनों क्लर्क तथा लेखाकार काम करते थे। महालेखाकार (मुश्रिके-मुमालिक) तथा महालेखा परीक्षक[1] (मुस्तवफी-ए-मुमालिक) अन्य मुख्य पदाधिकारी थे। सेना-मन्त्री दूसरा महत्वपूर्ण मन्त्री था। सैनिकों की भरती, उसकी गणना रखना तथा उनकी साज-सज्जा और योग्यता आदि सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध उसके हाथों में था। इसके अतिरिक्त वह सेना का वेतन सम्बन्धी सर्वोच्च अधिकारी था। सैनिकों तथा उसके अस्त्र-शस्त्रों का निरीक्षण करना और यह देखना कि वे योग्यता से अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं अथवा नहीं—यह भी उसका मुख्य कर्तव्य था। तीसरा मन्त्री दीवाने-इंशा था जिसका काम शाही घोषणाओं और पत्रों के प्रारूप (मसविदे) तैयार करना था। उसके अधीन भी अनेक सचिव तथा क्लर्क कार्य करते थे। वह सुल्तान के साथ जाता तथा उसके सम्पूर्ण कार्यों का अभिलेख[2] तैयार किया करता था। चौथा मन्त्री दीवाने-रसालात था। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशी तथा कूटनीतिक पत्र-व्यवहार का कार्य उसके सुपुर्द था। जो राजदूत विदेशों को भेजे जाते अथवा वहाँ से आते थे उनसे सम्पर्क रखना उसका मुख्य कार्य था।

इनके अतिरिक्त राज्य में दो अन्य पदाधिकारी भी थे जिनका शासन-व्यवस्था

---

१ Auditor-General.

२ Record.

में अत्यधिक महत्व था। मन्त्रियों के बाद उन्हीं का स्थान था। पहला बरीदे-मुमालिक (मुख्य संवाददाता) था जिसके अधीन अनेक संवाददाता तथा गुप्तचर कार्य करते थे। दूसरा काज़ी मुमालिक (राज्य का प्रमुख न्यायाधीश) था। यह पदाधिकारी न्यायपालिका का प्रमुख था और धर्म का विभाग भी उसी के अधीन था। दूसरे विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से वह सद्रे-जहाँ अथवा सद्र-उस-सुदूर कहलाता था।

इसके अतिरिक्त राजधानी में और भी अनेक पदाधिकारी थे जिनका सम्बन्ध मुख्यतया सुल्तान के घरेलू प्रबन्ध से था, किन्तु मन्त्रियों की अपेक्षा उनका पद नीचा माना जाता था। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण वकीलेदर था। उसे हम शाही महलों का मुख्य प्रबन्धक कह सकते हैं। इस हैसियत से उसका सुल्तान से निकट सम्पर्क होता था और उस पर उसका प्रभाव भी काफी रहता था। उसके बाद अमीरे-हाजिब का स्थान था। वह दरबारी शिष्टाचार के नियमों को लागू करता तथा सुल्तान और निम्न कोटि के पदाधिकारियों तथा जनता के बीच मध्यस्थ का काम करता था। इसी पदाधिकारी के द्वारा सुल्तान साधारण लोगों से मुलाकात करके उन्हें सम्मानित करता था। सरे-जाँदार अन्य पदाधिकारी था। वह सुल्तान के अंग-रक्षकों का नायक था। अमीरेआख़ूर (घोड़ों का अध्यक्ष) तथा शाइनेपीलाँ (हाथियों का अध्यक्ष) अन्य महत्वपूर्ण अफसर थे।

कुछ सुल्तानों के समय में नाइबे-मुमालिकात का एक नया पद स्थापित किया गया था। वह सुल्तान का नाइब था और वज़ीर से भी अधिक शक्तियों का उपभोग करता था। किन्तु साधारण समय में नाइब नहीं हुआ करता था और यदि होता भी था जैसा कि बलबन के शासन-काल में था, तो उसके हाथ में अधिक शक्ति नहीं होती थी। केवल वे ही अधिकार उसके हाथ में होते थे जो सुल्तान उसे दे देता था।

केन्द्रीय सरकार के मन्त्रियों की नियुक्ति सुल्तान स्वयं करता था और वे उसके सेवक होते थे। वे केवल उसी के प्रति उत्तरदायी थे। अपने विभागों में भी उच्चतम सत्ता उनके हाथों में नहीं थी। यदि सुल्तान अल्पवयस्क अथवा अमीरों के हाथ की कठपुतली होता था तो अवश्य वे मनमानी कर सकते थे। परन्तु बलबन जैसे शक्तिशाली सुल्तान को वे प्रभावित नहीं कर सकते थे और साधारण ब्यौरे की बातों में भी उन्हें सुल्तान की इच्छाओं को कार्यान्वित करना पड़ता था।

प्रान्तीय शासन

गुलाम सुल्तानों की सरकार समान तत्वों से बना हुआ सुदृढ़ संगठन नहीं

थी, बल्कि विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर आधारित थी। राज्य का ढाँचा अत्यन्त शिथिल था और अनेक सैनिक-क्षेत्रों से मिलकर बना था। आकार, जनसंख्या अथवा आय की दृष्टि से ये क्षेत्र एक समान नहीं थे। प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत कुछ भूमि होती थी जिसे 'इक्ता' कहते थे। यूरोपीय लेखकों ने इक्ता शब्द का अनुवाद 'सैनिक जागीर' किया है परन्तु हम इक्तों को प्रान्त (सूबा) कह सकते हैं, यद्यपि यह नामकरण पूर्णतया शुद्ध नहीं है। इक्तों के मालिकों को 'मुक्ती' कहते थे। व्यावहारिक दृष्टि से मुक्ती अपने क्षेत्रों के शासक थे और उन्हें विस्तृत अधिकार मिले हुए थे। इक्तों की शासन-व्यवस्था समान सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थी। राजनीतिक अथवा सैनिक अधिकारों की दृष्टि से भी इक्ते एक दूसरे से भिन्न थे। अपने क्षेत्र का शासन चलाने में मुक्ती स्वतन्त्र था। केवल स्थानीय परम्पराओं का उस पर नियन्त्रण होता था। वह अपने पदाधिकारियों की नियुक्ति करता, राजस्व वसूल करता, शासन का खर्च चलाता तथा बची हुई आय केन्द्रीय सरकार के पास भेज देता था। सिद्धान्त-रूप से केन्द्रीय सरकार उसके हिसाब की जाँच कर सकती थी किन्तु व्यवहार में वह पूर्ण स्वतन्त्र था। उसका मुख्य कर्तव्य अपने क्षेत्र में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखना और राजाज्ञाओं को कार्यान्वित करना था। जब कभी सुल्तान उससे माँग करता था तो उसे उसकी सेवा के लिए सैनिक टुकड़ियाँ भेजनी पड़ती थीं। मुक्ती को भारी वेतन मिलता था जो प्रान्त की आय में से दिया जाता था। उसके पास अपनी एक सेना तथा पदाधिकारियों का दफ्तर होता था। इस युग में मन्दावर, अमरोहा, सम्भल, बदायूँ, बरन (बुलन्दशहर), कोइल (अलीगढ़), अवध, कड़ा मानिकपुर, बयाना, ग्वालियर, नागौड़, हाँसी, मुल्तान, उच्च, लाहौर, समाना, सुनम, कुहराम, भटिण्डा और सरहिन्द मुख्य इक्ते थे। दिल्ली के अधीनस्थ जिन राजाओं के राज्य इन इक्तों की सीमाओं के भीतर स्थित होते थे उनसे कर वसूल करना भी इन्हीं मुक्तियों का काम था। ये सामन्त वे हिन्दू शासक थे जिन्हें सुल्तानों ने अपना करद बना लिया था। उन्हें खराज (भूमि-कर) तथा जज़िया देना पड़ता था। वे दिल्ली सुल्तान का प्रभुत्व स्वीकार करते थे किन्तु अपने राज्यों के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए स्वतन्त्र थे।

खालसा भूमि

इक्तों के अतिरिक्त भी विस्तृत क्षेत्र थे जिनमें अनेक जिले सम्मिलित होते थे और जिनका प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार करती थी न कि मुक्ती। ये क्षेत्र 'खालसा' कहलाते थे। यूरोपीय लेखकों ने उन्हें राजभूमि[3] कहा है किन्तु

---

[3] Crown land.

उनका शुद्ध नाम 'रिजर्व क्षेत्र'[४] होना चाहिए, अर्थात वे क्षेत्र जो जागीर के रूप में नहीं दिये गये थे बल्कि जिनसे केन्द्रीय राजस्व-विभाग सीधा राजस्व वसूल करता था। इन क्षेत्रों के किसान अपने गाँवों के मुखिया द्वारा सीधे सरकार को लगान देते थे।

सेना

शासन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विभाग सेना थी क्योंकि सुल्तान की शक्ति उसी के बल और सुयोग्यता पर निर्भर थी। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि राजधानी में ऐसी फौज न थी जिसे हम स्थायी सेना का नाम दे सकें। सुल्तान की सेवा के लिए कुछ अंगरक्षक अवश्य होते थे जो सरे-जाँदार नामक पदाधिकारी की अधीनता में कार्य करते थे, किन्तु युद्ध के लिए सुल्तान को प्रान्तीय गवर्नरों अथवा मुक्तियों द्वारा भेजी गयी सेनाओं पर ही निर्भर रहना पड़ता था। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जब तुर्क लोग भारत में आये उस समय वे सभी लड़ाकू फौज के सदस्य थे। जब यहाँ उन्होंने विस्तृत प्रदेश जीत लिया और उस पर शासन करने लगे तो उन्हें इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समाज को पेशों के आधार पर विभक्त किया जाय। इस प्रकार पेशेवर सैनिकों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया। प्रारम्भ में आक्रमणकारी के सभी अनुयायी सैनिक थे इसलिए स्थायी सेना की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। जब आक्रमणकारी शासक बन गया तब भी यही व्यवस्था कायम रही। सल्तनत के विस्तार के साथ सुल्तान के अंगरक्षकों की संख्या भी बढ़ती गयी और कालान्तर में वे एक विशाल स्थायी सेना के केन्द्र-बिन्दु बन गये। यद्यपि यह सेना स्थायी नहीं थी किन्तु उसका प्रबन्ध सेना-मन्त्री (आरिज़े-मुमालिक) को सौंप दिया गया जो उसकी भरती, सुयोग्यता तथा वेतन के लिए उत्तरदायी था। अश्वारोही तथा पदाति सेना के मुख्य अंग थे। सिपाहियों तथा सैनिक पदाधिकारियों में से अधिकतर गुलाम थे, जैसे मुइज़्ज़ी गुलाम (मुइज़ुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी के गुलाम), कुतुबी गुलाम (कुतुबुद्दीन ऐबक के गुलाम) तथा शम्सी गुलाम (शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के गुलाम)। उनमें से अधिकतर अश्वारोही थे और बड़े काम के सैनिक समझे जाते थे। उन दिनों वैज्ञानिक सैनिक-शिक्षण, क़वायद और सैनिक अनुशासन आदि का सर्वथा अभाव था, इसलिए सेना की सुयोग्यता अधिकतर दीवाने-आरिज़ और सुल्तान की कार्यक्षमता और दत्तचित्तता पर निर्भर थी।

केन्द्रीय सेना के अतिरिक्त प्रान्तीय सूबेदार भी सुल्तान की भाँति अपनी सेनाएँ रखते थे। प्रान्तीय सेना सूबेदार की निजी फौज समझी जाती थी और

---

४ Reserve areas.

उसकी भरती, अनुशासन, वेतन आदि के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र होता था। किन्तु सुल्तान की सेवा के लिए उसे एक निश्चित संख्या में सेना रखनी पड़ती थी, इसलिए उस पर कुछ हद तक आरिज़े-मुमालिक का नियन्त्रण अवश्य रहता होगा।

इसके अतिरिक्त दो प्रकार के और सैनिक होते थे जिन्हें हम विशेष रँगरूट कह सकते हैं। उनके भी दो भेद थे। पहले वे जो विशेष अवसरों पर देशी हिन्दू राजाओं के विरुद्ध जिहाद के लिए भरती किये जाते थे। उन्हें शरा के अनुसार लूट का एक भाग मिलता था। लूट का $\frac{4}{5}$ भाग तो उन्हें मिलता था और $\frac{1}{5}$ सुल्तान को मिलता था। दूसरे स्वयं-सेवक होते थे जो अपनी इच्छा से सेना में सम्मिलित हो जाते थे और स्वयं अपने हथियार तथा घोड़े लाते थे।

सुल्तान सेना का महासेनापति होता था। प्रान्त में मुक्ती अपनी फौजों के सेनापति होते थे। दीवाने-आरिज़ अथवा आरिज़े-मुमालिक को सेनापति का कार्य नहीं करना पड़ता था, यद्यपि वह कभी-कभी आक्रमण के लिए सैनिकों को छाँटता था। इस युग में केवल रज़िया के शासन-काल में एक बार एक सेनापति नियुक्त किया गया था। यह एक अस्थायी व्यवस्था थी और रज़िया की मृत्यु के बाद यह पद समाप्त कर दिया गया था। सैनिकों को वेतन बहुधा जागीरों के रूप में दिया जाता था और कभी-कभी नकद भी। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि फौज का सेनापति ही अपना तथा अपने सैनिकों का वेतन लेता था अथवा सैनिकों को अलग-अलग वेतन दिया जाता था। सम्भवतः पहली प्रणाली प्रचलित रही होगी।

सैनिक संगठन सुव्यवस्थित नहीं था। यदि दिल्ली सुल्तान की सेना भारतीय नरेशों की सेनाओं की तुलना में अधिक सुयोग्य थी तो इसका कारण उसके संगठन अथवा शिक्षण की श्रेष्ठता नहीं था किन्तु उसमें धार्मिक सुदृढ़ता, भ्रातृत्व की भावना तथा एकता का आधिक्य था क्योंकि मुसलमान लोग इस देश में परदेशी थे। यही उसकी श्रेष्ठता का मुख्य आधार था।

[५]वित्त सम्बन्धी व्यवस्था

दिल्ली सल्तनत की आय के पाँच मुख्य साधन थे जिनका शरियत में विधान है—(१) ख़राज, (२) उश्र, (३) जज़िया, (४) खम्स, और (५) ज़कात। इनके अतिरिक्त आमदनी के कुछ अन्य साधन भी थे जैसे खानों से होने वाली आय, पृथ्वी में गड़ा हुआ धन, आयात तथा आबकारी कर। ख़राज भूमि-कर था जो हिन्दू सामन्तों तथा किसानों से वसूल किया जाता

---

५ Finance.

था। खेती की उपज तथा राज्य-कर का अनुपात सदैव एक-सा न था। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि ख़राज की दर अनुमान से अथवा पुराने हिन्दू-युग के राजस्व-लेखों[६] के आधार पर निश्चित की जाती थी। उश्र भी एक प्रकार का भूमि-कर था। यह उस भूमि से वसूल किया जाता था जो मुसलमानों के अधिकार में होती थी और प्राकृतिक साधनों द्वारा सींची जाती थी। साधारणतया यह उपज का दशांश होता था इसीलिए इसे उश्र कहते थे। जब अधिक संख्या में ग़ैर-मुसलमानों ने इस्लाम अंगीकार कर लिया तो इस पुरानी दर (दशांश) से हानि होने लगा इसलिए भूमि-कर में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो गया।

जज़िया नामक कर जिम्मियों अथवा ग़ैर-मुसलमानों से वसूल किया जाता था। इस कर के आधार पर समस्त हिन्दू जनता को तीन वर्गों में विभक्त किया गया था। पहले वर्ग के लोग ४८ दिरहम, दूसरे के २४ दिरहम तथा तीसरे के १७ दिरहम की दर से जज़िया अदा करते थे। स्त्रियाँ, बच्चे, साधू तथा भिखारी इस कर से मुक्त थे। काफिरों के विरुद्ध युद्ध में जो लूट का धन प्राप्त होता था उसका $\frac{१}{५}$ राज्य-कोष में जमा होता था और खम्स कहलाता था। $\frac{४}{५}$ सैनिकों में बाँट दिया जाता था। ज़कात नाम का कर मुसलमानों पर लगाया जाता था और आय का $\frac{१}{४०}$ की दर से वसूल होता था। उसे मुसलमानों के हित के लिए कुछ निश्चित कार्यों पर व्यय किया जाता था जैसे मस्जिदों की मरम्मत, धार्मिक संस्थाओं का संचालन, उलेमा की पेंशनें तथा अन्य धार्मिक कृत्य। बाहर से आने वाले माल पर चुंगी वसूल की जाती थी। मुस्लिम व्यापारियों के लिए इसकी दर २½ प्रतिशत तथा ग़ैर-मुसलमानों के लिए ५ प्रतिशत थी। इसके अतिरिक्त घाटों, सड़कों तथा पुलों पर भी एक से दूसरे स्थान को जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं पर अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। शरियत के अनुसार पृथ्वी में मिले हुए धन तथा खानों पर भी सुल्तान का ही अधिकार होता था।

इन साधनों से सुल्तान को प्रति वर्ष भारी आय होती थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान की आय का सबसे अधिक लाभप्रद साधन हिन्दू प्रान्तों की लूट थी जिसमें लाखों रुपये का माल उसे मिलता था। हमारे पास जानकारी के ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे हम इस युग में सल्तनत की लगभग आय का भी अनुमान लगा सकें, किन्तु जैसा कि हम जानते हैं प्रत्येक सुल्तान के शासन-काल में धन संचित होता रहा। इससे स्पष्ट है कि राज्य की भारी आय रही होगी।

---

६ Revenue records.

उस युग में सुल्तानों के निजी व्यय के लिए राजकीय आय में से प्रथक धन नहीं दिया जाता था। सिद्धान्त-रूप से न सही, किन्तु व्यवहार में अवश्य राज्य की सम्पूर्ण आय पर उसी का अधिकार होता था और वह राज्य के हित के लिए अपनी निजी अथवा पारिवारिक आवश्यकताओं पर व्यय कर सकता था।

न्याय-व्यवस्था

सुल्तान न्याय का स्रोत समझा जाता था। वह समुचित न्याय-व्यवस्था का प्रबन्ध नहीं करता था वरन स्वयं मुकदमों को सुनता था तथा उनका फैसला करता था। इस प्रकार सुल्तान राज्य में अपील सुनने वाला सर्वोच्च न्यायाधीश था। किन्तु कभी-कभी वह मूल रूप से भी मुकदमों की सुनवायी करता था। जिन मुकदमों का सम्बन्ध धार्मिक झगड़ों से होता था उनका फैसला करने में वह सद्र तथा मुफ्ती की सहायता लेता था और शेष मुकदमों का निर्णय वह काज़ी की सहायता से करता था। सुल्तान के बाद दूसरा उच्चतम न्यायाधिकारी मुख्य काज़ी था जिसकी नियुक्ति सुल्तान ही करता था। इतिहासकार मिनहाज-उस-सिराज ने दीर्घकाल तक इस पद पर कार्य किया था। वह राजधानी में रहता तथा मुकदमों का फैसला करता था। मुख्य काज़ी राज्य का सद्र भी था और इस हैसियत से सद्रे-जहाँ कहलाता था। मुख्य काज़ी की हैसियत से वह प्रान्तों के निम्न न्यायालयों का निरीक्षण तथा नियन्त्रण किया करता और उनकी अदालतों से आयी हुई अपीलें सुनता था।

प्रान्तों तथा महत्वपूर्ण नगरों में भी काज़ी रहते थे। उनकी नियुक्ति मुख्य काज़ी करता था। दादेबक अथवा अमीरे दाद नाम का एक अन्य पदाधिकारी भी था जिसकी हम आधुनिक सिटी मजिस्ट्रेट से तुलना कर सकते हैं। जिन मुकदमों का सम्बन्ध केवल हिन्दुओं से होता था उनका फैसला सामान्यतया पंचायतें करती थीं किन्तु जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित होते थे उनका निर्णय काज़ी करता था। कोतवाल नगर में पुलिस-विभाग का अध्यक्ष होता था। पुलिस पदाधिकारी होने के अतिरिक्त उसका एक और भी काम था। वह मुकदमों की प्रारम्भिक छान-बीन करके उनको काज़ी के सुपुर्द करता था। दण्ड-विधि[७] अत्यन्त कठोर थी। यातना तथा अंगछेदन का दण्ड सामान्य था। गुलाम सुल्तानों ने ग्रामीण जनता के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करने की नीति का अनुसरण किया। राज्य की ओर से गाँवों में न्याय का कोई प्रबन्ध नहीं था। लोग अपनी निजी पंचायतों पर ही निर्भर रहते थे।

---

७ Criminal law.

समाज तथा संस्कृति

शासक-वर्ग में विभिन्न कबीलों के तुर्क थे। उनके अतिरिक्त ईरानी, अफगान, अरब आदि अन्य विदेशी भी थे। तुर्कों में उच्चता की भावना का प्राबल्य था। वे नस्ल की शुद्धता तथा श्रेष्ठता के सिद्धान्त को मानते थे इसीलिए उन्होंने भारतीय मुसलमानों को जिनकी संख्या बढ़ रही थी, राज्य की शासन-व्यवस्था में स्थान नहीं दिया। किन्तु इस भावना के होते हुए भी विभिन्न नस्लों का बहुत कुछ मेल-मिलाप हुआ जिसके परिणामस्वरूप १३वीं शताब्दी में भारतीय मुस्लिम जनता वर्णसंकर होती गयी। भारतीय मुसलमानों, मध्य एशिया के शरणार्थियों तथा मंगोलों में जिन्होंने इस्लाम अंगीकार कर लिया था, विवाह-सम्बन्ध होने लगे जिसके फलस्वरूप इस देश में मुसलमानों की विभिन्न नस्लों का विलयन हो गया।

मोटे तौर पर १३वीं शताब्दी का मुस्लिम समाज दो वर्गों में विभक्त था—सैनिक तथा बुद्धिजीवी। तुर्कों का स्थान पहली कोटि में था और दूसरे वर्ग में धार्मिक तथा साहित्यिक लोग सम्मिलित थे जो अधिकतर गैर-तुर्क थे। राज्य में धर्मोपदेशकों तथा अध्यापकों का काम उन्हीं के हाथों में था। मुस्लिम सामन्तवर्ग में तुर्की रक्त का प्राधान्य था। वह वर्ग एक सीढ़ी की भाँति था, जिसमें अनेक कक्षाओं के लोग थे और जिसके शिखर पर अमीरों, मलिकों तथा खानों का स्थान था।

उलुगखाँ का पद सर्वोच्च था और एक समय में एक ही उलुगखाँ होता था। गुलामों को भी नीचे से ऊँचे पदों पर पहुँचने का अधिकार था और वे भी अमीर तथा मलिक हो सकते थे। उनमें से बलबन को छोड़कर कोई भी खान के पद पर नहीं पहुँच सका। मुस्लिम समाज मुख्यतया नगरों में केन्द्रित था। सैनिकों तथा कर्मचारियों के अतिरिक्त उसमें व्यापारी, दस्तकार, दुकानदार, क्लर्क तथा भिखारी भी रहे होंगे। अन्य प्रभावशाली वर्ग गुलामों का था। उनमें से अधिकतर गैर-मुसलमान माता-पिता की सन्तान थे, किन्तु उन्हें गुलाम बनाकर बेच दिया गया और मुसलमान बना लिया गया था। अपने मुस्लिम स्वामियों के घरों में ही उनका पालन-पोषण हुआ था। मुस्लिम जनसंख्या में सुन्नियों का बाहुल्य था। शिया लोग अधिकतर मुल्तान और सिन्ध में पाये जाते थे। किन्तु उनमें से अनेक दिल्ली तथा तुर्की सल्तनत के अन्य नगरों में भी रहते थे। इन दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों में पारस्परिक सहानुभूति नहीं थी। वास्तव में सुन्नी लोग जिनके हाथ में राजशक्ति थी, शियाओं से घृणा करते थे। इस युग में शियाओं ने अनेक बार राजशक्ति पर अधिकार करने का प्रयत्न किया किन्तु निर्दयतापूर्वक उन्हें कुचल दिया गया। एक तीसरा धार्मिक वर्ग भी था जिसके सदस्य सूफी कहलाते थे। वे मुस्लिम रहस्यवादी और शिक्षित थे। वे

ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करने में विश्वास करते थे। वे पवित्रता तथा दरिद्रता का जीवन बिताते और नगर-निवासियों के समाज से दूर रहते थे। सूफी सन्तों के अनेक अनुयायी थे जिन्हें वे सूफी क्रियाओं में दीक्षित करते थे। चिश्तियाँ और सुहरावर्दियाँ उनके दो महत्वपूर्ण संघ थे। पहले की स्थापना मुईउद्दीन चिश्ती ने अजमेर में और दूसरे की भाउद्दीन ज़कारिया ने मुल्तान में की थी। ये दोनों सन्त थे और उनके अनेक अनुयायी थे जिनके कारण बड़ी संख्या में लोगों ने अपनी इच्छानुसार इस्लाम अंगीकार कर लिया था।

देश की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, हिन्दू जिम्मी कहलाता था और उसे जज़िया नामक विशेष कर देना पड़ता था। उसे अनेक निर्योग्यताएँ भुगतनी पड़ती थीं और नागरिकता के पूर्ण अधिकार उसे प्राप्त नहीं थे। मुसलमान लोग उसके धर्म के अस्तित्व को बुरा समझते हुए भी उसे सहन करते थे[८]। हिन्दुओं में से अनेक भूमि के स्वामी थे और समृद्धशाली थे। इस बात के भी प्रमाण उपलब्ध हैं कि कुछ हिन्दू व्यापारी तथा साहूकार मुसलमान अमीरों को ऋण दिया करते थे परन्तु उस युग की राजनीति पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। अप्रत्यक्ष रूप से भले ही वे उसे कुछ प्रभावित करते रहे हों क्योंकि सरलता से उनका दमन अथवा मूलोच्छेदन भी नहीं किया जा सकता था। अधिकतर कारबार, उद्योग-धन्धे तथा व्यापार उन्हीं के हाथों में थे। उनमें से बहुत-से कृषि-कार्य करते थे। अधिकतर हिन्दू गाँवों में रहते थे इसलिए अल्पसंख्यक शासक-वर्ग से उनका बहुत कम सम्पर्क रहता था।

इस युग में हिन्दुत्व तथा इस्लाम का एक दूसरे के अनुयायियों पर कुछ प्रभाव पड़ने लगा था। इस्लाम अंगीकार कर लेने वाले हिन्दुओं में भी उनकी कुछ आदतें तथा रहन-सहन का ढंग शेष रह जाता था। चूँकि मुसलमान होने से पहले वह स्थानीय तथा जातीय देवताओं की पूजा किया करता था, इसलिए नया धर्म स्वीकार कर लेने पर भी वह फकीरों तथा समाधियों की पूजा की ओर सरलता से झुक जाता था। सूफी मत में अनेक ऐसे तत्व थे जिन्हें दोनों धर्मों के अनुयायी स्वीकार कर सकते थे। फिर भी हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बुद्धिजीवियों में किसी प्रकार का धार्मिक अथवा सांस्कृतिक सम्पर्क नहीं स्थापित हो सका।

तुर्क शासकों में से कुछ विद्या-प्रेमी भी थे और अपने यहाँ धर्माधिकारियों, इतिहासकारों तथा विद्वानों को स्थान दिया करते थे। बलबन के दरबार को विशेषकर अनेक साहित्यिक रत्न सुशोभित करते थे। इस युग की साहित्यिक

---

८ देखिये—इस्लामी शासन में गैर-मुसलमानों की दशा जानने के लिए सर यदुनाथ सरकार की पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब," खण्ड ३, पृष्ठ २५१–२५७ और २६३–२६४।

विभूतियों में उच्चतम स्थान अमीर खुसरव तथा दिल्ली के अमीर हसन का था। वे दोनों फारसी में अपनी रचनाएँ करते थे और उनके ग्रन्थों का भारत के बाहर भी ससम्मान अध्ययन किया जाता था। तेरहवीं शताब्दी में इतिहास, धर्म तथा आख्यान के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई। बालक-बालिकाओं की शिक्षा का भी कुछ प्रबन्ध था। प्रत्येक मुस्लिम बस्ती में दो शिक्षा-संस्थाएँ होती थीं—एक मस्जिद से लगा हुआ मक़तब और दूसरा मदरसा या विद्यापीठ। कुछ सुल्तानों ने दिल्ली में विद्यालयों की स्थापना की और उन्हें बहुत-सा दान दिया। कहा जाता है कि इल्तुतमिश ने एक विद्यालय दिल्ली में और एक मुल्तान में बनवाया था। स्थापत्य तथा लेखन-कला, इन दो विषयों का विशेष रूप से परिशीलन किया जाता था। तुर्कों को भवन बनवाने का बहुत शौक था और अपने साथ मध्य एशिया से वे स्थापत्य के इस्लामी आदर्श तथा शैलियाँ लाये थे। हम पहले लिख आये हैं कि कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन ने अनेक भवनों का, विशेषकर मस्जिदों का, निर्माण कराया था। यद्यपि सनातनी मुसलमानों के लिए संगीत का निषेध था फिर भी इस कला की पूर्ण उपेक्षा नहीं की गयी होगी। कुछ आधुनिक मुस्लिम इतिहासकारों ने दिल्ली सल्तनत को सांस्कृतिक राज्य कहा है। किन्तु यह दावा अतिरंजित है। यदि कुछ शासक साहित्य के प्रेमी थे भी तो वे अपनी बहुसंख्यक जनता के लिए रक्त-पिपासु तथा अत्याचारी ही थे और उस युग में यदि वास्तविक संस्कृति थी भी तो वह दरबार तथा राजधानी तक ही सीमित थी। सांस्कृतिक कार्यों में समाज के कुछ विशेष वर्गों का ही हाथ था और साधारण जनता उससे बहुत दूर थी। वास्तव में दिल्ली सल्तनत सैनिक-राज्य था। देश पर आधिपत्य कायम रखने के लिए उसने सामरिक महत्व के अनेक स्थानों पर बलशाली रक्षा-सेनाएँ छोड़ रखी थीं। उसके केवल दो कार्य थे—कानून तथा व्यवस्था कायम रखना और राजस्व वसूल करना। वह साधारण जनता की सांस्कृतिक, नैतिक, शारीरिक और भौतिक समृद्धि की चिन्ता नहीं करती थी। इस प्रकार का राज्य सांस्कृतिक राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। लगभग पचासी वर्ष तक टिके रहने पर भी वह निश्चय रूप से भारत भूमि पर विदेशी राज्य था।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. BARANI, ZIA-UD-DIN : Tarikh-i-Firozshahi.
2. SIRAJ, MINHAJ-UD-DIN : Tabqat-i-Nasiri.
3. OJHA, G. H. : History of Rajputana.
4. HABIBULLAH : Foundations of Muslim Rule in India.
5. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vols. II & III.

अध्याय १३

ख़लजी साम्राज्यवाद

जलालुद्दीन फीरोज़ ख़लजी (१२९०–१२९४ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

मलिक फीरोज़ ख़लजी कबीले का तुर्क था। उसके पूर्वज तुर्किस्तान के आदि-निवासी थे। अपना निवास-स्थान छोड़कर वे हेलमन्द की घाटी तथा लमग़ान के प्रदेश में जिसे गर्मसीर अथवा उष्ण प्रदेश कहते हैं, २०० वर्ष से अधिक निवास कर चुके थे और उन्होंने अफ़ग़ानों के कुछ रीति-रिवाज तथा रहन-सहन के तरीके अपना लिये थे। इसलिए भारत के तुर्की अमीर भ्रमवश उन्हें अफ़ग़ान समझते थे। फीरोज़ के परिवार के लोग आकर भारत में बस गये थे और उन्होंने दिल्ली के तुर्क सुल्तानों के यहाँ नौकरी कर ली थी। फीरोज़ सरे-जाँदार अथवा शाही अंगरक्षकों के प्रमुख के उच्च पद पर पहुँच गया था और आगे चलकर समाना का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था। वह एक अत्यन्त योग्य सैनिक था। समाना के सीमान्त सूबे के शासक के पद पर कार्य करते हुए उसने मंगोल आक्रमणकारियों के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और उन्हें मार भगाया। इस प्रकार उसने सफल सैनिक तथा शासक की हैसियत से अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली। परिणामस्वरूप उसे शाइस्ताखाँ की उपाधि प्रदान की गयी। मलिक तुज़ाकी की मृत्यु के उपरान्त कैकुबाद ने उसे सेना-मन्त्री के उच्च पद पर नियुक्त कर दिया। दिल्ली दरबार में मन्त्री होने के अतिरिक्त फीरोज़ समस्त हिन्दुस्तान में बिखरे हुए विशाल ख़लजी कबीले का प्रमुख भी था। इस कबीले के कुछ लोग इख्तियारुद्दीन-बिन-बख्तियार ख़लजी के समय से बंगाल पर शासन कर चुके थे। मन्त्रि-पद पर नियुक्त होने के समय फीरोज़ दिल्ली में सम्भवतः सबसे अधिक शक्तिशाली और अनुभवी तुर्क अमीर था।

राज्यारोहण

जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, सेना-मन्त्री मलिक फीरोज़ तथा दरबार के कट्टर तुर्की अमीरों के दल में पारस्परिक सहानुभूति का सर्वथा अभाव था। तुर्की दल के नेता मलिक एतमार (कच्छन) तथा मलिक सुर्खा थे। वे क्रमानुसार अमीरे-हाजिब तथा बरबक के पदों पर काम करते थे और

दिल्ली दरबार की उच्चतम सत्ता उन्हीं के हाथों में थी। इन दो तुर्की अमीरों ने फीरोज़ तथा अन्य गैर-तुर्की पदाधिकारियों से पिण्ड छुड़ाकर राज-सत्ता पर तुर्कों के एकाधिपत्य की पुनः स्थापना करने की योजना बनायी। इसके परिणाम-स्वरूप दोनों दलों में संघर्ष छिड़ गया, जिसमें फीरोज़ की विजय हुई। कच्छन का वध कर दिया गया और उसके समर्थकों का पूर्णतया दमन करके मलिक फीरोज़ शिशु सुल्तान कयूमर्स का संरक्षक बन बैठा। उसका दूसरा कदम कैकुबाद तथा कयूमर्स दोनों का वध करके राज-शक्ति हस्तगत कर लेना था। इसके उपरान्त जून, १२९० ई. में फीरोज़ कैकुबाद द्वारा बनवाये हुए किलोखरी के महल में सिंहासन पर बैठा और सुल्तान जलालुद्दीन फीरोज़ की उपाधि धारण की।

उसकी सामाजिक अप्रियता

नया सुल्तान सत्तर वर्ष का बूढ़ा था। यद्यपि जलालुद्दीन अनुभवी तथा सफल सेनानायक की दृष्टि से सुयश प्राप्त कर चुका था और कैकुबाद के सम्पूर्ण शासन-काल में उसने राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा की थी, फिर भी दिल्ली की जनता तथा अमीर उससे प्रसन्न नहीं थे। तुर्कों में उसकी अप्रियता का मुख्य कारण यह था कि भ्रमवश वे ख़लजियों को गैर-तुर्क समझते थे और इसलिए उन्हें अपने समान राज-सत्ता का अधिकारी नहीं मानते थे। लगभग ८४ वर्ष तक इलबारी तुर्क दिल्ली के सिंहासन पर राज्य कर चुके थे, इसलिए उनकी तथा जनता की दृष्टि में यह अनुचित था कि दिल्ली का मुकुट ऐसा व्यक्ति धारण करे जो उनकी नस्ल का नहीं था। तीसरे, जलालुद्दीन फीरोज़ बूढ़ा हो चुका था, इसलिए वृद्धावस्था की कुछ दुर्बलताएँ उसमें विद्यमान थीं। इसके अतिरिक्त लोग उसे उदार तथा कोमल-हृदय व्यक्ति समझते थे। उसमें नृप-सुलभ प्रताप तथा शिष्टता का भी अभाव था। चौथे, फीरोज़ स्वयं न सही, किन्तु उसके अनुयायी विशेषकर ख़लजी युवक अत्यधिक महत्वाकांक्षी थे इसलिए लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इन्हीं कारणों से नया सुल्तान अप्रिय था और इसीलिए दिल्ली में बलबन के महल में अपना राज्याभिषेक करने का उसमें साहस नहीं हुआ। अभिषेक के लिए उसने किलोखरी में कैकुबाद के अपूर्ण महल को अधिक पसन्द किया। वह एक वर्ष तक उसी में रहा और अपने दरबारियों तथा अनुयायियों को उसी के निकट अपने निवास-गृह बनवाने की आज्ञा दी। उसने स्वयं कैकुबाद के महल को पूरा करवाया। कुछ ही समय में किलोखरी दिल्ली के निकट एक महत्वपूर्ण नगर बन गया। फीरोज़ वृद्ध अमीरों में ही अप्रिय नहीं था अपितु उसके कुछ उद्योगी तथा चपल अनुयायी भी उसकी उदारता तथा दुर्बलता को पसन्द नहीं करते थे। बूढ़े सुल्तान ने शासन-व्यवस्था में न्यूनतम हस्तक्षेप करने की नीति

का अनुसरण किया और पुराने पदाधिकारियों को अपने पदों तथा वेतनादि लाभों का पूर्ववत उपभोग करने दिया। इसलिए जवान ख़लजी योद्धा जो शक्ति, प्रतिष्ठा तथा लाभ के उच्चतम पद प्राप्त करने के इच्छुक थे, उसकी इस नीति से ऊब गये। उनमें से कुछ तो उसे बुद्धिहीन, सठियाया हुआ तथा सिंहासन के लिए अयोग्य समझने लगे। वे उसे अपदस्थ करके अपने में से किसी को गद्दी पर बिठाने की इच्छा करने लगे और उसका भतीजा तथा दामाद अलाउद्दीन इन असन्तुष्ट लोगों के दल का नेता बन गया।

गृह-नीति

फीरोज राज्य के पदाधिकारियों में अधिक उलट-फेर करने की नीति का पक्षपाती नहीं था। उसने तुर्की अमीरों को उनके उन पदों पर स्थायी कर दिया जो उन्हें पिछले सुल्तान के शासन-काल में मिले हुए थे। बलबन के भतीजे मलिक छज्जू को जो अपने वंश में अकेला ही रह गया था, फीरोज़ ने कड़ा मानिकपुर के सूबेदार के पद पर पूर्ववत रहने दिया। मलिक फख़रुद्दीन को उसने दिल्ली का कोतवाल बना रहने दिया। अपने पुत्रों को उसने उच्च पदों पर नियुक्त किया। सबसे बड़े लड़के महमूद को उसने खानख़ाना, दूसरे को अर्कलीखाँ तथा तीसरे को कद्रखाँ की उपाधियों से विभूषित किया। सुल्तान का छोटा भाई यग्रासखाँ बनाया गया और सेना मन्त्री (आरिज़े-मुमालिक) के पद पर नियुक्त किया गया। इसी प्रकार अपने भतीजों अलाउद्दीन तथा अलमस बेग़ को सुल्तान ने उच्च पद प्रदान किये और अपने एक निकट सम्बन्धी मलिक अहमद चप को अमीरे-हाजिब के पद पर नियुक्त किया।

फीरोज़ की आन्तरिक नीति दूसरों को प्रसन्न रखने के सिद्धान्त पर आधारित थी। उसने शान्ति, दया तथा उदारता से काम लिया और जहाँ तक सम्भव हो सका बिना रक्तपात के शासन करने का प्रयत्न किया। उसे इस बात की चिन्ता रहती थी कि पुराने अमीरों अथवा दिल्ली के नागरिकों से उसकी किसी प्रकार से टक्कर न हो जाय।

यही कारण था कि लगभग एक वर्ष तक उसने पुराने नगर को अपना निवास-स्थान नहीं बनाया। अन्त में जब कोतवाल फख़रुद्दीन के नेतृत्व में दिल्ली के नागरिकों ने उसे आमन्त्रित किया तो भी वह बलबन के लाल किले के सामने उतर पड़ा और सिंहासन-गृह में प्रवेश करने से पहले रो पड़ा। वह सिंहासन पर नहीं बैठा और बोला कि एक साधारण सामन्त तथा दरबारी की हैसियत से मैं अनेक बार इसके सामने खड़ा हुआ था।

फीरोज़ के शासन के दूसरे वर्ष में कड़ा मानिकपुर के सूबेदार मलिक छज्जू ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और सुल्तान की उपाधि धारण की। अवध का सूबेदार हातिमखाँ भी उससे जा मिला। उनकी संयुक्त सेनाओं ने दिल्ली

की ओर कूच किया। फीरोज उन्हें रोकने के लिए आगे बढ़ा। उसके पुत्र अर्कलीखाँ के नेतृत्व में उसकी सेना के एक अग्रगामी दस्ते ने बदायूँ के निकट विद्रोहियों को पराजित किया। मलिक छज्जू गिरफ्तार करके सुल्तान के सामने उपस्थित किया गया। ऐसे कुलीन बन्दी को बेड़ियाँ पहने हुए देखकर फीरोज़ रो पड़ा। उसने छज्जू तथा उसके अनुयायियों को मुक्त करने की आज्ञा दी और तदुपरान्त मदिरा द्वारा उनका मनोरंजन किया। उसने मलिक छज्जू के अनुयायियों की इसलिए खुले रूप से प्रशंसा की कि वे अपने स्वर्गीय स्वामी बलबन के एकमात्र उत्तराधिकारी के प्रति वफादार थे। जवान खलजी पदाधिकारियों ने जिनका नेता स्पष्टवादी अहमद चप था, इस प्रकार की मूर्खता-पूर्ण बातों का विरोध किया और कहा कि ऐसा कहने से विद्रोहियों को प्रोत्साहन मिलता है। फीरोज ने उत्तर दिया कि क्षणभंगुर राज्य के लिए मैं एक भी मुसलमान का वध करना पसन्द नहीं करता। मलिक छज्जू को अर्कलीखाँ के जिसे मुल्तान का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था, सुपुर्द कर दिया गया और कड़ा मानिकपुर की सूबेदारी सुल्तान के भतीजे अलाउद्दीन को मिल गयी।

फीरोज की उदार नीति कभी-कभी सीमा का उल्लंघन कर जाती थी। एक बार दिल्ली में अनेक ठग तथा डाकू गिरफ्तार कर लिये गये। उनमें से एक ने भेद बता दिया जिससे उसके गिरोह के लगभग एक हजार व्यक्ति पकड़े गये। फीरोज़ ने इस गिरोह को कोई दण्ड नहीं दिया। उसने उन्हें नावों में बिठाकर बंगाल भिजवा दिया जहाँ उसकी आज्ञानुसार वे मुक्त कर दिये गये। फीरोज़ के उदार नीति से विचलित होने का एक उदाहरण अवश्य मिलता है। लोगों का विश्वास था कि सिद्दी मौला नामक एक धार्मिक नेता जो पाकपटन (अजुद्धान) के शेख फरीदुद्दीन गंजेशकर का शिष्य था, दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने का इच्छुक था। उसके शिष्यों की संख्या बहुत बड़ी थी जिनके सत्कार के लिए वह अपरिमित धन व्यय किया करता था। कुछ लोगों ने स्वर्गीय सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की पुत्री का विवाह सिद्दी मौला से करके उसे सिंहासन पर बिठाने का षड्यन्त्र रचा। फीरोज़ के कुछ दरबारी अमीर भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गये। सुल्तान ने सिद्दी मौला तथा उसके शिष्यों को गिरफ्तार करवाकर अपने सम्मुख बुलाया। सिद्दी मौला से वाद-विवाद के बीच सुल्तान आपे से बाहर हो गया और अपने सम्मुख ही उसने उसका वध करवा दिया। एक धर्मान्ध मुसलमान ने जो इस सम्प्रदाय का विरोधी था, सिद्दी मौला को छुरे से अनेक बार काटा और एक सूजा उसके शरीर में भोंक दिया। अन्त में उसके शरीर को हाथी के पैरों के नीचे रौंदा गया। इस फकीर की मृत्यु के उपरान्त एक भयंकर आँधी आयी तथा अनावृष्टि

के कारण दुर्भिक्ष पड़ गया। लोगों ने समझा कि स्वर्गीय फकीर ने सुल्तान को शाप दे दिया है इसलिए ये सब दुर्घटनाएँ हुई हैं। दुर्भिक्ष वास्तव में इतना भयंकर था कि अन्न का भाव एक जीतल प्रति सेर तक पहुँच गया और बड़ी संख्या में लोगों ने यमुना में डूबकर प्राण त्याग दिये।

विदेश-नीति

फीरोज़ खलजी ने विजय के उद्देश्य से युद्ध नहीं किये। उसने केवल दो आक्रमण किये जिनमें उसे अधिक सफलता नहीं मिली। पहला आक्रमण १२९० ई. में रणथम्भौर पर किया गया जिसका संचालन स्वयं सुल्तान ने किया। किले के चौहान शासक ने कठिन प्रतिरोध किया। अपने को इस कार्य के लिए योग्य न समझकर फीरोज़ ने घेरा उठा लिया और दिल्ली लौट गया। उसने यह कहकर अपने को सान्त्वना दी कि मैं मुसलमान के सिर के प्रत्येक बाल को रणथम्भौर जैसे सैकड़ों किलों से भी अधिक मूल्यवान समझता हूँ। इस आक्रमण से सुल्तान को एक ही लाभ हुआ कि उसका झैन के किले पर अधिकार हो गया जहाँ उसने मन्दिरों को ध्वस्त किया तथा मूर्तियों को तोड़ा। दूसरा आक्रमण मन्दावर पर किया गया, जो पहले दिल्ली सल्तनत के अधीन रह चुका था किन्तु जिसे राजपूतों ने पुनः छीन लिया था। १२९२ ई. में उस पर पुनः दिल्ली का अधिकार हो गया। फीरोज़ के शासन-काल में दो और आक्रमण किये गये किन्तु उनका संचालन सुल्तान ने नहीं बल्कि उसके भतीजे अलाउद्दीन ने किया। १२९२ ई. में अलाउद्दीन ने मालवा पर आक्रमण किया और भिलसा का किला जीत लिया किन्तु सम्भवतः उसे स्थानीय शासक के हाथों में ही रहने दिया गया। वहाँ पर उसे अपार धन-राशि लूट में मिली। वहीं पर उसने दक्षिण के शक्तिशाली राज्य देवगिरि तथा उसके अतुल धन के सम्बन्ध में कहानियाँ सुनीं जिनसे दक्षिण को जीतने की उसकी महत्वाकांक्षा प्रज्ज्वलित हो उठी। मालवा से लौटने पर अलाउद्दीन को कड़ा के अतिरिक्त अवध की भी सूबेदारी मिल गयी। १२९४ ई. में अलाउद्दीन ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र देव पर आक्रमण किया और उसे पराजित किया। देवगिरि से वह अपार धन लूट कर लाया जिसमें सहस्त्रों पौंड सोना-चाँदी, मोती, रत्न तथा एक सहस्र रेशमी कपड़े के थान सम्मिलित थे।

नवीन मुसलमान

फीरोज़ के शासन-काल में दिल्ली सल्तनत को मंगोलों के आक्रमण का भी सामना करना पड़ा। १२९२ ई. में हुलागू के एक पौत्र के नेतृत्व में डेढ़ लाख मंगोल सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सुनम तक बढ़ आयी। इस अवसर पर फीरोज़ ने तीव्रता से काम किया और वेग से आक्रमणकारी के विरुद्ध

प्रस्थान करके उसे भयंकर पराजय दी। मंगोलों ने फीरोज़ से सन्धि कर ली और उसने उनकी सेनाओं को शान्तिपूर्वक लौट जाने की आज्ञा दे दी। चंगेज़खाँ के एक वंशज उलग़ू ने फीरोज़ के यहाँ नौकरी कर ली और इस्लाम अंगीकार करके दिल्ली में ही रहने लगा। सुल्तान ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। वह तथा उसके अनुयायी 'नये मुसलमानों' के नाम से विख्यात हुए।

जलालुद्दीन की मृत्यु

अलाउद्दीन की अनुपस्थिति में सुल्तान के कुछ पदाधिकारियों ने उससे कहा कि अलाउद्दीन एक अत्यधिक महत्वाकांक्षी नवयुवक है और सिंहासन हस्तगत करने की अभिलाषा रखता है। किन्तु अलाउद्दीन के छोटे भाई उलुगखाँ की मीठी-मीठी बातों के कारण सुल्तान का उसमें (अलाउद्दीन में) और भी अधिक विश्वास बढ़ गया था। अतएव उसने कहा कि अलाउद्दीन के अत्यधिक महत्वाकांक्षी होने का कोई कारण नहीं हो सकता क्योंकि मैं उसे अपने पुत्र की भाँति समझता हूँ और उसके लिए सब कुछ करने को उद्यत हूँ। उलुगखाँ ने सुल्तान को विश्वास दिलाया कि अलाउद्दीन देवगिरि से जो अपार धन-राशि लाया है, उसे आपको अर्पित करना चाहता है किन्तु दिल्ली आने और आपके सम्मुख उपस्थित होने का उसे साहस नहीं होता क्योंकि आपसे उसने देवगिरि पर आक्रमण करने की आज्ञा नहीं ली थी। जलालुद्दीन ने अपने पदाधिकारियों की सलाह की उपेक्षा की और अपने भतीजे तथा दामाद से मिलने के लिए कड़ा की ओर चल पड़ा। दिल्ली से प्रस्थान करके उसने नाव द्वारा यात्रा की और उसकी सेना अहमद चप की अधीनता में स्थल-मार्ग से रवाना हुई। अलाउद्दीन गंगा पार करके मानिकपुर पहुँचा। अपनी सेना को उसने तैयार रखा और बड़ी सावधानी से सुल्तान के लिए जाल बिछाया और उसमें उसे फँसाने के लिए अपने भाई को भेजा। उलुगखाँ सुल्तान की सेवा में उपस्थित हुआ और उससे प्रार्थना की कि कृपा कर अपनी सेना को नदी पार करके पूरबी किनारे पर पहुँचने की आज्ञा न दीजिए क्योंकि अलाउद्दीन अब भी बहुत भयभीत है और कहीं ऐसा न हो कि वह आत्म-हत्या कर ले अथवा भाग खड़ा हो। दरबारियों ने इसका विरोध किया और कहा कि अलाउद्दीन स्वयं सुल्तान से मिलने नहीं आया है और उसने अपनी सेना युद्ध के रूप में खड़ी कर रखी है। उलुगखाँ ने उत्तर दिया कि वह दावत की तैयारियों में लगा हुआ है। इसके अतिरिक्त वह देवगिरि से प्राप्त लूट के माल को सुल्तान की भेंट करना चाहता है, इसका भी उसे समुचित प्रबन्ध करना है। सेनाएँ इस रूप में इसलिए खड़ी हैं कि वे सुल्तान का उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप स्वागत कर सकें। इस उत्तर से जलालुद्दीन सन्तुष्ट हो गया और थोड़े-से निःशस्त्र सैनिकों को लेकर

अपने भतीजे से मिलने चल पड़ा। अलाउद्दीन ने आगे बढ़कर सुल्तान के सम्मुख अपने को नतमस्तक किया। जलालुद्दीन ने उसे प्रेमपूर्वक उठाकर हृदय से लगा लिया और उसका हाथ पकड़कर मधुर सम्भाषण करते हुए उसे नाव की ओर ले चला। अलाउद्दीन ने मुहम्मद सलीम नामक अपने एक अनुयायी को संकेत किया और उसने सुल्तान पर दो प्रहार किये। घायल होकर जलालुद्दीन नाव की ओर भागा और चिल्लाया, "दुष्ट अलाउद्दीन ! तूने यह क्या किया ?" उसी समय अलाउद्दीन के एक दूसरे अनुयायी ने पीछे से आकर सुल्तान का सिर धड़ से अलग कर दिया। सुल्तान के सेवकों को तलवार के घाट उतार दिया गया। १६ जुलाई, १२९६ ई. के दिन अलाउद्दीन ने राजछत्र धारण करके अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। जलालुद्दीन के सिर को भाले में छेदकर अलाउद्दीन के अधीनस्थ कड़ा मानिकपुर तथा अवध के सूबों में घुमाया गया।

जलालुद्दीन फीरोज का मूल्यांकन

जलालुद्दीन दिल्ली का प्रथम तुर्की सुल्तान था जिसने उदार निरंकुशवाद के आदर्श को अपने सामने रखा। यद्यपि वह स्वयं सफल सेनानायक था और एक शक्तिशाली सेना उसके अधिकार में थी, फिर भी उसने सैनिकवादी नीति को जिसने पिछली एक शताब्दी भर उसके पूर्वाधिकारियों को अनुप्राणित किया था, त्याग दिया। अपनी उदार नीति द्वारा वह दरबार तथा राज्य के शत्रुतापूर्ण व्यक्तियों और वर्गों को सन्तुष्ट रखना चाहता था। उसने बलबन-वंश के अनुयायी तुर्की अफसरों को अपने महत्वपूर्ण पदों पर पूर्ववत रहने दिया। उसने जानबूझकर ऐसी नम्रता प्रदर्शित की कि अपना सर्वनाश कर लिया। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, बलबन के महल के चौक में सुल्तान घोड़े पर सवार नहीं हुआ। पुराने सिंहासन पर बैठने से भी उसने इसलिए इन्कार कर दिया कि पहले सेवक के रूप में वह उसके सम्मुख खड़ा हो चुका था। इसलिए उसने अपने लिये एक नये सिंहासन का निर्माण कराया। यह विश्वास करना कठिन है कि ऐसे व्यक्ति में जो जीवन भर सैनिक तथा सेनानायक रह चुका था, स्वभाव से ही इतनी नम्रता होगी। स्पष्ट है कि यह उसकी नीति थी। जलालुद्दीन ने हिन्दू सामन्तों के विरुद्ध कोई उल्लेखनीय सैनिक कार्यवाही नहीं की। सम्भवतः उसका विश्वास था कि संगठन से राज्य का अधिक हित होगा। कैकुबाद तथा कयूमर्स के तीन वर्ष के शासन-काल में दिल्ली की शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी। उसको सुधारने के लिए अत्यधिक दत्तचित्त होकर कार्य करने की आवश्यकता थी। सुल्तान पर हम कायरता का आरोप नहीं लगा सकते क्योंकि उसने सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सफलतापूर्वक रक्षा की थी और मंगोलों को भयंकर पराजय देकर उन्हें सन्धि करने तथा

दिल्ली में शान्तिपूर्वक बसने पर बाध्य किया था। उसका राज्य-काल किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि दिल्ली सल्तनत के इतिहास में जलालुद्दीन ही पहला सुल्तान था जिसने जनमत को प्रसन्न करने तथा मुसलमानों में जो तुर्क, गैर-तुर्क तथा भारतीय वर्ग थे, उनमें एकता तथा समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यदि उसने और अधिक राज्य किया होता तो उसकी अतिशय उदार नीति के कारण सल्तनत को अवश्य हानि पहुँचती। इसलिए वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि वह उस युग में राजदण्ड धारण करने के योग्य नहीं था। किन्तु यह मत भ्रमपूर्ण है क्योंकि जलालुद्दीन सर्वथा उदार नहीं था। अपने पूर्वाधिकारियों की भाँति वह भी अपनी बहुसंख्यक हिन्दू जनता के धर्म के प्रति असहिष्णु था। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, झैन में उसने मन्दिरों को नष्ट तथा अपवित्र किया और मूर्तियों को तोड़ा। वह एक मुसलमान सन्त को भी दण्ड दे सकता था यदि उसे विश्वास हो जाता था कि उससे राज्य को हानि होने की सम्भावना है। यह दुर्भाग्य की बात है कि बरनी ने उसके शासन-काल की उन्हीं घटनाओं को चुन लिया है जिनसे उसके चरित्र पर बुरा प्रकाश पड़ता है।

बरनी का ग्रन्थ ही जलालुद्दीन के शासन-काल के लिए एकमात्र प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ है, किन्तु वह इतिहासकार जलालुद्दीन तथा अन्य सभी खलजियों के विरुद्ध द्वेषभाव रखता था। सत्य तो यह है कि सुल्तान अतिशय उदार नहीं था बल्कि विभिन्न प्रतिस्पर्धी दलों में सन्तुलन कायम रखना चाहता था। सामान्यतः यह देखा जाता है कि विभिन्न दल उदार शासक से उसकी उदारता तथा निष्पक्षता के कारण अप्रसन्न रहते हैं। एक-दो उदाहरणों को छोड़कर जबकि जलालुद्दीन ने चोरों को उनसे फिर चोरी न करने की प्रतिज्ञा लेकर छोड़ दिया, उसके शासन का इतिहास बताता है कि वह यह जानता था कि कब कठोर होने की आवश्यकता है और कब नहीं।

अलाउद्दीन खलजी (१२९६-१३१६ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

अलाउद्दीन जलालुद्दीन का भतीजा तथा दामाद था। वह एक अत्यधिक उद्योगी तथा उत्साही सैनिक था और सामान्य व्यवहार-बुद्धि तथा यथार्थवादिता उसमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। वह महत्वाकांक्षी था और प्रारम्भ में ही अपनी भावी महत्ता के लक्षण प्रकट कर चुका था। १२९० ई. में अपने चाचा के सिंहासनारोहण के अवसर पर उसे अमीरे-तुजक का पद मिला और कुछ ही समय उपरान्त वह इलाहाबाद के निकट कड़ा मानिकपुर का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। मलिक छज्जू के अनुयायी उसके चतुर्दिक एकत्र हो

गये। शक्ति तथा धन प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखने वाले जवान खलजी सैनिक भी अलाउद्दीन को अवसर के अनुकूल नेता मानते थे और उनका विश्वास था कि उसे दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है और उसे पाने पर वह हमें हमारे उत्साह तथा वीरता के लिए पुरस्कृत करेगा। इस प्रकार के असन्तुष्ट लोगों ने जो बूढ़े सुल्तान जलालुद्दीन की उदार नीति से अप्रसन्न थे, अलाउद्दीन को सिंहासन के हेतु लड़ने के लिए भड़काया। किन्तु अलाउद्दीन चतुर था और किसी प्रकार की जल्दबाजी नहीं करना चाहता था। वह प्रहार करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करता रहा। उसका पहला तथा अधिक आवश्यक कार्य था अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाना और अपने आसपास परखी हुई योग्यता तथा स्वामिभक्ति के लोगों को एकत्र करना। उसके भाई ने दरबार में उसका प्रतिनिधित्व किया तथा उसके हितों की रक्षा की और उसी के द्वारा अलाउद्दीन ने अपने चाचा सुल्तान को प्रसन्न रखा। उसने मालवा पर आक्रमण करने के लिए सुल्तान की आज्ञा प्राप्त कर ली। १२९२ ई. में उसने मालवा में प्रवेश किया और भिलसा के नगर को जीतकर बहुत-सा धन तथा बहुमूल्य वस्तुएँ लूटकर लाया। लूट का एक भाग उसने सुल्तान के पास भिजवा दिया जिससे प्रसन्न होकर जलालुद्दीन ने उसे कड़ा के अतिरिक्त अवध का भी सूबेदार बना दिया। इस प्रकार अलाउद्दीन अपने चाचा के दो प्रान्तों पर शासन करता था।

मालवा में अलाउद्दीन को जो सफलता प्राप्त हुई उससे उसकी विजय-पिपासा और भी अधिक तीव्र हो गयी। भिलसा में उसने दक्षिण के राज्य देवगिरि की समृद्धि और वैभव की कहानियाँ सुनीं जिससे उसके हृदय में दक्षिण भारत को विजय करने की उत्कण्ठा प्रज्ज्वलित होने लगी। उसने अपने चाचा से अपने सैनिकों की संख्या बढ़ाने की आज्ञा प्राप्त करली। किन्तु देवगिरि पर आक्रमण करने की अपनी योजना को उसने सुल्तान से छिपाकर रखा। उस समय विन्ध्याचल पर्वतों के दक्षिण में दो समृद्धशाली राज्य थे—पश्चिम में देवगिरि और पूरब में तैलंगाना। अलाउद्दीन ने पहले पर आक्रमण करने का संकल्प किया। उसने इस योजना के लिए सावधानी से तैयारियाँ कीं और अपने नाइब अला-उल-मुल्क को कड़ा में नियुक्त करके १२९४ ई. में आठ हजार अश्वारोही सेना लेकर दक्षिण के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में बड़ी चतुरता से उसने यह अफवाह फैलायी कि मैं दिल्ली का एक शरणार्थी अमीर हूँ और दक्षिणी तैलंगाना में स्थित राजमहेन्द्री में शरण तथा नौकरी की तलाश में जा रहा हूँ। इसलिए मार्ग में किसी ने उस पर सन्देह नहीं किया और न उसका विरोध किया। सहसा वह देवगिरि की उत्तरी सीमा पर जा धमका। यादव राजा रामचन्द्र देव जो उस समय देवगिरि पर

शासन करता था, आक्रमणकारी को देखकर विस्मित रह गया। उसकी सेना का अधिकांश भाग उसका पुत्र शंकरदेव अपने साथ तीर्थ-यात्रा के लिए ले गया था। रामचन्द्र देव ने जल्दी से दो-तीन हजार सैनिक इकट्ठे किये और देवगिरि से बारह मील की दूरी पर स्थित लसूड़ा के मैदान में आक्रमणकारी का मुकाबला किया, किन्तु अलाउद्दीन की सेना ने जो संख्या में उसकी सेना से कहीं अधिक थी, उसे पराजित करके किले के भीतर शरण लेने पर बाध्य किया। अलाउद्दीन ने किले को घेर लिया और अफवाह फैला दी कि मेरी सेना दिल्ली से आ रही बीस हजार अश्वारोही सेना की केवल एक अग्रगामी टुकड़ी है। इस समाचार से आतंकित होकर रामचन्द्र देव ने सन्धि करना स्वीकार कर लिया और आक्रमणकारी को १४०० पौंड सोना और बहुत-से बहुमूल्य मोती तथा अन्य वस्तुएँ भेंट कीं। जब अलाउद्दीन प्रस्थान करने की तैयारियाँ कर रहा था, उसी समय राजा का पुत्र शंकरदेव तीर्थयात्रा से लौट आया और अपने पिता की सलाह के विरुद्ध उसने आक्रमणकारी पर हमला कर दिया। अलाउद्दीन ने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। एक को उसने नगर की देखभाल के लिए छोड़ दिया जिससे रामचन्द्र देव अपने पुत्र की सहायता के लिए न पहुँच सके और दूसरे भाग को लेकर उसने शंकरदेव से लड़ने की तैयारी की। उसकी पराजय निकट ही थी कि मलिक नसरत की अधीनता में दूसरा भाग नगर की सीमा से चलकर उसकी सहायता के लिए पहुँच गया। शंकर ने समझा कि यह दिल्ली से आने वाली सेना है जिसके विषय में अलाउद्दीन शेखी मार रहा था। इस विचार से उसके हाथ-पाँव फूल गये और उसकी पराजय हुई। अलाउद्दीन ने एक बार फिर देवगिरि के दुर्ग को घेर लिया। कुछ दिन युद्ध करने के उपरान्त रामचन्द्र देव को पता लगा कि रक्षा-सेना के लिए जो रसद के बोरे इकट्ठे किये गये हैं, उनमें अनाज की जगह नमक भरा है, अतः उसे सन्धि करने पर बाध्य होना पड़ा। अलाउद्दीन ने अब उस पर पहले से भी अधिक कठोर शर्तें थोपीं। उसने रामचन्द्र से एलिचपुर का प्रान्त छीन लिया और युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए १७,२५० पौंड सोना, २०० पौंड मोती, ५८ पौंड अन्य रत्न, २८,२५० पौंड चाँदी तथा १,००० रेशम के थान वसूल किये। इस भारी लूट की सम्पत्ति को लेकर अलाउद्दीन कड़ा को लौट गया।

दक्षिणी भारत पर यह पहला तुर्की आक्रमण था। अलाउद्दीन की सफलता वास्तव में अधिक महत्वपूर्ण थी। देवगिरि तथा कड़ा में कई सौ मील का अन्तर था, बीच का समस्त प्रदेश अपरिचित था और वहाँ की जनता का व्यवहार शत्रुतापूर्ण था। इस आक्रमण की सफलता ने सिद्ध कर दिया कि अलाउद्दीन एक उच्चकोटि का प्रतिभाशाली सैनिक ही नहीं था, अपितु उसमें अद्भुत साहस, संगठन-शक्ति तथा साधन-सम्पन्नता भी थी।

इस असाधारण विजय से अलाउद्दीन का सिर फिर गया। अब वह दिल्ली के सिंहासन को हस्तगत करने की आकांक्षा करने लगा। उसके अनुयायी इस सम्बन्ध में प्रयत्न करने के लिए उसे उत्तेजित कर रहे थे। उसकी पारिवारिक कठिनाइयाँ भी उसी ओर संकेत कर रही थीं। अपनी पत्नी से जो सुल्तान की पुत्री थी, उसकी नहीं पटती थी। वह तथा उसकी माता दरबार में उसके विरुद्ध कुचक्र चलाया करती थीं और उन्होंने उसके निजी जीवन को भी दूभर बना रखा था। इन पारिवारिक कठिनाइयों ने उसे शीघ्रातिशीघ्र इस सम्बन्ध में निर्णय करने पर बाध्य किया। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, उसने अपने चाचा को धोखे से जाल में फाँस कर कड़ा के निकट १९ जुलाई, १२९६ ई. को कत्ल करवा दिया और स्वयं मुकुट धारण कर लिया।

उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

दिल्ली की गद्दी प्राप्त करने के लिए अलाउद्दीन ने खून से अपने हाथ रँगे, यह अक्षरशः सत्य है। उसे आशा थी कि सिंहासन फूलों की सेज होगा किन्तु कुछ समय के लिए तो वास्तव में वह काँटों की शैय्या सिद्ध हुआ। चारों ओर से उसे कठिनाइयों ने घेर लिया। वह एक अपहरणकर्ता था और अपने महानतम उपकारी चाचा की हत्या का अपराध उसके सिर पर था। इसलिए सभी भले तथा विचारवान लोग उससे घृणा करने लगे। इसके अतिरिक्त स्वर्गीय सुल्तान के अमीर तथा अनुयायी (जो जलाली अमीर कहलाते थे), अपने स्वामी के हत्यारे को क्षमा नहीं कर सकते थे। जलालुद्दीन के वंशजों का सबसे अधिक शक्तिशाली समर्थक अहमद चप था जिसकी गणना उस समय तुर्की सल्तनत के निर्भीकतम योद्धाओं में की जाती थी। तीसरे, दिल्ली बहुत दूर थी और हिन्दुस्तान का प्रभुत्व उसी व्यक्ति के हाथों में समझा जाता था जिसका राजधानी के सिंहासन पर अधिकार होता था। विधवा रानी मलिके जहाँ के विचारानुसार सिंहासन को रिक्त रखने से संकट उपस्थित हो सकता है, इसलिए उसने शीघ्र ही उसकी पूर्ति का आयोजन किया और अपने द्वितीय पुत्र कद्रखाँ को रुकुनुद्दीन इब्राहीम के नाम से सिंहासन पर बैठाकर सुल्तान घोषित कर दिया।

यदि नये सुल्तान इब्राहीम को उचित समर्थन प्राप्त होता तो वह अलाउद्दीन का भयंकर प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो सकता था। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली हिन्दू सामन्त भी जिन्हें तुर्की प्रभुत्व का जुआ असह्य हो रहा था, उससे मुक्त होने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। उधर दिल्ली सल्तनत के उत्तर-पश्चिमी प्रवेश-द्वार पर मंगोल प्रहार कर रहे थे। इसलिए परिस्थिति भयंकर दिखायी पड़ती थी और यदि अलाउद्दीन से कम साहस वाला कोई व्यक्ति होता तो उसका हृदय अवश्य टूट गया होता।

दिल्ली पर अधिकार

अलाउद्दीन ने शक्ति तथा दृढ़ संकल्प के साथ अनेक कठिनाइयों का सामना किया जैसा कि इल्तुतमिश ने अपने शासन के प्रारम्भ में किया था। उसने अपनी प्रारम्भिक हिचकिचाहट तथा भागकर बंगाल में शरण लेने की इच्छा को त्यागकर अविलम्ब दिल्ली पर प्रहार करने की नीति को अपनाया। जब उसे यह शुभ समाचार मिला कि जलालुद्दीन के वंशजों के समर्थकों में फूट पड़ गई है, तो उसका संकल्प और भी अधिक दृढ़ हो गया। जलालुद्दीन के ज्येष्ठ-तम जीवित पुत्र अर्कलीखाँ ने अपने अनुज के सिंहासनारोहण का विरोध किया और उसे सुल्तान स्वीकार नहीं किया तथा मुल्तान में उदासीन पड़ा रहा। जलाली पक्ष के अनेक लोग वहाँ जाकर उससे मिल गये। इस फूट से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन दिल्ली की ओर बढ़ा और मार्ग में उसने दक्खिन का धन जनता में बाँटकर उसे प्रसन्न किया। उसकी सेना की संख्या बढ़कर विशाल हो गयी। उसके आगमन का समाचार सुनकर इब्राहीम दिल्ली से निकला और बदायूँ के निकट दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में मुठभेड़ हो गयी।

अलाउद्दीन ने बिना युद्ध के ही अपने शत्रु पर विजय प्राप्त की क्योंकि इब्राहीम के अधिकतर सैनिक तथा अनुयायी उसे छोड़कर अलाउद्दीन से जा मिले। इस प्रकार ६० हजार अश्वारोही तथा ६० हजार पैदल सेना लेकर अलाउद्दीन दिल्ली की ओर बढ़ा। इब्राहीम अपनी माता तथा अनुयायियों के साथ मुल्तान की ओर भाग गया, अलाउद्दीन ने दिल्ली में प्रवेश किया और ३ अक्टूबर, १२९६ ई. को बलबन के लाल किले में उसका नियमानुसार राज्याभिषेक हुआ।

नये सुल्तान ने सर्वप्रथम जनता को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जिससे वह उसके घृणित अपराध को भूल जाय। देवगिरि से प्राप्त नकद धन को उसने पानी की भाँति बहाया। कहा जाता है कि कड़ा मानिकपुर से दिल्ली तक के मार्ग में प्रत्येक मंजिल पर वह अपने खेमे के सामने एक बलिश्ता रखवाकर उसके द्वारा छोटे-छोटे सोने तथा चाँदी के सिक्के लोगों में बखेरा करता था। दिल्ली में भी कुछ दिनों तक उसने यही नियम जारी रखा। जनता की स्मरण-शक्ति दुर्बल होती है, यह एक लोक-प्रसिद्ध बात है। वह अलाउद्दीन के विश्वासघात तथा कृतघ्नता को भूल गयी और बहुत-से लोग उसकी अपव्ययता-पूर्ण उदारता की प्रशंसा करने लगे। लगभग सभी महत्वपूर्ण अमीर और पदाधिकारी विगत को भूलकर उसके पक्ष में हो गये। सोने के लोभ से आकृष्ट हुए इन साहसिकों की सहायता से इब्राहीम तथा उसके समर्थकों का दमन करना अलाउद्दीन का दूसरा मुख्य कार्य था। उलुगखाँ तथा हिजाबुद्दीन की अधीनता में चालीस हजार सेना अर्कलीखाँ, इब्राहीम तथा उसकी माता का

दमन करने के लिए मुल्तान भेजी गयी। उसने निर्विरोध नगर पर अधिकार करके राजकुमारों को बन्दी बना लिया। अर्कली, इब्राहीम, अहमद चप तथा जलालुद्दीन के दामाद उलुगखाँ मंगोल को अन्धा कर दिया गया और विधवा रानी मलिकेजहाँ को कारागार में डाल दिया गया। इस प्रकार चतुर कूटनीति द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों तथा उनके समर्थकों को अपने मार्ग से हटाकर नया सुल्तान अलाउद्दीन सिंहासन पर बैठा।

अपनी इस सफलता के कारण सुल्तान के लिए उन अमीरों तथा पदाधिकारियों को दण्ड देना सम्भव हो सका जो सोने के लोभ से रुकुनुद्दीन इब्राहीम को छोड़कर उससे आ मिले थे। अलाउद्दीन का विश्वास था कि ऐसे लोग जो एक स्वामी को छोड़कर दूसरे से मिल सकते हैं, विश्वसनीय नहीं हो सकते, अतएव उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। इसी नीति के अनुसार उसने कुछ को मृत्यु-दण्ड दिया, कुछ को अन्धा करवा दिया और शेष को कारागार में डाल दिया। उनके पुत्रों तथा स्त्रियों की सम्पत्ति का अपहरण करके उन्हें भिखारी बना दिया गया। विश्वासघातियों से पहले लाभ उठाना और फिर उन्हें दण्ड देना अलाउद्दीन का एक सिद्धान्त था।

उसका राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्त

जैसे ही अलाउद्दीन की स्थिति दृढ़ हो गयी, उसने बलबन के राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्त की पुनः स्थापना का संकल्प किया। बलबन की भाँति वह भी राजा के प्रताप में विश्वास करता था और उसे पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि सुल्तान को अन्य सभी मनुष्यों से अधिक बुद्धि होती है इसीलिए उसकी इच्छा ही कानून होनी चाहिए। वह इस सिद्धान्त को मानता था कि 'राजा का कोई सम्बन्धी नहीं होता' और राज्य के सभी निवासी उसके सेवक अथवा प्रजा होते हैं। उसने राज्य की नीति निर्धारित करने में किसी व्यक्ति अथवा दल विशेष द्वारा प्रभावित न होने का निश्चय किया। १३वीं शताब्दी भर दिल्ली सुल्तान दो वर्गों के प्रभाव में रहे थे—एक अमीर और दूसरे उलेमा। अलाउद्दीन यह सहन करने को तैयार न था कि पुराने अमीर फिर राज्य में अपनी शक्ति की स्थापना कर लें। वह नहीं चाहता था कि वे उसकी नीति को प्रभावित करें। वह उन्हें अपना सेवक बनाकर रखना चाहता था जिससे अपनी इच्छानुसार वह उनको नियुक्त और पदच्युत कर सके। उसने उन्हें इतना आतंकित किया कि किसी दरबारी में इतना भी साहस न रहा कि वह उसे किसी प्रकार की सलाह दे सकता अथवा किसी रियायत के लिए उससे प्रार्थना कर सकता। उसका पुराना मित्र दिल्ली का कोतवाल अला-उल-मुल्क ही एक ऐसा व्यक्ति था जो सुल्तान को सलाह देने का साहस कर सकता था। जहाँ तक दूसरे वर्ग उलेमा का सम्बन्ध था, दिल्ली

सल्तनत के इतिहास में अलाउद्दीन ने पहली बार घोषणा की कि मैं उन्हें राज्य की नीति निर्धारित करने की आज्ञा नहीं दूँगा। उसने कहा कि धर्माधिकारियों की अपेक्षा मैं अधिक अच्छी तरह जानता हूँ कि राज्य की भलाई के लिए क्या आवश्यक और लाभप्रद है। उसने इन शब्दों में अपनी नीति की व्याख्या की, "मैं नहीं जानता कि क्या कानून की दृष्टि में उचित है और क्या अनुचित; मैं राज्य की भलाई अथवा अवसर विशेष के लिए जो उपयुक्त समझता हूँ, उसी के करने की आज्ञा देता हूँ, अन्तिम न्याय के दिन मेरा क्या होगा यह मैं नहीं जानता।" इस प्रकार अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनसे कम से कम सैद्धान्तिक राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता। दुर्भाग्यवश उसके उत्तराधिकारियों ने इस नीति का अनुसरण नहीं किया इसलिए उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद भारत की तुर्की सल्तनत पुनः एक साम्प्रदायिक संस्था बन गयी। यद्यपि इस प्रकार अलाउद्दीन ने उलेमा को शासन-व्यवस्था में हस्तक्षेप करने से रोका, किन्तु भारतीय नरेशों तथा जनता के विरुद्ध युद्धों में उसके मुसलमानों की धर्मान्धता का अवश्य लाभ उठाया। वास्तव में उसे जब कभी मुस्लिम जनमत के समर्थन अथवा उसके सैनिक सहयोग की आवश्यकता होती थी, तब वह उनकी धार्मिक भावनाओं को अत्यधिक उत्तेजित कर दिया करता था। अलाउद्दीन ने इस्लाम को कभी नहीं त्यागा। मुस्लिम कानून में उसकी आस्था कम नहीं हुई और न उसके विरुद्ध ही उसने कभी कार्य किया। असल में वह उतना ही अच्छा मुसलमान बना रहा, जितना कि दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाले उसके पूर्वाधिकारियों में से कोई हो सकता था।

अलाउद्दीन ने अपनी सत्ता की जड़ें मजबूत करने के लिए खलीफा के नाम का सहारा लेना आवश्यक नहीं समझा। उसने कभी खलीफा से अधिकार-पत्र की प्रार्थना नहीं की। फिर भी उसने सदैव अपने को खलीफा का नाइब (यामीन-उल-खिलाफत नासिरी अमीर-उल-मुमनिन) कहा। ऐसा करने में उसका उद्देश्य खलीफा के प्रति राजनीतिक प्रमुख के रूप में सम्मान प्रकट करना नहीं था, वह केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से खिलाफत की परम्परा को जीवित रखना चाहता था।

जहाँ तक हिन्दुओं का सम्बन्ध था, वह अपने को उस अर्थ में उनका शासक नहीं समझता था जिसमें कि मुसलमानों का और न उनकी भलाई के लिए अपने को जिम्मेदार मानता था। हिन्दुओं का दमन करने की उसकी नीति क्षणिक आवेश का परिणाम नहीं, अपितु निश्चित विचारधारा का एक अंग थी। राज्य में हिन्दुओं की क्या स्थिति होनी चाहिए, इस विषय में उसने

INDIA IN 1315 A.D.
Alauddin Khalji.
Boundary of the Empire
Conquered, but Semi-independent.
Miles
Copyright DHARMA BHANU.
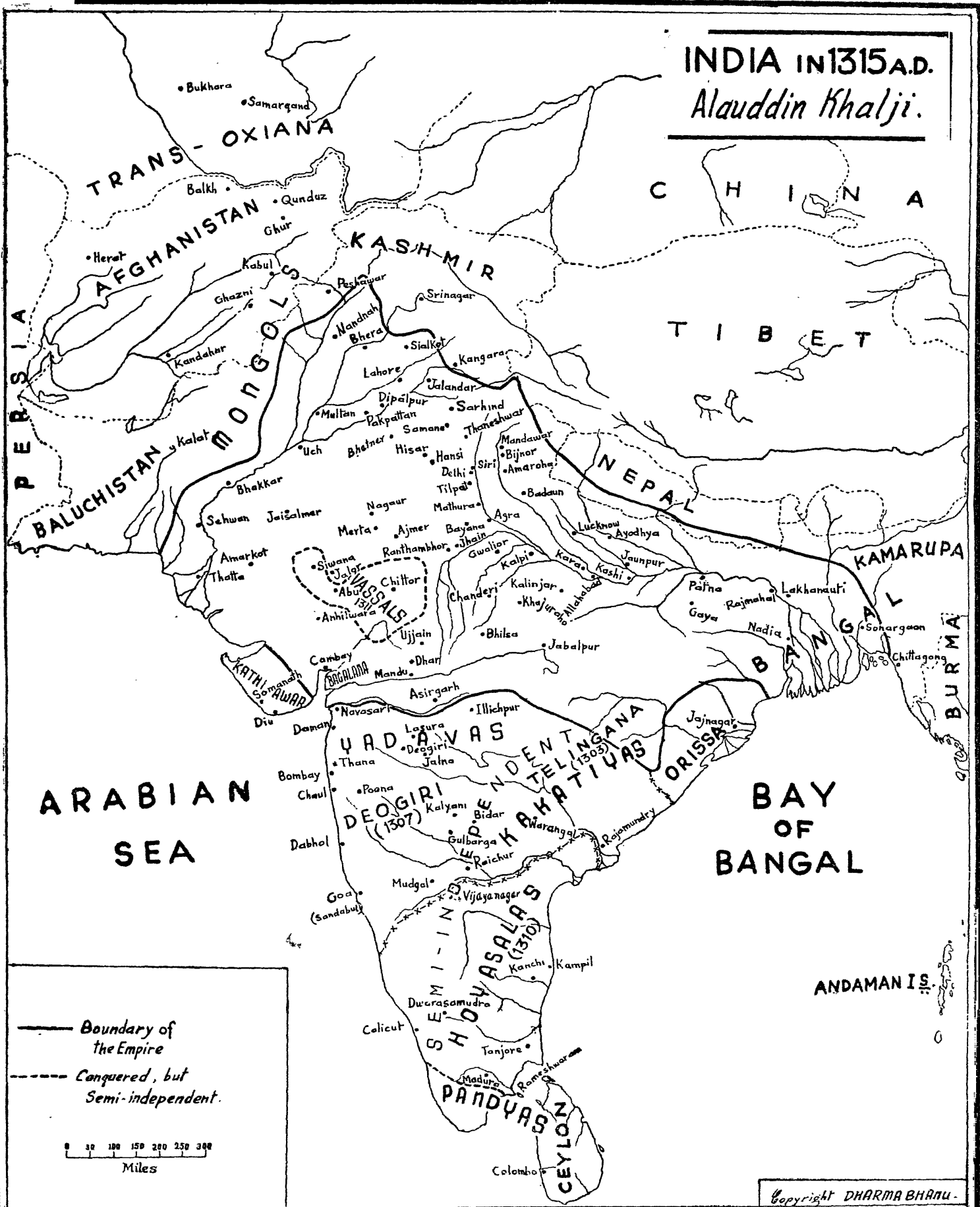
बयाना के काज़ी मुगीसुद्दीन की सलाह ली। काज़ी ने उत्तर दिया, "शरा में हिन्दुओं को ख़राज-गुज़ार (कर देने वाला) कहा गया है, और जब कोई माल का अफसर उनसे चाँदी माँगे तो उनका कर्तव्य है कि बिना पूछताछ के और बड़ी नम्रता के साथ उसे सोना दें, और यदि अफसर उनके मुँह में धूल फेंके, तो उसे लेने के लिए बिना हिचकिचाहट उन्हें अपना मुँह खोल देना चाहिए। इस प्रकार के अपमानजनक कार्यों में जिम्मी इस्लाम के प्रति अपनी आज्ञा-पालन की भावना का प्रदर्शन करता है और इससे धर्म का यश बढ़ता है। ईश्वर ने स्वयं उन्हें अपमानित करने की आज्ञा दी है............पैगम्बर ने हमें उनका वध करने, उन्हें लूटने तथा बन्दी बनाने का आदेश दिया है। महान् इमाम अबूहनीफा जैसे अधिकारी ने जिसके धर्म का हम अनुसरण करते हैं, हिन्दुओं पर जज़िया लगाने की अनुमति दी है।" अन्य इस्लामी धर्माधीशों के अनुसार हिन्दुओं के लिए नियम है कि वे मृत्यु अथवा इस्लाम में से एक का वरण करें। अलाउद्दीन ने काज़ी की सलाह का हृदय से स्वागत किया। वह अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू जनता के प्रति इसी नीति का अनुसरण करता आया था, इसलिए काज़ी की राय सुनकर उसे प्रसन्नता हुई।

गृह-नीति

विद्रोहों का दमन : उनके कारणों का विश्लेषण

अलाउद्दीन के शासन-काल के प्रारम्भिक दिनों में विद्रोहों के कारण अशान्ति रही। पहला विद्रोह उन मंगोलों का हुआ जो जलालुद्दीन फीरोज़ के समय से भारत में बस गये थे और 'नये मुसलमान' कहलाते थे। १२९९ ई. में वे गुजरात के आक्रमण में नसरतखाँ के साथ गये परन्तु आक्रमण की सफलता के बाद जब सेना वापस लौट रही थी, उस समय मार्ग में लूट के माल के बँटवारे से असन्तुष्ट होकर उन्होंने विद्रोह कर दिया और अलाउद्दीन के एक भतीजे तथा नसरतख़ाँ के एक भाई को मार डाला। नसरतखाँ ने उन पर आक्रमण करने की आज्ञा दी और एक बड़ी संख्या में उनका वध कर दिया गया। उनमें से कुछ ने भागकर रणथम्भौर के राणा हम्मीरदेव के यहाँ शरण ली। अलाउद्दीन ने दिल्ली में उपस्थित उनकी स्त्रियों और बच्चों को कत्ल करवाकर उनसे बदला लिया। दूसरा विद्रोह अकतखाँ ने किया जो सुल्तान के भाई का पुत्र था। जब सुल्तान रणथम्भौर को जा रहा था तो मार्ग में तिला-पट के निकट कुछ दिनों के लिए शिकार का आनन्द लेने के लिए ठहर गया। शिकार के दौरान में एक बार सुल्तान बिलकुल अकेला रह गया तो अकतखाँ ने अपने सैनिकों को उस पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। अलाउद्दीन ने वीरतापूर्वक अपनी रक्षा की और तब तक अंगरक्षक दल के कुछ सिपाही आ

गये। किन्तु अकतखाँ ने यह समझकर कि सुल्तान मारा जा चुका है, सेना में लौटकर उसकी मृत्यु की घोषणा कर दी और उसके निवास पर अधिकार करने के उद्देश्य से उसमें प्रवेश करने का प्रयत्न किया। तब तक सुल्तान जो अपने अंगरक्षकों की सामयिक सहायता के कारण बच गया था, अपने खेमे में लौटकर पहुँचा। अकतखाँ तथा उसके साथियों का वध कर दिया गया। इसके उपरान्त तीसरा इससे भी अधिक भयंकर विद्रोह हुआ। जब सुल्तान रणथम्भौर का घेरा डाले हुए था, उस समय उसके दो भानजों—अमीर उमर और मंगूखाँ ने बदायूँ तथा अवध में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। किन्तु प्रान्तों के स्वामिभक्त सूबेदारों ने उन्हें पराजित करके बन्दी बना लिया। चौथा विद्रोह सुल्तान की राजधानी दिल्ली में ही हुआ। हाजी मौला नामक एक विद्रोही अफसर ने गुण्डों की एक फौज इकट्ठी करके तमार्दी नामक कोतवाल को मार डाला। अपनी इस सफलता का लाभ उठाने के उद्देश्य से उसने सिरी के कोतवाल अयाज़ का वध करने का भी प्रयत्न किया। लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने अपने एक उम्मीदवार को दिल्ली के सिंहासन पर बैठा दिया और राज्य की शक्ति हस्तगत करने का प्रयत्न किया। किन्तु मलिक हमीदुद्दीन नामक एक स्वामिभक्त अफसर ने विद्रोही को हराया और मार डाला। ये विद्रोह एक के बाद एक कुछ ही वर्षों में हुए इसलिए सुल्तान को विश्वास हो गया कि शासन-व्यवस्था में कुछ मौलिक दोष हैं। अपने मित्रों की सलाह से उसने परिस्थिति का गम्भीर अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचा कि विद्रोहों के चार मुख्य कारण हैं—(१) गुप्तचर विभाग की अयोग्यता जिसके कारण सुल्तान को अपने पदाधिकारियों तथा जनता के कार्यों के विषय में उचित सूचना नहीं मिल पाती थी, (२) मद्यपान का सामान्य रिवाज जिससे लोगों में भाईचारे की भावना उत्पन्न होती थी और विद्रोह तथा षड्यन्त्र करने के लिए उत्तेजना मिलती थी, (३) अमीरों में सामाजिक मेल-मिलाप तथा परस्पर विवाह-सम्बन्ध जिससे उन्हें सुल्तान के विरुद्ध संगठित होने का अवसर मिलता था, और (४) कुछ प्रमुख लोगों के अधिकार में अत्यधिक धन का संग्रह जिससे उन्हें सोचने तथा विद्रोह रचने के लिए अवकाश मिलता था।

अध्यादेश[1]

विद्रोहों के कारणों का विश्लेषण करने के उपरान्त अलाउद्दीन ने उनकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए कदम उठाया। उसने चार महत्वपूर्ण अध्यादेश

---

[1] Ordinances.

जारी किये। पहले का उद्देश्य धर्मास्वों[२] तथा माफी की भूमि को जब्त करना था। कई सौ परिवार ऐसे थे जो माफी की भूमि का उपभोग करते आये थे। कुछ के अधिकार में तो स्मरणातीत समय से भूमि चली आयी थी। इस प्रकार उद्योगहीन व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था जिसे बिना परिश्रम के ही जीविका उपलब्ध हो जाती थी। अलाउद्दीन के नियमों ने इस वर्ग पर कठोर प्रहार किया। अपनी भूमि के लिए उन्हें कर देने को बाध्य किया गया और कर वसूल करने वाले पदाधिकारियों को उनसे प्रत्येक बहाने से अधिक से अधिक धन वसूल करने की आज्ञा दी गयी। सुल्तान की दृष्टि से व्यक्तिगत सम्पत्ति पर किये गये इस आक्रमण के अच्छे परिणाम हुए। बरनी लिखता है कि बड़े अमीरों, उच्च पदाधिकारियों तथा चोटी के व्यापारियों को छोड़कर अन्य लोगों के घरों में सोना देखने को भी न मिलता था। एक अन्य अध्यादेश द्वारा सुल्तान ने गुप्तचर विभाग का पुनर्संगठन किया। गुप्तचरों की एक विशाल सेना का निर्माण किया गया। अमीरों तथा पदाधिकारियों के घरों, दफ्तरों, नगरों और यहाँ तक कि महत्वपूर्ण गाँवों में भी संवाददाता तथा गुप्तचर नियुक्त कर दिये गये। उन्हें सुल्तान के सुनने योग्य तथा लाभप्रद सभी घटनाओं की रिपोर्ट भेजने की आज्ञा दी गयी। इस अध्यादेश का यह परिणाम हुआ कि अमीरों, पदाधिकारियों तथा साधारण जनता का गप-शप उड़ाना बन्द हो गया और सुल्तान के क्रोध के भय से वे अत्यधिक आतंकित हो गये क्योंकि अब उसके पास उनके कामों की ही नहीं बल्कि विचारों और योजनाओं तक की सूचना पहुँचने लगी। तीसरे अध्यादेश द्वारा मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्यों का उपयोग निषिद्ध कर दिया गया। सुल्तान ने स्वयं मद्यपान त्याग दिया और अपने मदिरा-पात्रों को जनता के सम्मुख एक नाटकीय ढंग से तुड़वा दिया। दिल्ली में मदिरा का पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया और उसका प्रवेश रोकने के लिए नगर की सीमाओं पर कड़ा पहरा बैठा दिया गया। नियम भंग करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था, किन्तु लोगों ने मद्यपान नहीं त्यागा। उन्होंने चोरी से शराब लाना प्रारम्भ कर दिया। कुछ तो अपनी हुड़क (उत्कण्ठा) शान्त करने के लिए बीस-पच्चीस मील तक की यात्रा करते थे। अन्त में अलाउद्दीन ने अनुभव किया कि कानून द्वारा लोगों को संयमी नहीं बनाया जा सकता, इसलिए उसने अध्यादेश को कुछ शिथिल कर दिया और घरों में निजी रूप से शराब बनाने तथा पीने की आज्ञा दे दी, किन्तु उसकी बिक्री तथा शराब की दावतों का पूर्ववत निषेध रहा। चौथे अध्यादेश द्वारा सुल्तान ने अमीरों के सामाजिक सम्मेलनों तथा परस्पर विवाह-सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस नियम

---

२ Endowments.

को कठोरता से लागू किया गया। इस प्रकार अमीरों के सामाजिक सम्मेलनों तथा सुहृद गोष्ठियों का अन्त हो गया।

हिन्दुओं का दरिद्र बनना

इन अध्यादेशों के अतिरिक्त सुल्तान ने हिन्दुओं का दमन करने तथा अपने अत्याचारपूर्ण शासन के विरुद्ध उनके विद्रोहों को रोकने के लिए विशेष नियम जारी किये। उसने बड़ी कठोरता से राजस्व में वृद्धि की और उपज का आधा भूमि-कर के रूप में निश्चित किया। भूमि-कर के अतिरिक्त उसने चरागाहों, पशुओं, भेड़ों और बकरियों पर भी कर लगाये। जज़िया, वहिःशुल्क[3] तथा आबकारी कर पूर्ववत बने रहे। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं को जो किसी न किसी रूप में भूमि पर ही निर्भर थे, भारी हानि पहुँची और वे घोर दरिद्र होते गये। उन पर कड़ी निगाह रखी जाती थी और यदि वे किसी कर से बचने का प्रयत्न करते थे तो कठोर दण्ड मिलता था। उस समय तक मुकद्दम, खुत, चौधरी आदि राजस्व-विभाग के उच्च हिन्दू पदाधिकारियों के साथ भूमि-कर की दर तथा राजस्व की वसूली के सम्बन्ध में काफी रियायत की जाती थी। अलाउद्दीन ने यह रियायत छीन ली और वंशानुगत कर निर्धारण करने तथा राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों को बिना किसी विशेष वेतन के काम करने पर बाध्य किया। वित्त-मन्त्री शराफ काई तथा उसके अधीन काम करने वाले मुसलमान पदाधिकारियों ने इन नियमों को कठोरता के साथ लागू किया। जनता अफसरों से उनकी कठोरता के कारण घृणा करने लगी। सर वूल्ज़ले हेग लिखता है, "सम्पूर्ण राज्य में हिन्दू दुख और दरिद्रता में डूब गये। यदि कोई ऐसा वर्ग था जिसकी दशा दूसरों से अधिक दयनीय थी तो वह वंशानुगत कर निर्धारित करने तथा वसूल करने वाले पदाधिकारियों का था जिसका पहले समाज में सबसे अधिक सम्मान था।" तत्कालीन इतिहासकार ज़ियाउद्दीन बरनी इन नियमों के परिणामों का सारांश इस प्रकार देता है : "चौधरी, खुत और मुकद्दम इस योग्य न रह गये थे कि घोड़े पर चढ़ सकते, हथियार बाँध सकते, अच्छे वस्त्र पहन सकते अथवा पान का शौक कर सकते।" गरीबी के कारण उनकी स्त्रियों को पड़ोसी मुसलमानों के घरों में नौकरानियों की भाँति काम करना पड़ता था।

स्थायी सेना

उपर्युक्त नियमों को लागू करने, अपने राजस्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने, अपनी विजय की महत्वाकांक्षा सन्तुष्ट करने तथा देश को

---

[3] Custom Duty.

मंगोलों के निरन्तर आक्रमणों से बचाने के लिए अलाउद्दीन को एक शक्तिशाली सेना रखने की आवश्यकता थी। राजतान्त्रिक निरंकुशवाद का जो आदर्श अलाउद्दीन ने अपने सम्मुख रखा उसकी पूर्ति उच्च कोटि के सैनिक-बल के बिना असम्भव थी। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अलाउद्दीन ने सैन्य-सुधार की ओर ध्यान दिया। वह प्रथम दिल्ली सुल्तान था जिसने स्थायी सेना की नींव डाली जो सदैव राजधानी में सेवा के लिए तैयार रहती थी। फौज की भरती सीधी सेना-मन्त्री द्वारा की जाती थी। राजकीय कोष से उसे नकद वेतन मिलता था। एक सैनिक का वेतन २३४ टंका प्रति वर्ष था और एक अतिरिक्त घोड़ा रखने वाले को ७८ टंका अधिक मिलते थे। सैनिकों को घोड़े, हथियार तथा अन्य सामग्री राज्य के खर्च से दी जाती थी। भ्रष्टाचार को दूर करने तथा सैनिक निरीक्षण के समय अथवा युद्ध-क्षेत्र में प्रतिनिधि भेजने की प्रथा को रोकने के लिए अलाउद्दीन के सेना-मन्त्री के रजिस्टर में प्रत्येक सैनिक की हुलिया (आकृति का वर्णन) लिखने की परिपाटी जारी की। सैनिक लोग अच्छे घोड़ों के स्थान पर बुरे रखकर राज्य को धोखा दिया करते थे, इसको रोकने के लिए घोड़ों को दागने का नियम प्रचलित किया गया। ये नियम पूर्णतया नये नहीं थे। भारत तथा अन्य देशों में पहले से इनका प्रचार था। फरिश्ता के अनुसार केन्द्रीय सेना में ४,७५,००० अश्वारोही थे। किसी तत्कालीन लेखक ने पैदल सेना की संख्या नहीं दी है किन्तु वह घुड़सवार फौज से कहीं अधिक रही होगी। सेना के संगठन, साज-सज्जा तथा अनुशासन की ओर सुल्तान स्वयं बहुत ध्यान देता था।

बाजार का नियन्त्रण

इतनी विशाल सेना को राज्य के साधनों पर अत्यधिक बोझ डाले बिना कायम रखना असम्भव था। किन्तु इतनी बड़ी सेना एक अनिवार्य आवश्यकता भी थी। अलाउद्दीन को राजद्रोह का दमन तथा विद्रोहों का उन्मूलन ही नहीं करना था बल्कि उसे मंगोलों से भी लड़ना था, जो प्रति वर्ष राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर धावा मारा करते थे। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत को विजय करने की भी उसकी महत्वाकांक्षा थी। इसलिए उसे अपनी शक्तिशाली सेना का व्यय घटाने का उपाय सोचने पर बाध्य होना पड़ा। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने नाज, कपड़ा तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं का मूल्य घटाकर उन्हें इतना सस्ता कर दिया कि एक सैनिक नाममात्र के वेतन में आराम से जीवन निर्वाह कर सकता था। उसने नाज, कपड़ा तथा अन्य वस्तुओं का मूल्य साधारण बाजार की दर से बहुत कम निश्चित किया। सरकार खालसा भूमि से भी और जहाँ तक सम्भव हो सकता था अधीनस्थ सामन्तों की भूमि से भी राजस्व उपज के

रूप में वसूल करती थी और इस प्रकार उसने विशाल अन्न-राशि जमा कर ली। उन व्यापारियों के अतिरिक्त जिन्हें सरकारी परमिट द्वारा अधिकार दे दिया जाता था अन्य किसी व्यक्ति को किसानों से सीधा नाज खरीदने की आज्ञा नहीं थी। दिल्ली के सब व्यापारियों को शहाने-मण्डी नामक पदाधिकारी के दफ्तर में अपने नाम लिखाने पड़ते थे। जिन व्यापारियों के पास अपनी पर्याप्त पूँजी नहीं होती थी उन्हें राज्य की ओर से अग्रिम धन दिया जाता था। उन्हें निश्चित दर पर सामान बेचना पड़ता था और नियम से विचलित होने की किसी को आज्ञा नहीं थी। यदि कोई व्यापारी इन आज्ञाओं का पालन नहीं करता था और सौदा तोल में कम देता था तो उसके शरीर से उतना ही माँस काट लिया जाता था। प्रत्येक प्रकार की सट्टेबाजी तथा चोरबाजारी का कठोरता से दमन किया गया। दोआब के पदाधिकारियों को इस बात की लिखित गारन्टी देनी पड़ती थी कि हम किसी को नाज चोरी से जमा न करने देंगे। इसी प्रकार व्यापारियों को नाज तथा अन्य वस्तुएँ जमा करके रखने का अधिकार नहीं था, बल्कि माँगे जाने पर उन्हें वे चीजें बेचनी पड़ती थीं। प्रमुख व्यक्तियों, अमीरों, पदाधिकारियों तथा अन्य धनी व्यक्तियों को बाजार से बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदने से पहले शहाने-मण्डी के दफ्तर से परमिट लेना पड़ता था। दीवाने-रियासत तथा शहाने-मण्डी नामक दो पदाधिकारी सराय अद्ल नामक एक न्यायाधीश तथा अनेक अन्य अधीनस्थ अफसरों की सहायता से इन नियमों को कठोरतापूर्वक कार्यान्वित कराते थे। वे कठोर ईमानदारी से तथा नियमानुसार अपने कर्तव्यों का पालन करते और नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देते थे। इन सुधारों के परिणामस्वरूप नाज, कपड़ा तथा अन्य वस्तुएँ बहुत सस्ती हो गयीं। घोड़ों, अन्य पशुओं, नौकरानियों तथा गुलामों का भी मूल्य बहुत गिर गया। अलाउद्दीन के सम्पूर्ण शासन-काल में रहन-सहन का खर्च कम तथा लगभग स्थिर रहा। आधुनिक इतिहासकारों ने अलाउद्दीन की उसकी आर्थिक नीति की सफलता के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ये नियम सम्पूर्ण साम्राज्य में लागू किये गये थे अथवा केवल दिल्ली और उसके निकटवर्ती प्रदेश तक ही सीमित थे, इस विषय में लेखकों में मतभेद है। दूसरा मत ठीक प्रतीत होता है। सम्पूर्ण देश में इन नियमों को प्रचलित करना असम्भव था, फिर भी अलाउद्दीन को इस बात का श्रेय है कि उसने इस कठिन समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। दक्षिण भारत से प्राप्त धन के अपव्ययतापूर्ण वितरण से मुद्रा का मूल्य गिर गया था और चीजों की कीमतें बढ़ गयी थीं। यह मुद्रा-प्रसार दिल्ली तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों तक ही सीमित था। इन सुधारों से सुल्तान का उद्देश्य—मुद्रा-प्रसार रोकना तथा रहन-सहन का खर्च कम करना—पूरा हो गया।

राजस्व-नीति

अलाउद्दीन को बाजार का नियन्त्रण तथा रहन-सहन का खर्च कम करने से ही सन्तोष नहीं हुआ। साथ ही साथ वह अपने आर्थिक साधनों में भी अभिवृद्धि करना चाहता था, इसलिए उसने अपने राजस्व विभाग के सुधार की ओर ध्यान दिया। उसके पूर्वाधिकारियों ने वैज्ञानिक राजस्व-नीति निर्धारित करने का प्रयत्न नहीं किया था। उन्होंने हिन्दू-काल से चली आयी पुरातन व्यवस्था से ही सन्तोष कर लिया था। किन्तु अलाउद्दीन एक साहसी शासन-सुधारक था। वह केवल शासन में शक्ति तथा सुयोग्यता ही नहीं लाना चाहता था बल्कि देश के साधनों का शोषण करने तथा अपने राजस्व में अधिकतम वृद्धि करने के लिए मौलिक परिवर्तन करने का भी इच्छुक था। इस उद्देश्य से उसने एक नियमावली प्रचलित की जिसने दिल्ली सल्तनत की राजस्व-व्यवस्था का रूपान्तर कर दिया। उसने मुसलमान माफीदारों तथा धार्मिक व्यक्तियों की मिल्क (राज्य द्वारा दी गयी सम्पत्ति), इनाम, इद्रारात (पेंशनें) तथा वक्फ (धर्मस्व) आदि के रूप में मिली हुई भूमि जब्त कर ली। यह विश्वास करना कठिन है कि राज्य ने इस प्रकार की सभी भूमि जब्त करके अपने अधिकार में कर ली होगी। सम्भवतः उपर्युक्त विवरण की अधिकतर भूमि छीन ली गयी थी किन्तु कुछ लोग पूर्ववत अपने अधिकारों का उपयोग करते रहे क्योंकि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में हमें ऐसे लोगों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। दूसरे नियम के अनुसार सुल्तान ने मुकद्दम, खुत तथा चौधरी आदि हिन्दू पदाधिकारियों को उन विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया जिनका वे अनेक पीढ़ियों से उपभोग करते आये थे। राजस्व-विभाग के इन तीन वर्गों के पदाधिकारियों को उनके वेतनादि पूर्ववत मिलते रहे किन्तु अन्य भूमि से सम्बन्धित लोगों की भाँति उन्हें भी भूमि, मकान तथा चरागाहों पर कर देने पड़ते थे। इस प्रकार भूमि-कर के सम्बन्ध में हिन्दुओं अथवा मुसलमानों किसी के पास भी विशेष अधिकार नहीं रहने दिये गये। राज्य-करों में अधिकतम वृद्धि करना सुल्तान का तीसरा मुख्य सुधार था। उपज का ५० प्रतिशत[४] उसने राज्य-कर के रूप में निश्चित किया। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, उसने मकानों, चरागाहों तथा आयात-निर्यात पर भी कर लगाये। हिन्दुओं को इसके अतिरिक्त जजिया भी देना पड़ता था। कितनी भूमि पर खेती होती है और उसकी क्या वास्तविक उपज है, यह निश्चित करने के उद्देश्य से सुल्तान ने भूमि की नाप करवायी। यह उसका चौथा सुधार था। भूमि का नाप कराना हिन्दूकालीन राजस्व-व्यवस्था

---

[४] वह मुसलमानों से उपज का एक-चौथाई भूमि-कर के रूप में लेता था।

की एक विशेषता थी और कुछ देशी राज्यों में वह इस युग में भी प्रचलित रही, किन्तु अलाउद्दीन के पूर्वाधिकारियों में से किसी ने भी इस परिपाटी का अनुसरण नहीं किया था। उसे पुनर्जीवित करने का श्रेय इस प्रसिद्ध खलजी शासक को ही था। भूमि का बन्दोबस्त करने से पहले उसने पटवारियों के अभिलेखों से पता लगाया कि राज्य के प्रत्येक गाँव में कितनी खेती के योग्य भूमि है और उससे कितना लगान आता है। उपर्युक्त नियमों को कार्यान्वित कराने के लिए उसने योग्य तथा ईमानदार राजस्व पदाधिकारी नियुक्त किये। इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि राजस्व निर्धारित तथा वसूल करने की दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य एक गाँव की भाँति समझा जाता था, किन्तु बरनी ने जो कुछ लिखा है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के राज्य के सब प्रान्तों में नाप की परिपाटी नहीं प्रचलित की गयी थी। वह कुछ ही भागों तक सीमित थी। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि राज्य की आय में पर्याप्त वृद्धि हो गयी और उसका बोझ किसानों, भूमिधरों, व्यापारियों आदि जनता के सभी वर्गों पर पड़ा, परन्तु अलाउद्दीन की इच्छा रही हो अथवा न रही हो, राजस्व का मुख्य भार हिन्दुओं पर ही पड़ा क्योंकि उनमें से बहुसंख्यक ऐसे थे जिनका भूमि से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

अलाउद्दीन सैनिकों को वेतन के बदले में जागीरें देने के पक्ष में नहीं था। फिर भी उसके समय में अनेक व्यक्ति इक्तों का उपभोग करते रहे क्योंकि इस प्रथा को पूर्णतया नष्ट करना असम्भव था, विशेषकर नवविजित प्रदेशों में।

शासन का केन्द्रीयकरण

अलाउद्दीन को विशाल सेना की सहायता से राज्य के सभी स्वेच्छाचारी तत्वों का दमन करने और सम्पूर्ण सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित करने में सफलता मिली। यद्यपि पहले सुल्तानों की भाँति अलाउद्दीन के समय में भी मन्त्री थे किन्तु वास्तव में फ्रांस के लुई चतुर्दश तथा प्रशिया के फ्रैडरिक महान् की भाँति सुल्तान स्वयं अपना प्रधान मन्त्री था। उसके मन्त्रियों की स्थिति सचिवों तथा क्लर्कों की सी थी जो उसकी आज्ञाओं का पालन करते और शासन का दैनिक काम चलाते थे। वह अपनी इच्छानुसार उनकी सलाह लेता था किन्तु उसे मानने के लिए वह बाध्य नहीं था। प्रान्तों के सूबेदार अथवा मुक्ती भी पहले से अधिक केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में थे। उसके गुप्तचर विभाग का विकास पूर्णता को पहुँच गया था और अमीर तथा दरबारी इतने भयभीत और आतंकित हो गये थे कि वे परस्पर विचार-विनिमय करने अथवा जोर से बातचीत करने में भी डरते थे। इतिहासकार बरनी लिखता है कि वे संकेतों में अपने विचार प्रकट करते थे। एक ओर सुल्तान ने पुराने अमीरों का दमन किया किन्तु दूसरी ओर उसने योग्य तथा स्वामिभक्त साधारण लोगों को

महत्वपूर्ण पद देकर ऊँचा उठाया। साम्राज्य भर में कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो सुल्तान के समकक्ष होने का दावा कर सकता। सभी लोगों की स्थिति उसके सामन्तों तथा नौकरों अथवा प्रजाजनों की सी हो गयी। उसके शासन-काल में निरंकुशवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया जैसा कि भारत ने युगों से नहीं देखा था।

विदेश-नीति

विजय-योजना

अलाउद्दीन की गणना दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले उन शासकों में है जो अत्यधिक महत्वाकांक्षी हुए हैं। जब उसे विद्रोहियों तथा बाह्य आक्रमण-कारियों के विरुद्ध कुछ सफलता प्राप्त हो गयी तो वह सिकन्दर महान् का अनु-करण करने तथा समस्त विश्व को जीतने का स्वप्न देखने लगा। वह एक नये धर्म की भी स्थापना करना चाहता था। उसके ईमानदार तथा अनुभवी दरबारी दिल्ली के कोतवाल अला-उल-मुल्क ने उसे नया धर्म संस्थापित करने की योजना त्यागने तथा विश्व-विजय के कार्य में संलग्न होने से पूर्व सम्पूर्ण भारत को जीतने के दुस्तर किन्तु अभिवांछनीय कार्य को पूरा करने की सलाह दी। अलाउद्दीन ने इस सलाह को स्वीकार कर लिया और दिल्ली सल्तनत की सीमाओं के बाहर स्थित स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों को जीतने की एक विशाल योजना तैयार की। इसलिए उसकी बाह्य नीति का एक ही मुख्य उद्देश्य था—*'भारत में किसी स्वतन्त्र हिन्दू राज्य का अस्तित्व शेष न रहने देना'*। अपने पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करने से पहले उसने किसी उचित कारण अथवा बहाने की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं समझा। उसके अधिकतर युद्ध समस्त देश की विजय के दृढ़ संकल्प को पूरा करने के लिए लड़े गये थे क्योंकि हिन्दू राजाओं ने उसके विरुद्ध कोई ऐसे कार्य नहीं किये थे जिनसे उन पर आक्रमण करने का उसे कोई बहाना मिल सकता। उसकी विजयों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) उत्तर की विजय, तथा (२) दक्षिण की विजय।

उत्तर की विजय

गुजरात

१२९९ ई. में उसने उलुगखाँ तथा नसरतखाँ की अधीनता में एक सेना गुजरात विजय करने के लिए भेजी। उस समृद्धशाली राज्य की राजधानी अन्हिलवाड़ (आधुनिक पाटन) थी। उस पर तुर्की आक्रमणकारियों ने अनेक बार धावे किये थे किन्तु वे उसे कभी विजय न कर पाये थे। उस समय बघेल राजा कर्ण उस पर शासन करता था। दिल्ली की सेना ने अन्हिलवाड़ को घेर लिया और उसको हस्तगत कर लिया। कर्ण की रानी कमलादेवी आक्रमण-

कारियों के अधिकार में आ गयी । किन्तु राजा कर्ण अपनी पुत्री देवलदेवी को लेकर भाग निकला और देवगिरि के राजा रामचन्द्र देव के यहाँ शरण ली । उसके समस्त राज्य पर आक्रमणकारियों ने अधिकार कर लिया । नसरतखाँ को खम्भात में काफूर नामक एक हिन्दू खोजा मिला जिसे उसने लूट के माल के साथ दिल्ली भेज दिया । यही लड़का आगे चलकर अलाउद्दीन के प्रधान मन्त्री के पद पर पहुँचा । लूट के माल के बँटवारे के प्रश्न पर नये मुसलमानों (भारत में बसे हुए मंगोलों) ने विद्रोह करके विजेताओं के विजयोत्सव में विघ्न डाल दिया, किन्तु उनका निर्दयतापूर्वक दमन कर दिया गया और उनका लगभग नाश हो गया ।

रणथम्भौर

अलाउद्दीन का दूसरा आक्रमण रणथम्भौर के किले पर हुआ जो पहले राजस्थान में मुसलमानों की सैनिक चौकी रह चुका था, किन्तु इस समय उस पर पृथ्वीराज चौहान द्वितीय का वंशज हम्मीरदेव राज्य करता था । इस आक्रमण के दो कारण थे : प्रथम, ऐसे किले को पुनः जीतना जो पहले दिल्ली सल्तनत का अंग रह चुका था, दिल्ली सुल्तान का पवित्र कर्तव्य था । दूसरे, हम्मीरदेव ने कुछ विद्रोही नये मुसलमानों को अपने यहाँ शरण दी थी और उसके इस दुस्साहस के लिए उसे दण्ड देना अलाउद्दीन अभि-वांछनीय समझता था । इसलिए उलुगखाँ और नसरतखाँ को हम्मीरदेव के विरुद्ध भेजा गया । उन्होंने झैन पर अधिकार करके रणथम्भौर को घेर लिया किन्तु पराजित हुए । नसरतखाँ मारा गया और झैन को राजपूतों ने पुनः जीत लिया । तब अलाउद्दीन को स्वयं रणथम्भौर के लिए प्रस्थान करना पड़ा । पूरे एक वर्ष तक घेरा चला, फिर भी विजय की कोई आशा नहीं प्रतीत हुई । तब अलाउद्दीन ने छल से काम लिया । हम्मीरदेव के प्रधानमन्त्री रनमल को उससे तोड़ लिया और उसकी सहायता से घेरे का सफलतापूर्वक अन्त हो गया । घेरा डालने वालों ने किले की दीवारों पर चढ़कर उस पर अधिकार कर लिया (जुलाई, १३०१ ई.) । हम्मीरदेव, उसका परिवार तथा बचे हुए रक्षा-सैनिको को तलवार के घाट उतार दिया गया । रनमल का भी सुल्तान की आज्ञा से वध कर दिया गया और इस प्रकार उसे स्वामि-द्रोह का उचित मूल्य चुकाना पड़ा । विजयी होकर अलाउद्दीन दिल्ली लौट गया ।

चित्तौड़

मेवाड़ के गुहिलौतों का भारतीय शासकों में प्रमुख स्थान था इसलिए उन्हें इल्तुतमिश से लोहा लेना पड़ा था किन्तु अपने राज्य पर उस सुल्तान के आक्रमण को उन्होंने विफल कर दिया था । १३०३ ई. के प्रारम्भ में

अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को जीतने का संकल्प किया और २८ जनवरी को दिल्ली से चलकर उसे घेर लिया। कहा जाता है कि उसका मुख्य उद्देश्य राणा रतनसिंह की अनुपम रानी पद्‌मिनी को प्राप्त करना था जो उस समय समस्त भारत में सबसे अधिक सुन्दर तथा गुणवती स्त्री समझी जाती थी। परन्तु गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा डा. के. एस. लाल आदि आधुनिक इतिहासकारों ने इस कहानी को बाद की गढ़ी हुई मानकर अस्वीकार किया है। यद्यपि अलाउद्दीन की समस्त भारत को एक राष्ट्र बनाने की महत्वाकांक्षा तथा यह तथ्य कि मेवाड़ के स्वतन्त्र रहते हुए इस स्वप्न का पूरा होना असम्भव था, चित्तौड़ पर आक्रमण करने के पर्याप्त कारण थे फिर भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि दिल्ली सुल्तान रूपवती पद्‌मिनी को प्राप्त करना चाहता था। उसने किले को घेर कर निकटवर्ती चित्तौड़ी नामक पहाड़ी पर अपना सफेद शामियाना गाढ़ दिया। किन्तु किले को हस्तगत करने के सब प्रयत्न विफल रहे और घेरा लगभग पाँच महीने तक चलता रहा। वीर राजपूतों ने इतना कठिन प्रतिरोध किया कि शत्रुओं को भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ी। किन्तु अपने से कहीं अधिक बलशाली शत्रु के विरुद्ध युद्ध जारी रखना निरर्थक था इसलिए अन्त में राणा रतनसिंह को बाध्य होकर हथियार डालने पड़े (२६ अगस्त, १३०३ ई.) और स्त्रियों ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए भीषण जौहर कर लिया। क्षुब्ध होकर अलाउद्दीन ने वीर राजपूतों के संहार की आज्ञा दे दी। अमीर खुसरव जिसने यह कृत्य अपनी आँखों से देखा था, लिखता है कि केवल एक दिन में ३०,००० राजपूत मारे गये थे। विजय के उपरान्त अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाम खिजराबाद रखा और अपने पुत्र खिज्रखाँ को उसका शासक नियुक्त करके दिल्ली को लौट गया।

राजपूतों ने नये शासक को निरन्तर कष्ट पहुँचाया, इसलिए ख़लजी लोग अधिक समय तक चित्तौड़ पर अधिकार न रख सके। १३११ ई. में खिज्रखाँ ने अपना पद त्याग दिया और अलाउद्दीन ने बाध्य होकर अपने मित्र मालदेव को उसके स्थान पर नियुक्त किया। उसे आशा थी कि मालदेव गुहिलौतों पर नियन्त्रण रख सकेगा और दिल्ली को कर देता रहेगा। परन्तु अलाउद्दीन की मृत्यु के उपरान्त शीघ्र ही गुहिलौत राजवंश की एक छोटी शाखा के प्रमुख राना हम्मीर ने मालदेव को मार भगाया और अपने पूर्वजों के राज्य तथा उसकी राजधानी चित्तौड़ पर पुनः अधिकार कर लिया।

पद्‌मिनी की कहानी

कहा जाता है जब पद्‌मिनी को प्राप्त करने की अपनी योजना में अलाउद्दान को सफलता नहीं मिली तो वह घेरा उठाकर लौटने को राजी हो गया;

किन्तु शर्त यह थी कि रतनसिंह एक दर्पण में उसे पद्मिनी के सुन्दर मुख का प्रतिबिम्ब भर दिखला दे। परन्तु जब राना किले के बाहर सुल्तान को उसके खेमों तक पहुँचाने गया तो उसने धोखे से उसे गिरफ्तार करवा लिया, किन्तु पद्मिनी बड़ी चतुराई से अपने पति को शत्रुओं के चंगुल से मुक्त कराने में सफल हुई। जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, आधुनिक इतिहास-कारों ने इस कहानी को अनैतिहासिक कहकर अस्वीकार किया है। इसे अस्वीकार करने के कारण इस प्रकार हैं—(१) अमीर खुसरव ने जो अला-उद्दीन के साथ चित्तौड़ गया था और घेरे के समय वहाँ उपस्थित था, इस विषय में कुछ नहीं लिखा है; (२) अन्य तत्कालीन लेखकों ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है; और (३) कहानी मलिक मुहम्मद जायसी की लिखी हुई है जिसने अपना पद्मावत १५४० ई. में लिखा था और सभी परवर्ती लेखकों ने उसी का अनुकरण किया है। ये तर्क अमीर खुसरव के ग्रन्थों के उथले अध्ययन पर अविलम्बित हैं और युक्तिसंगत नहीं हैं। अमीर खुसरव अवश्य इस घटना की ओर संकेत करता है जब कि वह अलाउद्दीन की सुलेमान से तुलना करता है, सैबा को चित्तौड़ के किले के भीतर बतलाता है और अपनी उपमा उस हुद-हुद पक्षी से देता है जिसने यूथोपिया के राजा सुलेमान को सैबा की सुन्दर रानी[५] बिलाकिस का समाचार दिया था[६]। खुसरव के वृतान्त से स्पष्ट है कि चित्तौड़ के किले पर अधिकार करने से पहले अलाउद्दीन उसके (खुसरव) साथ एक बार उसके भीतर अवश्य गया था—उस किले में जिसके भीतर पक्षी भी उड़कर नहीं पहुँच सकते थे। राना अलाउद्दीन के खेमों में आया और उसने तभी समर्पण किया जब सुल्तान किले के भीतर से वापिस लौटा। राना के हथियार डाल देने के उपरान्त निराश अलाउद्दीन की आज्ञानुसार ३०,००० राजपूतों का वध किया गया[७]। उपर्युक्त वृत्तान्त की उचित समीक्षा करने से कहानी की मुख्य घटनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। खुसरव दरबारी कवि था इसलिए उसने जो कुछ लिखा है उससे अधिक लिखना उसके लिए असम्भव

---

५ श्री श्रीनेत्र पाण्डे ने अपने "मध्यकालीन भारत" (हिन्दी संस्करण) में प्राचीनतर लेखकों के पक्ष में तर्क देने का प्रयत्न किया है। उन्होंने सैबा की रानी की तुलना निर्जीव लक्ष्मी से की है। किन्तु वे हबीब की उस टिप्पणी को भूल जाते हैं जिसमें उन्होंने बताया है कि कवि का अभिप्राय शायद सुन्दरी पद्मिनी से है।

६ देखिये हबीब द्वारा अनूदित खुसरव का "खजाएँ-उल-फतूह," पृ० ४८।

७ वही, पृ० ४९।

था। जैसा कि हमें विदित है उसने अनेक अप्रिय सत्यों का उल्लेख नहीं किया है जिनमें अलाउद्दीन द्वारा अपने चाचा जलालुद्दीन का वध, मंगोलों के हाथों सुल्तान की पराजय तथा उसके द्वारा दिल्ली का घेरा इत्यादि मुख्य हैं। ओझा, के. एस. लाल तथा अन्य लेखकों का यह कथन कि यह कहानी केवल जायसी की मनगढ़न्त थी, गलत है। सत्य तो यह है कि जायसी ने प्रेम-काव्य की रचना की और उसका कथानक खुसरव के खजाएँ-उल-फतूह से लिया। पद्मावत में वर्णित प्रेम-कहानी के ब्यौरे की अनेक घटनाएँ कल्पित हैं, किन्तु काव्य का मुख्य कथानक सत्य प्रतीत होता है। अलाउद्दीन पद्मिनी को प्राप्त करने का इच्छुक था, कामुक सुल्तान को रानी का प्रतिबिम्ब दिखलाया गया था और उसने उसके पति को बन्दी कर लिया था, ये घटनाएँ सम्भवतः ऐतिहासिक सत्य पर आधारित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राणा की गिरफ्तारी के उपरान्त स्त्रियों ने जौहर कर लिया, राजपूत योद्धा शत्रुओं पर टूट पड़े और राणा को उन्होंने मुक्त कर लिया। किन्तु अन्त में उनमें से प्रत्येक काट डाला गया तथा किला और राज्य अलाउद्दीन के अधिकार में आ गये।

मालवा

१३०५ ई. में अलाउद्दीन ने मालवा के प्रान्त को जो राजस्थान से लगा हुआ है और जिसका अधिकांश भाग पहले ही दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत आ चुका था, जीतने के उद्देश्य से आईन-उल-मुल्क मुल्तानी को जालौर तथा उज्जैन पर आक्रमण करने भेजा। आईन-उल-मुल्क ने ९ दिसम्बर, १३०५ ई. को राजा हरनन्द के विरुद्ध भयंकर युद्ध किया और उसे परास्त किया। इस विजय के परिणामस्वरूप उज्जैन, माण्डू, धार तथा चन्देरी पर दिल्ली सेना का अधिकार हो गया। इन स्थानों का प्रबन्ध करने के लिए अलाउद्दीन ने एक सूबेदार नियुक्त किया। जालौर के कनेरदेव ने भी आत्म-समर्पण कर दिया और सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली।

मारवाड़

१३०८ ई. में अथवा उसके लगभग सुल्तान ने मारवाड़ को विजय करने की योजना बनायी क्योंकि राजस्थान में वही एक प्रदेश था जिसने उस समय तक तुर्कों की विजय-योजनाओं को विफल कर दिया था। दिल्ली सेना ने उस प्रदेश के सबसे अधिक शक्तिशाली दुर्ग सिवाना को घेर लिया। घेरा दीर्घकाल तक चलता रहा, फिर भी सफलता की कोई आशा दिखायी नहीं दी। तब अलाउद्दीन का धीरज टूट गया, वह स्वयं उस स्थान पर जा पहुँचा और इतनी तीव्रता से घेरे का संचालन किया कि मारवाड़ के राजा

शीतलदेव को बाध्य होकर सन्धि करनी पड़ी। उसे सुल्तान के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दी गयी, और उसका किला उसके अधिकार में रहने दिया गया, किन्तु उसके राज्य को छीनकर दिल्ली के अमीरों में बाँट दिया गया।

जालौर

यद्यपि १३०५ ई. में राजा कनेरदेव ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली थी किन्तु उसने अपनी जिह्वा पर संयम नहीं रखा और शेखी बघारी कि मैं हर समय युद्ध-क्षेत्र में अलाउद्दीन का सामना करने के लिए उद्यत हूँ। इससे सुल्तान का क्रोध भड़क उठा और राजा को नीचा दिखाने के उद्देश्य से उसने अपने महलों की एक नौकरानी गुलेबिहिश्त की अध्यक्षता में उसके विरुद्ध एक सेना भेजी। उस स्त्री ने जालौर को घेर लिया। कर्णदेव पर इतना भारी दबाव पड़ा कि वह आत्मसमर्पण करने ही को था कि गुलेबिहिश्त की मृत्यु हो गयी। राजपूतों ने उसके पुत्र को पराजित किया और मार डाला। किन्तु जब कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में कुछ कुमुक जालौर पहुँच गयी तब दिल्ली की सेना ने राजा को परास्त किया, उसे तथा उसके सम्बन्धियों को तलवार के घाट उतार दिया और जालौर को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया।

अब उत्तरी भारत की विजय पूर्ण हो गयी और काश्मीर, नेपाल, आसाम तथा उत्तर-पश्चिमी पंजाब के कुछ भाग को छोड़कर समस्त देश अलाउद्दीन के साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

दक्षिण की विजय

अलाउद्दीन ने दक्षिण को भी जीतने का संकल्प किया। वह पहला दिल्ली-सुल्तान था जिसने विन्ध्याचल पर्वतों को पार करके दक्षिणी प्रायद्वीप को जीतने का प्रयत्न किया। १२९४ ई. में देवगिरि के राजा रामचन्द्रदेव के विरुद्ध उसने जो सफलता प्राप्त की थी उसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। उस समय दक्षिण भारत में चार शक्तिशाली राज्य थे : (१) पश्चिम में देवगिरि का यादव राज्य जिसमें महाराष्ट्र सम्मिलित था और देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) जिसकी राजधानी थी; (२) पूरब में तैलंगाना का काकतीय राज्य जिसकी राजधानी वारंगल थी; (३) कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित होयसल राज्य जिसमें आधुनिक मैसूर तथा कुछ अन्य जिले सम्मिलित थे और जिसकी राजधानी द्वारसमुद्र थी; और (४) सुदूर दक्षिण का पाँड्य राज्य जिसकी राजधानी मदुरा थी। अलाउद्दीन उत्तरी भारत को जीतकर उस पर सीधा शासन करना चाहता था। किन्तु दक्षिण के सम्बन्ध में उसकी नीति इससे भिन्न थी। वह केवल यह चाहता था

कि दक्षिण के शासक उसकी अधीनता स्वीकार करें और वार्षिक कर भेजें। अधीनता स्वीकार करने की शर्त पर वह उनके राज्य उनके अधिकार में छोड़ने को उद्यत था। उसका मुख्य उद्देश्य उस प्रदेश से अधिकाधिक धन वसूल करना था।

वारंगल में उसकी विफलता

१२९४ ई. में देवगिरि के यादव राज्य को अलाउद्दीन ने अपने अधीन करके उसके राजा को सामन्त बना लिया था और उससे बहुत-सा धन वसूल किया था। १३०३ ई. में उसने दक्षिण के दूसरे राज्य तैलंगाना को लूटने तथा अधीन करने के लिए नसरतखाँ के भतीजे तथा उत्तराधिकारी छज्जू को भेजा। सेना ने बंगाल तथा उड़ीसा में होकर अभियान करके वारंगल पर आक्रमण किया किन्तु काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव ने उसे पराजित करके अव्यवस्थित रूप से पीछे लौटने पर बाध्य किया।

देवगिरि की पुनर्विजय

राजा रामचन्द्रदेव ने १२९४ ई. में एलिचपुर का प्रान्त अलाउद्दीन को दे दिया था किन्तु तीन वर्ष से उसने उसका राजस्व नहीं चुकाया था। इसलिए उसका दमन करने के लिए १३०६-७ ई. में एक सेना सल्तनत के नाइब मलिक के नेतृत्व में भेजी गयी। नाइब को गुजरात के राजा कर्णदेव की पुत्री देवलदेवी को भी लाने की आज्ञा दी गयी क्योंकि उसकी माता जो उस समय दिल्ली के रनिवास में थी उससे मिलना चाहती थी। कर्णदेव ने जो बगलाना के छोटे-से राज्य का स्वामी बन बैठा था, रामचन्द्रदेव के सबसे बड़े पुत्र शंकरदेव से अपनी पुत्री का विवाह करने का प्रबन्ध कर लिया था। जिस समय लोग देवलदेवी को देवगिरि की ओर ले जा रहे थे मार्ग में वह गुजरात के गवर्नर अलपखाँ के हाथों में पड़ गयी जो देवगिरि के आक्रमण में मलिक काफूर की सहायता करने जा रहा था। देवलदेवी को दिल्ली भेज दिया गया और अलाउद्दीन के सबसे बड़े पुत्र खिज्रखाँ से विवाह कर दिया गया। इसके उपरान्त अलपखाँ ने कर्णदेव को हराया और देवगिरि में शरण लेने के लिए बाध्य किया। मलिक काफूर ने एलिचपुर पर अधिकार करके प्रबन्ध के लिए एक तुर्की सूबेदार नियुक्त कर दिया। तदुपरान्त उसने स्वयं देवगिरि पर आक्रमण किया। रामचन्द्रदेव को आत्मसमर्पण करना पड़ा। वह दिल्ली गया और सुल्तान को अपार धन भेंट किया। अलाउद्दीन ने उसे रायरायन की उपाधि प्रदान की, उसका राज्य उसके अधिकार में रहने दिया और इसके अतिरिक्त नवसारी का जिला भी निजी जागीर के रूप में उसे दे दिया।

तैलंगाना

१३०३ ई. के तैलंगाना के आक्रमण की विफलता अलाउद्दीन के हृदय में खटक रही थी और वह शीघ्रातिशीघ्र उस कलंक को धोने की चिन्ता में था। १३०८ ई. में उसने इस कार्य को पूरा करने के लिए मलिक काफूर को भेजा। काकतीय राज्य की राजधानी वारंगल दो सुदृढ़ दीवारों से घिरी हुई थी जिनमें से बाहरी मिट्टी की और भीतरी पत्थर की बनी हुई थी। उसके राजा प्रतापरुद्रदेव द्वितीय पर जिसने १३०३ ई. में छज्जू को परास्त किया था, सहसा आक्रमण किया गया। काफूर ने वारंगल को घेर कर भीतर की रक्षक-सेना को भारी क्षति पहुँचायी। अतः राजा ने समर्पण कर दिया, ३०० हाथी, ७,००० घोड़े तथा भारी संख्या में नकद धन और रत्न युद्ध-क्षति की पूर्ति के लिए आक्रमणकारी को भेंट किये और वार्षिक कर देने का वचन दिया।

द्वारसमुद्र का हौयसल राज्य

इसके उपरान्त अलाउद्दीन ने दक्षिण के तीसरे शक्तिशाली राज्य को जीतने की योजना बनायी। १३१० ई. में मलिक काफूर तथा ख्वाजा हाजी को एक विशाल सेना के साथ विन्ध्या के उस पार भेजा। काफूर देवगिरि पहुँचा जहाँ १३०९-१० ई. में रामचन्द्र के स्थान पर शंकरदेव राजा हो गया था। दिल्ली के मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए उसने गोदावरी नदी पर स्थित जलन में एक रक्षा-सेना स्थापित की। यह सावधानी इसलिए की गयी कि काफूर को शंकरदेव की वफादारी में सन्देह था। देवगिरि से उसने द्वारसमुद्र की ओर प्रस्थान किया। उसकी गति इतनी तीव्र थी कि हौयसल राजा वीर बल्लाल को उसके आने के पूर्व सूचना भी न मिल सकी और वह सहसा घिर गया। युद्ध में उसकी पराजय हुई और उसकी राजधानी पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया। काफूर ने नगर के मन्दिरों को लूटा। हौयसल राजा को बाध्य होकर युद्ध का भारी हर्जाना चुकाना पड़ा तथा दिल्ली सुल्तान की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

पांड्य राज्य

द्वारसमुद्र से काफूर ने पांड्य राज्य के लिए प्रस्थान किया जो दक्षिणी प्रायद्वीप के अन्तिम छोर पर स्थित था। राजसिंहासन के लिए वीर पांड्य तथा सुन्दर पांड्य नामक दो भाइयों में संघर्ष चल रहा था। सुन्दर पांड्य अपने भाई वीर पांड्य द्वारा पराजित होकर दिल्ली चला गया था और अलाउद्दीन से उसने अपना सिंहासन प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की थी। यही कारण था कि काफूर ने एक अपरिचित देश में प्रवेश करने का साहस किया।

वह मदुरा पहुँचा जिसे राजा वीर पांड्य छोड़कर चला गया था। काफ़ूर ने नगर को लूटा और मुख्य मन्दिरों को नष्ट कर दिया। तदुपरान्त वह पूरब में समुद्र-तट का ओर बढ़ा। पम्बान के द्वीप पर स्थित रामेश्वरम् पहुँचकर उसने विशाल मन्दिर को ध्वस्त कर दिया, उसके स्थान पर एक मस्जिद का निर्माण कराया और अलाउद्दीन के नाम पर उसका नाम रखा। इन विजयों के उपरान्त वह १३११ ई. में दिल्ली लौट गया और अपने साथ अपार लूट का माल ले गया जिसमें ३२१ हाथी, २०,००० घोड़े, तथा २,७५० पौंड सोना सम्मिलित था जिसका मूल्य दस करोड़ टंका था। इसके अतिरिक्त रत्नों की पिटारियाँ भी मिलीं। इससे पहले दिल्ली में इतना लूट का माल कोई नहीं लाया था।

दक्षिण पर अन्तिम आक्रमण

देवगिरि का शंकरदेव देशभक्त तथा कर्मठ शासक था और तुर्कों के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंकने की चिन्ता में रहता था। काफ़ूर के दिल्ली लौट जाने के उपरान्त उसने नियमित वार्षिक कर नहीं चुकाया। इसलिए १३१३ ई. में सुल्तान ने शंकरदेव को दंड देने के लिए भेजा। इस आक्रमण का अन्य कारण भी था। वारंगल के प्रतापरुद्रदेव ने सुल्तान को लिखा था कि मेरी राजधानी दिल्ली बहुत दूर है, इसलिए कृपा करके किसी पदाधिकारी को कर लेने के लिए यहीं भेज दीजिये। काफ़ूर देवगिरि पहुँचा। शंकरदेव युद्ध में हारा और मारा गया। देवगिरि से वह गुलबर्गा पहुँचा और उस पर अधिकार कर लिया। उसने कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर लिया और रायचुर तथा मुगदल में रक्षा-सेनाएँ स्थापित कीं। अब उसने पश्चिम की ओर मुड़कर दभौल तथा चौल के बन्दरगाहों को हस्तगत कर लिया। इसके बाद उसने वीर बल्लाल तृतीय हौयसल के राज्य पर आक्रमण किया। इन विजयों के उपरान्त बहुमूल्य लूट का सामान लेकर काफ़ूर दिल्ली को लौट गया।

इस प्रकार दक्षिण की विजय पूर्ण हो गयी और लगभग समस्त दक्षिणी भारत पर दिल्ली का प्रभुत्व स्थापित हो गया किन्तु दक्षिणी भारत को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित नहीं किया गया। केवल कुछ महत्वपूर्ण नगरों में रक्षा के लिए तुर्की सेनाएँ रख दी गयीं।

मंगोलों के आक्रमण : उत्तर-पश्चिमी सीमान्त नीति

अलाउद्दीन के शासन-काल में मंगोलों के आक्रमणों के कारण अत्यधिक अशान्ति रही। उनसे पंजाब, मुल्तान और सिन्ध को ही नहीं, बल्कि दिल्ली तथा गंगा-यमुना के उपजाऊ प्रदेशों तक के लिए संकट उपस्थित हो गया।

स्मरण रखना चाहिए कि सल्तनत की सीमाओं पर निरन्तर होने वाले मंगोल आक्रमणों के कारण बलबन पड़ोसी हिन्दू राजाओं को विजय करने की नीति का अनुसरण नहीं कर पाया था। किन्तु अलाउद्दीन बलबन से कहीं अधिक योग्य तथा साहसी था। वह मंगोलों को सफलतापूर्वक रोक सका और साथ ही साथ भारत की सीमाओं के भीतर आक्रमणकारी युद्धों की नीति जारी रख सका। कहा जाता है कि उसने एक दर्जन से अधिक आक्रमणों को विफल किया। मंगोलों ने उसके शासन के आरम्भ से ही उसे कष्ट देना आरम्भ कर दिया था और १३०८ ई. तक यह संकट विद्यमान रहा। इस प्रकार अलाउद्दीन को केवल सात वर्ष से कुछ अधिक इस संकट से छुटकारा रहा।

मंगोलों का पहला आक्रमण १२९६ ई. में हुआ जबकि अलाउद्दीन को गद्दी पर बैठे कुछ महीने ही हुए थे। अपने अभिन्न मित्र जफरखाँ को उसने उनके विरुद्ध भेजा। उसने जालन्धर के निकट आक्रमणकारियों का मुकाबला किया, उन्हें भयंकर पराजय दी तथा उनका भीषण संहार किया। दूसरा आक्रमण १२९७ ई. में हुआ। इस बार मंगोलों ने सीरी के किले पर अधिकार कर लिया। किन्तु जफरखाँ ने जिस पर उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा का भार था आक्रमणकारियों को पराजित किया, अल्पकालीन घेरे के उपरान्त किले पर पुनः अधिकार कर लिया और मंगोल नेता को उसके १,७०० अनुयायियों तथा उनकी स्त्रियों और बच्चों सहित बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया। १२९९ ई. में अपने नेता कुतुलुग ख्वाजा की अध्यक्षता में जिसके अधीन दो लाख सेना थी, मंगोल पुनः भारत में आ धमके। इस बार वे लूट-मार नहीं बल्कि विजय के उद्देश्य से आये थे। उन्होंने मार्ग में लोगों को कष्ट नहीं पहुँचाया और दिल्ली के निकट पहुँचकर घेरा डालने की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। सुल्तान के लिए यह घोर संकट था। राजधानी की रक्षा के लिए क्या उपाय किये जायँ, इस सम्बन्ध में उसने अपने मित्र अला-उल-मुल्क से परामर्श किया। कोतवाल ने आक्रमणकारियों पर एकदम हमला करने और उनसे समयानुकूल यथोचित व्यवहार करने की सलाह दी किन्तु अलाउद्दीन ने इस सलाह को मानने से इन्कार किया और दूसरे दिन सुबह ही मंगोलों पर आक्रमण कर दिया। शाही सेना के अग्रगामी दल का नेतृत्व जफरखाँ ने किया और शत्रु को हराकर उसको निर्दयतापूर्वक खदेड़ा। किन्तु मंगोलों ने उसे सेना के मुख्य भाग से प्रथक करके घेर लिया और मार डाला। फिर भी आक्रमण-कारियों का साहस टूट गया और वे अपने देश को भाग गये। जफरखाँ की वीरता का मंगोल सैनिकों पर इतना स्थायी प्रभाव पड़ा कि वे अपने थके हुए घोड़ों को पानी पिलाते समय कहते थे कि "क्या तुमने जफरखाँ को देख लिया है जो प्यास बुझाने में डरते हो।" किन्तु अलाउद्दीन को जफरखाँ जैसे पराक्रमी

सेनानायक का निधन भी अधिक नहीं खटका क्योंकि यह उसे अधिक महत्वाकांक्षी होने के कारण खतरनाक समझता था।

मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जब अलाउद्दीन चित्तौड़ का घेरा डाले हुए था और उसकी एक सेना तैलंगाना में भारी पराजय भुगत चुकी थी। एक मंगोल सेना ने जिसमें १२,००० योद्धा थे अपने नेता तागी के नेतृत्व में दिल्ली के निकट पहुँचकर खेमे गाड़ दिये। वे इतनी तीव्र गति से आये थे कि प्रांतीय सूबेदार अपनी सेनाएँ लेकर दिल्ली न पहुँच सके। अलाउद्दीन को सीरी के दुर्ग में शरण लेनी पड़ी और वहीं वह दो महीने तक घिरा पड़ा रहा। मंगोलों ने आसपास के प्रदेश को लूटा और दिल्ली की गलियों तक धावे मारे। किन्तु भाग्यवश तीन महीने के संघर्ष के उपरान्त मंगोल वापस चले गये क्योंकि उन्हें नियमपूर्वक घेरा डालकर नगरों पर अधिकार करने की कला का अनुभव नहीं था।

विशाल मंगोल सेनाएँ निर्विरोध दिल्ली तक पहुँच चुकी थीं, यह देखकर अलाउद्दीन ने सल्तनत की सीमाओं की रक्षा के लिए सफल उपाय किये जिससे भविष्य में राजधानी पर मंगोलों के आक्रमण न हो सकें। उसने पंजाब, मुल्तान और सिन्ध में नये दुर्गों का निर्माण कराया तथा पुरानों की मरम्मत करायी। उनकी रक्षा के लिए शक्तिशाली सेनाएँ रखीं। इसके अतिरिक्त उसने एक विशेष सेना नियुक्त की जिसका मुख्य कार्य सीमा की रक्षा करना था। सीमांत प्रदेश में एक सूबेदार नियुक्त किया जो सीमा-रक्षक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपर्युक्त उपायों के बावजूद चंगेजखाँ के एक वंशज अलीबेग के नेतृत्व में एक मंगोल सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सीमा-रक्षकों से बचती तथा मार्ग के प्रदेश को जलाती और लूटती हुई अमरोहा तक आ पहुँची। मलिक काफूर तथा गाज़ी मलिक को आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने के लिए भेजा गया, उन्होंने मंगोलों को मार्ग में घेर लिया जबकि लूट का धन लिये हुए वे वापिस जा रहे थे। मंगोलों की पराजय हुई और उनके नेता बन्दी बना लिये गये। दो सर्वप्रमुख नेताओं को हाथियों के पैरों से कुचलकर मार डाला गया। अन्य बन्दियों का भी वध करके उनकी लाशें सीरी के दुर्ग की दीवारों में चिन दी गयीं। इस घटना के उपरान्त गाज़ी मलिक नामक अनुभवी सेनानायक को १३०५ ई. में पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया गया। अलाउद्दीन के सम्पूर्ण शासन-काल में उसने सफलतापूर्वक सीमाओं की रक्षा की। १३०६ ई. में मंगोलों ने फिर आक्रमण किया। मुल्तान के निकट सिन्धु को पार करके वे सदैव की भाँति मार्ग के प्रदेश को लूटते हुए हिमालय की ओर बढ़े। गाज़ी मलिक ने सफलतापूर्वक उनके मार्ग का अवरोध किया और हमला करके उनमें से बहुतों को मार डाला। अपने नेता कबक के साथ पचास हजार मंगोल

बन्दी बनाये गये। उनका वध कर दिया गया और उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को दासों के रूप में बेच दिया गया।

मंगोलों का अन्तिम आक्रमण १३०७-८ ई. में हुआ। उनकी सेना का नेता इकबालमन्द नामक एक व्यक्ति था। वह सिन्धु को पार करके अधिक आगे न बढ़ पाया था कि दिल्ली की सेना ने उसे घेर कर हराया और मार डाला। एक बड़ी संख्या में आक्रमणकारी बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिये गये जहाँ उनका वध कर दिया गया। १३०८ ई. के बाद फिर मंगोलों ने अलाउद्दीन के राज्य में विघ्न डालने का साहस नहीं किया और कुतुबुद्दीन मुबारक के समय तक देश उनके आक्रमण से मुक्त रहा।

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन तथा मृत्यु

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन संकट तथा निराशा में बीते। कठिन परिश्रम तथा अत्यधिक विलासिता के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और रुग्ण-शैय्या की शरण लेनी पड़ी। उसकी स्त्री तथा पुत्रों ने उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं की और उसके रोग ने पहले से भी अधिक भीषण रूप धारण कर लिया। रानी ने जिसकी पहले अलाउद्दीन ने उपेक्षा की थी, अपना समय महलों में आमोद-प्रमोद में बिताया और उसके सबसे बड़े पुत्र खिज्रखाँ को अपने भोग-विलास से ही अवकाश नहीं मिलता था। ऐसी दशा में निराश सुल्तान ने काफ़ूर को दक्षिण से और अलपखाँ को गुजरात से बुलाया तथा अपनी स्त्री और पुत्रों के व्यवहार की उनसे शिकायत की। जब काफ़ूर ने देखा कि सुल्तान का अन्तिम समय निकट आ पहुँचा है तो उसने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मार्ग से हटाने तथा सिंहासन पर स्वयं अधिकार करने के लिए षड्यन्त्र रचा। उसने सुल्तान को विश्वास दिला दिया कि खिज्रखाँ, रानी तथा अलपखाँ आपके जीवन का अन्त करने के लिए कुचक्र रच रहे हैं। इसलिए खिज्रखाँ को ग्वालियर के किले में और रानी को पुरानी दिल्ली में बन्दी बनाकर रख दिया गया और अलपखाँ का वध कर दिया गया। इन अत्याचारपूर्ण तरीकों का परिणाम बहुत बुरा हुआ। अलपखाँ के सैनिकों ने गुजरात में विद्रोह कर दिया। चित्तौड़ के राणा ने मुस्लिम सेना को मार भगाया और अपनी राजधानी पर पुनः अधिकार कर लिया। देवगिरि में शंकरदेव के उत्तराधिकारी हरपालदेव ने अपने को स्वतंत्र घोषित करके तुर्की सेनाओं को अपने राज्य के बाहर खदेड़ दिया। इन विद्रोहों के समाचारों ने अलाउद्दीन की दशा और भी अधिक खराब कर दी और २ जनवरी, १३१६ ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

अलाउद्दीन का मूल्यांकन

अलाउद्दीन के चरित्र तथा सफलताओं के सम्बन्ध में इतिहासकारों के परस्पर विरोधी मत हैं। एलफिंस्टन के अनुसार उसका शासन-काल गौरवपूर्ण

था और अनेक मूर्खतापूर्ण तथा क्रूर नियमों के बावजूद वह एक सफल शासक था और उसने अपनी शक्तियों का उचित रूप से प्रयोग किया। इसके विपरीत वी. ए. स्मिथ एलफिंस्टन के निर्णय को अतिशय उदार मानता है। उसके मतानुसार तथ्यों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि उसने अपनी शक्तियों का उपयोग न्यायपूर्वक किया तथा उसका शासन गौरवशाली था। उसका कथन है कि "अलाउद्दीन वास्तव में बर्बर अत्याचारी था, उसके हृदय में न्याय के लिए तनिक भी स्थान नहीं था और यद्यपि उसके राज्यकाल में गुजरात की विजय हुई तथा अनेक सफल आक्रमण किये गये फिर भी उसका शासन लज्जापूर्ण था।"

इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि अलाउद्दीन अत्यधिक वीर सैनिक तथा सफल सेनानायक था। महत्वाकांक्षा, शक्ति, दुर्दमनीय साहस तथा साधन-सम्पन्नता उसके मौलिक गुण थे। उसमें अपने अधीनस्थ लोगों से अत्यन्त वफादारी के साथ सेवा तथा अपने हितों की रक्षा करवाने की योग्यता थी। इसके अतिरिक्त वह सुयोग्य शासक तथा राजनीतिज्ञ था। उसमें उच्चकोटि की मौलिकता थी। उसे अपने पूर्वाधिकारियों से प्राप्त संस्थाओं का केवल संचालन करने से ही सन्तोष नहीं होता था, वह उनमें सुधार करने का इच्छुक रहता था। उसने अपने तथा अपने राज्य के लाभ के लिए नई संस्थाओं को भी जन्म दिया। वह दिल्ली का पहला तुर्की सुल्तान था जिसने एक शक्तिशाली स्थायी सेना की नींव डाली और उसमें विद्यमान भ्रष्टाचार का मूलोच्छेदन किया। उसको भारत का पहला तुर्की सुल्तान होने का यश प्राप्त है जिसने राजस्व-सम्बन्धी नियमों तथा उपनियमों में सुधार किया और भूमि-कर निश्चित करने से पहले भूमि की नाप करने की परिपाटी जारी की। वंशानुगत राजस्व-पदाधिकारियों तथा माफीदारों के विशेष अधिकारों को छीनकर राजस्व-प्रशासन की अनुदार शाखा में क्रान्ति करने वाला भी वह पहला व्यक्ति था। उससे पूर्व अथवा उसके बाद देश के सम्पूर्ण मध्ययुगीन इतिहास में अन्य किसी ऐसे व्यक्ति का उदाहरण नहीं है जिसने बाजार का नियंत्रण इतनी सफलतापूर्वक किया हो और जिसकी कर-व्यवस्था इतनी सुसंगठित रही हो। वही पहला तुर्क विजेता था जिसने विन्ध्या पर्वतों के उस ओर कदम रखा। उसने समस्त दक्षिण भारत को विजय करके उसे दिल्ली के ताज के सम्मुख नतमस्तक किया। इस प्रकार उसने लगभग सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप को राजनीतिक एकता प्रदान की। उसने प्रान्तों पर केन्द्रीय सरकार का पहले से अधिक कठोर नियन्त्रण स्थापित करके सल्तनत में कुछ सीमा तक शासन सम्बन्धी एकता स्थापित की और इस प्रकार बलबन द्वारा आरम्भ किये गये संगठन-कार्य को पूरा किया। उसमें इतनी बुद्धि और साहस था कि उलेमा को उसने राजकाज में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और स्पष्ट घोषणा की कि राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी विषयों में

लौकिक विचारों को ही प्राधान्य मिलना चाहिए। दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले उसके सभी पूर्वाधिकारी इस प्रकार की नीति से सर्वथा अपरिचित थे।

अलाउद्दीन को हम इस देश का पहला तुर्की साम्राज्य-निर्माता कह सकते हैं। इस शासक की अधीनता में तुर्की साम्राज्यवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। बलबन सहित उसके सभी पूर्वाधिकारी ऐसे थे कि उनमें दिल्ली-सल्तनत की मंगोलों के सतत् आक्रमणों से रक्षा करना तथा देश के भीतर आक्रमणकारी नीति को जारी रखना इन दोनों कार्यों को साथ-साथ सम्पादित करने का साहस न था, किन्तु उसने इस दोहरे काम को सफलतापूर्वक पूरा किया। इस खलजी शासक की केवल यह सफलता ही पर्याप्त है जिसके कारण उसको १३ वीं शताब्दी के अपने सभी पूर्वाधिकारियों से कहीं उच्च स्थान मिलना चाहिए। इसलिए उसे भारत का पहला तुर्की सम्राट कहना सर्वथा उचित है। उसके सम्पूर्ण शासन-काल में देश में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था रही। लूट-मार का सर्वथा अन्त कर दिया गया था। "न्याय इतना कठोर था कि चोरी और डकैती जिनका पहले देश में बोलबाला था, अब सुनने को भी न मिलती थीं। यात्री राजमार्गों पर निश्चिन्त होकर सोते थे और व्यापारी लोग पूर्ण सुरक्षा के साथ अपना माल बंगाल के समुद्र से काबुल तक और तैलंगाना से काश्मीर तक ले जा सकते थे।"

स्वयं निरक्षर होते हुए भी अलाउद्दीन विद्या तथा ललित कलाओं का संरक्षक था। प्रथम श्रेणी के कवि तथा विद्वान उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे जिनमें अमीर खुसरव तथा अमीर हसन देहलवी जैसे साहित्यिक रत्न सम्मिलित थे। स्थापत्य से उसे विशेष प्रेम था। अलाई-दरवाजा नाम की उसकी इमारत जो दिल्ली की कुतुबी मस्जिद का परिवर्द्धित रूप है, कला-मर्मज्ञों के मतानुसार प्रारम्भिक तुर्की स्थापत्य का सुन्दरतम तथा सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उसने महलों तथा मस्जिदों का भी निर्माण कराया जिनमें सीरी का किला तथा हजारखम्भा महल अधिक उल्लेखनीय हैं।

किन्तु उसके चरित्र तथा व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी है। वह पूर्णरूप से भला न था। उसमें कुछ गम्भीर दोष थे। उसका व्यक्तिगत जीवन अतिशय स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक योनि-सम्बन्धी भ्रष्टाचार से दूषित था। वह स्वभाव से ही स्वार्थपरायण था और उसके हृदय में न तो मैत्री-सम्बन्ध के लिए आदर था और न अपनी सन्तान के लिए प्रेम। दण्ड देने में वह अत्यधिक क्रूर तथा बर्बर था। बलबन ने केवल उन हिन्दुओं का ही निर्दयतापूर्वक संहार किया था जिन्होंने अपनी रक्षा के हेतु उसका विरोध किया था, किन्तु अलाउद्दीन ने मुसलमानों को भी नहीं छोड़ा। अत्यन्त साधारण अपराधों के लिए वह अंग-अंग तथा मृत्यु-दण्ड दिया करता था। विद्रोहियों तथा अन्य लोगों के पापों का

प्रतिशोध वह उनकी निर्दोष स्त्रियों और बच्चों से लिया करता था। अलाउद्दीन 'रक्तपात तथा युद्ध' के सिद्धान्त का उपासक था। 'साध्य से साधन का औचित्य सिद्ध होता है' के सिद्धान्त में विश्वास करने के कारण उसकी तुलना जर्मन राज्य के अध्यक्ष बिस्मार्क से की जा सकती है। उचित अथवा अनुचित उपायों से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के अतिरिक्त उसका अन्य कोई सिद्धान्त न था। वह नितान्त क्रूर और नैतिकता से रहित था। कुछ आधुनिक लेखक उसकी इस क्रूरता की नीति के लिए उसे दोषी नहीं ठहराते क्योंकि उनका मत है कि जिस विश्वासघात और संघर्ष के युग में वह रह रहा था उसमें कुछ सीमा तक क्रूरता की आवश्यकता थी। किन्तु इस दृष्टिकोण को उचित ठहराना कठिन है। वर्तमान युग अथवा हमारे इतिहास के अन्य किसी भी युग की भाँति उस समय भी भारत की अधिकांश जनता भोली-भाली तथा निर्दोष थी और उसमें विद्रोह की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था। दिक्कत यह थी कि दिल्ली के सुल्तान विदेशी शासक थे इसलिए साधारण जनता का प्रेम अथवा सद्भावना प्राप्त करना उनका कभी उद्देश्य नहीं रहा। अलाउद्दीन के कार्य में सबसे बड़ा दोष यह था कि उसकी शासन-व्यवस्था में स्थायित्व का अभाव था क्योंकि वह पाशविक बल पर अवलम्बित थी न कि जनता की सद्भावना पर।

यदि अलाउद्दीन के कार्यों तथा सफलताओं की निष्पक्ष दृष्टिकोण से समीक्षा की जाय तो कहना पड़ेगा कि दिल्ली के मध्ययुगीन शासकों में उसका उच्च स्थान है। दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण युग में निर्विवाद वह योग्यतम सुल्तान था। रचनात्मक प्रतिभा तथा विचारों की विशदता को ध्यान में रखते हुए मुहम्मद तुग़लक ही इस युग का ऐसा सुल्तान था जिसकी तुलना अलाउद्दीन खलजी से की जा सकती है। किन्तु मुहम्मद तुग़लक को नाशकारी विफलताओं का सामना करना पड़ा जबकि अलाउद्दीन को अपनी प्रत्येक योजना में सफलता मिली।

कुतुबुद्दीन मुबारक (१३१६-१३२० ई.)

सिंहासनारोहण

मलिक काफ़ूर के प्रभाव के कारण अलाउद्दीन ने अपने सबसे बड़े पुत्र खिज्रखाँ को उत्तराधिकार से वंचित करके अपने अल्पवयस्क पुत्र शिहाबुद्दीन उमर को उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। सुल्तान की मृत्यु के उपरान्त इस छः वर्ष के बालक को काफ़ूर ने सिंहासन पर बिठाया और स्वयं अभिभावक के रूप में राज्य का वास्तविक शासक बन बैठा। खिज्रखाँ तथा उसके छोटे भाई शादीखाँ को उसने अन्धा करवा दिया। इसके बाद काफ़ूर ने अलाउद्दीन की विधवा से विवाह करके उसके सब जवाहरात तथा सम्पत्ति छीन ली और उसे कारागार में डाल दिया। अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र

मुबारकखाँ को भी जिसकी अवस्था लगभग १७ अथवा १८ वर्ष की थी, उसने बन्दी बना लिया और अपने कुछ आदमियों को उसकी आँखें निकालने के लिए भेजा। किन्तु मुबारक ने उन आदमियों को रिश्वत देकर काफूर को मारने के लिए वापिस भेज दिया और उन्होंने सरलता से इस कार्य को सम्पन्न कर दिया। तब लोगों ने मुबारक को उसके भाई का अभिभावक स्वीकार कर लिया। लगभग दो महीने तक इस रूप में कार्य करने के उपरान्त मुबारक ने अपने भाई को अपदस्थ करके अन्धा कर दिया और स्वयं सिंहासन हस्तगत कर लिया।

पुराने अध्यादेशों को रद्द करना

मुबारक ने अपना शासन भली-भाँति प्रारम्भ किया। अमीरों तथा जनता की सद्भावनाएँ उसके साथ थीं। उसने समस्त बन्दियों को मुक्त कर दिया और अपने पिता के समय के कठोर अध्यादेश रद्द कर दिये। इस प्रकार उसने 'क्षमा करो और भूल जाओ' की नीति का अनुसरण किया। किन्तु काफूर की हत्या करने वालों को दण्ड दिया गया क्योंकि वे अपने लिये अत्यधिक सम्मान चाहते थे। बाजार पर से अनिवार्य नियन्त्रण हटा दिया गया, जब्त की हुई भूमि उचित अधिकारियों को लौटा दी गयी और अनेक कर कम कर दिये गये। आखिरकार लोगों ने आराम की साँस ली। जैसा कि बरनी लिखता है, अब उन्हें "यह करो यह मत करो; यह सुनो यह मत सुनो" आदि शब्दों के सुनने का डर नहीं था। किन्तु कठोर अध्यादेशों के सहसा रद्द किये जाने से उच्छृंखलता फूट पड़ी। दरबारियों तथा पदाधिकारी-वर्ग का नैतिक आचरण गिर गया। नया सुल्तान लगभग अपने शासन के प्रारम्भ से इन्द्रिय-सुखों में लिप्त हो गया और खुसरव नामक उसके एक सुन्दर प्रियजन का उस पर अत्यधिक प्रभाव बढ़ गया। खुसरव जन्म से[८] नीच जाति का था और कुछ ही समय पहले उसने इस्लाम अंगीकार किया था। दरबारियों ने भी सुल्तान के आचरण का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। शासन-व्यवस्था में ढील आ गयी।

विद्रोह : देवगिरि तथा मदुरा की पुनर्विजय

देश के विद्रोही प्रकृति के व्यक्तियों ने राज्य-परिवर्तन से शीघ्र ही लाभ उठाने का प्रयत्न किया। गुजरात में एक विद्रोह हुआ। देवगिरि के यादव राजा ने अपनी स्वतन्त्रता की पुनः स्थापना करली और राजपूताना के महत्वपूर्ण राज्य, विशेषकर मारवाड़, स्वतन्त्र हो गये। सुल्तान के लिए पुनः व्यवस्था कायम करना आवश्यक हो गया। आइन-उल-मुल्क मुल्तानी को गुजरात

---

८ खुसरव के जाति-सम्बन्धी वाद-विवादों के लिए "इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टली" के १९५३ के अंक में प्रकाशित लेख देखिये।

भेजा गया; उसने विद्रोह को सफलतापूर्वक दबा दिया। सुल्तान का ससुर जफरखाँ अब वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया गया। देवगिरि की पुर्नविजय का भार मुबारक ने स्वयं अपने ऊपर लिया। १३१७ ई. में उसने दक्षिण के लिए प्रस्थान किया। देवगिरि का राजा हरपाल सुल्तान के आगमन के समाचार से भयभीत होकर अपनी राजधानी से भाग गया। किन्तु वह पकड़ा गया और उसकी जीवित खाल खिंचवायी गयी तथा उसका सिर देवगिरि के एक फाटक पर टाँग दिया गया। समस्त देवगिरि को जिलों में विभक्त करके तुर्की अफसरों के सुपुर्द कर दिया गया। राज्य में स्थान-स्थान पर रक्षा-सेनाएँ रख दी गयीं; गुलबर्गा, सागर तथा द्वारसमुद्र पर अधिकार कर लिया गया और उनके लिए मुस्लिम शासक नियुक्त किये गये। देवगिरि में मुबारक ने अनेक मन्दिरों का विध्वंस किया और उनके सामान से एक मस्जिद का निर्माण कराया। मलिक यकलाकी को उसने देवगिरि का सूबेदार नियुक्त किया और खुसरव को मदुरा जीतने भेजा। तदुपरान्त वह दिल्ली लौट गया।

मुबारक के विरुद्ध षड्यन्त्र

जिस समय मुबारक दिल्ली लौट रहा था, उसकी हत्या के लिए एक षड्यन्त्र रचा गया। षड्यन्त्रकारियों का प्रमुख उसका चचेरा भाई असदुद्दीन था जो फीरोज़ खलजी के भाई यग्रुसखाँ का पुत्र था। षड्यन्त्र-कारियों ने सुल्तान को मारकर खिज्रखाँ के एक दस वर्षीय पुत्र को सिंहासन पर बैठाने की योजना बनायी, किन्तु उनमें से एक ने सुल्तान को षड्यन्त्र का भेद दे दिया। मुबारक ने उन्हें पकड़वाकर मरवा डाला। इस षड्यन्त्र से वह इतना आपे से बाहर हो गया कि उसने यग्रुसखाँ के परिवार के सभी पुरुष-सदस्यों का वध करने की आज्ञा दे दी। उसी समय उसने अपने भाइयों—खिज्रखाँ, शादीखाँ और शिहाबुद्दीन—की भी हत्या करवा दी। तदुपरान्त उसने खिज्रखाँ की विधवा देवलदेवी से स्वयं विवाह कर लिया।

मुबारक का आचरण : शासन में अव्यवस्था

दक्षिण में मुबारक को जो सफलता प्राप्त हुई उसने उसका सिर फेर दिया। उसने अपने ससुर जफरखाँ और अपने प्रिय शहीम को जिसे दक्षिण जाते समय वह अपने प्रतिनिधि के रूप में दिल्ली में छोड़ आया था, बिना किसी स्पष्ट कारण के मरवा डाला। शासन की उपेक्षा करके वह पूर्णरूप से इन्द्रिय-सुखों में लिप्त हो गया। कहा जाता है कि वह स्त्रियों के वस्त्र धारण करके दरबार में उपस्थित हुआ करता था। उसने भाँड़ों तथा वैश्याओं को दरबार में पुराने तथा अनुभवी अमीरों का अभद्र संकेतों तथा अशिष्ट भाषा द्वारा अभिवादन करने की आज्ञा दे दी। बरनी लिखता है कि कभी-कभी सुल्तान नंगा होकर अपने दरबारियों के बीच दौड़ा करता था। इस सबका

परिणाम यह हुआ कि लोगों के हृदय से ताज की प्रतिष्ठा जाती रही और सर्वत्र अव्यवस्था तथा विद्रोह की शक्तियाँ सिर उठाने लगीं। देवगिरि के सूबेदार मलिक यकलाकी ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। किन्तु दक्षिण के एक स्वामिभक्त अफसर ने उसे पराजित किया और बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया। मुबारक ने उसे मृत्यु-दण्ड न देकर केवल उसकी नाक और कान कटवा लिये। कुछ समय उपरान्त उसने उसको क्षमा भी कर दिया और समाना का सूबेदार नियुक्त किया। किन्तु उसके सहयोगियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया। खुसरव के सौतेले भाई हिसामुद्दीन ने जो जफरखाँ के स्थान पर गुजरात का सूबेदार बनाया गया था, वहाँ विद्रोह कर दिया किन्तु यकलाकी की भाँति उसे भी स्वामिभक्त अमीरों ने पराजित किया और बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया। अपने प्रिय खुसरव को प्रसन्न करने के लिए सुल्तान ने उसको पूर्णतया क्षमा कर दिया। खुसरव स्वयं दक्षिण में अपने लिये एक राज्य कायम करने की फिक्र में था। जब कुछ पदाधिकारियों ने सुल्तान को उसकी इस राजद्रोहपूर्ण आकांक्षा की सूचना दी तो उसने उनकी बात का विश्वास नहीं किया और खुसरव को दिल्ली बुला कर उस पर आरोप लगाने वालों को पदच्युत करके कारागार में डलवा दिया।

मुबारक की हत्या

खुसरव ने अनुभव किया कि बिना अपनी एक निजी सेना के उसके लिए सिंहासन हस्तगत करना सम्भव न हो सकेगा। उसने सुल्तान से ४०,००० अश्वारोहियों की एक सेना तैयार करने की आज्ञा ले ली जिसमें अधिकतर गुजरात के परवारी लोग सम्मिलित थे जो खुसरव की बिरादरी के ही थे। इसके बाद उसने सुल्तान से प्रार्थना की कि यदि उसके सम्बन्धी तथा मित्र किसी आवश्यक काम से महलों के भीतर ही उससे मिलना चाहें तो उन्हें महलों के फाटकों के भीतर प्रवेश करने की आज्ञा मिलनी चाहिए। उसकी यह प्रार्थना भी स्वीकार करली गयी। इस प्रकार सुल्तान की हत्या करने की खुसरव की योजना तैयार हो गयी। मुबारक को उसके एक पुराने अध्यापक ने इस सम्बन्ध में चेतावनी भी दी किन्तु सुल्तान ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जब खुसरव की षड्यन्त्रकारी योजना पक्की हो गयी तो ४ अप्रैल, १३२० ई. की रात को उसके सैनिकों ने महल में घुसकर शाही रक्षकों को काट डाला। सुल्तान महल की ऊपरी मंजिल में था। जब उसको इसकी सूचना मिली तो उसने खुसरव से पूछा कि यह सब शोर-गुल क्यों है ? खुसरव ने उत्तर दिया कि कुछ घोड़े छूट गये हैं और ये लोग उन्हें पकड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। खुसरव ये शब्द कह ही रहा था कि उसके अनुयायी मुबारक के कमरे में पहुँच गये। आतंकित होकर सुल्तान उछल पड़ा और

रनिवास की ओर भागा, किन्तु खुसरव ने उसके बाल पकड़ लिये और उसके जहीरा नामक एक साथी ने भालों से छेद कर उसे मार डाला। मुबारक का सिर धड़ से अलग करके नीचे चौक में फेंक दिया गया।

मुबारक का मूल्यांकन

कुतुबुद्दीन मुबारक ख़लजी-वंश का अन्तिम सुल्तान था और सबसे अधिक निकम्मा था। उसमें योग्यता तथा साहस का अभाव नहीं था क्योंकि दक्षिण के आक्रमणों के समय उसने अपने इन दोनों गुणों का परिचय दिया था, किन्तु अतिशय मृगया तथा वैश्यागमन के कारण उसका चरित्र नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। उसे अपने प्रिय खुसरव से इतना लगाव था कि वह उस नीच कुलोत्पन्न नये मुसलमान की असीम महत्वाकांक्षा को न समझ सका। मुबारक को अपनी अतिशय विलासिता, मूर्खता तथा दुष्टाचार का उचित दण्ड मिला।

मुस्लिम जगत की सैद्धान्तिक एकता की पुरातन परम्परा को समाप्त करने का कलंक भी इसी विलासी तथा निकम्मे ख़लजी शासक के सिर पर था। उसने खिलाफत के सिद्धान्त को ठुकराकर स्वयं खलीफा की उपाधि धारण की।

नासिरुद्दीन खुसरवशाह (१५ अप्रैल—५ सितम्बर, १३२० ई.)

मुबारक की हत्या के उपरान्त शीघ्र ही खुसरव ने प्रमुख अमीरों को दरबार में आमन्त्रित किया और जो कुछ हो चुका था उसके लिए उनकी स्वीकृति प्राप्त करली। उनकी अनुमति से वह १५ अप्रैल, १३२० ई. को नासिरुद्दीन खुसरवशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने पुराने अमीरों तथा पदाधिकारियों के पदों को स्थायी कर दिया, किन्तु जिनके सम्बन्ध में ख़लजियों के समर्थक होने का सन्देह था उन्हें हटा दिया गया। उनमें से कुछ की हत्या कर दी गयी। खुसरव ने खिज्रखाँ की विधवा देवलदेवी से विवाह कर लिया। उसने उपाधियों, पदों तथा धन का अपव्ययतापूर्ण वितरण करके अधिक से अधिक अमीरों तथा अफसरों को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न किया। मुबारक के मन्त्री वाहिदुद्दीन कुरैशी को ताज-उल-मुल्क की उपाधि प्रदान की गयी और अपने पद पर उसे पूर्ववत रहने दिया गया। आईन-उल-मुल्क मुल्तानी को स्थायी करके उसका पद बढ़ा दिया गया तथा आलमखाँ और अमीर-उल-उमरा की उपाधियों से उसे विभूषित किया गया। फखरुद्दीन जूना को घोड़ों का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और उसके पिता गाज़ी मलिक को पंजाब के सूबेदार तथा सीमा-रक्षक के पदों पर पूर्ववत रहने दिया गया। इनके अतिरिक्त मुल्तान, समाना तथा सिबिस्तान के सूबेदारों आदि अनेक अन्य तुर्की अमीरों ने नये सुल्तान को अपना स्वामी मान लिया। खुसरव ने कुछ सबसे अधिक विख्यात तथा धार्मिक शेखों को जिनमें दिल्ली का शेख निजामुद्दीन औलिया मुख्य

था, धन बाँटकर अपने पक्ष में कर लिया। उन्होंने भी नये सुल्तान का समर्थन किया। खुसरव ने अपने अनुयायियों को जिनमें से अधिकतर उसी की बिरादरी के गुजराती थे, उनके सहयोग तथा सेवाओं के लिए भली-भाँति पुरस्कृत किया।

किन्तु खुसरव एक भारतीय मुसलमान था। प्रारम्भ में वह भारवार अथवा गड़रिया नामक नीची जाति का गुजराती हिन्दू था, बाद में उसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। अहंकारी तुर्क जिन्हें अपनी नस्ल की उच्चता पर घमण्ड था और जिनके हाथों में अब तक राजशक्ति का एकाधिकार रहा था, इस बात को सहन नहीं कर सकते थे कि एक भारतीय मुसलमान सल्तनत की प्रभुत्व-शक्ति हड़प ले। इसलिए कुछ तुर्की मलिकों और अमीरों ने नारा बुलन्द किया कि हिन्दुस्तान में इस्लाम संकट में है। उन्होंने खुसरव पर आरोप लगाया कि वह आधा हिन्दू है, इस्लाम का अपमान करता है और महलों[१] में मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन देता है। इतिहासकार बरनी ने जो उन्हीं की बिरादरी का था, खुसरव की अत्यन्त कटु निन्दा की है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अमीरों तथा जनता में वह पूर्ण रूप से अप्रिय था। किन्तु वास्तविकता यह है कि अनेक प्रभावशाली मुस्लिम सेनानायक उसके पक्ष में थे और शेख निजामुद्दीन औलिया जैसे अनेक धार्मिक नेताओं का उसे नैतिक समर्थन प्राप्त था। केवल कुछ अल्पसंख्यक लोग जातीय और व्यक्तिगत कारणों से उसके विरोधी थे। सीमा-रक्षक गाज़ी मलिक की स्वयं अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं। इसके अतिरिक्त वह १३वीं शताब्दी के उन तुर्की अमीरों का प्रतिनिधि था जो भारतीय मुसलमानों को देश के शासन में भाग देने के कट्टर विरोधी थे। इसलिए उसने खुसरव के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व किया और सिबिस्तान, मुल्तान और समाना के सूबेदारों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु इस योजना में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसने आईन-उल-मुल्क मुल्तानी को अपने दल में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु इसमें से किसी ने भी गाज़ी मलिक का समर्थन नहीं किया, क्योंकि सम्भवतः उन्हें इस्लाम के लिए कोई संकट नहीं दिखायी देता था। अपने इन प्रयत्नों में असफल होने पर गाज़ी मलिक ने कुचक्रों का सहारा लिया और उपर्युक्त तीन प्रान्तों के निम्न कोटि के मुस्लिम पदाधिकारियों को नये सुल्तान के विरुद्ध भड़काया और विद्रोह के लिए उत्तेजित किया। यह योजना

---

१. महलों में जो हिन्दू-पूजा हुआ करती थी उसके उत्तरदायी खुसरवशाह के हिन्दू सम्बन्धी थे। इसका स्पष्ट उल्लेख 'तबक़ात-ए-अकबरी' की जिल्द १ के पृष्ठ १८७ पर है।

सफल हुई। प्रतिक्रियावादी पदाधिकारी तथा उन तीनों प्रान्तों की धर्मान्ध मुस्लिम जनता सरलता से उसके पक्ष में हो गयी।

जिस समय गुप्त रूप से इस प्रकार के कुचक्र चल रहे थे, गाज़ी मलिक का पुत्र जूनाखाँ एक रात को चुपचाप दिल्ली से भाग निकला और दिपालपुर में अपने पिता से जाकर मिल गया। जब तैयारियाँ पूरी हो गयीं तो गाज़ी मलिक ने दिल्ली के विरुद्ध प्रस्थान किया। समाना के सूबेदार मलिक यकलाकी ने मार्ग में उसका विरोध किया किन्तु पराजित हुआ। सिरसा के निकट नये सुल्तान के सौतेले भाई हिसामुद्दीन ने फिर उसका मुकाबला किया किन्तु वह भी हारा और भाग खड़ा हुआ। जैसे ही गाज़ी मलिक दिल्ली के निकट पहुँचा, खुसरव ने राजधानी से निकलकर इन्द्रप्रस्थ के पास विद्रोहियों का सामना किया। युद्ध से पहले आईन-उल-मुल्क अपनी सेना लेकर मालवा की ओर चला गया। फिर भी ५ सितम्बर, १३२० ई. को खुसरव ने वीरता से युद्ध किया किन्तु पराजित हुआ और मारा गया।

उत्तरी भारत में तुर्की सल्तनत की स्थापना के उपरान्त भारतीय मुसलमानों ने राजशक्ति हस्तगत करने के लिए केवल दो बार प्रयत्न किये। इमादुद्दीन रेहान पहला प्रमुख भारतीय मुसलमान था जिसने वास्तविक रूप में राज्य पर नियन्त्रण स्थापित करने की आकांक्षा की, और उसने केवल एक वर्ष तक प्रधान मन्त्री की हैसियत से शासन किया। किन्तु अन्त में उसे तुर्की एकाधिकारियों के जातीय अहंकार का शिकार होना पड़ा। खुसरव दूसरा भारतीय मुसलमान था जिसने सत्ता हड़पने का प्रयत्न किया, किन्तु एक सामान्य मन्त्री के रूप में नहीं बल्कि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान के रूप में। लेकिन वह भी तुर्की कुचक्रों तथा जातीय अहंकार का शिकार हुआ। खुसरव मुसलमान था। इस्लाम को स्वीकार करने के पहले वह क्या रह चुका था इस बात का विशेष महत्व नहीं है। इस्लाम जनवादी धर्म होने का दावा करता है और विश्वास करता है कि राजत्व किसी वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं है; उसके अधिकारी तो वे हैं जिनमें उसे धारण करने की शक्ति है। इसलिए खुसरव ने जो शक्ति प्राप्त कर ली थी उसका उसे उपभोग न करने देने के लिए कोई उचित कारण न था। यह आरोप कि उसने इस्लाम का अपमान किया था, मूर्ति-पूजा की आज्ञा दी थी और कुरान की प्रतियों का आसनों तथा स्टूलों की भाँति प्रयोग करवाया था, केवल एक प्रोपेगेंडा था और उसका उद्देश्य गाज़ी मलिक तथा उसके पुत्र जूनाखाँ की महत्वाकांक्षाओं पर पर्दा डालना था। एक दूरस्थ प्रान्त के सैनिक शासन की अपेक्षा दिल्ली का शेख-उल-इस्लाम (निजामुद्दीन औलिया) सुल्तान के धार्मिक आचरण के सम्बन्ध में अधिक ठीक निर्णय कर सकता था। यदि खुसरव ने अपने उपकारी

की हत्या करवायी थी, तो अलाउद्दीन और सम्भवतः बलबन ने भी ऐसा ही किया था। दयनीय बात तो यह है कि मध्ययुगीन भारत के आधुनिक लेखकों ने भी बरनी द्वारा की गयी खुसरव की उस कटु निन्दा को स्वीकार कर लिया है जिसका परवर्ती लेखकों ने अनुकरण किया है।

खलजी व्यवस्था की दुर्बलताएँ

जिस साम्राज्य का अलाउद्दीन ने निर्माण किया था, वह दुर्बल नींव पर अवलम्बित था इसलिए अपने संस्थापक के उपरान्त अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। उसकी अन्तिम विफलता के कारणों को समझ सकना अधिक कठिन नहीं है। जिन तत्वों ने उसके निर्माण में योग दिया था उनमें से कुछ ऐसे थे जो अन्ततोगत्वा उसकी सुदृढ़ता एवं स्थायित्व के लिए घातक सिद्ध हुए और कालान्तर में उसके पतन के लिए जिम्मेदार बने। सम्पूर्ण व्यवस्था सुल्तान की प्रतिभा पर निर्भर थी और व्यक्तिगत प्रतिभा सीमित होती है। अलाउद्दीन प्रतिभाशाली था किन्तु उसमें मानवीय गुणों का अभाव था। अवस्था के बढ़ने के साथ उसमें परिश्रम करने तथा थकावट को सहन करने की योग्यता कम होती गयी। वह विश्राम-प्रिय हो गया और अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के कामों का निरीक्षण करने की उसमें क्षमता नहीं रही, परिणामस्वरूप वे कुप्रबन्ध करने लगे और उसकी मृत्यु से पहले ही विद्रोह होने लगे। दूसरे, खलजी साम्राज्यवाद सैनिक-बल पर आधारित था, जनता की अनुमति पर नहीं। शक्ति के उपासकों में अत्याचारी होने की प्रवृत्ति अधिक बलवती हो जाती है और वे जन-हित की चिन्ता न करके यश के पीछे दौड़ने लगते हैं। अलाउद्दीन के सम्बन्ध में भी यही नियम चरितार्थ हुआ और समय की गति के साथ उसका शासन भी दिन-प्रतिदिन अधिक अप्रिय होता गया। तुर्की अमीर जिन्हें शक्ति और प्रतिष्ठा से वंचित कर दिया गया था, उससे नाराज हो गये। हिन्दू सामन्तों को भी वे प्रतिबन्ध तथा अपमान असह्य हो रहे थे जो उन पर थोपे गये थे। नये मुसलमान कहे जाने वाले मंगोलों ने उसके विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र और कुचक्र रचे। वे अमीर भी अप्रसन्न हो गये जिनके हाथों में कुछ शक्ति और प्रतिष्ठा थी क्योंकि निम्न कुलोत्पन्न व्यक्तियों को पद तथा सम्मान देकर उनके समकक्ष कर दिया गया था। गुप्तचर विभाग की कठोरता के कारण उच्च तथा मध्य वर्गों के लोगों की राज्य के प्रति सहानुभूति जाती रही। व्यापारी तथा दूकानदार बाजार के कठिन नियन्त्रण के कारण असन्तुष्ट थे। इस प्रकार जनता के सभी वर्ग निरंकुश शासन से तंग आ गये थे और उसको उलटने के अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। अलाउद्दीन ने अपनी व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अपने पुत्रों तथा उत्तराधिकारियों को उचित शिक्षा नहीं दी। खिज्रखाँ तथा उसके भाई दुर्बल निकले और इन्द्रिय-

सुखों में लिप्त रहने के कारण अपने पिता द्वारा निर्मित साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने के योग्य नहीं थे। जनता के सौभाग्य से अलाउद्दीन के प्रिय मलिक काफ़ूर ने जिसका दरबार में प्रभुत्व था उसके परिवार के सदस्यों में द्वन्द्व खड़ा कर दिया और राजवंश में फूट उत्पन्न कर दी। राजकीय सत्ता के दुर्बल हो जाने से महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को विद्रोह खड़े करने का अवसर मिल गया। दक्षिण, राजस्थान तथा साम्राज्य के अन्य भागों में विद्रोह हुए। यद्यपि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी को बगावतों के दमन करने में सफलता मिली, किन्तु जनता को प्रसन्न करने के लिए उसे अपने पिता के समय के अनेक अप्रिय नियमों को रद्द करना पड़ा और चार वर्ष उपरान्त जब उसकी हत्या कर दी गयी तो सम्पूर्ण व्यवस्था क्षण भर में धराशायी हो गयी।

वंशावली वृक्ष : खलजी-वंश
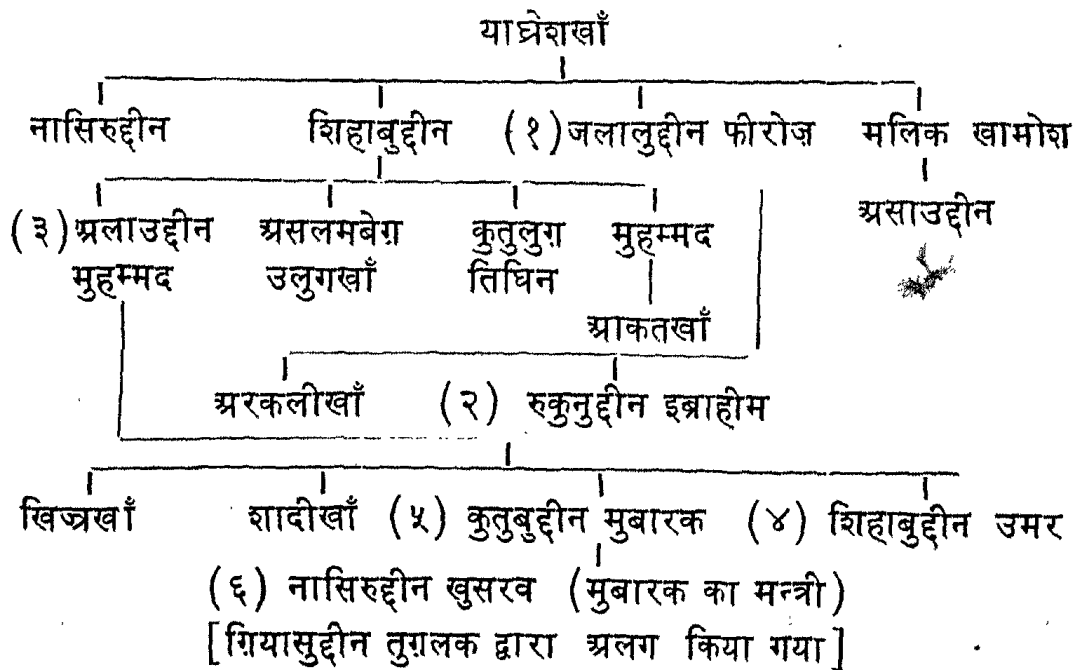
BOOKS FOR FURTHER READING

1. BARANI, ZIA-UD-DIN : Tarikh-i-Firozshahi.
2. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vol. III.
3. WARSI : History of Ala-ud-din.
4. HAIG, WOOLSELEY : Cambridge History of India, Vol. III.
5. KHUSRAV, AMIR : Khazain-ul-Futuh (मुहम्मद हबीब द्वारा अनुवादित)
6. LAL, K. S. : History of the Khaljis.

अध्याय १४

तुग़लक-वंश

ग़ियासुद्दीन तुग़लकशाह (१३२०-१३२५ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

गाज़ी तुग़लक का जन्म एक निम्न कुल में हुआ था। उसका पिता बलबन का एक तुर्की गुलाम था और माता पंजाब की एक जाटनी। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपना जीवन एक साधारण सैनिक के रूप में प्रारम्भ किया था किन्तु केवल अपनी योग्यता तथा परिश्रम के कारण वह महत्वपूर्ण पद पर पहुँच गया। १३०५ ई. में वह पंजाब का सूबेदार नियुक्त हुआ और दिपालपुर उसकी राजधानी थी। उसे मंगोलों के आक्रमण के विरुद्ध उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा का भार सौंपा गया था। कहा जाता है कि उसने उन्तीस बार आक्रमणकारियों से टक्कर ली और उन्हें पराजित किया। इसलिए वह मलिक-उल-गाज़ी के नाम से विख्यात हुआ। अलाउद्दीन के शासन-काल के अन्तिम दिनों में उसकी गणना राज्य के गिने-चुने शक्तिशाली अमीरों में होने लगी। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के शासन-काल में वह अपने पद पर पूर्ववत कायम रहा। सिंहासन पर बैठने के समय खुसरव ने भी उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया और पंजाब के सूबेदार के पद पर स्थायी कर दिया, किन्तु वह तथा उसका पुत्र जूनाखाँ अत्यधिक महत्वाकांक्षी थे। महत्वाकांक्षा तथा १३वीं शताब्दी के तुर्कों की सी अपनी जातीय और धार्मिक कट्टरता से अनुप्राणित होकर उसने खुसरव के विरुद्ध विद्रोह संगठित किया और अन्त में उसे हराकर मार डाला। तदुपरान्त एक विजेता के रूप में उसने दिल्ली में प्रवेश किया। कहा जाता है कि उसने इस बात की जाँच करवायी कि अलाउद्दीन के वंश का कोई व्यक्ति जीवित तो नहीं है जिसे मैं दिल्ली के सिंहासन पर बिठला दूँ। यह कहना तो कठिन है कि उसने यह जाँच ईमानदारी से करवायी थी अथवा जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए यह कृत्य किया था। कुछ भी हो, ८ सितम्बर, १३२० ई. को वह ग़ियासुद्दीन तुग़लकशाह गाज़ी के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने अपने नाम के साथ गाज़ी (काफ़िरों का वध करने वाला) शब्द जोड़ा।

गृह नीति

अमीरों तथा जनता को प्रसन्न करना सुल्तान का पहला कार्य था। वह शुद्ध तुर्की नस्ल का था, इसलिए बचे हुए तुर्की अमीरों तथा पदाधिकारियों पर अपनी सत्ता कायम करने में उसे अधिक कठिनाई नहीं हुई। उसने उन ख़लजी लड़कियों के विवाह का प्रबन्ध किया जो अपने वंश की पराजय के बाद बच रही थीं। एक कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति उसने खुसरव का समर्थन करने वाले अमीरों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की और उन्हें अपने पदों पर स्थायी कर दिया। पूर्व-सुल्तान के कट्टर पक्षपातियों के साथ उसने कठोर बर्ताव किया और उनके पद तथा जागीरें छीन लीं। जिन लोगों की भूमि अलाउद्दीन ख़लजी ने छीन ली थी उन्हें वह फिर वापिस दे दी गयी। उसने उस राज-कोष को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसे खुसरव ने लुटा दिया था अथवा जिसे उसके पराभव के बाद अव्यवस्था के दिनों में लूट लिया गया था। किन्तु इस सम्बन्ध में उसे उन लोगों के कठिन विरोध का सामना करना पड़ा जिन्हें उसके (राजकोष के) अपव्ययतापूर्ण वितरण से अधिक लाभ हुआ था। खुसरव ने दिल्ली के प्रमुख शेखों को भारी रकमें दे डाली थीं, उनमें से कुछ ने उन्हें लौटा दिया, किन्तु शेख निजामुद्दीन औलिया ने जिसे पाँच लाख टंका प्राप्त हुए थे, लौटाने से इन्कार कर दिया और कहा कि मैंने वह धन दान कर दिया है। इस पर सुल्तान को अत्यधिक क्रोध आया, किन्तु वह विवश था क्योंकि शेख धार्मिक व्यक्ति था और जनता के सभी वर्गों में सर्वप्रिय था। ग़ियासुद्दीन ने यह कहकर उसे अपराधी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह हर्षोन्मादपूर्ण गीत गाता तथा फकीरों की भाँति नाचता है। कट्टर सुन्नी लोग भक्ति के इस रूप को धर्म-विरुद्ध मानते थे किन्तु सुल्तान को अपनी इस नीति में सफलता नहीं मिली क्योंकि जिन ५३ धर्माधिकारियों से इस सम्बन्ध में उसने सलाह ली, उन्होंने भक्ति के इस रूप को अनुचित नहीं ठहराया। दूसरे लोगों के विषय में उसकी नीति सफल हुई और खुसरव शाह द्वारा लुटाये गये बहुत-से धन को उसने पुनः प्राप्त कर लिया।

ग़ियासुद्दीन ने कृषि को प्रोत्साहन देने तथा किसानों के हितों की रक्षा करने की नीति का अनुसरण किया। उसने आज्ञा जारी की कि दीवाने-विजारत को एक वर्ष में किसी इक्ता के राजस्व में $\frac{१}{१०}$ और $\frac{१}{११}$ से अधिक वृद्धि नहीं करनी चाहिए। उसकी हिदायत थी कि बढ़ौती धीरे-धीरे कई वर्षों में की जानी चाहिए। राजस्व भूमि की नाप करने के उपरान्त निर्धारित नहीं किया जाता था, जैसा कि अलाउद्दीन के समय में नियम था। उसने भूमि की पड़ताल कराने की परिपाटी त्याग दी क्योंकि अफसरों के हाथ में काम रहने के कारण उसका सन्तोषजनक काम नहीं होता था और उसके लिए अनेक विशेषज्ञों की

आवश्यकता पड़ती थी। इसके स्थान पर सुल्तान ने आज्ञा निकाली कि भूमि-कर कलक्टरों को स्वयं निर्धारित करना चाहिए, इसका तात्पर्य था पुरानी बटाई और नस्क की प्रथा को पुनः प्रचलित करना। राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारियों को वसूल की हुई रकम पर कमीशन नहीं दिया जाता था बल्कि उन्हें भूमि दे दी जाती थी जिस पर किसी प्रकार का कर नहीं लगता था। इसके अतिरिक्त उन्हें किसानों से नाममात्र का शुल्क वसूल करने की भी आज्ञा थी। इस विषय में भी ग़ियासुद्दीन ने अलाउद्दीन की वैज्ञानिक प्रथा को त्याग दिया और उस पुरानी व्यवस्था की पुनः स्थापना की जो ख़लजी शासन से पहले प्रचलित थी। इसके उपरान्त उसने कृषि के क्षेत्र को बढ़ाने के लिए नियम बनाये। उसका विश्वास था कि राज्य की माँग अत्यधिक बढ़ाने से किसान निराश होकर विद्रोह करने पर बाध्य हो जाते हैं, इसलिए राजस्व बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय लगान में बढ़ौती करना नहीं बल्कि कृषि के क्षेत्र को विस्तृत करना है। इस नीति के परिणाम अच्छे हुए। बहुत-सी बंजर भूमि को कृषि के योग्य बनाया गया और कृषि के क्षेत्र में वृद्धि हुई। अनेक ऊजड़ गाँव फिर बस गये। सिंचाई के लिए नहरें खोदी गयीं और बाग लगाये गये।

राजस्व-व्यवस्था में सुधार करने के उपरान्त ग़ियासुद्दीन ने यातायात के साधनों में उन्नति करने का प्रयत्न किया। सड़कें साफ करवायी गयीं तथा जनता की सुविधा के लिए किलों, पुलों और नहरों का निर्माण कराया गया। यातायात-व्यवस्था को समुन्नत बनाने और विशेषकर स्मरणातीत समय से चली आयी डाक-व्यवस्था को पूर्ण रूप से सुसंगठित करने का श्रेय ग़ियासुद्दीन को है। उसके समय में तथा उससे बहुत पहले भी हरकारे तथा घुड़सवार समाचार ले जाया करते थे जो राज्य भर में $\frac{2}{3}$ मील की दूरी पर नियुक्त किये जाते थे। पहले वे सात अथवा आठ मील की दूरी पर रहते थे। समाचार सौ मील प्रति दिन (१२ घण्टे) की रफ्तार से चलते थे।

कुतुबुद्दीन मुबारक तथा खुसरव के दुर्बल शासन में न्याय-विभाग भी अस्त-व्यस्त हो गया था, ग़ियासुद्दीन ने उसमें भी सुधार किया। राजकीय ऋण वसूल करने के लिए शारीरिक यातनाएँ देने की प्रथा को उसने बन्द कर दिया, किन्तु चोरों, राजस्व न देने वालों और राजकीय धन का गबन करने वालों के लिए यह दण्ड-विधान पूर्ववत् जारी रहा।

हिन्दुओं के प्रति ग़ियासुद्दीन का व्यवहार प्रशंसनीय नहीं था। अलाउद्दीन ने उन पर जो प्रतिबन्ध लगाये थे उनमें से कुछ को उसने कायम रखा। उसने नियम जारी किया कि हिन्दुओं को धन एकत्र करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। इसीलिए उनके पास अपने परिश्रम की कमाई में से केवल उतना ही छोड़ा जाता था जो उनके सामान्य सुख से रहने के लिए पर्याप्त था।

ज़ियाउद्दीन बरनी लिखता है कि सुल्तान ने हिन्दुओं पर अधिक कर इसलिए नहीं लगाया कि वह उन्हें निराश होकर अपनी भूमि तथा व्यवसाय छोड़कर भागने पर बाध्य नहीं करना चाहता था। उसके शासन-काल में देश की बहु-संख्यक जनता सुखी नहीं थी।

अपने निजी जीवन में ग़ियासुद्दीन कट्टर सुन्नी मुसलमान था। अपने धर्म के नियमों में उसे आस्था थी और उनका वह बड़ी सावधानी से पालन करता था। वह सनातनी इस्लाम के पोषक के रूप में सिंहासन पर बैठा था इसलिए उसके लिए धर्मान्ध मुसलमान जैसा आचरण करना स्वाभाविक ही था। उसने शराब के बनने तथा बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाया और मुस्लिम जनता पर कठोरता से इस्लाम के नियमों को लागू करने का प्रयत्न किया। कदाचित अन्य धर्मावलम्बियों पर उसने धर्म के नाम पर अधिक अत्याचार नहीं किया, किन्तु अपनी सैनिक यात्राओं के समय उसने मूर्तियों तथा मन्दिरों का अवश्य विध्वंस किया।

विदेश-नीति

वारंगल पर आक्रमण

ग़ियासुद्दीन तुग़लक एक महान् साम्राज्यवादी था। खुसरव के शासन-काल में जिन राज्यों ने दिल्ली-प्रभुत्व से अपने को मुक्त कर लिया था उनका पुनः दमन करना ग़ियासुद्दीन की विदेश-नीति का मुख्य उद्देश्य था। किन्तु उसे उनकी पुनर्विजय से ही सन्तोष न था। वह उन्हें जीतकर सीधे दिल्ली के शासन के अन्तर्गत लाना चाहता था। वारंगल के राजा प्रतापरुद्रदेव ने दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। १३२१ ई. में सुल्तान ने अपने पुत्र जूनाखाँ को जिसे अब उलुगखाँ की उपाधि मिल चुकी थी, उसका दमन करने के लिए भेजा। उलुगखाँ ने वारंगल को घेरकर राजा को इतना परेशान किया कि उसे बाध्य होकर सन्धि की बातचीत करनी पड़ी। उलुगखाँ बिना किसी शर्त के उसका आत्म समर्पण चाहता था इसलिए उसने सन्धि-प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। तब प्रतापरुद्रदेव ने निराशाजनित साहस के आवेश में आकर घेरा डालने वालों के यातायात के मार्ग काट दिये जिसके परिणामस्वरूप दिल्ली से समाचार मिलना बन्द हो गया और यह अफवाह फैल गयी कि दिल्ली में ग़ियासुद्दीन की मृत्यु हो गई है। दमिश्क के शेखजादा कवि उबैद आदि अपने मित्रों की सलाह से शाहजादा ने घेरा उठा लिया और सिंहासन पर अधिकार करने के हेतु समय पर पहुँचने के लिए दिल्ली को प्रस्थान कर दिया। तैलंगाना के राजा तथा प्रजा ने भी मार्ग में उसे बहुत कष्ट पहुँचाये। इस प्रकार शाहजादा का दक्षिण पर प्रथम आक्रमण विफल रहा।

वारंगल पर द्वितीय आक्रमण

देवगिरि पहुँचकर जूनाखाँ को ज्ञात हुआ कि पिता की मृत्यु का समाचार झूठा है। इसलिए वह शीघ्र ही दिल्ली पहुँचा और अपनी भूल के लिए पिता से क्षमा-याचना की। उसको तो क्षमा कर दिया गया किन्तु उसके सहयोगियों तथा शत्रुओं को मृत्यु-दण्ड दिया गया। १३२३ ई. में उसे पुनः वारंगल भेजा गया। इस बार उसने यातायात के मार्गों को सुरक्षित रखने का समुचित प्रबन्ध किया जिससे उसे दिल्ली के समाचार यथासमय मिलते रहें। उसने बीदर को हस्तगत करके वारंगल के लिए प्रस्थान किया। इस बार घेरे का संचालन इतनी शक्ति और दृढ़ता से किया गया कि राजा, उसके परिवार के लोग तथा सामन्त विजेताओं के हाथों में फँस गये। राजा को दिल्ली भेज दिया गया। तैलंगाना पर अधिकार करके उसे जिलों में विभक्त कर दिया गया और उसके शासन के लिए तुर्की अमीर तथा पदाधिकारी नियुक्त किये गये। वारंगल का नाम सुल्तानपुर रख दिया गया और वह दिल्ली सल्तनत के एक प्रान्त की राजधानी बन गया।

उत्कल पर धावा

तैलंगाना से दिल्ली को लौटते समय मार्ग में जूनाखाँ ने उड़ीसा के उत्कल राज्य (मुसलमान लेखकों का जाजनगर) पर धावा मारा और पचास हाथी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ लूट में प्राप्त कीं। तैलंगाना तथा उत्कल की लूट का बहुत-सा धन लेकर वह दिल्ली लौट गया।

बंगाल में विद्रोह

बंगाल में ग़ियासुद्दीन, शिहाबुद्दीन तथा नासिरुद्दीन नामक तीन भाइयों में सिंहासन के लिए संघर्ष चल रहा था। ग़ियासुद्दीन पूरबी बंगाल का सूबेदार था। उसने १३१९ ई. में शिहाबुद्दीन को अपदस्थ करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उनका तीसरा भाई नासिरुद्दीन भी बंगाल की गद्दी हस्तगत करने का इच्छुक था। उसने दिल्ली के सुल्तान ग़ियासुद्दीन तुग़लक से सहायता की प्रार्थना की। सुल्तान ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और स्वयं बंगाल के लिए चल पड़ा। मार्ग में तिरहुत के पास नासिरुद्दीन भी उससे आ मिला और सुल्तान ने जफरखाँ नामक अपने एक योग्य अफसर को लखनौती पर आक्रमण करने भेजा। बंगाल का ग़ियासुद्दीन पराजित हुआ और बन्दी बना लिया गया। नासिरुद्दीन दिल्ली सल्तनत की अधीनता में बंगाल के सिंहासन पर बिठा दिया गया। पूरबी बंगाल दिल्ली के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इसके उपरान्त सुल्तान भारी लूट की सम्पत्ति लेकर दिल्ली की ओर लौट पड़ा।

बंगाल से लौटते समय मार्ग में ग़ियासुद्दीन ने तिरहुत (मिथिला) के राजा

हरसिंहदेव पर आक्रमण किया, क्योंकि इस हिन्दू राजा की स्वामिभक्ति में उसे सन्देह था। उसका दमन करके उसने तेजी से दिल्ली की ओर कूच किया।

मंगोल आक्रमण

१३२४ ई. में जब शाहजादा जूनाखाँ दक्षिण में था मंगोलों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया किन्तु वे पराजित हुए। उनके नेताओं को पकड़ कर दिल्ली लाया गया। सुल्तान के राज्य-काल में हमें अन्य किसी मंगोल आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता है।

ग़ियासुद्दीन की मृत्यु

जब सुल्तान बंगाल में था उसी समय उसे जूनाखाँ के व्यवहार के चिन्ता-जनक समाचार मिले। कहा जाता है कि अपना एक शक्तिशाली दल बनाने के लिए उसने अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। वह शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य बन गया। औलिया के उसके पिता से अच्छे सम्बन्ध न थे और उसने यह भविष्यवाणी की थी कि शाहजादा शीघ्र ही दिल्ली का सुल्तान हो जायगा। कुछ ज्योतिषियों ने भी भविष्यवाणी की कि ग़ियासुद्दीन कभी दिल्ली लौटकर न आ सकेगा। इन विवरणों को सुन कर सुल्तान आगबबूला हो गया और जूनाखाँ को उसने अपने क्रोध की धमकी दी और तेजी से मन्जिलें तै करता हुआ दिल्ली की ओर बढ़ा। निजामुद्दीन औलिया को भी सुल्तान ने ऐसी ही धमकी दी। इस पर औलिया ने उत्तर दिया कि "दिल्ली अभी बहुत दूर है" (हुनूज दिल्ली दूर अस्त)। अपने पिता का स्वागत करने के लिए जूनाखाँ ने दिल्ली के दक्षिण-पूरब में कुछ मील की दूरी पर अफ़ग़ानपुर नामक एक गाँव में एक लकड़ी का महल खड़ा करवाया। कहा जाता है कि इमारत इस ढंग से बनायी गयी थी कि हाथियों द्वारा एक विशेष स्थान पर छुए जाने से गिर सकती थी। शाहजादे ने उसी में अपने पिता का सत्कार किया और जब भोजन समाप्त हो गया तो सुल्तान से प्रार्थना की कि बंगाल से जो हाथी आप लाये हैं उन्हें देखने की मुझे आज्ञा दीजिये। सुल्तान ने स्वीकृति दे दी। हाथी लाये गये और उन्हें परेड करायी गयी। जैसे ही उनका इमारत के उस भाग से सम्पर्क हुआ जिसको छूने से वह गिर सकती थी सम्पूर्ण महल धराशायी हो गया और ग़ियासुद्दीन तथा उसका दूसरा पुत्र महमूद उसी में दब कर मर गये। जूनाखाँ ने खोदने वालों को मलबा हटाने की आज्ञा देने में जानबूझकर देर की और जब मलबा हटाया गया तो सुल्तान अपने प्रिय पुत्र पर इस भाँति झुका हुआ पाया गया मानो उसे बचाने के लिए उसने ऐसा किया था।

शाहजादा जूनाखाँ का सुल्तान की मृत्यु में क्या हाथ था, इस सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। डा. मेहदी हुसैन का कहना है कि महल स्वतः

गिर पड़ा, इसमें शाहजादे का कोई हाथ न था। इसके विपरीत डा. ईश्वरी प्रसाद तथा वूल्ज़ले हेग का मत है कि यह सब शाहजादा द्वारा सावधानी से रचे गये एक षड्यन्त्र का परिणाम था। दूसरा मत सही प्रतीत होता है क्योंकि वह प्रसिद्ध अफ्रीकी यात्री इब्नबतूता के कथन पर अवलम्बित है और इब्नबतूता को यह सूचना शेख़ रुकुनुद्दीन से मिली थी जो उस समय महल में उपस्थित था, किन्तु इमारत के सामने परेड के लिए हाथियों के लाये जाने से पहले वह शाहजादा जूनाखाँ के कहने से नमाज पढ़ने चला गया था।

सिंहासन पर बैठने के समय ग़ियासुद्दीन तुग़लक एक अनुभवी सैनिक तथा सुलझा हुआ सेनानायक था। वह स्वामिभक्त पदाधिकारी तथा 'सफल सीमा-रक्षक' की हैसियत से भी ख्याति प्राप्त कर चुका था। उसमें वे सभी गुण विद्यमान थे जो एक शासक में होने चाहिए। उसने राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था कायम की और चोरी, डकैती तथा लूटमार का अन्त किया। अपनी उदार नीति द्वारा उसने पुराने अमीरों को प्रसन्न कर लिया और खुसरव के ढिलमिल समर्थकों को अपने पक्ष में कर लिया। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने कृषकों की स्थिति के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण अपनाया। उसका विश्वास था कि राज्य की समृद्धि कृषकों की भलाई पर निर्भर होती है। इसी-लिए उसने आज्ञा जारी की कि राजस्व-पदाधिकारियों को भूमि-कर की दर में बढ़ौती न करके कृषि के क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। राजस्व-विभाग के मुकदमे, खुत, चौधरी आदि पदाधिकारियों के सम्बन्ध में उसने बीच का मार्ग अपनाया। यही कारण था कि उसके शासन-काल में कुछ सीमा तक जनता की भौतिक समृद्धि हुई।

न्याय-शासन के सम्बन्ध में भी तुग़लकशाह सावधान था। वह दिन में सुबह-शाम दो बार दरबार किया करता था, और उसने सल्तनत की प्रतिष्ठा को कायम रखने का भी प्रयत्न किया। वह सैनिक प्रभुत्व की नीति में विश्वास करता था। कुछ आधुनिक लेखकों ने उसे उदार तथा दयालु शासक कहा है किन्तु यह उसके चरित्र का सही मूल्यांकन नहीं है। वह अपने दरबारियों तथा पुराने मित्रों और सहयोगियों के प्रति उदार और दयालु था तथा सिंहासन पर बैठने के उपरान्त भी उनके प्रति उसके व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु साधारण जनता विशेषकर हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार बहुत कठोर था। अपने हिन्दू पड़ोसियों के विरुद्ध उसने आक्रमणकारी युद्ध-नीति का अनुसरण किया।

ग़ियासुद्दीन ने सैनिक संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया। सैनिक मशीन को उसने उचित रूप में रखने का प्रयत्न किया तथा सिपाहियों की हुलिया रखने और घोड़ों को दागने आदि अलाउद्दीन के सुधारों को भी पूर्ववत कायम

रखा। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था, यद्यपि अपनी बहुसंख्यक प्रजा के धर्म के प्रति उसे सहानुभूति नहीं थी।

गियासुद्दीन को इमारतों का बड़ा शौक था। अपने शासन के प्रारम्भ में ही उसने एक विशाल दुर्ग की नींव डाली जो तुग़लकाबाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके घेरे के भीतर उसने अपने महल तथा अन्य इमारतें बनवायीं। उसका मुख्य महल सुनहरी ईंटों का बना हुआ था जो धूप में इतनी तेजी से चमकती थीं कि उन पर किसी की दृष्टि नहीं टिक सकती थी। इब्नबतूता लिखता है कि सुल्तान के कोष-गृह में एक हौज था जिसमें पिघला हुआ सोना उड़ेल दिया गया था और उसकी एक ठोस शिला बन गयी थी। सुल्तान विद्या का संरक्षक था और अनेक कवि तथा विद्वान उसके दरबार में आश्रय पाते थे।

मुहम्मद बिन तुग़लक (१३२५–१३५१ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

एक सीमान्त शासक का सबसे बड़ा पुत्र होने के नाते फख़रुद्दीन मुहम्मद जूनाखाँ का पालन-पोषण एक सैनिक की भाँति हुआ था। बाल्यकाल में ही उसने इस पेशे में ख्याति प्राप्त करली होगी। युवावस्था में उसने एक विद्वान के रूप में अपनी योग्यता का परिचय दिया, जिससे स्पष्ट है कि बचपन में उसे अच्छी से अच्छी साहित्यिक शिक्षा दी गयी होगी और वह एक अकाल प्रौढ़ बालक रहा होगा। खुसरव शाह के शासन-काल में घोड़ों के अध्यक्ष के रूप में उसने पहला महत्वपूर्ण पद धारण किया। वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी युवक था और समझता था कि दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करना सम्भव है। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने अपने संरक्षक खुसरव के विरुद्ध जिसने उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था, एक आन्दोलन खड़ा किया। ऐसा प्रतीत होता है कि गाज़ी तुग़लक ने अपने अधिक चतुर तथा महत्वाकांक्षी पुत्र की सलाह तथा उसके द्वारा आरम्भ की हुई योजना के अनुसार ही कार्य किया था। १३२० ई. में अपने पिता के सुल्तान हो जाने पर जूनाखाँ को सुअवसर मिला। उसे युवराज घोषित किया गया तथा उलुगखाँ की उपाधि प्रदान की गयी। १३२१ ई. में उसने वारंगल पर चढ़ाई की जिसमें उसे कटु विफलता भुगतनी पड़ी। दो वर्ष उपरान्त पुनः उसे प्रतापरुद्रदेव का दमन करने के लिए भेजा गया। इस बार उसे वारंगल के राजा को पराजित करने तथा बन्दी बनाकर लाने में सफलता मिली। १३२५ ई. के प्रारम्भ में उसने अपने पिता का वध करवा दिया क्योंकि सम्भवतः वह अधिक प्रतीक्षा न करके समय से पहले ही अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता था। इससे चार वर्ष पहले उसने अपने पिता की मृत्यु की अफवाह में विश्वास करके अपना राज्याभिषेक

लगभग सम्पन्न ही कर लिया था। इन बातों से निस्सन्देह सिद्ध होता है कि वह एक अत्यधिक महत्वाकांक्षी तथा सिद्धान्तहीन नवयुवक था। उसे अपनी बुद्धि तथा योग्यता में विश्वास था और समझता था कि मैं अपने पूर्वाधिकारियों से अधिक सफलतापूर्वक शासन करूँगा।

राज्यारोहण

फरवरी अथवा मार्च १३२५ ई. में ग़ियासुद्दीन तुग़लक की मृत्यु के उपरान्त उलुगखाँ मुहम्मद तुग़लक के नाम से सिंहासन पर बैठा। चालीस दिन तक वह तुग़लकाबाद में ही रहा, तदुपरान्त बड़े ठाट-बाट से उसने दिल्ली में प्रवेश किया और बलबन के लाल किले में सिंहासन पर बैठा। उसके स्वागत के लिए राजधानी को भली-भाँति सजाया गया था। सुल्तान ने जनता में सोने तथा चाँदी के सिक्कों की बखेर की। जनता ने उसके राज्यारोहण का स्वागत किया और किसी प्रकार का विरोध अथवा विद्रोह नहीं हुआ। प्रजा को उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं और उसे भी विश्वास था कि मैं दिल्ली के पूर्व-सुल्तानों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त करूँगा।

गृह-नीति

राजस्व-सुधार (१३२६-१३२७ ई.)

मुहम्मद अत्यधिक परिश्रमी शासक था। सिंहासनारोहण के उपरान्त शीघ्र ही उसने राजस्व-व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक अध्यादेश जारी किये। पहले के अनुसार प्रान्तों की आय तथा व्यय का लेखा तैयार करने की आज्ञा दी। उसने प्रान्तीय सूबेदारों को लेखा तैयार करने के लिए आवश्यक अभिलेख तथा अन्य सामग्री भेजने का आदेश दिया। दक्षिण, बंगाल, गुजरात आदि राज्य के दूरस्थ-प्रान्तों से आय-व्यय सम्बन्धी संक्षिप्त लेखे दिल्ली भेजे गये और काम बिना किसी झंझट के चलता गया। सुल्तान ने यह परिश्रम इसलिए किया कि वह समस्त राज्य में एकसी राजस्व-व्यवस्था कायम करना चाहता था और यह देखना चाहता था कि कोई गाँव भूमि-कर से न बच सके।

दोआब में कर

अपनी आय में वृद्धि करने के लिए दोआब में कर बढ़ाना सुल्तान का दूसरा सुधार था। सम्भवतः उसका उद्देश्य पाँच से दस प्रतिशत तक आय में वृद्धि करना था और इसके लिए वह भूमि-कर नहीं बल्कि मकानों, चरागाहों आदि पर अन्य टैक्स बढ़ाना चाहता था। एक परवर्ती किन्तु विश्वसनीय लेखक का कहना है कि इन करों को वसूल करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों के मकानों पर नम्बर डाले गये तथा पशुओं को दागा गया। सुल्तान ने भूमि-कर तथा इन नये करों को कठोरता से वसूल करने का प्रयत्न किया। किन्तु दुर्भाग्य

INDIA IN 1350 A. D.
Muhammad Tughluq.
TRANS-OXIANA
Bukhara
Samarqand
Tirmidh
Balkh
Qunduz
Ghur
AFGHANISTAN
Herat
Kabul
Ghazni
Kandahar
MONGOLS
PERSIA
Kalat
KASHMIR
Srinagar
CHINA
TIBET
Sialkot
Nagarkot
Kangara
Lahore
Pakpattan
Dipalpur
Sarasuti
Sarhind
Samana
Multan
Abohar
Hisar
Uch
Hansi
Delhi
Bhakkar
Amaroha
Sambhal
Badaun
TIRHUT
Siwistan
Nagaur
INDEPENDENT
Ajmer
Malhura
Koil
Agra
Kanauj
Bayana
Lucknow
Awadh
Jaunpur
Amarkot
Siwana
Jalor
Renthambhor
Thatta
Debal
Abu
Chittor
Gwalior
Chanderi
Kalinjar
Kara
Kashi
Khajuraho
Allahabad
Patna
Gaya
KAMARUPA
Lakhanauti
Sylhet
BANGAL
Sonargaon
Chatgaon
BURMA
Anhilwara
Ujjain
Bhilsa
Satgaon
Cambay
SORATH
(Junagarh)
Girnar
Somanath
Dabohi
Dhar
Mandu
Asirgarh
Illichpur
ORISSA
Jajnagar
Puri
To China
Daman
Daultabad
Jalna
Thana
Ahmadnagar
Bombay
Chaul
Poona
Singhgarh
Kalyani
Bidar
Golkunda
Warangal
Gulbarga
Rajamundry
BAHAMANI KINGDOM (1347)
INDEPENDENT
ARABIAN SEA
BAY OF BANGAL
Dabhol
Raichur
(Sandabur)
Goa
Vijayanagar
VIJAYANAGAR EMPIRE (1336)
Kanchi
Kampil
ANDAMANIS
Dwarasamudra
Calicut
MALABAR (1335)
Tanjore
Madura
HOYASALAS
TO MALDIVE IS.
CEYLON
Colombo
Boundary of the Empire.
Territory Inherited
Route of Ibn Battuta.
Miles
Copyright DHARMA BHANU.

से उसी समय जबकि दोआब में अतिरिक्त कर की यह नीति कार्यान्वित की जा रही थी, अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ गया। जनता ने इस नीति का विरोध किया, किन्तु सुल्तान के कर्मचारियों ने कर वसूल करने का कार्य जारी रखा। इसलिए किसानों को बाध्य होकर अपनी भूमि छोड़कर लूट-मार का पेशा अपनाना पड़ा। मुहम्मद तुग़लक ने किसानों की सहायता करने का प्रयत्न किया और इसके लिए उन्हें बीज, बैल आदि खरीदने हेतु ऋण दिया तथा सिंचाई के लिए नहरें और कुएँ खुदवाने का प्रबन्ध किया, किन्तु इससे अधिक लाभ नहीं हुआ। पहले तो किसानों को ऋण दिया ही बहुत देर से गया था। दूसरे, उनके पास खाने के लिए कुछ नहीं था इसलिए उन्होंने ऋण के धन का उपयोग उस उद्देश्य के लिए नहीं किया जिसके लिए वह उन्हें दिया गया था बल्कि अन्य कामों में उसे व्यय कर डाला। तीसरे, मकान तथा चरागाह कर अलाउद्दीन के समय से ही जबकि वे प्रथम बार लगाये गये, अप्रिय थे। अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों के समय में वे त्याग दिये गये थे, इसलिए मुहम्मद ने जब उन्हें फिर से नये रूप में लगाया तो जनता बहुत क्रुद्ध हुई। सुल्तान को इनसे अतिरिक्त आय नहीं हुई, वास्तव में दोआब से साधारण राजस्व भी नहीं वसूल किया जा सका। इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि प्रजा में सुल्तान पूर्णरूप से अप्रिय हो गया।

कृषि-विभाग का निर्माण

मुहम्मद तुग़लक का दूसरा प्रयोग कृषि-विभाग का निर्माण था। उसका नाम दीवानेकोही रखा गया। राज्य की ओर से सीधी आर्थिक सहायता देकर कृषि के योग्य भूमि का विस्तार करना इस विभाग का मुख्य उद्देश्य था। इस काम के लिए पहले साठ वर्ग मील का एक भू-क्षेत्र चुना गया। भूमि को कमाया गया और बारी-बारी से विभिन्न फसलें उसमें बोयी गयीं। इस योजना में सरकार ने दो वर्ष में लगभग सत्तर लाख रुपया व्यय किया। जिन लोगों को आवश्यकता थी उन्हें भूमि दे दी गयी और उसकी देखभाल के लिए बड़ी संख्या में रक्षक तथा पदाधिकारी नियुक्त किये गये। किन्तु अनेक कारणों से यह प्रयोग असफल रहा। पहले तो प्रयोग के लिए चुना गया भू-क्षेत्र उपजाऊ नहीं था। दूसरे प्रयोग नितान्त नया था और इस सम्बन्ध में कोई पूर्व-उदाहरण विद्यमान नहीं था, इसलिए उसकी सफलता के लिए आवश्यक था कि सुल्तान स्वयं उसकी ओर अधिक ध्यान देता, किन्तु वह ऐसा न कर सका। तीसरे तीन वर्ष का समय कम था और उसमें ठोस परिणाम की आशा करना व्यर्थ था। चौथे योजना के लिए जो धन निश्चित किया गया था उसका दुरुपयोग हुआ, उसमें से कुछ तो भ्रष्ट पदाधिकारियों ने हड़प लिया और कुछ किसानों ने अपनी निजी आवश्यकताओं पर व्यय कर डाला। इस

प्रकार राजस्व-व्यवस्था के इतिहास का सर्वोत्तम प्रयोग विफल रहा और त्याग देना पड़ा।

राजधानी-परिवर्तन (१३२६-२७ ई.)

दिल्ली को छोड़कर देवगिरि (जिसका नाम बदलकर दौलताबाद रख दिया गया था) को अपनी राजधानी बनाना मुहम्मद तुग़लक का अन्य महत्व-पूर्ण राजनीतिक प्रयोग था। सुल्तान के इस दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय के अनेक कारण थे। प्रथम, वह ऐसे स्थान को अपनी राजधानी बनाना चाहता था जो सामरिक महत्व का होने के अतिरिक्त विस्तृत राज्य के केन्द्र में स्थित हो। देवगिरि से मुहम्मद प्रभावित हुआ था और बरनी लिखता है कि उस स्थान को अपने भौगोलिक महत्व के कारण ही राजधानी चुना गया था। वह लिखता है, "यह स्थान सल्तनत के केन्द्र में स्थित है। दिल्ली, गुजरात, लखनौती, सातगाँव, सोनारगाँव, तैलांग, माबर, द्वारसमुद्र और कम्पिल यहाँ से बराबर दूरी पर हैं···।" दूसरे दिल्ली उत्तर-पश्चिमी सीमा के अधिक निकट थी और उस पर सदैव मंगोलों के आक्रमणों का भय बना रहता था। सुल्तान ऐसे स्थान को अपनी नई राजधानी बनाना चाहता था जो उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमण-कारियों से दूर हो और सुरक्षित रह सके। तीसरे, उत्तर-पश्चिमी भारत पूर्णतया जीत लिया गया था और शान्त था, किन्तु दक्षिण अभी तक सल्तनत का उपद्रवग्रस्त भाग था। उसकी स्थायी विजय तथा सुप्रबन्ध वही सरकार कर सकती थी जिसकी राजधानी दक्षिण में होती। अन्त में, सुल्तान ने अनुभव किया होगा कि दक्षिणी भारत इतना धन-सम्पन्न है कि उसके निकट सम्पर्क में रहकर ही उसके साधनों का अधिक सरलता से उपयोग किया जा सकता है। इब्नबतूता इसका अन्य कारण बताता है। उसका कहना है कि दिल्ली के नागरिकों ने गुमनाम पत्र लिखकर सुल्तान को बहुत गालियाँ दी थीं, वह उनसे तंग आ गया था और उन्हें दण्ड देने के लिए ही उसने राजधानी का परिवर्तन किया। आश्चर्य की बात है कि वूल्ज़ले हेग आदि आधुनिक इतिहासकारों ने इस कहानी को सत्य मान लिया है परन्तु यह कल्पना करना असम्भव है कि सुल्तान के इतने गम्भीर निर्णय के पीछे इतने तुच्छ कारण रहे होंगे।

निर्णय करने के उपरान्त सुल्तान ने राजधानी-परिवर्तन की आज्ञा दी और पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों, दिल्ली के सभी नागरिकों को अपने सामान सहित दौलताबाद के लिए प्रस्थान करने का आदेश दिया। लोग दिल्ली को छोड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि दीर्घ सम्पर्क के कारण उससे उनका विशेष अनुराग था, किन्तु मुहम्मद सभी निवासियों को अपने साथ ले जाने पर तुला हुआ था। इब्नबतूता लिखता है कि उसने समस्त नगर की तलाशी लेने की आज्ञा दी। एक अन्धा और एक लँगड़ा मिले जो दौलताबाद जाने के लिए

तैयार नहीं थे। कहा जाता है कि लँगड़े आदमी का वध करवा दिया और अन्धे को दौलताबाद तक घसीटा गया। परिणाम यह हुआ कि उसकी केवल एक टाँग ही नई राजधानी तक पहुँच सकी। सुल्तान ने अपने महलों के ऊपर से ऊजड़ नगर पर दृष्टिपात किया और जब उसने देखा कि किसी भी मकान के रसोईघर अथवा चिमनी से धुआँ नहीं आ रहा है तो उसे बहुत सन्तोष हुआ। ये कहानियाँ वास्तव में बाजारू गप्पों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

दिल्ली से दौलताबाद तक मार्ग में लोगों के आराम और सुविधा के लिए सुल्तान ने प्रशंसनीय प्रबन्ध किया। कहा जाता है कि सात सौ मील लम्बी सड़क के किनारे अस्थायी झोंपड़ियाँ खड़ी की गयीं और लोगों को मुफ्त भोजन तथा पेय बाँटे गये। छायादार वृक्ष भी लगवाये गये, किन्तु उनसे लोगों को कोई आराम नहीं मिला होगा क्योंकि इतने कम समय में वे बढ़कर छाया देने योग्य कैसे हो सकते थे। लोगों को मकान, वस्तुओं के अभाव तथा मानसिक वेदना के कारण असह्य कष्ट हुआ। उनमें से अनेक मार्ग में ही मर गये और बहुत-से दौलताबाद पहुँचकर चल बसे।

सुल्तान की यह योजना पूर्णरूप से विफल रही, इसलिए नहीं कि राजधानी-परिवर्तन अवांछनीय था, उसके लिए कोई पूर्व-उदाहरण नहीं था और ऐसा नहीं करना चाहिए था; बल्कि इसलिए कि सुल्तान यह न समझ सका कि केवल दरबार को ही हटाना पर्याप्त है। दरबारी, पदाधिकारी, बड़े व्यापारी तथा दुकानदार स्वयं दरबार का अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे दौलताबाद पहुँच जाते। समस्त जनता को अपने लता-पत्र सहित वहाँ जाने का आदेश देने की आवश्यकता नहीं थी। दूसरे, सुल्तान यह न समझ सका कि लोग अनिवार्य परिस्थितियों को छोड़ और कभी अपना घर-द्वार छोड़ना पसन्द नहीं करते। दिल्ली के लोग जिन्हें अपने पैतृक निवास-स्थान बहुत प्रिय थे, इस नियम के अपवाद न हो सकते थे। तीसरे, दिल्ली की मुसलमान जनता दक्षिण के हिन्दू वातावरण में रहना पसन्द नहीं करती थी। चौथे, भारत की राजधानी होने के लिए दौलताबाद की अपेक्षा दिल्ली कहीं अधिक अच्छा स्थान था, क्योंकि दौलताबाद से बंगाल, पंजाब आदि दूरस्थ प्रान्तों पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण रखना असम्भव था। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि दौलताबाद से मंगोलों का प्रतिरोध करना तथा उनके आक्रमणों से राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा करना अत्यन्त दुसाध्य था। इस प्रकार मुहम्मद ने दो भूलें कीं: एक तो अनुपयुक्त स्थान को राजधानी के लिए चुना और दूसरे उसके परिवर्तन करने का तरीका गलत था।

सुल्तान के पक्ष में इतना कहना आवश्यक है कि जैसे ही उसने देखा कि योजना विफल हो गई है उसने लोगों को दौलताबाद से दिल्ली अपने घरों को

लौटने की आज्ञा दे दी । किन्तु इससे दौलताबाद यद्यपि ऊजड़ हो गया । दिल्ली केवल आंशिक रूप में ही पुनः बस सकी और अनेक वर्षों तक अपनी समृद्धि और वैभव को प्राप्त नहीं कर सकी ।

सांकेतिक मुद्रा का चलाना (१३२९-१३३० ई.)

भारतीय मुद्रा के इतिहास में मुहम्मद तुग़लक के शासन का महत्वपूर्ण स्थान है । उसे मुद्रा ढालने वालों का राजा कहा गया है । उसने सम्पूर्ण मुद्रा-प्रणाली में सुधार किये, बहुमूल्य धातुओं के आपेक्षिक मूल्य निश्चित किये, और अनेक प्रकार के नये सिक्के जारी किये । इन सिक्कों में से अनेक कलापूर्ण डिजाइनों तथा बनावट के लिए प्रसिद्ध थे । सांकेतिक मुद्रा का जारी करना इस क्षेत्र में उसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रयोग था । पीतल तथा ताँबे के सिक्के चलाने के अनेक कारण थे । प्रथम, राजकोष में बहुमूल्य धातुओं का अभाव था क्योंकि युद्धों, विद्रोहों और खर्चीले शासन-सम्बन्धी प्रयोगों के कारण वह खाली हो चुका था । दूसरे, दुर्भिक्ष तथा दोआब में कठोर कर-नीति के कारण सुल्तान की आय में बहुत कमी हो गयी थी । तीसरे, भारत के दूरस्थ प्रान्तों तथा कुछ बाह्य देशों को जीतने के उद्देश्य से वह अपने राजस्व में वृद्धि करना चाहता था । चौथे, मुहम्मद को नये प्रयोगों का बहुत शौक था और वह भारतीय मुद्रा के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ करना चाहता था । पाँचवे, इस विषय में उसे चीनी तथा ईरानी शासकों से प्रेरणा मिली थी जिन्होंने १३वीं शताब्दी में अपने देशों में सांकेतिक मुद्रा जारी की थी ।

उपर्युक्त कारणों से मुहम्मद ने एक अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार ताँबे के सिक्कों को कानूनी मुद्रा घोषित कर दिया गया और मूल्य की दृष्टि से उन्हें सोने तथा चाँदी के समकक्ष रख दिया गया । उसने आदेश दिया कि लोग सभी व्यवहारों में इन सिक्कों का सोने-चाँदी के सिक्कों की भाँति प्रयोग करें । किन्तु उसने टकसाल पर राज्य का एकाधिकार कायम रखने के लिए कोई उपाय नहीं किया । उन दिनों राजकीय टकसाल में ढले हुए सिक्के बनावट, डिजाइन आदि की दृष्टि से ऐसे नहीं होते थे कि साधारण लोग सरलता से उनका अनुकरण न कर सकते । सुल्तान ने जाली सिक्कों के चलन को रोकने का प्रयत्न नहीं किया इसलिए गर-सरकारी लोग भी ताँबे के सिक्के बनाने लगे । एक कट्टर मुसलमान की भाषा में बरनी कहता है कि प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया था । यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि जिस प्रलोभन में हिन्दू फँस गये थे उससे मुसलमान बच सके होंगे । लोगों ने सोने और चाँदी के सिक्कों को छिपाकर रखना प्रारम्भ कर दिया और राज-कर नये सिक्कों के रूप में देने लगे । विदेशी व्यापारी देश में भारतीय वस्तुओं को खरीदते समय सांकेतिक मुद्रा का प्रयोग किया करते थे किन्तु

अपना माल बेचते समय नये सिक्कों को स्वीकार नहीं करते थे। व्यापार चौपट हो गया। हर प्रकार के कारबार में बाधाएँ पड़ने लगीं और सोने तथा चाँदी के सिक्के दुर्लभ हो गये। परिणाम यह हुआ कि चारों ओर भयंकर अव्यवस्था फैल गयी और सुल्तान अपनी योजना को अपनी आँखों के सामने ही चकनाचूर होते देखकर घबड़ा गया। उसे सांकेतिक मुद्रा को वापस लेने को बाध्य होना पड़ा। उसने आज्ञा निकाली कि लोग राज-कोष से पीतल और ताँबे के सिक्कों के बदले में सोने और चाँदी के सिक्के ले जायँ। इस प्रकार गैर-सरकारी लोगों ने राज्य को ठगा और उसको हानि पहुँचाकर अन्धाधुन्ध धन कमा लिया।

सुल्तान की इस योजना की विफलता का कारण जनता का पिछड़ापन, द्वेषभाव और अज्ञान नहीं था, यद्यपि वह इस सुधार के महत्व को न समझ सकी। वास्तव में सुल्तान गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा जाली सिक्कों के बनने तथा बाजार में उनके चलन को रोकने में सफल न हो सका, इसीलिए उसे इस योजना के सम्बन्ध में भयंकर निराशा का सामना करना पड़ा। सुल्तान की यह भूल थी कि वह अपने युग की परिस्थितियों तथा कमियों को न समझ सका। इसलिए योजना की विफलता का मुख्य उत्तरदायित्व उसी पर था।

धार्मिक नीति

अपने पूर्वाधिकारी अलाउद्दीन ख़लजी के उदाहरण को सामने रखकर मुहम्मद तुग़लक ने शरा की उपेक्षा की और बुद्धि को राजनीतिक आचरण का आधार बनाने का प्रयत्न किया। उसने निश्चय किया कि राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी विषयों में लौकिक विचारों का ही प्राधान्य होना चाहिए। इस कारण उसका उलेमा से संघर्ष हो गया जिन्होंने अलाउद्दीन के शासन-काल को छोड़कर सदैव राज्य की नीति को प्रभावित किया था। किन्तु वास्तव में सुल्तान शरा को चुनौती नहीं देना चाहता था। वह सभी महत्वपूर्ण विषयों में उलेमा से परामर्श किया करता था, यद्यपि उसकी सलाह को स्वीकार तभी करता था जब वह बुद्धि-संगत तथा अवसर विशेष के अनुकूल होती थी। न्याय-शासन में उलेमा का एकाधिकार था, इससे उन्हें सुल्तान ने वंचित कर दिया। जब कभी काज़ियों का निर्णय उसे दोषपूर्ण प्रतीत होता, वह उसे लौटा देता था। उलेमा के अतिरिक्त कुछ अन्य लोगों को भी उसने न्याय-सम्बन्धी पदों पर नियुक्त किया। यदि उलेमा के विरुद्ध बग़ावत, राजद्रोह अथवा धार्मिक संस्थाओं के धन को गबन करने का अपराध सिद्ध हो जाता तो वह उन्हें कठोर दण्ड देता था। शेख और सैय्यद कानून के प्रभाव से मुक्त न थे। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी विषयों में उलेमा के प्रभुत्व का अन्त हो गया। किन्तु इसके कारण सुल्तान को मुस्लिम धर्माधिकारियों के कोप का भाजन बनना पड़ा।

बलबन की भाँति मुहम्मद भी विश्वास करता था कि 'सुल्तान ईश्वर की छाया' है। उसके सिक्कों पर "अल सुल्तान ज़िल्ली अल्लाह" (ईश्वर की छाया, सुल्तान) खुदा रहता था। अपने सिक्कों द्वारा उसने जनता को सुल्तान के प्रताप का महत्व समझाने का प्रयत्न किया। उसके कुछ सिक्कों पर इस प्रकार के छन्द मिलते हैं: "प्रभुत्व का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति नहीं होता, वह तो चुने हुए व्यक्ति को प्रदान किया जाता है", "जो सुल्तान की आज्ञा का पालन करता है वह सच्चे रूप में ईश्वर की आज्ञा मानता है", "सुल्तान ईश्वर की छाया है", "ईश्वर सुल्तान का समर्थक है" आदि। हर प्रकार से उसने खलीफा के नाम का उल्लेख करना बन्द कर दिया, यद्यपि उसने स्वयं खलीफा की उपाधि नहीं धारण की।

अपनी न्याय-प्रियता, उदारता तथा व्यक्तिगत योजना के बावजूद सुल्तान दिन-प्रतिदिन जनता में अप्रिय होता गया। उसने सोचा कि मैंने मुस्लिम शरा की उपेक्षा की है, सम्भवतः यही जनता के असन्तोष का कारण है। इसलिए अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में उसने खिलाफत के प्रति अपनी नीति बदल दी। उसने मिस्र के खलीफा से अपने पद के लिए मान्यता प्राप्त करने के हेतु प्रार्थना की। उसने सिक्कों में से अपना नाम हटवाकर उसके स्थान पर खलीफा का नाम खुदवाया। समस्त राजाज्ञाएँ सुल्तान के नहीं बल्कि खलीफा के नाम से जारी कीं। १३४० ई. में उसने मिस्र के खलीफा के वंशज ग़ियासुद्दीन मुहम्मद को जिसकी स्थिति एक भिखारी की सी थी, आमन्त्रित किया, उसके प्रति अत्यधिक नम्रता और सम्मान का व्यवहार किया तथा बहुमूल्य वस्तुएँ उसे भेंट-स्वरूप अर्पित कीं। किन्तु इतना करने पर भी मुहम्मद अपनी खोयी हुई लोकप्रियता की पुनः स्थापना न कर सका, इससे उसे बहुत चिन्ता हुई, किन्तु विवश था।

प्रकृति से ही मुहम्मद का स्वभाव उदार तथा दृष्टिकोण विस्तृत था। अपनी बहुसंख्यक प्रजा के धर्म के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण नहीं था, उसने कुछ हिन्दुओं को भी महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले मुहम्मद के पूर्वाधिकारियों की उनकी हिन्दुओं के प्रति धार्मिक अत्याचार की नीति के लिए मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। उन्होंने ग़ैर-मुसलमानों के प्रति इस नीति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है, केवल उसे उसकी उदारता के लिए दोषी ठहराया है।

विदेश-नीति

खुरासान-विजय की योजना

मुहम्मद तुग़लक भी अलाउद्दीन की भाँति भारत की सीमाओं के बाहर के देशों को जीतने की महत्वाकांक्षा रखता था। अपने शासन-काल के प्रारम्भ में

ही उसने खुरासान, इराक तथा ट्रान्स-ग्राक्सियाना को जीतने की योजना बनायी। इस योजना का कारण यह था कि कुछ खुरासानी अमीर सुल्तान की अपव्ययतापूर्ण उदारता से आकृष्ट होकर उसके दरबार में आगये थे; उन्होंने उसे खुरासान की विजय के लिए उत्तेजित किया। तीन लाख सत्तर हज़ार की एक विशाल सेना एकत्र की गयी और एक वर्ष का वेतन अग्रिम रूप में उसे राजकीय कोष से दिया गया। किन्तु योजना कार्यान्वित न की जा सकी और सेना बर्खास्त करनी पड़ी क्योंकि सुल्तान ने अनुभव किया कि राज्य के आर्थिक साधनों पर अत्यधिक बोझ डाले बिना इतनी बड़ी सेना का रखना असम्भव है। खुरासान तथा भारत के बीच स्थित बर्फ से ढके हुए विशाल पर्वतों को पार करना तथा मार्ग के प्रदेशों की शत्रुतापूर्ण जनता से युद्ध करना सरल कार्य न था। इसके अतिरिक्त अब खुरासान की राजनीतिक स्थिति भी पहले से सुधर गयी थी, इसलिए योजना त्यागनी पड़ी।

नगरकोट की विजय (१३३७ ई.)

पंजाब के कांगड़ा जिले में एक पहाड़ी पर स्थित नगरकोट का किला महमूद गज़नवी के समय से तुर्क सेनाओं को चुनौती देता आया था। अलाउद्दीन खलजी ने लगभग समस्त भारत को जीत लिया था, किन्तु यह दुर्ग एक हिन्दू राजा के ही हाथों में बना रहा। १३३७ ई. में मुहम्मद तुग़लक ने उस पर आक्रमण किया। राजा ने वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया किन्तु अन्त में उसे समर्पण करना पड़ा और किला उसे वापिस लौटा दिया गया।

कराजल पर चढ़ाई (१३३७-३८ ई.)

हिमालय के राज्यों को अभी तक तुर्क लोगों ने विजय नहीं कर पाया था, मुहम्मद उन पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने का इच्छुक था। इसलिए उसने दिल्ली से दस मंजिल की दूरी पर कुमायूँ की पहाड़ियों में स्थित कराजल राज्य पर आक्रमण किया। दिल्ली की विशाल सेना ने हिन्दुओं के इस गढ़ पर धावा बोला किन्तु पर्वतीय भूमि तथा अत्यधिक वर्षा के कारण उसे भीषण क्षति उठानी पड़ी। बाध्य होकर सुल्तान को लौटना पड़ा, किन्तु उसे राजा से युद्ध के हर्जाने के रूप में भारी रकम वसूल करने में सफलता मिली। कुछ आधुनिक लेखकों के मतानुसार कराजल का आक्रमण चीन तथा पश्चिमी तिब्बत विजय की असफल योजना थी। यह मत गलत है, और किसी भी तत्कालीन लेखक ने मुहम्मद की चीन को जीतने की इच्छा का उल्लेख नहीं किया है।

चीन से सम्बन्ध

एशिया के कुछ देशों के साथ, विशेषकर चीन से मुहम्मद तुग़लक का मित्रतापूर्ण सम्बन्ध था। १३४१ ई. में चीनी सम्राट तोग़न तिमूर ने अपना

एक राजदूत दिल्ली भेजकर मुहम्मद से हिमालय प्रदेश के कुछ बौद्ध मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने की आज्ञा माँगी। हिमालय के इन मन्दिरों को कराजल के आक्रमण के समय मुहम्मद के सैनिकों ने ध्वस्त कर दिया था। दिल्ली सुल्तान ने भी इब्नबतूता को अपना राजदूत बनाकर चीन के मंगोल सम्राट के दरबार में भेजा; जिसने जुलाई १३४२ ई. में चीन के लिए प्रस्थान किया और १३४७ ई. में भारत लौट आया। मन्दिरों के सम्बन्ध में मुहम्मद ने उत्तर दिया कि इस्लामी नियमों के अनुसार उनके पुनर्निर्माण की तब तक आज्ञा नहीं दी जा सकती जब तक जज़िया अदा न किया जाय।

मंगोलों के आक्रमण (१३२८-२९ ई.)

मुहम्मद के दिल्ली से दौलताबाद राजधानी उठा ले जाने के उपरान्त सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर मंगोलों ने लगातार कई आक्रमण किये। मंगोल नेता तर्मा शिरीं एक शक्तिशाली सेना लेकर भारत की सीमाओं के भीतर घुस आया और मुल्तान तथा लाहौर से लेकर दिल्ली तक के समस्त प्रदेश को रौंद डाला। सुल्तान आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए सचेत नहीं था। उसने सीमाओं की उपेक्षा कर रखी थी। आक्रमणकारी का प्रतिरोध करने के लिए कोई कुशल सीमा-रक्षक नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि सुल्तान ने मंगोल नेता को घूस देकर लौटा दिया। यह नीति बुद्धिमत्तापूर्ण न थी। इसने मुहम्मद के शासन की दुर्बलताओं को खोलकर रख दिया और यह भी बता दिया कि बलबन तथा अलाउद्दीन की प्रतिरोध की नीति त्याग दी गई है।

विद्रोह

अनेक विद्रोहों ने भी मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल की शान्ति को भंग किया। इनको हम दो कोटियों में रख सकते हैं :—

(अ) प्रारम्भिक विद्रोह, तथा (ब) बाद के विद्रोह।

प्रारम्भिक विद्रोह

प्रारम्भिक विद्रोह मुहम्मद तुग़लक की गृह-नीति की विफलता के कारण नहीं हुए, उनका मुख्य कारण कुछ प्रभावशाली अमीरों की महत्वाकांक्षापूर्ण योजनाएँ थीं। पहला विद्रोह सुल्तान के चचेरे भाई भाउद्दीन गुर्सस्प ने किया जो गुलबर्गा के निकट सागर का सूबेदार था। १३२७ ई. में वह पराजित हुआ और उसकी जीवित खाल खिंचवा ली गयी। दूसरा विद्रोह कोंढन (पूना के निकट आधुनिक सिंहगढ़) के हिन्दू सामन्त का हुआ। वह पराजित हुआ और उसने दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली। तीसरा विद्रोह मुल्तान के सूबेदार बहराम आईबा ने किया जिसके अधिकार में मुल्तान के अतिरिक्त उच्च तथा सिन्ध भी थे। वह भी हारा तथा कत्ल कर दिया गया।

बाद के विद्रोह

बाद के विद्रोह जिनकी संख्या अधिक थी सुल्तान की कर बढ़ाने की अत्याचारपूर्ण नीति तथा उसके द्वारा जनता को दिये गये क्रूर दण्डों के कारण हुए। कुछ के कारण राजधानी-परिवर्तन तथा मुद्रा-सुधार थे जिनसे मुहम्मद बहुत अप्रिय हो गया था और महत्वाकांक्षी लोगों को सुल्तान की कठिनाइयों से लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहन मिला था।

(१) १३३५ ई. में सैयद जलालुद्दीन अहसन ने माबर (मदुरा के निकटवर्ती प्रदेश) में विद्रोह किया। यद्यपि मुहम्मद स्वयं दक्षिणी भारत गया, किन्तु विद्रोह का दमन न हो सका और माबर स्वतन्त्र हो गया।

(२) लाहौर का सूबेदार अमीर हुलाजू दूसरा शक्तिशाली अमीर था जिसने विद्रोह किया, किन्तु उसकी पराजय हुई और मारा गया।

(३) दौलताबाद के सूबेदार के पुत्र मलिक हुशंग ने १३३५-३६ ई. में विद्रोह किया, किन्तु बाद में उसने हथियार डाल दिये और सुल्तान ने उसे क्षमा कर दिया।

(४) बंगाल के शासक ने भी सुल्तान की अप्रियता से लाभ उठाया। सुल्तान ने एक सेना भेजी जिसने बंगाल के ग़ियासुद्दीन को हराया और मार डाला (१३३०-३१ ई.)। कुछ समय बाद उस प्रान्त के कतिपय शक्तिशाली अमीरों में पारस्परिक द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। उनमें से एक, अली मुबारक ने दिल्ली सुल्तान से सहायता की प्रार्थना की किन्तु उसे कोई सहायता न मिली। इसलिए उसने अपने को लखनौती का सुल्तान घोषित कर दिया। इस प्रकार बंगाल भी दिल्ली से प्रथक हो गया।

(५) इसके उपरान्त निज़ाम माई नामक कड़ा के सूबेदार ने विद्रोह किया। किन्तु १३३७-३८ ई. में वह भी हारा और उसकी जीवित खाल खिंचवा ली गयी।

(६) १३३८-३९ ई. में बीदर के सूबेदार नसरतखाँ की बारी आयी। उसने भी हारकर समर्पण कर दिया और उसकी जागीर जब्त कर ली गयी।

(७) १३३९-४० ई. में गुलबर्गा में अलीशाह ने विद्रोह किया। वह पराजित हुआ और गज़नी को निर्वासित कर दिया गया।

(८) अवध के सूबेदार आईन-उल-मुल्क मुल्तानी का विद्रोह सबसे भयंकर हुआ। आईन-उल-मुल्क की गणना चोटी के अमीरों और पदाधिकारियों में थी। वह अलाउद्दीन ख़लजी के समय से महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर चुका था और अपने समय के इतिहास में उसने महत्वपूर्ण कार्य किया था। वह उच्च कोटि का विद्वान तथा इस्लामी शास्त्रों और कानून का पण्डित था। आगे चलकर उसने मुंशाते-महरू अथवा इंशा-ए-महरू नामक एक पुस्तक

लिखी जिसमें फीरोज़ तुग़लक की शासन-व्यवस्था का अच्छा वर्णन है। वह उन गिने-चुने महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से था जो तलवार तथा लेखनी दोनों के धनी थे। १३४०-४१ ई. में मुहम्मद ने उसे अवध से दौलताबाद को स्थानान्तरित कर दिया। आईन-उल-मुल्क ने समझा कि मेरा यह स्थानान्तरण मेरे नाश के मार्ग में पहला कदम है, इसलिए उसने विद्रोह कर दिया। किन्तु वह हारा और बन्दी बना लिया गया। उसे अपदस्थ करके अपमानित किया गया। किन्तु सुल्तान का विश्वास था कि वह हृदय से पूर्ण विद्रोही नहीं है इसलिए उसको जीवित रहने दिया।

(९) शाहू अफग़ान एक अन्य विद्रोही था जिसने मुल्तान के सूबेदार को मार डाला और नगर पर अधिकार कर लिया। मुहम्मद स्वयं उसे दण्ड देने के लिए गया। शाहू पहाड़ों की ओर भाग गया।

(१०) इसके बाद का विद्रोह सुनम तथा समाना में हुआ। सुल्तान सेना लेकर उन स्थानों पर पहुँचा और जाट तथा भट्टी राजपूत पहाड़ी सामन्तों को परास्त किया। इस सफलता के बाद वह विद्रोही नेताओं को दिल्ली ले गया और बलपूर्वक उन्हें मुसलमान बना लिया।

विजयनगर के हिन्दू राज्य की नींव

(११) देशव्यापी विद्रोहों ने दक्षिण के हिन्दुओं को भी अपनी स्वाधीनता की पुनः स्थापना करने का अवसर दिया। १३३६ ई. में हरिहर नामक एक साहसिक हिन्दू ने विजयनगर राज्य की नींव डाली। उसने कृष्ण नायक को जिसने दिल्ली के विरुद्ध १३४३-४४ ई. में विद्रोह किया, गुप्त रूप से सहायता दी। इस विद्रोह का दमन न किया जा सका और दक्षिण भारत का एक विस्तृत प्रदेश हिन्दुओं के हाथों में चला गया।

(१२) १३४५ ई. में स्थानीय पदाधिकारियों के कठोर व्यवहार तथा लूट-खसोट के कारण देवगिरि की जनता ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। इतिहासकार फरिश्ता लिखता है कि चारों दिशाओं में विद्रोह की आग फैल गयी जिसके परिणामस्वरूप देश बर्बाद तथा ऊजड़ हो गया।

(१३) अन्य महत्वपूर्ण विद्रोह विदेशी अमीरों का हुआ जो अमीराने-सादाह कहलाते थे और जो कुछ विशेषाधिकारों का उपभोग करते आये थे। इन विदेशी अमीरों ने राज्य के धन को गबन कर लिया, दूसरे विद्रोहियों को सहायता दी और दक्षिण के अराजकताग्रस्त प्रदेशों में लूटमार आरम्भ कर दी। मुहम्मद ने मालवा के सूबेदार अजीज़ खुमर को विदेशी अमीरों को दण्ड देने की आज्ञा भेजी। अजीज़ ने धोखे से उनमें से अनेक का वध करवा दिया। इससे गुजरात के विदेशी अमीरों में भी असन्तोष फैल गया और उन्होंने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उन्होंने अजीज़ को पकड़कर

मार डाला। मुहम्मद को स्वयं उपद्रवग्रस्त क्षेत्र के लिए प्रस्थान करना पड़ा। दभोई के निकट उसने विद्रोहियों को परास्त किया। इसके बाद सुल्तान को एक और सफलता प्राप्त हुई जिसके फलस्वरूप अमीरे-सादाह का दमन कर दिया गया।

(१४) देवगिरि के विदेशी अमीरों को भी अपना भाग्य अन्धकारमय दीखने लगा। उन्होंने विद्रोह करके देवगिरि पर अधिकार कर लिया। वहाँ से बरार, खानदेश तथा मालवा में भी उपद्रव फैल गया। विद्रोह का दमन करने के लिए सुल्तान को स्वयं देवगिरि जाना पड़ा। इसी बीच में गुजरात में भी विद्रोह हो गया और सुल्तान को उस ओर भी प्रस्थान करना पड़ा। इससे देवगिरि के विद्रोहियों को अवसर मिल गया। उन्होंने दिल्ली के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका और बहमनी राज्य की नींव डाली।

(१५) गुजरात का विद्रोह दुर्दमनीय सिद्ध हुआ। किन्तु सुल्तान ने तग़ी नामक विद्रोही को खदेड़ दिया और उसे सिन्ध में थट्टा नामक स्थान में शरण लेने पर बाध्य किया। मुहम्मद शासन-व्यवस्था का पुनः संगठन करने तथा गिरिनार (आधुनिक जूनागढ़) को जीतने के लिए तीन वर्ष तक गुजरात में ठहरा। तदुपरान्त वह तग़ी को दण्ड देने के उद्देश्य से सिन्ध की ओर बढ़ा और वहाँ पहुँचकर बीमार हो गया। २० मार्च, १३५१ ई. को उसका देहान्त हो गया। इतिहासकार बदायूँनी के शब्दों में "सुल्तान को उसकी प्रजा से तथा प्रजा को सुल्तान से मुक्ति मिल गयी।"

मुहम्मद का चरित्र तथा मूल्यांकन

हमारे मध्ययुगीन इतिहास में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ है जिसका चरित्र इतना मनोरंजक तथा विवादग्रस्त हो जितना कि मुहम्मद बिन तुग़लक का। बरनी तथा इब्नबतूता आदि सुल्तान के निकट सम्पर्क में आने वाले तत्कालीन लेखकों ने उसके व्यक्तित्व, गुणों तथा दोषों के सम्बन्ध में विरोधी मत व्यक्त किये हैं। आधुनिक यूरोपीय इतिहासकारों ने भी उसके चरित्र तथा सफलताओं के विषय में नितान्त विरोधी निर्णय दिये हैं। एलफिंस्टन को इसमें सन्देह है कि "उसमें कुछ अंशों में पागलपन विद्यमान नहीं था।" हैवेल, एडवर्ड टॉमस और वी. ए. स्मिथ ने एलफिंस्टन के मत को जैसा का तैसा स्वीकार कर लिया है। इसके विपरीत गार्डीनर ब्राउन ने उसके चरित्र का उज्ज्वल चित्रण किया है और उसे पागल, रक्त-पिपासु तथा कल्पना-जगत में उड़ने वाला होने के आरोपों से मुक्त कर दिया है। इस सुल्तान के राज्य-काल पर दो प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा रचित दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथापि विवाद शान्त नहीं हुआ है और अब भी लेखकों तथा विचारकों के मस्तिष्क इस विषय में सक्रिय हैं।

मुहम्मद के चरित्र के निजी पहलू को ध्यान में रखते हुए हमें कहना पड़ता है कि उसमें सभी वांछनीय गुण विद्यमान थे। उसकी बुद्धि कुशाग्र, स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक तथा ज्ञान-पिपासा असीम थी। वह हेतुविद्या, दर्शन, गणित, ज्योतिष, भौतिक विज्ञानों तथा फारसी साहित्य और काव्य का गम्भीर विद्वान था। आत्म-प्रकाशन की कला के दोनों रूपों—लिखने तथा बोलने में दक्ष होने के अतिरिक्त वह उच्च कोटि का नैयायिक भी था। सुलेख-कला, ललित कलाओं और विशेषकर संगीत से उसे अधिक प्रेम था। विद्या और कलाओं का वह पोषक तथा विद्वानों के सत्संग का प्रेमी था।

मुहम्मद के निजी जीवन का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा था। अपने युग के सामान्य व्यसनों से वह सर्वथा मुक्त था। स्वभाव से ही वह अत्यधिक नम्र था। इब्नबतूता तथा बरनी दोनों लेखकों ने सुल्तान की उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उनका कथन है कि दान, भेंट, पुरस्कार आदि देने में सुल्तान मुक्त-हस्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने सम्बन्धियों से उसे अनुराग था और वह सहृदय मित्र था। अपने चचेरे भाई फीरोज़ के प्रति उसका प्रेम तथा बरनी और अन्य मित्रों के प्रति उसकी सम्मान की भावना इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। यद्यपि उसके विरुद्ध धार्मिकता का आरोप लगाया गया है किन्तु इब्नबतूता के ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट है कि मुहम्मद को नैतिकता में विश्वास था और अपने धर्म के प्रति उसमें भक्ति थी। इस्लाम द्वारा निर्धारित प्रतिदिन पाँच बार नमाज़ पढ़ने तथा रोजा आदि के सम्बन्ध में वह अत्यधिक सावधान तथा नियमबद्ध था। स्वभाव तथा आदत से मुहम्मद परिश्रमी था। शासन सम्बन्धी ब्यौरे की चीजों के सम्बन्ध में उसकी लगन तथा अध्यवसाय एक कहावत बन गया था। एक सैनिक की भाँति उसका पालन-पोषण हुआ था। एक अनुभवी सेनानायक के रूप में उसने अनेक युद्ध लड़े थे।

सैनिक-जीवन से उसे विशेष प्रेम था और सभी इतिहासकारों ने एकमत होकर इस विषय में उसकी प्रशंसा की है।

जैसा कि उस जैसे गम्भीर विद्वान तथा विभिन्न विषयों में रुचि रखने वाले व्यक्ति से आशा की जा सकती थी, मुहम्मद स्वभाव से ही उदार तथा निष्पक्ष था। इस्लाम में भक्ति रखने के बावजूद वह असहिष्णु नहीं था और विभिन्न धर्मों तथा स्थितियों के व्यक्तियों के गुणों की सराहना करने के लिए उद्यत रहता था।

किन्तु कहना पड़ेगा कि एक शासक की दृष्टि से वह नितान्त असफल रहा। अपने छब्बीस वर्ष के दीर्घ शासन-काल में उसे कोई सफलता नहीं मिली। उत्तराधिकार में उसे एक विशाल साम्राज्य मिला था जिसमें लगभग

समस्त उत्तरी भारत तथा दक्षिण सम्मिलित थे। किन्तु उसकी मृत्यु के पूर्व ही दिल्ली सल्तनत का आकार बहुत कुछ सिकुड़ गया था। दक्षिण स्वतन्त्र हो गया और बंगाल ने भी दिल्ली से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। जिस समय मृत्यु ने उसे आ घेरा, सिन्ध भी उसके हाथों से निकला जा रहा था। जो प्रान्त अब भी दिल्ली-साम्राज्य के अन्तर्गत थे उनमें विद्रोह तथा अन्तर्द्वन्द्व चल रहे थे। सैनिक तथा सेनानायक के रूप में उसने जो ख्याति प्राप्त कर ली थी, परीक्षा के समय उसने भी उसका साथ नहीं दिया। भारत की सीमाओं के बाहर के देशों को जीतने की उसकी इच्छा थी, किन्तु सिंहासनारोहण के समय उसे जो कुछ मिला था उसका भी अधिकांश वह खो बैठा। शासन को नये साँचे में ढालना तथा राजस्व-व्यवस्था और मुद्रा को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा करना—ये मुहम्मद की महत्वाकांक्षाएँ थीं। उसकी एक महती अभिलाषा यह थी कि राजधानी साम्राज्य के केन्द्र में स्थित हो। ये सब योजनाएँ निष्फल सिद्ध हुईं। यही नहीं, उनके विरुद्ध भयंकर प्रतिक्रिया हुई और उसे जनता के अपार कोप का भाजन बनना पड़ा। अपनी मृत्यु से बहुत पहले उसने अपनी असफलता स्वीकार की। इतिहासकार बरनी से उसने कहा, "मैं लोगों को विद्रोह और विश्वासघात के सन्देह पर दण्ड देता हूँ। साधारण से साधारण धृष्टतापूर्ण कार्य के लिए मैं अपराधियों को मृत्यु-दण्ड देता हूँ। मैं मृत्युपर्यन्त ऐसा करता रहूँगा अथवा तब तक जब तक कि लोग विद्रोह और धृष्टता छोड़कर ईमानदारी का व्यवहार नहीं करने लगते। मेरा कोई ऐसा वजीर नहीं है जो मेरे द्वारा किये जाने वाले रक्तपात को रोकने के लिए नियम बना सके। मैं लोगों को इसलिए दण्ड देता हूँ कि वे सब एक साथ मेरे शत्रु और विरोधी हो गये हैं। मैंने उन्हें बहुत-सा धन बाँटा है किन्तु उनका व्यवहार मित्रतापूर्ण और वफादारी का नहीं हुआ है।" इस सबका इसके सिवाय और क्या अर्थ हो सकता है कि यह एक ऐसे आदमी का अपना हृदय खोलकर रख देना है जो अपनी विफलता को भलीभाँति समझता है। कुछ आधुनिक लेखकों का मत है कि अपनी शासन सम्बन्धी विफलताओं के लिए मुहम्मद स्वयं जिम्मेदार नहीं था, उसे असफलता इसलिए मिली कि परिस्थितियाँ उसके विरुद्ध थीं, लोग पिछड़े हुए तथा अविवेकी थे और उलेमा उसके विरुद्ध हो गये थे, क्योंकि उसने उन्हें राज्य के कार्यों में हस्तक्षेप न करने दिया था और आज्ञोल्लंघन के लिए दण्ड दिया था। उपर्युक्त तर्कों में कुछ तत्व है किन्तु मुहम्मद की विफलता का मुख्य उत्तरदायित्व उसके चरित्र के दोषों तथा कमियों पर था। उसमें सन्तुलन, व्यावहारिक निर्णय-शक्ति तथा सामान्य बुद्धि का अभाव था। धर्मशास्त्रों की शिक्षाओं का उस पर अत्यधिक प्रभाव था और उसके ज्ञान का आधार पुस्तकें थीं न कि व्यावहारिक जीवन का अनुभव।

मानवीय चरित्र को परखने के नृप-सुलभ गुण का उसमें सर्वथा अभाव था, और न उसमें दूसरों में विश्वास उत्पन्न करने तथा अपने सहयोगियों से अच्छे सम्बन्ध रखने की ही शक्ति थी। उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना तथा काल्पनिक योजनाएँ बनाना उसका एक व्यसन था। अपनी योजनाओं के ब्यौरे की बातों पर वह कभी सावधानी से विचार नहीं करता था। कागज पर तो उसकी योजनाएँ ठोस होती थीं किन्तु जब उन्हें कार्यान्वित किया जाता था तो वे निष्फल सिद्ध होती थीं। मुहम्मद में मनुष्यों, संस्थाओं और यहाँ तक कि अपनी उच्च योजनाओं के सम्बन्ध में भी धीरज से काम लेने की शक्ति नहीं थी। स्वभाव से ही उसमें अध्यवसाय की कमी थी और योजना के पूरा होने से पहले ही उसे छोड़ बैठता था। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें जल्द-बाजी अत्यधिक मात्रा में विद्यमान थी। उग्र स्वभाव का होने के कारण वह शीघ्र ही उत्तेजित हो जाता था। एक बार क्रुद्ध हो जाने पर वह अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठता था और समस्या के दूसरे पहलू को देखने का प्रयत्न नहीं करता था। दण्ड देते समय वह विवेक से काम नहीं लेता था और भीषण अपराधों के लिए ही नहीं बल्कि अत्यन्त साधारण अपराध के लिए भी वह मृत्यु-दण्ड दे देता था।

भावुक होने के कारण वह सोचा करता था कि मेरी उदारता के बावजूद लोग अकारण ही मेरे विरुद्ध हो गये हैं, इसलिए उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। उसकी विफलता के यही मुख्य कारण थे। यदि जनता पिछड़ी हुई थी तो एक चतुर तथा व्यवहार-कुशल शासक की भाँति उसे यह चाहिए था कि वह अपने सुधारों के सम्बन्ध में उसे साथ लेकर चलता। आखिर ऐसे सुधारों से क्या लाभ था जो समय के बहुत आगे थे और जिन्हें वही जनता नहीं समझ सकती थी जिसकी भलाई करना उसका उद्देश्य था। सामान्य रूप से परिस्थितियाँ उसके विरुद्ध नहीं थीं। जिस समय वह सिंहासन पर बैठा, प्रजा ने उसका हार्दिक स्वागत किया, किन्तु जब उसने हठपूर्वक अकाल के समय में दोआब में कर बढ़ाना आदि अपनी मूर्खतापूर्ण योजनाओं को कार्यान्वित किया तो जनता के लिए उसका विरोध करना स्वाभाविक ही था। यह कहने का कोई अर्थ नहीं कि उसका दुर्भाग्य उसकी विफलता का कारण था और इसलिए उसे अभागा शासक कहना चाहिए।

क्या वह पागल था ?

एलफिंस्टन पहला इतिहासकार था जिसका विश्वास था कि मुहम्मद में पागलपन का कुछ अंश विद्यमान था। परवर्ती यूरोपीय इतिहासकारों ने भी उसके मत का समर्थन किया है। किन्तु बरनी तथा इब्नबतूता आदि तत्कालीन लेखकों के ग्रन्थों के निरीक्षण से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे सिद्ध

हो सके कि सुल्तान में किसी प्रकार का पागलपन था। सम्भवतः एलफिंस्टन तथा अन्य यूरोपीय लेखकों को बरनी और इब्नबतूता के इस कथन से भ्रम हो गया कि सुल्तान के महल के सामने सदैव कुछ लाशें पड़ी दिखायी देती थीं। मुहम्मद साधारण अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड इसलिए नहीं दिया करता था कि वह पागल था बल्कि इसलिए कि उसमें साधारण तथा भीषण अपराधों में अन्तर समझने की विवेक-बुद्धि नहीं थी। उसकी गलतियों का कारण उसका पागलपन नहीं बल्कि सन्तुलन का अभाव था। सुल्तान के प्रति न्याय करने की दृष्टि से यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि मध्य-युग में यूरोप तथा एशिया के सभी देशों में मृत्यु-दण्ड सामान्य रूप से प्रचलित था। यह कहना भी गलत है कि मुहम्मद को रक्तपात में आनन्द आता था। उसके विरुद्ध यह आरोप बरनी ने लगाया था; वह उलेमा के दल का सदस्य था जो सुल्तान के प्रति विशेष द्वेष-भाव रखते थे क्योंकि उसने उन्हें उनके विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया था और अपराधों और अहंकार के लिए दण्ड दिया था।

नास्तिकता का आरोप भी निराधार है। बरनी लिखता है कि सुल्तान की इस्लाम में आस्था नहीं रही थी और उसका आचरण उसके सिद्धान्तों के प्रतिकूल था, किन्तु इब्नबतूता का कहना है कि सुल्तान दैनिक नमाज़ तथा इस्लाम द्वारा निर्धारित अन्य कृत्यों के सम्बन्ध में अत्यधिक सावधान था। वह अपने धर्म के सिद्धान्तों, शिक्षाओं और व्यावहारिक नियमों का स्वयं ही कठोरता के साथ पालन नहीं करता था बल्कि उनसे विचलित होने वालों और यहाँ तक कि नियमानुसार दैनिक नमाज़ न पढ़ने वालों को भी दण्ड दिया करता था। सत्य यह है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में मुहम्मद को सन्देहों ने घेर लिया था और उसका व्यवहार एक सन्देहवादी का सा था। किन्तु सिंहासन पर बैठने के कुछ दिनों उपरान्त उसका सन्देह जाता रहा और वह एक कट्टर सुन्नी मुसलमान की तरह जीवन बिताने लगा था।

मुहम्मद के विरुद्ध एक और भी आरोप है कि वह कल्पना-जगत में उड़ा करता था। इस कथन में कुछ सत्य अवश्य है कि उसे हवाई किले बनाने का शौक था और वह ऐसी योजनाएँ तैयार किया करता था जो व्यवहार में असफल सिद्ध होती थीं, किन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उसके मुद्रा, राजस्व आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनेक सुधार ठोस, रचनात्मक और व्यावहारिक थे। कुछ सुधारों में तो उसकी राजनीतिक सूक्ष्मदर्शिता की झलक भी मिलती थी। इसलिए मुहम्मद आदर्शवादी था और कल्पना-जगत में रहने वाला भी।

क्या उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था?

डा. ईश्वरीप्रसाद का कथन है कि ऊपर से देखने पर भी हमें प्रतीत होता है कि मुहम्मद विरोधी तत्वों का आश्चर्यजनक योग था, किन्तु वास्तव में वह

ऐसा नहीं था। डा. मेहदी हुसैन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यद्यपि मुहम्मद में विरोधी गुण विद्यमान थे किन्तु वे उसके जीवन के विभिन्न कालों में प्रकट हुए थे और उनके लिए स्पष्ट कारण भी विद्यमान थे। इसलिए डा. हुसैन कहते हैं कि उसे विरोधी तत्वों का मिश्रण नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ का लेखक उपर्युक्त विद्वान इतिहासकारों के मत से सहमत नहीं है और उसका विश्वास है कि मुहम्मद में विरोधी गुण विद्यमान थे और उनका प्राकट्य एक ही समय में और साथ-साथ आया और ये गुण जीवनपर्यन्त उनके चरित्र का अंग बने रहे। डा. हुसैन ने सिद्ध किया है कि अपने शासन-काल के प्रारम्भिक दिनों में सुल्तान सन्देहवादी था किन्तु आगे चलकर वास्तव में धार्मिक हो गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध था उस पर एक ही समय में साथ-साथ धार्मिक तथा अधार्मिक होने का आरोप लगाया जा सकता है। किन्तु जहाँ तक मुहम्मद के गुणों का सम्बन्ध है, डा. हुसैन ने मौन धारण कर लिया है। मुहम्मद नम्र था और साथ ही साथ अत्यधिक अहंकारी भी, इसीलिए बरनी कहता है कि सुल्तान को यह सुनना पसन्द नहीं था कि पृथ्वी अथवा स्वर्ग का एक ऐसा भाग भी है जिस पर आपका अधिकार नहीं है। कभी-कभी वह इतना विनम्र और संयमी था कि इब्नबतूता ने नम्रता को ही उसके चरित्र की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता समझा। साधारणतया वह अत्यधिक उदार था किन्तु कभी-कभी वह पूर्ण रूप से संकीर्ण-हृदय हो जाता था। इब्नबतूता ने अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे मुहम्मद की कानून तथा न्याय के प्रति श्रद्धा प्रकट होती है। कभी-कभी वह न्यायालय में अपराधी की भाँति उपस्थित होता, एक साधारण नागरिक जैसा व्यवहार करता और न्यायाधीश के हाथों दण्ड स्वीकार करता। इसके विपरीत सामान्यतया वह साधारण अपराधों के लिए मृत्यु तथा अंग-विच्छेद का बर्बर दण्ड दिया करता था। साधारणतया वह बहुत दयालु था किन्तु कभी-कभी जब उसकी क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित होने लगती थी तब वह एक अत्यधिक क्रूर तथा अत्याचारी मनुष्य की भाँति व्यवहार करता था। इसीलिए हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि मुहम्मद बिन तुग़लक के चरित्र में विरोधी गुणों का मेल था।

फीरोज़ तुग़लक (१३५१–१३८८ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

फीरोज़ का जन्म १३०९ ई. में हुआ था। वह सुल्तान गियासुद्दीन तुग़लक के छोटे भाई रज्जब का पुत्र था। उसकी माता आधुनिक पूरबी पंजाब के हिसार जिले में स्थित अबोहर के भट्टी राजपूत राजा रनमल की पुत्री थी।

यह विवाह बलपूर्वक किया गया था। कहा जाता है जब गाज़ी तुग़लक दिपालपुर का सूबेदार था उस समय उसने इस राजपूत लड़की के सौन्दर्य तथा आकर्षण के विषय में सुना और उसका विवाह अपने छोटे भाई से करने के लिए रनमल पर दबाव डाला, किन्तु अहंकारी राजपूत ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। तब गाज़ी मलिक ने दमन से काम लिया और रनमल तथा उसकी प्रजा को घोर संकट में डाल दिया। लड़की ने अपने पिता से कहा कि यदि मेरे दिये जाने से परिवार इस अवश्यम्भावी नाश से बच सके तो मुझे इस प्रस्तावित विवाह में कोई आपत्ति नहीं है। फीरोज़ इसी विवाह से उत्पन्न हुआ था। पूर्ण वयस्क होने पर फीरोज़ को शासन-कला तथा युद्ध-विद्या की शिक्षा दी गयी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से किसी में भी फीरोज़ निपुणता नहीं प्राप्त कर सका। मुहम्मद तुग़लक को अपने इस चचेरे भाई से प्रेम था इसलिए उसे उसने राज्य के शासन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। कहा जाता है कि वह फीरोज़ को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था।

सिंहासनारोहण

जिस समय २० मार्च, १३५१ ई. को मुहम्मद की मृत्यु हुई, फीरोज़ थट्टा में शाही खेमे में उपस्थित था। शाही फौज को उसके शत्रु तार्गी तथा उन किराये के टट्टू मंगोलों ने जिन्हें मुहम्मद ने सहायक सैनिकों के रूप में भरती कर लिया था, घोर कष्ट पहुँचाया, इसलिए अपने को अराजकता की दशा में देखकर उसने एक नेता चुनने का संकल्प किया ताकि कठिनाइयों के कारण राज्य नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। चूँकि मुहम्मद की इच्छा फीरोज़ को अपना उत्तराधिकारी बनाने की थी इसलिए सब लोगों की दृष्टि उसी पर पड़ी। किन्तु एक छोटा-सा दल ऐसा भी था जो सुल्तान के एक अल्पवयस्क भानजे के पक्ष में था। उसने इस बालक के दावे का इसलिए समर्थन किया कि फीरोज़ की अपेक्षा वह सुल्तान का अधिक निकट का सम्बन्धी था। किन्तु अमीरों ने उत्तर दिया कि हम एक प्रौढ़ व्यक्ति को चाहते हैं जो हमें इन कठिनाइयों से निकाल सके। उन्होंने फीरोज़ से मुकुट धारण करने की प्रार्थना की। एकान्त-प्रिय तथा धार्मिक प्रवृत्ति का होने के कारण उसने प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तब अमीरों, शेखों और उलेमा ने मिलकर उस पर दबाव डाला। अन्त में उसने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। २२ मार्च, १३५१ ई. को थट्टा के निकट शाही खेमे में उसका राज्याभिषेक हुआ।

नये सुल्तान ने सेना में व्यवस्था कायम की, उसे शत्रु से बचाया और दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। वह सिन्ध को छोड़ भी न पाया था कि उसे समाचार मिला कि स्वर्गीय सुल्तान के नाइब ख्वाजा-ए-जहाँ ने एक लड़के को मुहम्मद तुग़लक का पुत्र तथा उत्तराधिकारी घोषित करके उसे सिंहासन पर

बैठा दिया है। सेना के मुल्तान पहुँचने पर फीरोज़ ने अमीरों तथा इस्लामी विधि-विज्ञों से परामर्श किया। अमीरों ने यह मानने से इन्कार किया कि स्वर्गीय सुल्तान का कोई पुत्र जीवित है। विधि-विज्ञों ने फैसला दिया कि ख्वाजा-ए-जहाँ का उम्मीदवार अल्पवयस्क होने के कारण दिल्ली का सुल्तान होने का अधिकारी नहीं है। इस्लामी कानून के अनुसार प्रभुत्व वंशानुगत अधिकार नहीं माना जाता; इसलिए कानूनी दृष्टि से उस लड़के का सिंहासन पर अधिकार था अथवा नहीं, यह प्रश्न ही उठाना अनावश्यक है। इसके अतिरिक्त समय की माँग थी कि राजसत्ता शक्तिशाली पुरुष के हाथों में हो। इसीलिए ख्वाजा-ए-जहाँ के उम्मीदवार का पक्ष डूब गया। मन्त्री ने समर्पण कर दिया और उसकी पुरानी स्वामिभक्तिपूर्ण सेवाओं का विचार करके सुल्तान ने उसे क्षमा कर दिया। उसे अपनी जागीर समाना को जाने की आज्ञा मिल गयी किन्तु अमीरों तथा सेना के पदाधिकारियों के भड़काने पर सुनम तथा समाना के सूबेदार शेरखाँ के अनुयायियों ने उसका वध कर दिया। फीरोज़ निष्कंटक एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया।

फीरोज़ का राज्यारोहण विद्वानों में एक विवाद का विषय है। सर वूल्ज़ले हेग का मत है कि ख्वाजा-ए-जहाँ ने जिस लड़के को गद्दी पर बिठाया था वह मुहम्मद का कल्पित नहीं बल्कि औरस पुत्र था। इसलिए फीरोज़ का सिंहासनारोहण नियम-विरुद्ध था और हम उसे सिंहासन अपहरण कह सकते हैं। दूसरे इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते और उनका कथन है कि ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे सिद्ध हो सके कि वह लड़का मुहम्मद का औरस पुत्र था। यदि उसे मुहम्मद का औरस पुत्र भी मान लिया जाय तो भी फीरोज़ का राज्यारोहण नियम-विरुद्ध नहीं था। इस्लामी कानून के अनुसार प्रभुत्व किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं है। उसका पात्र तो वही होता है जिसमें गद्दी पर अधिकार रखने की योग्यता और सामर्थ्य होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मुस्लिम सिंहासन का अधिकार वंशानुगत अधिकार का विषय नहीं है। यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि सल्तनत में पुत्र का उत्तराधिकार कुछ हद तक एक नियम बन गया था फिर भी उत्तराधिकारी के चुनाव में योग्यता तथा निर्वाचकों—मुख्य अमीरों, उलेमा तथा स्वर्गीय सुल्तान—की इच्छा ही निर्णायक तत्व माने जाते थे। फीरोज़ का विधिवत चुनाव किया गया था। वह योग्य भी था और, जैसा कि बरनी लिखता है, मुहम्मद ने भी उसी को अपना उत्तराधिकारी निर्देशित किया था। इस प्रकार वह सभी शर्तों को पूरा करता है, इसलिए हम उसे अपहरणकर्ता नहीं कह सकते और न यही कहा जा सकता है कि उसका राज्यारोहण विधि-विरुद्ध था। डा. रामप्रसाद त्रिपाठी का कथन है

कि फीरोज़ के सिंहासनारोहण ने निर्वाचन के सिद्धान्त की जिसका महत्व धीरे-धीरे घट रहा था, पुनः स्थापना की और साथ ही साथ पुत्र को शासनाधिकार से वंचित भी नहीं किया। इस उदाहरण ने योग्यता को महत्व दिया, न कि सुल्तान से निकट सम्बन्ध को। इसके अतिरिक्त इससे दो नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ। पहला, यदि सुल्तान ऐसी माता से उत्पन्न था जो अपने विवाह से पहले ग़ैर-मुस्लिम रह चुकी थी, तो इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी; दूसरा यह आवश्यक नहीं कि सुल्तान प्रसिद्ध सैनिक रह चुका हो।

गृह-नीति

शासन-व्यवस्था

अगस्त, १३५१ ई. के अन्त में फीरोज़ ने निर्विरोध राजधानी में प्रवेश किया। उसने मलिके-मकबूल को अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया और उसे खानेजहाँ की उपाधि से विभूषित किया। नया प्रधान मन्त्री तैलंगाना का एक ब्राह्मण था और कुछ ही समय पहले मुसलमान हो गया था। वह एक अत्यन्त योग्य शासक था और उसकी स्वामिभक्ति से फीरोज़ को अत्यधिक लाभ हुआ। सर्वप्रथम फीरोज़ ने प्रजा को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया; इसके लिए उसने सम्पूर्ण राजकीय ऋण चुका दिया और ख्वाजा-ए-जहाँ द्वारा अपने उम्मीदवार की स्थिति दृढ़ करने के लिए राजकोष में से लुटा दिये गये धन को भी पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। एक दृष्टि से सुल्तान भाग्यशाली था; दिल्ली की जनता का, विशेषकर कट्टर सुन्नी वर्ग का, वह विश्वासपात्र था। जनता की सहायता से वह न्याय तथा व्यवस्था में सुधार करने और प्रजा को शान्ति तथा सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ हो सका; मुहम्मद के शासन के अन्तिम दिनों के उपद्रवों के कारण राज्य में इन चीजों का खेदजनक अभाव था। फीरोज़ अपने को राज्य का ट्रस्टी तथा जनता की भलाई के लिए जिम्मेदार समझता था। उसने साम्प्रदायिक राज-व्यवस्था के सिद्धान्त की पुनः स्थापना की और अपने को जनता के मुस्लिम वर्ग का वास्तविक शासक समझा तथा उस युग में उसकी भौतिक तथा नैतिक समृद्धि के लिए जो कुछ सम्भव हो सकता था, किया। उसने सच्चे इस्लामी शासक के आदर्श पर यथासम्भव पहुँचने का प्रयत्न किया। इस प्रकार फीरोज़ ने दूसरे रूप में अपना जीवन बिताया तथा कार्य किया—पहले, राज्य की सम्पूर्ण जनता के लौकिक शासक के रूप में; और दूसरे, मुस्लिम जनता के लौकिक तथा धार्मिक शासक की हैसियत से और उसे कुछ हद तक प्रजा की भौतिक उन्नति करने तथा सुन्नी इस्लाम की प्रतिष्ठा और महत्व बढ़ाने में सफलता मिली।

सुल्तान फीरोज़ का दूसरा कार्य दिल्ली सल्तनत को दुर्बलता तथा अनैतिकता के उस गर्त में से उठाना था जिसमें वह उसके पूर्वाधिकारी के शासन-काल के अन्तिम दिनों में गिर गयी थी। यह असाधारण सैनिक सफलताओं तथा दक्षिण, बंगाल, सिन्ध, राजस्थान आदि राज्यों के खोये हुए प्रान्तों की पुनर्विजय के बिना सम्भव नहीं था। फीरोज़ में उच्चकोटि की सैनिक प्रतिभा तथा रोब-दाब कायम करने की शक्ति का अभाव था इसलिए दक्षिण तथा राजस्थान की पुनर्विजय के विचार से ही उसका हृदय दहल गया। बंगाल तथा सिन्ध को दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत लाने का उसने ढिलमिल प्रयत्न किया, किन्तु उसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने ताज की शक्ति तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में वह शान्ति-प्रिय व्यक्ति था। उसने अपनी शक्ति को मुख्यतया जनता की आर्थिक उन्नति के कार्य में लगाया। राजस्व-विभाग को छोड़कर उसने शासन-व्यवस्था में कोई सुधार नहीं किये, किन्तु अपने दीर्घ राज्यकाल में शासन-व्यवस्था को शान्तिपूर्वक तथा निर्विघ्न रूप से चलाने का प्रयत्न किया। उसने योग्य मन्त्री नियुक्त किये, सरकार का कार्य-भार उन्हें सौंपा और उन्हें अपना विश्वास तथा समर्थन प्रदान किया। शासक के रूप में उसकी सफलता का यही रहस्य था।

राजस्व-नीति

राज्य के राजस्व सम्बन्धी विषयों की ओर फीरोज़ ने अधिक ध्यान दिया। उसने देखा कि वित्त तथा राजस्व-व्यवस्था अराजकतापूर्ण दशा में है। लूट-खसोट, कुप्रबन्ध तथा दुर्भिक्ष के कारण प्रजा को अत्यधिक कष्ट सहन करना पड़ा था। जनता के घावों को भरने तथा उसमें विश्वास उत्पन्न करने के उद्देश्य से उसने स्वर्गीय सुल्तान द्वारा दिये गये तकावी ऋण को रद्द कर दिया। उसने पदाधिकारियों के वेतन बढ़ाये। राजस्व-विभाग के पदाधिकारी प्रान्तीय सूबेदार जब सुल्तान के दरबार में अपने इलाकों की आय-व्यय का हिसाब देने जाते थे तो उन पर अनुचित शारीरिक दबाव डाला जाता था। फीरोज़ ने इस घृणित प्रथा को भी बन्द कर दिया। राज्य की सम्भावित आय-व्यय का चिट्ठा तैयार करना फीरोज़ का अन्य महत्वपूर्ण कार्य था। उसने सरकारी आय का आनुमानिक विवरण तैयार करवाया। यह कार्य ख्वाजा हिसामुद्दीन नामक एक अनुभवी राजस्व-पदाधिकारी के सुपुर्द किया गया। उसने प्रान्तों का दौरा करके राजस्व-अभिलेखों का निरीक्षण किया और छः वर्ष के कठिन परिश्रम के उपरान्त राज्य की खालसा भूमि का राजस्व छः करोड़ और पचासी लाख टंका निश्चित किया। इन आँकड़ों में परिवर्तन नहीं हुआ और फीरोज़ के सम्पूर्ण राज्य-काल में सीधे राज्य के शासन के अन्तर्गत

भूमि से इतनी ही आय होती रही। भूमि की नाप तथा उपज के आधार पर अनुमान नहीं लगाया गया था; उसका आधार अन्दाज, स्थानीय जानकारी तथा राजस्व-विभाग का पुराना अनुभव था। फीरोज़ ने भूमि की नाप के आधार पर राजस्व निर्धारित करने की वैज्ञानिक प्रणाली त्याग दी। इस आधारभूत दोष के बावजूद लगभग स्थायी रूप से भूमि-कर निश्चित करना फीरोज़ की एक महान् सफलता थी और उसके लिए उसे श्रेय मिलना चाहिए।

सुल्तान ने चौबीस कष्टप्रद करों को हटा दिया; उनमें मकान तथा चरागाह कर भी सम्मिलित थे जिनसे प्रजा को विशेष घृणा थी। जहाँ तक भू-राजस्व का सम्बन्ध था उसने राज्य की माँग घटा दी। किसानों के आर्थिक बोझ को हल्का करने के लिए उसने एक और कार्य किया—सूबेदारों को अपनी नियुक्ति के समय तथा प्रति वर्ष भेंट के रूप में कुछ धन राज्य को देना पड़ता था, जिसका बोझ वास्तव में जनता पर ही पड़ता था; फीरोज़ ने इस हानिकारक प्रथा का अन्त कर दिया। कुरान के नियम के अनुसार सुल्तान ने केवल चार कर लगाये—खराज़, खम्स, जज़िया और जकात। खराज़ भूमि-कर था। खम्स युद्ध में प्राप्त लूट के धन के $\frac{1}{5}$ भाग को कहते थे। अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुग़लक लूट के धन का $\frac{4}{5}$ भाग तक हड़प लिया करते थे और केवल $\frac{1}{5}$ सेना के लिए छोड़ते थे। किन्तु फीरोज़ ने इस्लामी प्रथा के अनुसार केवल $\frac{1}{5}$ भाग लिया और $\frac{4}{5}$ सैनिकों के लिए छोड़ दिया। गैर-मुसलमानों से जज़िया वसूल करने में फीरोज़ काफी कठोरता से काम लेता था। पूर्व-सुल्तानों के समय में ब्राह्मण या तो जज़िया से मुक्त रहते थे अथवा किसी प्रकार उससे बच जाया करते थे, फीरोज़ ने उनसे भी जज़िया वसूल करके उसकी व्यापकता को अत्यधिक बढ़ाया। जकात २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की दर से मुसलमानों से वसूल किया जाता था और कुछ निश्चित धार्मिक कृत्यों में व्यय किया जाता था। इन चार करों के अतिरिक्त आगे चल कर सुल्तान ने उलेमा की स्वीकृति से सिंचाई कर भी लगाया जो उन किसानों को देना पड़ता था जो अपने खेतों की सिंचाई के लिए सरकारी नहरों से पानी लेते थे। इसकी दर उपज का $\frac{1}{10}$ थी। अफसरों तथा राजस्व वसूल करने वालों को निश्चित धन से अधिक वसूल करने का कठोर निषेध था। जो इन आज्ञाओं का उल्लंघन करते थे उन्हें दण्ड दिया जाता था। राजस्व पदाधिकारियों तथा वसूल करने वालों को जागीर तथा भत्तों के रूप में समुचित वेतन दिया जाता था जिससे वे जनता को कष्ट न पहुँचायें।

सुल्तान ने आन्तरिक व्यापार को मुक्त करने के लिए उस पर से वे अनेक कर हटा दिये जिनसे वस्तुओं के आने-जाने में बाधा पड़ती थी और जनता की

व्यापारिक समृद्धि को धक्का लगता था। इस बुद्धिमत्तापूर्ण नीति से पतन-शील व्यापार का पुनरुत्थान हुआ।

राजस्व-व्यवस्था की ओर फीरोज़ ने जो ध्यान दिया उससे उसकी आय में पर्याप्त वृद्धि हुई। इस वृद्धि के कई कारण थे—(१) पहले से अच्छी खेती तथा उत्तम फसलें, (२) सिंचाई कर, और (३) बाग। फीरोज़ को बागों का बहुत शौक था। उसने दिल्ली के आसपास फलों के १२०० बाग लगवाये जिनसे एक लाख अस्सी हजार की वार्षिक आय होती थी। इससे दिल्ली की खाद्य-समस्या भी हल हो गयी।

उपर्युक्त सुधारों के फलस्वरूप कृषि का विस्तार तथा व्यापार की उन्नति हुई, जनता की समृद्धि बढ़ी तथा राज्य की आय में वृद्धि हुई। अनाज, कपड़ा तथा जीवन की आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ बहुत सस्ती हो गयीं। तत्कालीन लेखकों का कथन है कि राज्य में न कोई ऊजड़ गाँव था और न कोई कृषि योग्य भूमि ऐसी थी जो बिना जुती पड़ी रही हो। इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि किसान कठिन परिश्रम करते थे और उनके खेतों में पहले अनेक वर्षों की अपेक्षा कहीं अधिक उपज होती थी। शम्से शिराज़ अफीफ निम्नलिखित शब्दों में फीरोज़ के लाभदायक राजस्व-सुधारों के परिणामों का उल्लेख करता है :—"उनके (जनता के) घर अन्न, सम्पत्ति, घोड़ों तथा फर्नीचर से भरे पड़े थे, प्रत्येक व्यक्ति के पास प्रचुर मात्रा में सोना तथा चाँदी थी, कोई स्त्री ऐसी न थी जिसके पास आभूषण न हों, और न कोई घर ऐसा था जिसमें अच्छे पलंग और दीवान न हों। धन खूब था और सभी लोग आराम से रहते थे। इस युग में राज्य को आर्थिक दिवालियापन का सामना नहीं करना पड़ा। दोआब से अस्सी लाख टंका की आय होती थी और दिल्ली का राजस्व छः करोड़ पचासी लाख टंका तक पहुँचता था।"

फीरोज़ की राजस्व नीति में तीन मुख्य दोष थे। भूमि को ठेके पर देने की प्रथा का विस्तार पहला दोष था। यह प्रथा इस समस्त युग में चली आयी थी, यद्यपि अलाउद्दीन खलजी तथा मुहम्मद तुग़लक ने इसको समाप्त करने का प्रयत्न किया था क्योंकि वे भूमि का राज्य द्वारा सीधा प्रबन्ध पसन्द करते थे। परन्तु इसके विपरीत फीरोज़ ने इस व्यवस्था को बहुत प्रोत्साहन दिया। राजस्व वसूल करने का काम ऊँची से ऊँची बोली बोलने वाले ठेकेदारों को दे दिया गया था, वे किसानों से अधिक से अधिक धन खसोटने का प्रयत्न करते थे। दूसरा दोष जागीरदारी प्रथा थी। अलाउद्दीन खलजी तथा मुहम्मद तुग़लक दोनों सैनिक तथा असैनिक पदाधिकारियों को जागीरें देने के विरुद्ध थे। फीरोज़ ने सेनापतियों, सैनिकों और असैनिक पदाधिकारियों को भी जागीरों के रूप में वेतन देने का नियम बना दिया। जागीरों के पट्टे कुछ बट्टा

काटकर पेशेवर राजस्व वसूल करने वालों को बेच दिये जाते थे। इससे राज्य को हानि तथा जनता को कष्ट होता था और जागीरदारों को भी अपनी भूमि का जो उचित कर मिलना चाहिए था, उससे कम मिलता था। तीसरा दोष यह था कि फीरोज़ ने जज़िया के विस्तार में वृद्धि की और उसको अधिक कठोरता से वसूल किया। जज़िया एक धार्मिक कर था और गैर-मुसलमानों से लिया जाता था, इसलिए वह वैसे ही बहुत अप्रिय था। किन्तु चूँकि फीरोज़ धर्म के विषय में अधिक कट्टर था, इसलिए उसने उसे और भी अधिक कठोरता से वसूल किया। उसे यह बात नीति-विरुद्ध मालूम पड़ती थी कि ब्राह्मण जो कुफ्र के आधार-स्तम्भ हैं, इस कर से मुक्त रहें। इसलिए सल्तनत के इतिहास में प्रथम बार उसने ब्राह्मणों पर भी जज़िया लगाया।

सिंचाई

कृषि को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सुल्तान ने सिंचाई के लिए अनेक नहरों का निर्माण कराया। उसकी आज्ञा से इस प्रकार की पाँच नहरें खोदी गयीं। सबसे महत्वपूर्ण नहर वह थी जिसके द्वारा यमुना का पानी हिसार तक पहुँचता था। उसकी लम्बाई १५० मील थी। दूसरी नहर जो ९६ मील लम्बी थी, सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी मांडवी तथा सिरमौर की पहाड़ियों के निकट से आरम्भ होकर हाँसी तक पहुँचती थी। चौथी घग्घर से नवस्थापित नगर फीरोजाबाद तथा पाँचवी यमुना से फीरोजाबाद को जाती थी। इनमें से कुछ के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं। फीरोज़ ने सिंचाई तथा यात्रियों की सुविधा के लिए १५० कुएँ खुदवाये। दो सबसे बड़ी नहरें १६० मील के विस्तृत प्रदेश को सींचती थीं। केवल दोआब में ही ५२ नई बस्तियाँ बस गयीं। नहरों से सींचे हुए प्रदेशों में गेहूँ, गन्ना, मसूर आदि उत्तम फसलें बोयी जाने लगीं। फल भी उत्पन्न किये जाते थे।

सार्वजनिक निर्माण-कार्य

फीरोज़ ने सार्वजनिक उपयोगिता की अनेक वस्तुओं का निर्माण कराया। कहा जाता है कि उसने ३०० नगरों की स्थापना की, किन्तु इस संख्या को हम सही नहीं मान सकते, यदि इसमें हम उन गाँवों को भी न सम्मिलित कर लें जो पहले ऊजड़ अथवा नष्ट-भ्रष्ट हो चुके थे किन्तु जो सुल्तान की कृषि को प्रोत्साहन देने की उदार नीति के कारण पुनः बस गये थे। उसने फीरोजाबाद, दिल्ली में कोटला फीरोज़शाह, फ़तेहाबाद, हिसार, जौनपुर और फीरोज़पुर (बदायूँ के निकट) आदि महत्वपूर्ण नगरों की स्थापना की। उसने "चार मस्जिदों, तीस महलों, दो सौ काफिला-सरायों, पाँच जलाशयों, पाँच अस्पतालों, सौ कब्रों, दस स्नानागारों, दस समाधियों और सौ पुलों का निर्माण

कराया। वह अशोक के दो स्तम्भों को उठवा कर दिल्ली ले गया—एक खिज्राबाद से और दूसरा मेरठ के निकट से। इनके अतिरिक्त फीरोज़ ने अनेक बाग लगवाये। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उसने दिल्ली के निकट १२०० बाग लगवाये जिनमें इतने फल उत्पन्न होते थे कि राज्य को एक लाख अस्सी हजार टंका की अतिरिक्त वार्षिक आय हो जाती थी।"

न्याय तथा अन्य परोपकारिक कार्य

फीरोज़ की न्याय-व्यवस्था इस्लामी कानूनों पर आधारित थी। राजधानी में एक मुख्य काज़ी तथा राज्य के प्रान्तों और महत्वपूर्ण नगरों में अनेक अधीनस्थ काज़ी रहते थे। इस्लामी परिपाटी के अनुसार मुफ्ती कानून की व्याख्या करता तथा काज़ी फैसला देता था। सच्चाई मालूम करने के लिए प्रचलित शारीरिक यातनाओं की प्रथा को सुल्तान ने समाप्त कर दिया। किन्तु फीरोज़ दयालु था इसलिए कभी-कभी अपराधियों को बहुत हल्की सजाएँ दिया करता था। कुछ अपराधियों को कोई दण्ड नहीं मिलता था। इस उदारता का परिणाम अधिक अच्छा न हुआ।

जनता की भलाई के लिए फीरोज़ ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य भी किये। उसने एक रोजगार का दफ्तर कायम किया और उसके संचालन के लिए एक पदाधिकारी नियुक्त किया। इस दफ्तर में बेकारों का लेखा रखा जाता था और उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार काम दिया जाता था। उसने एक दानशाला खोली जो दीवाने-खैरात के नाम से विख्यात थी। इस विभाग से मुसलमान लड़कियों के विवाह के लिए तथा विधवाओं और अनाथों को आर्थिक सहायता दी जाती थी। सुल्तान ने दार-उल-शफा नामक एक खैराती अस्पताल की स्थापना की और उसमें कुशल हकीम रखे। उसमें रोगियों को औषधि तथा भोजन मुफ्त मिलता था।

विद्या की वृद्धि

फीरोज़ को विद्या में विशेष रुचि थी। वह विद्वानों का आश्रयदाता था और उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए समुचित भत्ते दिया करता था। उसने अनेक पाठशालाओं, विद्यालयों और मठों की स्थापना की। इन संस्थाओं के संचालन के लिए विद्वान लोगों को नियुक्त किया और उनके लिए उचित धर्मस्व प्रदान किये। प्रत्येक मस्जिद से एक शिक्षा-संस्था सम्बन्धित रहती थी। सुल्तान को इतिहास से विशेष प्रेम था। ज़ियाउद्दीन बरनी तथा शम्से सिराज़ अफीफ ने अपने ग्रन्थ उसी के संरक्षण में लिखे। दो अन्य इतिहास-ग्रन्थ—बरनी द्वारा रचिता फतवा-ए-जहाँदारी तथा तारीखे-फीरोज़शाही—भी उसी के शासन-काल में लिखे गये। सुल्तान ने स्वयं फतूहाते-फीरोज़शाही नाम से अपनी आत्म-कथा

लिखी। चिकित्सा-शास्त्र में भी उसकी रुचि थी। काँगड़ा की विजय के उपरान्त संस्कृत ग्रन्थों का एक विशाल पुस्तकालय उसके हाथ लगा। फ़ीरोज़ ने कुछ संस्कृत ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद कराया। उनमें से एक का नाम उसने दलायले-फ़ीरोज़शाही रखा। फ़ीरोज़ की निजी रुचि तथा राज्य के संरक्षण के कारण धर्म-शास्त्रों, कानून तथा इस्लामी विद्या की अन्य शाखाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि अधिकतर विद्वानों का दृष्टिकोण संकुचित तथा धर्मान्धता से दूषित था।

धार्मिक नीति

फ़ीरोज़ तुग़लक को प्रमुख अमीरों तथा उलेमा ने सिंहासन पर बिठाया था। स्वभाव तथा शिक्षण के कारण भी धर्म में उसकी रुचि थी। इसके अतिरिक्त वह एक ऐसी स्त्री से उत्पन्न हुआ था जो कम से कम प्रारम्भिक जीवन में हिन्दू रह चुकी थी; इसलिए सुल्तान ने यह दिखाना आवश्यक समझा होगा कि मैं शुद्ध तुर्की माता-पिता से उत्पन्न लोगों से कम अच्छा मुसलमान नहीं हूँ। इन्हीं कारणों से उसने उलेमा की शक्ति तथा प्रतिष्ठा बढ़ाने का अनुसरण किया। अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुग़लक के विपरीत वह राज-नीतिक तथा लौकिक विषयों में भी उलेमा से परामर्श लेता तथा उनकी सलाह को स्वीकार किया करता था। उसकी इस नीति के कारण राज्य तथा धर्म का पृथक्करण और मुहम्मद तुग़लक के समय का सुल्तान और उलेमा के बीच संघर्ष समाप्त हो गया। उलेमा कट्टर मुसलमान थे और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण संकुचित तथा संकीर्ण था इसलिए राज-काज में उनके हस्तक्षेप के हानिकारक परिणाम हुए। उनके प्रभाव के कारण फ़ीरोज़ का आचरण एक सच्चे इस्लामी शासक जैसा था और वह इस्लाम का पोषण तथा हिन्दू धर्म का दमन और मूर्ति-पूजा का नाश करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता था। सुल्तान स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखता है कि मैंने अपनी प्रजा को इस्लाम अंगीकार करने के लिए अनेक प्रकार से प्रोत्साहन दिया। जिन हिन्दुओं ने इस्लाम अपना लिया उनको उसने जज़िया से मुक्त कर दिया। उसने जागीरें, नकद धन, उपाधियाँ, सम्मान तथा राजकीय नौकरियाँ देकर धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन दिया। उसने मन्दिरों को ध्वस्त किया और उनकी मूर्तियों को तोड़ा। एक ब्राह्मण को उसने इस आरोप के कारण वध करवा दिया कि उसने मुसलमानों को अपना धर्म छोड़ने के लिए फुसलाया था।

शिया तथा अन्य गैर-सुन्नी मुसलमानों के प्रति जिन्हें कट्टर सुन्नी इस्लाम-द्रोही समझते थे, फ़ीरोज़ का व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण था। शिया लोगों को उसने दण्ड दिया और उनकी धार्मिक पुस्तकों को खुलेआम जलवा दिया।

इसी प्रकार मुल्हीदियों और महदवियों के ऊपर भी धार्मिक अत्याचार किये गये। सूफियों को भी उसने नहीं छोड़ा।

ऐसे शासक के हृदय में मिस्र के नाममात्र के खलीफा के लिए अत्यधिक श्रद्धा का होना अनिवार्य था। सुल्तान ने उससे दो बार मान्यता-पत्र तथा मानसूचक वस्त्र प्राप्त किये। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में प्रथम बार फीरोज़ ने अपने को खलीफा का नाइब घोषित किया। खलीफा का नाम सिक्कों में उत्कीर्ण कराया गया और खुतबा में सुल्तान के नाम के साथ उल्लेख किया गया।

दास-प्रथा

फीरोज़ को दासों का बहुत शौक था, इसलिए उसके शासन-काल में दास-प्रथा को बहुत प्रोत्साहन मिला। उसने सूबेदारों तथा अन्य पदाधिकारियों को राज्य के सब भागों से अपने पास गुलामों को भेजने के लिए स्थायी आदेश जारी किया। इन गुलामों की संख्या एक लाख अस्सी हज़ार तक पहुँच गयी और उनमें से चालीस हज़ार शाही महल में सुल्तान की सेवा के लिए भरती किये गये। उनके ऊपर एक अलग अफसर नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिए अनेक अधीनस्थ पदाधिकारी तथा क्लर्क रख दिये गये। इस विभाग के व्यय के लिए एक भारी रकम निश्चित की, और अधिकतर गुलामों को विभिन्न प्रान्तों में नियुक्त किया तथा उनकी शिक्षा और रोजगार का अच्छा प्रबन्ध किया। किन्तु यह प्रथा अधिक हानिकारक सिद्ध हुई। उलेमा की भाँति गुलामों ने भी शासन में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। दास-प्रथा दिल्ली सलतनत के छिन्न-भिन्न होने का एक मुख्य कारण सिद्ध हुई।

सेना

सेना का संगठन सामन्ती आधार पर किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन खलजी द्वारा संस्थापित स्थायी सेना छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और उसका स्थान अमीरों तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा जुटाये गये सैनिकों ने ले लिया था, किन्तु पुराने शाही अंगरक्षक पूर्ववत बने रहे। सैनिकों को सामान्यतया जागीरों के रूप में वेतन दिया जाता था। कुछ थोड़े से अनियमित सिपाहियों को राज-कोष से नकद वेतन मिलता था। बहुसंख्यक सैनिकों को वेतन के बदले में विभिन्न प्रदेशों के राजस्व के भाग सौंप दिये जाते थे जिनका हस्तान्तरण हो सकता था। इन भागों को दिल्ली में पेशेवर लोग तिहाई मूल्य पर खरीद लेते थे और फिर उन्हें जिलों में सैनिकों को आधे मूल्य पर बेचते थे। इस प्रथा से बहुत भ्रष्टाचार फैला और सैनिक अनुशासन को भारी धक्का लगा। दूसरा दोष इस नियम के कारण यह था कि सैनिकों के बूढ़े हो जाने पर उनके पुत्र, दामाद अथवा गुलाम उनके उत्तराधिकारी

बन सकते थे। इस प्रकार सैनिक सेवा वंशानुगत हो गयी और योग्यता तथा शारीरिक क्षमता के सिद्धान्त का कोई स्थान नहीं रहा। तीसरे, अस्सी अथवा नब्बे हजार अश्वारोहियों को छोड़कर जो राजधानी में रहते थे, शेष सेना अमीरों द्वारा जुटायी गयी टुकड़ियों से मिलकर बनी थी। सेना के इस अंग पर केन्द्रीय सरकार का उचित नियन्त्रण नहीं रह पाता था क्योंकि सैनिकों की भरती, तरक्की और अनुशासन सेना-मन्त्री के संरक्षण में न होकर अमीरों के ही हाथों में था। सैनिक-संगठन दुर्बल हो गया और शक्ति का साधन नहीं रहा।

विदेश-नीति

फीरोज़ की विदेश-नीति दुर्बल तथा अस्थिर थी। उसने दक्षिण को जो मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल के अन्तिम दिनों में दिल्ली से सम्बन्ध तोड़कर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया था, पुनः जीतने का प्रयत्न नहीं किया। जब उसके सलाहकारों ने बहमनी राज्य को जीतने के लिए उस पर दबाव डाला तो उसने यह कह कर टाल दिया कि मैं मुसलमानों का रक्त बहाने के सर्वथा विरुद्ध हूँ। यद्यपि राजस्थान के सम्बन्ध में उसे इस प्रकार का कोई विचार नहीं था फिर भी उसने मेवाड़, मारवाड़ तथा अन्य राज्यों पर पुनः दिल्ली का प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा नहीं प्रकट की। बंगाल को जीतने का क्षीण प्रयत्न करने में भी उसे कलंकपूर्ण विफलता हाथ लगी। वास्तव में उसके आक्रमणों ने उसकी सैनिक-प्रतिभा के अभाव को प्रदर्शित कर दिया और सल्तनत को उससे कोई लाभ नहीं हुआ।

बंगाल

बंगाल १३३८ ई. में ही स्वतन्त्र हो गया था और १३५२ ई. तक हाजी इलियास ने जो अपने को शम्सुद्दीन इलियासशाह कहता था, उस समस्त प्रान्त को अपने अधीन कर लिया था। तदुपरान्त उसने दिल्ली सल्तनत के दक्षिणी-पूरबी भाग को जीतने के उद्देश्य से तिरहुत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण को फीरोज़ सहन नहीं कर सका और ७०,००० अश्वारोही तथा एक विशाल पैदल सेना लेकर उसने १३५३ ई. में बंगाल पर हमला कर दिया। इलियास अपनी राजधानी पाँडुआ को छोड़कर भाग गया और इकदला में जाकर शरण ली, किन्तु फीरोज़ उसे हस्तगत न कर सका। वर्षा-काल के आगमन के भय से सुल्तान ने युद्ध बन्द कर दिया और दिल्ली के लिए वापिस लौट गया। मार्ग में इलियास ने आक्रमण किया किन्तु पराजित हुआ और सेना सुरक्षापूर्वक राजधानी को लौट गयी।

बंगाल पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए फीरोज़ ने पूरबी बंगाल के स्वर्गीय सुल्तान के एक दामाद जफरखाँ की सहायता करने के बहाने १३५९ ई.

में उस प्रान्त पर पुनः आक्रमण किया। इलियास के उत्तराधिकारी सिकन्दर ने भी अपने पिता की भाँति भागकर इकदला में शरण ली। फीरोज़ को उसकी दासता स्वीकार करनी पड़ी और अपना उद्देश्य पूरा किये बिना ही दिल्ली वापिस लौटना पड़ा।

पुरी पर चढ़ाई

बंगाल से लौटते समय मार्ग में कुछ समय के लिए फीरोज़ जौनपुर में ठहर गया और वहाँ से उसने जाजनगर के विरुद्ध प्रस्थान किया। उसका उद्देश्य पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर पर आक्रमण करना था। जाजनगर का राजा भाग गया। धर्मान्ध सुल्तान ने मन्दिर को अपवित्र किया और मूर्ति को समुद्र में फिकवा दिया। बाद में राजा ने समर्पण कर दिया और बीस हाथी कर के रूप में भेंट करना स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त सुल्तान दिल्ली लौट गया।

नगरकोट की विजय

१३६० ई. में सुल्तान ने नगरकोट पर आक्रमण किया जो मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल के अन्तिम वर्षों में दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गया था। छः महीने के घेरे के उपरान्त राजा ने समर्पण कर दिया और सुल्तान ने सम्मानपूर्वक उसका स्वागत किया। लूट के माल में उसे १३०० संस्कृत के ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए जिनमें से कुछ का उसकी आज्ञा से फारसी में अनुवाद किया गया।

सिन्ध की विजय

१३६१-६२ ई. में फीरोज़ ने ९०,००० घुड़सवार, असंख्य पैदल, ४८० हाथी तथा अनेक नावों को लेकर सिन्ध पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा जाम बाबनियाँ ने उतनी ही शक्तिशाली सेना लेकर उसका मुकाबला किया। युद्ध में दिल्ली की सेना को भीषण क्षति उठानी पड़ी और कुमुक के लिए गुजरात की ओर लौटना पड़ा। किन्तु मार्ग-दर्शकों ने उसे कच्छ के रन में फँसा दिया जहाँ से वह छः महीने के बाद निकल सका। सुल्तान तथा उसकी सेना का कोई समाचार न मिलने के कारण उन महीनों में दिल्ली में बड़ी चिन्ता रही। १३६३ ई. में फीरोज़ ने दिल्ली से अपने प्रधान मन्त्री खानेजहाँ मकबूल द्वारा भेजी गयी अतिरिक्त सेना की सहायता से पुनः थट्टा पर आक्रमण किया। जाम ने कर देना स्वीकार कर लिया और सुल्तान अपनी राजधानी को लौट गया।

फीरोज़ के शासन-काल में देश मंगोलों के आक्रमणों से पूर्णतया मुक्त रहा। उनके केवल दो साधारण धावे हुए बताये जाते हैं जिनको बिना अधिक कठिनाई के पीछे खदेड़ दिया गया।

विद्रोहों का दमन

फीरोज़ के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में उसकी चचेरी बहिन, मुहम्मद की बहिन खुदावन्दज़ादा ने उसके जीवन का अन्त करने के लिए एक षड्यन्त्र रचा जो विफल रहा। आगे चलकर भी कुछ विद्रोहों ने उसके शासन की शान्ति को भंग किया। पहला विद्रोह गुजरात में हुआ। वहाँ का सूबेदार दमग़ानी उतना धन वसूल न कर सका जितने पर उस प्रान्त के राजस्व का ठेका उसे दिया गया था। इसलिए उसने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया; किन्तु वह पराजित हुआ और मारा गया और उसका सिर दरबार में भेज दिया गया। दूसरा विद्रोह १३७७ ई. में इटावा में हुआ जहाँ बिना तलवार की सहायता से राजस्व वसूल करना असम्भव हो गया था। उसका भी दमन कर दिया गया। तीसरा विद्रोह कतेहर के राजा खड़कू ने किया और दो सैय्यदों का वध कर दिया। अपराधी को दण्ड देने की इच्छा से १३८० ई. में फीरोज़ ने स्वयं कतेहर के लिए प्रस्थान किया। खड़कू कमायूँ की पहाड़ियों की ओर भाग गया, इसलिए प्रजा सुल्तान के क्रोध का शिकार बनी और उसने उसके कत्ले आम की आज्ञा दे दी। दिल्ली की सेना द्वारा जनता पर जघन्य अत्याचार किये गये, सहस्रों निरपराध लोग मारे गये और २३,००० को बन्दी बनाकर बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया। प्रान्त के लिए फीरोज़ ने एक अफग़ान सूबेदार नियुक्त किया और अगले पाँच वर्ष तक प्रति वर्ष एक बार स्वयं वहाँ की यात्रा करके उस अफग़ान के रक्तरंजित काम को पूरा किया। इतिहासकार के शब्दों में इस सबका परिणाम यह हुआ कि स्वयं मृत सैय्यदों की आत्माएँ उठकर सुल्तान से अत्याचारों को बन्द करने के लिए प्रार्थना करने लगीं।

अन्तिम दिन तथा मृत्यु

फीरोज़ के अन्तिम दिन दुख तथा कष्टों में बीते। जुलाई, १३७४ ई. में उसके पुत्र फतेहखाँ की जिसे उसने अपना उत्तराधिकारी चुना था, मृत्यु हो गयी थी। जिससे सुल्तान को भीषण आघात पहुँचा था। वैसे ही वह बहुत बूढ़ा हो चुका था, शोक के कारण उसकी शक्ति तथा निर्णय-बुद्धि क्षीण होने लगी। अब उसने अपने दूसरे पुत्र जफरखाँ को उत्तराधिकारी नियुक्त किया, किन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद सुल्तान ने अपने तीसरे पुत्र मुहम्मदखाँ को चुना किन्तु उसे विधिपूर्वक उत्तराधिकारी नहीं नियुक्त किया। प्रधान मन्त्री खानेजहाँ मकबूल की कुछ समय पहले मृत्यु हो गयी थी और उसका पुत्र खानेजहाँ प्रधान मन्त्री हुआ था। राज्य की समस्त शक्ति अब उसी ने हस्तगत कर ली। प्रधान मन्त्री ने षड्यन्त्र करना आरम्भ कर दिया और फीरोज़ को समझाया कि युवराज जफरखाँ तथा अन्य अमीरों से मिलकर

सिंहासन हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहा है। धोखे में ग्राकर सुल्तान ने खानेजहाँ को युवराज के समर्थकों को दण्ड देने की ग्राज्ञा दे दी। परिणाम यह हुग्रा कि जफरखाँ को गिरफ्तार करके प्रधान मन्त्री के घर में बन्दी बनाकर रख दिया गया। किन्तु शाहजादा मुहम्मद स्त्री का भेष बनाकर किसी प्रकार सुल्तान के महल में घुस गया ग्रौर पिता के चरणों पर गिरकर कहा कि खानेजहाँ विश्वासघाती है ग्रौर राज-परिवार का नाश करके स्वयं ग्रपने लिये सिंहासन का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है। फीरोज़ ने राजकुमार को खानेजहाँ को दण्ड देने की ग्राज्ञा दे दी ग्रौर ग्रब उसका घर घेर लिया गया। किन्तु खानेजहाँ पीछे के द्वार से भाग गया ग्रौर मेवाड़ में जाकर शरण ली। ग्रब शाहजादा मुहम्मद शासन में हाथ बटाने तथा शाही उपाधियों को धारण करने लगा। ग्रगस्त, १३८७ ई. में उसे विधिवत युवराज घोषित कर दिया गया। युवराज ने खानेजहाँ को मरवा डाला ग्रौर राज्य की सम्पूर्ण शक्ति हस्तगत कर ली। किन्तु वह राज-काज में ध्यान न देकर ग्रामोद-प्रमोद में लिप्त हो गया। शासन-व्यवस्था शिथिल पड़ गयी ग्रौर ग्रारजकता छा गयी। कुछ शाही ग्रमीरों ने मुहम्मद की उत्तरदायित्व की भावना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया किन्तु कोई परिणाम नहीं हुग्रा। निराश होकर उन्होंने उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह संगठित किया। मुहम्मद को बाध्य होकर युद्ध करना पड़ा। उसकी विजय होने ही वाली थी कि ग्रमीरों ने सुल्तान को ले जाकर युद्ध-क्षेत्र में खड़ा कर दिया। फीरोज़ को सैन्य-संचालन करते देख मुहम्मद की सेना के पैर उखड़ गये ग्रौर वह स्वयं पराजित होकर जीवन-रक्षा के लिए भाग गया। ग्रब सुल्तान ने ग्रपने नाती ग़ियासुद्दीन तुग़लक शाह को जो स्वर्गीय फतेहखाँ का पुत्र था, ग्रपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया ग्रौर उसे शाही उपाधि प्रदान की। २० सितम्बर, १३८८ ई. को लगभग ग्रस्सी वर्ष की ग्रवस्था में बूढ़े सुल्तान की मृत्यु हो गयी।

फीरोज का व्यक्तित्व तथा चरित्र

फीरोज़ के व्यक्तित्व तथा चरित्र के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। बरनी तथा शम्से सिराज ग्रफीफ ग्रादि उसके समकालीन लेखकों ने उसकी बहुत प्रशंसा की है ग्रौर लिखा है कि सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के बाद वह सबसे ग्रधिक न्यायप्रिय, दयालु तथा उदार शासक था। 'हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ग्रोन हिस्टोरियन्स' के लेखक हेनरी इलियट तथा 'हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया' के रचयिता एलफिंस्टन ने फीरोज़ को सल्तनत-युग का ग्रकबर कहा है। वी. ए. स्मिथ का उनसे गम्भीर मत-भेद है ग्रौर वह लिखता है कि फीरोज़ की ग्रकबर से तुलना करना मूर्खता

है। डा. ईश्वरीप्रसाद का कथन है कि "फीरोज़ में उस विशाल हृदय तथा विस्तीर्ण मस्तिष्क वाले सम्राट (अकबर) की प्रतिभा का शतांश भी नहीं था जिसने सार्वजनिक हितों के उच्च मंच से सभी सम्प्रदायों और धर्मों के प्रति शान्ति, सद्भावना तथा सहिष्णुता का सन्देश दिया।" सर वूल्ज़ले हेग का विचारपूर्ण मत है कि "अकबर से पहले भारत में मुस्लिम शासन के इतिहास में फीरोज़ के राज्य-काल के साथ एक अत्यन्त उज्ज्वल युग का अवसान होता है।" वास्तव में सत्य हमें इन दोनों उग्र मतों के बीच में ही मिलेगा।

इस बात में सभी लेखक एक मत हैं कि फीरोज़ में मस्तिष्क के नहीं किन्तु हृदय के अनेक गुण विद्यमान थे। जहाँ तक उसके विश्वासों और सिद्धान्तों का सम्बन्ध था वह ईमानदार तथा सच्चा था और वास्तव में अपनी प्रजा का हितैषी था। उसके पहले अथवा बाद के दिल्ली के किसी सुल्तान ने अपनी प्रजा की भौतिक समृद्धि के लिए इतना कार्य नहीं किया जितना कि उसने। उसकी राजस्व नीति के कारण कृषि की उन्नति हुई और बहुसंख्यक जनता को आराम तथा सुख मिला। उसने व्यापार को उन्मुक्त करने के लिए उस युग में जो कुछ सम्भव हो सका किया जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का मूल्य बहुत सस्ता हो गया। डा. रामप्रसाद त्रिपाठी लिखते हैं कि "जनता किसी शासक के विषय में उस भौतिक समृद्धि के आधार पर निर्णय देती है जिसे वह देख सकती है तथा अनुभव कर सकती है।" इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि तत्कालीन तथा आधुनिक इतिहासकारों ने फीरोज़ के सम्बन्ध में अत्यन्त सुन्दर निर्णय दिया है।

सुल्तान के अगणित दान-कार्यों के कारण उसकी सर्वप्रियता में अधिक वृद्धि हुई। रोजगार का दफ्तर, दान-विभाग, पाठशालाएँ तथा विद्यालय जिनके लिए राज्य की ओर से धर्मस्व प्रदान किये गये थे, विद्वानों तथा धार्मिक लोगों को जीवन-निर्वाह के लिए दिये गये भत्ते तथा छात्र-वृत्तियाँ, यात्रियों के लिए जुटाये गये आराम तथा सुविधाएँ, सरकारी नौकरों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार—इन सब चीजों ने मिलकर जनता के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी कि सुल्तान वास्तव में हमारा संरक्षक है। पूर्व तुर्की सुल्तानों ने जनता के हित के लिए इस प्रकार के कार्य नहीं किये थे। इस बात पर जोर देने की जरूरत नहीं कि मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल के कष्टों तथा दुखों के उपरान्त इस प्रकार के कार्यों की अत्यधिक आवश्यकता थी। उस समय तक नई विजयें प्राप्त करने, कानून तथा व्यवस्था कायम रखने और राजस्व वसूल करने तक ही शासक के कार्य सीमित थे। फीरोज़ ने जन-हित के लिए राज्य के कार्यों के क्षेत्र का विस्तार किया, इसके लिए उसे श्रेय मिलना चाहिए।

फीरोज़ के चरित्र का एक दूसरा पक्ष भी है जिससे सैनिक सफलताओं तथा शासक की प्रतिष्ठा को महत्व देने वाले लोगों को निराशा हो सकती है। सैनिक-प्रतिभा की बात तो दूर रही, फीरोज़ में एक अनुभवी सैनिक तथा सफल सेनानायक के गुण नहीं थे। वह भीरु था और उसने जो युद्ध लड़े उनसे न तो उसकी प्रतिष्ठा में ही वृद्धि हुई और न कोई लाभ ही हुआ। दूसरे, कभी-कभी उसकी उदारता तथा परोपकारिता विवेक की सीमाओं का उल्लंघन कर जाती थी जिससे व्यवस्था तथा अनुशासन को जिसके बिना कोई शासन सफल नहीं हो सकता, धक्का पहुँचता था। वास्तव में कभी-कभी उसका आचरण आवश्यकता से अधिक कोमल हो जाता था जिससे शासन की सुयोग्यता बिगड़ गयी और स्वयं उसके सोचे हुए सुधारों को कार्यान्वित करने में बाधा पड़ी। कुपात्रों के प्रति उसकी उदारता के अनेक उदाहरण उसके दरबारी इतिहासकारों के ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। कहा जाता है कि एक बार सुल्तान ने एक सिपाही को सैनिक-विभाग के क्लर्कों को रिश्वत देने के लिए एक सोने का टंका दे दिया क्योंकि बिना रिश्वत लिये उन्होंने उस सैनिक के अस्वस्थ घोड़े को सैनिक निरीक्षण के समय पास करने से इन्कार कर दिया था। एक बार सुल्तान की टकसाल के अध्यक्ष ने जानबूझकर सिक्कों में अनुपात से अधिक घटिया धातु मिलवा दी और इस प्रकार राज्य का बहुत-सा धन स्वयं हड़प लिया। किन्तु फीरोज़ ने उसकी इस ठगी की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया। सुल्तान यह जानता था कि सैनिकों को वेतन के बदले में राजस्व के भागों के सम्बन्ध में जो पट्टे दिये जाते हैं उन्हें उनके असली मूल्य के आधे पर बेचा जाता है, फिर भी इस कुप्रथा को रोकने का उसने कोई उपाय नहीं किया। सुल्तान की हानिकारक कोमलता के इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वार्थी लोगों ने उसकी दयालुता का अनुचित लाभ उठाया। तीसरे, उसने अपनी सेना को सामन्ती आधार पर संगठित किया जिससे उसका अनुशासन तथा सुदृढ़ता नष्ट हो गयी। चौथे, उसे गुलामों का बहुत शौक था, उनकी संख्या बढ़कर एक लाख अस्सी हजार तक पहुँच गयी और उन्होंने शासन-कार्य में अनुचित हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया जिससे ईमानदार अफसरों को बहुत परेशानी होती थी। पाँचवे, फीरोज़ की धार्मिक नीति जो बहुसंख्यक हिन्दू जनता के धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं में हस्तक्षेप करने के सिद्धान्त पर आधारित थी, अन्यायपूर्ण, हानिकारक और विचार-हीन थी। सल्तनत के इतिहास में वह प्रथम व्यक्ति था जिसने राज्य के अन्य धर्मावलम्बियों को मुसलमान बनाने का साधन बनाया। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए राज्य की ओर से सभी सम्भव उपाय किये गये। फीरोज़

आत्मकथा में स्वयं लिखता है, "मैंने अपनी काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म अंगीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया और घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति को जो अपना धर्म छोड़कर मुसलमान हो जायगा, जज़िया से मुक्त कर दिया जायगा। यह सूचना साधारण लोगों के कानों तक पहुँची और बड़ी संख्या में हिन्दू उपस्थित हुए और उन्हें इस्लाम का सम्मान प्रदान किया गया।" इस प्रकार की नीति से जनता की सहानुभूति खो बैठना अनिवार्य था। सुल्तान ने उलेमा को भी पहले की भाँति प्रभुत्व के आसन पर बिठा दिया। इस नीति से यद्यपि उनमें उसकी सर्वप्रियता बढ़ गयी किन्तु कालान्तर में वह सल्तनत के हितों के लिए घातक सिद्ध हुई। फीरोज़ ने कट्टर सुन्नियों के संकीर्ण एवं धर्मान्धतापूर्ण विचारों को स्वीकार करके उनकी सद्भावना प्राप्त करली, किन्तु अन्त में इस चीज ने भी राज्य की जड़ों को खोखला कर दिया। डा. त्रिपाठी लिखते हैं कि "विधाता की कुटिल गति इतिहास के इस दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य में प्रकट हुई कि जिन गुणों ने फीरोज़ को लोकप्रिय बनाया वे ही दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता के लिए जिम्मेवार सिद्ध हुए।"

खानेजहाँ मकबूल

फीरोज़ को जो कुछ सफलता मिली उसका अधिकतर श्रेय उसके प्रधान मन्त्री खानेजहाँ मकबूल को था। जन्म से वह तैलंगाना का ब्राह्मण था और वहीं के राजा के यहाँ नौकर था। उस राज्य की विजय तथा उसे दिल्ली सल्तनत में मिलाये जाने के उपरान्त वह मुसलमान हो गया। मुहम्मद बिन तुग़लक ने उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया और मुल्तान की जागीर दे दी। जब फीरोज़ सुल्तान हुआ तो उसने मकबूल को प्रधान मन्त्री के उच्च पद पर नियुक्त किया। वह निरक्षर होते हुए भी प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ था। फीरोज़ का उसमें पूर्ण विश्वास था और जब कभी वह दूरस्थ प्रदेशों में युद्ध के लिए जाता तो राजधानी को उसी के सुपुर्द कर जाया करता था। प्रधान मन्त्री ने राज-कार्य का ऐसा सुप्रबन्ध किया कि सुल्तान की अनुपस्थिति में कभी कोई गड़बड़ी नहीं हुई। उस युग के उच्च पदों पर आसीन अन्य व्यक्तियों की भाँति खानेजहाँ भी इन्द्रिय-सुखों में लिप्त रहता था। कहा जाता है कि उसके रनिवास में विभिन्न जातियों की दो हजार स्त्रियाँ थीं और उनसे अनेक पुत्र-पुत्रियाँ थीं। १३७० ई. में परिपक्व बृद्धावस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका पुत्र जौनाशाह प्रधान मन्त्री बना और उसे भी अपने पिता की खानेजहाँ की उपाधि से विभूषित किया गया।

परवर्ती तुग़लक सुल्तान (१३८८-१४१४ ई.)

सितम्बर, १३८८ ई. में फीरोज की मृत्यु के उपरान्त उसके पोते फतेहखाँ का पुत्र तुग़लकशाह गियासुद्दीन तुग़लक द्वितीय के नाम से

सिंहासन पर बैठा। वह अनुभवहीन तथा आमोद-प्रिय युवक था। उसके आचरण से क्रुद्ध होकर अमीरों तथा मलिकों ने उसे अपदस्थ करके जफरखाँ के पुत्र अबू बक्र को १९ फरवरी, १३८९ ई. के दिन सिंहासन पर बैठा दिया। किन्तु शाहजादा मुहम्मद ने जो फीरोज़ के नाइब के रूप में कार्य कर चुका था और जिसे अमीरों के एक दल ने राजधानी से मार भगाया था, सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। कुछ शक्तिशाली अमीरों की सहायता से २४ अप्रैल, १३८९ ई. को उसने समाना में अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। तदुपरान्त दोनों प्रतिद्वन्द्वी सुल्तानों में संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप अबू बक्र को १३९० ई. में सिंहासन छोड़ना पड़ा। किन्तु मुहम्मद भी अधिक दिनों तक शासन नहीं कर सका। अतिशय विलासिता तथा मद्यपान के कारण जनवरी, १३९४ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ हुआ जिसकी ८ मार्च, १३९५ ई. को मृत्यु हो गयी। उसके बाद मुहम्मद का सबसे छोटा पुत्र नासिरुद्दीन महमूद सिंहासन पर बैठा। भाग्य से यही सुल्तान तुग़लक-वंश का अन्तिम शासक हुआ।

फीरोज़ के सबसे बड़े पुत्र फतेहखाँ के एक पुत्र नसरतशाह ने प्रभुत्व के लिए उससे संघर्ष किया। इस प्रकार कुछ समय के लिए साथ-साथ दो सुल्तानों ने शासन किया—एक ने दिल्ली से और दूसरे ने फीरोजाबाद से। इतिहासकार बदायूँनी के शब्दों में उन्होंने शतरंज के बादशाहों की भाँति आचरण तथा संघर्ष किया।

फीरोज़ के बाद सिंहासन पर बैठने वाले तुग़लक-वंश के सभी शासक नितान्त अयोग्य निकले, उनमें न किसी प्रकार की योग्यता थी और न चरित्र-बल। वे सब महत्वाकांक्षी और सिद्धान्तहीन अमीरों के हाथ की कठ-पुतली थे जो राज्य के हितों की उपेक्षा करके निजी स्वार्थों को पूरा करने के लिए कुचक्र चलाया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रतिद्वन्द्वी दावेदारों में सिंहासन के लिए संघर्ष छिड़ गया। दिल्ली सल्तनत छिन्न-भिन्न होने लगी। मुसलमान तथा हिन्दू सामन्तों ने हर जगह दिल्ली के प्रभुत्व से अपने को मुक्त कर लिया और अपने राज्यों में वास्तविक शासक बन बैठे। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर मुहम्मद तुग़लक तक अनेक सुल्तानों के पराक्रम, योग्यता तथा परिश्रम से बनाया हुआ विशाल दिल्ली-साम्राज्य टूट कर बिखर गया। मलिक सर्वर नामक एक हिजड़ा जिसे सुल्तान-उस-शर्क की उपाधि मिली हुई थी, जौनपुर में स्वतन्त्र बन बैठा और शर्की राजवंश की नींव डाली। गुजरात में जफरखाँ ने जो एक बार उसका सूबेदार रह चुका था, दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। मालवा तथा खानदेश स्वतन्त्र राज्य बन गये। उत्तर-पूरबी पंजाब में खोक्खरों ने जिनका पूर्णरूप

से कभी दमन नहीं किया जा सका था, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। राजस्थान के शासक दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार नहीं करते थे और ग्वालियर भी एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। दोआब के हिन्दुओं ने जिनसे मुहम्मद और फीरोज़ के अच्छे दिनों में भी तलवार की सहायता के बिना राजस्व नहीं वसूल होता था, दासता की बेड़ियों को तोड़ने का प्रयत्न किया। बयाना एक नया मुस्लिम राज्य बन गया था। कालपी ने भी उसका अनुकरण किया। सल्तनत का सर्वनाश कुछ ही समय की बात थी। १३९८ ई. में तिमूर के आक्रमण ने उस पर घातक प्रहार किया।

तिमूर का आक्रमण (१३९८-९९ ई.)

अमीर तिमूर का जन्म १३३६ ई. में ट्रांस-आक्सियाना में कैच नामक स्थान पर हुआ था। उसके पिता अमीर तुग़ाई बार्लस तुर्कों की गुर्गी अथवा चग़ताई शाखा का प्रमुख था। १३६९ ई. में तेतीस वर्ष की अवस्था में तिमूर समरकन्द के सिंहासन पर बैठा। अत्यधिक महत्वाकांक्षी तथा साहसी होने के कारण उसने ईरान, अफग़ानिस्तान और मैसोपोटामिया पर आक्रमण किये और उन्हें विजय कर लिया। इन सफलताओं ने उसकी विजय-पिपासा को और भी अधिक प्रज्ज्वलित कर दिया। हिन्दुस्तान की अपार सम्पत्ति ने उसका ध्यान आकृष्ट किया। दिल्ली सल्तनत तेजी से लड़खड़ा रही थी इसलिए इस तुर्क विजेता को उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर मिल गया। किन्तु एक चतुर कूटनीतिज्ञ होने के नाते उसने बहाना किया कि भारत पर आक्रमण करने का उसका मुख्य उद्देश्य मूर्ति-पूजा का नाश करना है जो दिल्ली सुल्तानों की सहिष्णुतापूर्ण नीति के कारण अब भी विद्यमान है। वास्तव में हिन्दुस्तान को जीतने और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उस पर शासन करने की उसकी कोई इच्छा न थी।

तिमूर ने अपनी सेना के अग्रगामी दल को अपने पोते पीर मुहम्मद की अधीनता में भेज दिया जिसने मुल्तान को घेर कर १३९८ ई. में उस पर अधिकार कर लिया। उसने स्वयं एक शक्तिशाली सेना लेकर अप्रैल, १३९८ ई. में समरकन्द से प्रस्थान किया, अक्टूबर में मुल्तान के उत्तर-पूरब में पिचत्तर मील की दूरी पर स्थित तालम्बा नामक स्थान को घेर लिया और नगर को लूटा तथा निवासियों को कत्ल कर दिया। तदुपरान्त वह पाकपटन, दिपालपुर, भटनेर, सिरसा और कैथाल होता हुआ, मार्ग में आग लगाता तथा लोगों की हत्या करता हुआ, दिसम्बर के पहले सप्ताह में दिल्ली के निकट आ धमका। उसके आगमन का समाचार सुनकर सुल्तान महमूद तथा उसके प्रधान मन्त्री मल्लू इकबाल ने उसका मुकाबला करने का प्रयत्न

किया। तुग़लक सेना से युद्ध करने से पहले तिमूर ने उन एक लाख हिन्दुओं को जिन्हें दिल्ली आते समय मार्ग में उसने बन्दी बनाया था, नृशंसतापूर्वक कत्ल कर दिया जिससे उनकी उपस्थिति से युद्ध के समय उसके लिए किसी प्रकार का संकट न उपस्थित हो सके। तदुपरान्त १७ दिसम्बर को उसने युद्ध किया और महमूद को पराजित किया। भारतीय सेना में दस हजार अश्वारोही, चालीस हजार पैदल तथा एक सौ बीस हाथी थे, फिर भी शत्रु सेना के प्रहार ने उसे सरलता से भूमिसात कर दिया। सुल्तान महमूद गुजरात की ओर और मल्लू इकबाल बुलन्दशहर को भाग गया।

१८ दिसम्बर, १३९८ ई. को तिमूर ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। उलेमा के नेतृत्व में राजधानी के नागरिक विजेता की सेवा में उपस्थित हुए और दया की प्रार्थना की। तिमूर ने नागरिकों को जीवन-दान देना स्वीकार कर लिया, किन्तु आक्रमणकारी सेना के अत्याचारपूर्ण आचरण के कारण नगर की जनता को उसका प्रतिरोध करना पड़ा। इस पर क्रुद्ध होकर तिमूर ने लूट तथा नर-संहार की आज्ञा दे दी जो कई दिनों तक चलता रहा। दिल्ली के हजारों नागरिकों का वध कर दिया गया और हजारों बन्दी बनाये गये। एक इतिहासकार लिखता है कि "हिन्दुओं के सिरों के ऊँचे-ऊँचे मीनार खड़े किये गये और उनके शवों को हिंसक पशुओं तथा पक्षियों ने अपना भोजन बनाया·········जो निवासी जीवित बच रहे उन्हें मुसलमान बना लिया गया। विजेता को अपार धन-राशि लूट में प्राप्त हुई। प्रत्येक सैनिक धनी हो गया और ऐसा दरिद्र कोई न रहा कि उसके पास कम से कम बीस गुलाम भी न हों। तिमूर ने दिल्ली से शिल्पियों को चुनकर समरकन्द भेज दिया जहाँ उन्होंने उसके लिए प्रसिद्ध जामा मस्जिद का निर्माण किया।"

विजेता पन्द्रह दिन तक दिल्ली में ठहरा। भारत में रहने तथा उस पर शासन करने की उसकी इच्छा नहीं थी। १ जनवरी, १३९९ ई. को उसने दिल्ली को छोड़ दिया और समरकन्द के लिए प्रस्थान किया। फीरोजाबाद होता हुआ वह मेरठ पहुँचा और १९ जनवरी, १३९९ ई. को उस पर अधिकार कर लिया। हरिद्वार के निकट उसे दो हिन्दू सेनाओं से युद्ध करना पड़ा, उन्हें उसने पराजित किया। इसके बाद सिवालिक पहाड़ियों के किनारे-किनारे बढ़ता हुआ वह काँगड़ा पहुँचा और उस नगर को तथा जम्मू को लूटा और सर्वत्र पशुओं की भाँति मनुष्यों का संहार किया। भारत की सीमाओं को छोड़ने से पहले तिमूर ने खिज्रखाँ को जिसे उसके प्रतिद्वन्द्वी सारंगखाँ ने मुल्तान की सूबेदारी से मार भगाया था, मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर का गवर्नर नियुक्त किया। १९ मार्च, १३९९ ई. को उसने स्वदेश लौटने के लिए सिन्धु को पार किया। भारत को जितनी क्षति और दुख तिमूर ने

INDIA IN 1400 A.D.
Later Tughluqs.
TRANS-OXIANA
AFGHANISTAN
KASHMIR
CHINA
TIBET
PERSIA
RAJASTHAN
TIRHUT
JAUNPUR
KAMARUPA
BANGAL
MALWA
GUJARAT
SORATH
KHANDESH
GONDWANA
ORISSA
BAHAMANI KINGDOM
TELINGANA
VIJAYANAGAR EMPIRE
BURMA
CEYLON
ARABIAN SEA
BAY OF BANGAL
ANDAMAN IS.
Boundary of the Empire.
Independent Provincial Boundaries.
Route of Timur.
Miles
Copyright DHARMA BHANU.
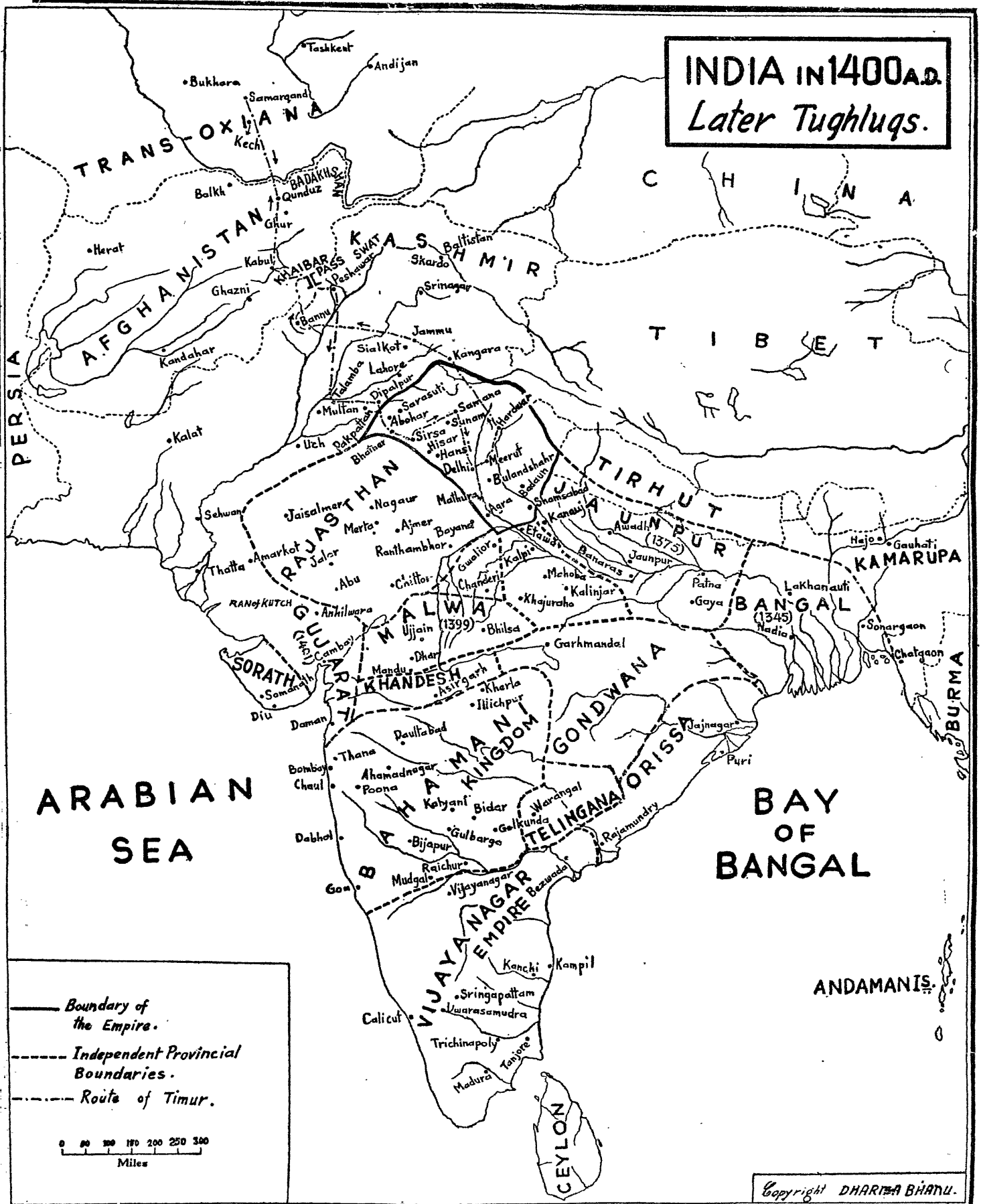
पहुँचाया उतना उससे पहले किसी आक्रमणकारी ने एक आक्रमण में नहीं पहुँचाया था।

तिमूर के लौटने के बाद भारत की दशा

जिस समय तिमूर लौटकर गया उस समय हमारा देश भूमिसात था और उसके घावों से रक्तस्राव हो रहा था। समस्त उत्तरी भारत में घोर दुख और अराजकता का राज्य था। तिमूर ने हमारे देश के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों, दिल्ली और राजस्थान के उत्तरी भागों को इतनी बुरी तरह लूटा, जलाया और नष्ट-भ्रष्ट किया था कि उन प्रदेशों को अपनी पूर्व-समृद्धि पुनः प्राप्त करने में अनेक वर्ष लग गये। लाखों पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का अत्यन्त नृशंसतापूर्वक संहार किया गया था। सिन्ध से दिल्ली तक आक्रमणकारी के दुहरे मार्ग के दोनों किनारों पर कई मील तक रबी की खड़ी हुई फसल पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दी गयी थी और अन्न की खत्तियों को लूटा और बरबाद किया गया था। व्यापार, कारबार तथा भौतिक समृद्धि के अन्य लक्षण गायब हो गये थे। दिल्ली का नगर ऊजड़ तथा नष्ट हो गया था। उसका कोई स्वामी अथवा देखभाल करने वाला नहीं था। नगर में वस्तुओं का अभाव था और आसपास भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया। लाखों शवों के सड़ने से जल और वायु दूषित हो गयी और भयानक महामारी फैल गयी। इतिहासकार बदायूँनी लिखता है कि "जो लोग बच रहे थे वे अकाल और महामारी के कारण मर गये और दो महीने तक दिल्ली में किसी पक्षी ने भी पर नहीं मारा।"

दिल्ली सल्तनत जो तिमूर के आक्रमण से पहले ही टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गयी थी, अब सिकुड़कर राजधानी तथा उसके आसपास के कुछ जिलों तक सीमित एक छोटा-सा राज्य रह गयी। तीन महीने तक राज्य में कोई सुल्तान न था क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी शासक महमूदशाह और नसरतशाह आक्रमणकारी के क्रोध से अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए भाग गये थे। मार्च, १३९९ ई. में नसरतशाह जिसे पहले उसके प्रतिद्वन्द्वी ने राजधानी से मार भगाया था फिर दिल्ली लौट आया; किन्तु महमूद के प्रधान मन्त्री मल्लू इकबाल ने शीघ्र ही उसका पीछा किया और मार भगाया। १४०१ ई. में उसने महमूद को दिल्ली वापिस बुला लिया और अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखा। मल्लू ने निकटवर्ती कुछ प्रान्तों पर पुनः प्रभुत्व स्थापित करने के लिए कठिन किन्तु निष्फल संघर्ष किया और १४०५ ई. में मुलतान के खिज्रखाँ से युद्ध करता हुआ मारा गया। इस प्रकार महमूद को इस तानाशाह के असह्य नियन्त्रण से मुक्ति मिल गयी, किन्तु वह अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने में सफल नहीं हो सका और फरवरी, १४१३ ई. में उसकी मृत्यु

हो गयी। उसकी मृत्यु के साथ १३२० ई. में ग़ियासुद्दीन तुग़लक द्वारा स्थापित तुग़लक-वंश का अन्त हो गया।

अब अमीरों ने अपने में से दौलतखाँ नाम के एक व्यक्ति को सिंहासन के लिए चुना किन्तु उसने सुल्तान की उपाधि नहीं धारण की। उसे व्यवस्था कायम करने तथा विद्रोही प्रान्तों का दमन करने में सफलता नहीं मिल सकती थी जबकि फीरोज़ के उत्तराधिकारी जिन्हें मुकुटधारी शासक होने का गौरव प्राप्त था इस कार्य में विफल हो चुके थे। मार्च, १४१४ ई. में मुल्तान के खिज्रखाँ ने दौलतखाँ को दिल्ली में घेर लिया और कुछ महीनों के प्रतिरोध के बाद समर्पण करने पर बाध्य किया और बन्दी बनाकर हिसार भेज दिया। २८ मई, १४१४ ई. को खिज्रखाँ दिल्ली का सुल्तान हुआ और तथाकथित सैय्यद-वंश की नींव डाली।

तिमूर के चले जाने के बाद अन्य स्वतन्त्र राज्यों के इतिहास का विस्तार से यहाँ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि मलिक-उस-शर्क उपाधिकारी ख्वाजाजहाँ जौनपुर में एक स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य करता था। इस नव-स्थापित राज्य में जौनपुर, बिहार का कुछ भाग, पूरा अवध तथा कन्नौज तक का प्रदेश सम्मिलित था। आक्रमणकारी के चले जाने के उपरान्त जौनपुर के शासक ने दिल्ली को अपने नियन्त्रण में लाने के उद्देश्य से उसके विरुद्ध आक्रमणकारी युद्ध किये। बंगाल मुहम्मद बिन तुग़लक के समय से ही स्वतन्त्र हो गया था। फीरोज़ ने पुनः उस पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए दो आक्रमण किये थे किन्तु सफल नहीं हुआ था। गुजरात जो कुछ वर्ष पहले तक दिल्ली सल्तनत का एक प्रान्त रह चुका था, अब मुजफ्फरशाह की अधीनता में एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य बन गया था। मालवा भी किसी के प्रभुत्व में नहीं था। उसके शासक दिलावरखाँ ने सुल्तान की उपाधि नहीं धारण की, किन्तु व्यवहार में वह पूर्ण राज-सत्ता का उपभोग करता था। पंजाब, मुल्तान और सिन्ध खिज्रखाँ के हाथों में थे जिसे तिमूर ने उन प्रान्तों पर अपना सूबेदार नियुक्त किया था। समाना का प्रान्त भी ग़ालिबखाँ की अधीनता में एक छोटा-सा राज्य बन गया था। भरतपुर के निकट बयाना पर शम्सखाँ औहदी शासन करता था। कालपी और महोबा मुहम्मदखाँ के अधिकार में थे। गंगा और यमुना के उपजाऊ दोआब में विद्रोह हो रहे थे। ग्वालियर भी एक हिन्दू राजा के अधीन स्वतन्त्र राज्य बन गया था। मेवात के प्रदेश का जिसमें गुड़गाँव, अलवर और भरतपुर सम्मिलित थे कोई स्वामी न था; कभी उस पर एक का अधिकार हो जाता था और कभी दूसरे का। दक्षिण में विजयनगर के विशाल राज्य को जिसकी स्थापना मुहम्मद बिन तुग़लक के

शासन-काल के बाद के वर्षों में हुई थी, एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य का पद प्राप्त था। तैलंगाना में एक दूसरा हिन्दू राज्य स्थापित हो चुका था। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में प्रसिद्ध बहमनी राज्य था। खानदेश भी दिल्ली से सम्बन्ध तोड़कर एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था। इस प्रकार तिमूर ने दिल्ली सल्तनत की छिन्न-भिन्न होने की प्रक्रिया को पूरा किया जिसका प्रारम्भ मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल के अन्तिम दिनों में हो गया था।

तुग़लक-वंश के पतन के कारण

जिस समय मुहम्मद बिन तुग़लक सिंहासन पर बैठा उस समय उड़ीसा, आसाम, नेपाल और काश्मीर को छोड़कर लगभग समस्त भारतीय उप-महाद्वीप दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत था। किन्तु इस वंश के अन्तिम शासक नासिरुद्दीन महमूद के शासन-काल में वह सिकुड़कर एक छोटा-सा राज्य रह गया जिसके विस्तार और प्रतिष्ठा का अनुमान उस युग की प्रचलित कहावत से लगाया जा सकता है : "जगत के स्वामी का शासन दिल्ली से पालम तक फैला हुआ है" (पालम दिल्ली से लगभग सात मील की दूरी पर स्थित आधुनिक हवाई अड्डा है)। और जैसा कि हम देख चुके हैं यह संकुचित राज्य भी १४१४ ई. में तुग़लक राजवंश के हाथ से निकल गया।

तुग़लक-साम्राज्य के पतन तथा नाश के अनेक कारण थे। सर्वप्रथम, मुहम्मद तुग़लक का चरित्र तथा नीति सल्तनत के सिकुड़ने के लिए बहुत कुछ जिम्मेदार थे। उसकी काल्पनिक योजनाओं, अत्यन्त कठोर दण्डों तथा उन्मत्त विजय-नीति के कारण अनेक प्रान्तीय सूबेदारों ने अनुभव किया कि विद्रोह तथा स्वतन्त्रता पर ही हमारी सुरक्षा अवलम्बित है। इसी भावना के परिणामस्वरूप दक्षिण में विजयनगर तथा बहमनी राज्यों की स्थापना हुई, बंगाल दिल्ली से पृथक हो गया और सिन्ध भी लगभग स्वतन्त्र बन बैठा। जो प्रान्त सल्तनत के अन्तर्गत रह रहे थे उनमें भी असन्तोष तथा विद्रोह की आग भड़कने लगी। दूसरे, यद्यपि फीरोज़ ने अपने पूर्वाधिकारी द्वारा किये गये जनता के घावों को भरने का प्रयत्न किया किन्तु उसकी उदारता, धार्मिक असहिष्णुता, सामन्ती प्रथा की पुनः स्थापना तथा सैनिक अनुशासन और सुयोग्यता को नष्ट करने की नीति ने राजसत्ता की जड़ों को खोखला कर दिया और शासन-व्यवस्था को इतना दुर्बल बना दिया कि उसमें पुनः जीवन डालना असम्भव हो गया। तीसरे, फीरोज़ तुग़लक की अवस्था आवश्यकता से अधिक हुई। उसके दो पुत्र जो सफलतापूर्वक राज्य का प्रबन्ध कर सकते थे, उससे पहले ही मर गये। इसके अतिरिक्त बूढ़े सुल्तान ने अपने उत्तराधिकारियों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं किया जिसका परिणाम यह हुआ कि तुग़लक-वंश में कोई ऐसा सदस्य न बचा जिसमें भविष्य में सफल शासक होने के लक्षण दिखायी देते। चौथे, दिल्ली

के पूर्व-सुल्तानों की भाँति तुग़लकों की राज्य-व्यवस्था भी केन्द्रीकृत निरंकुशवाद के सिद्धान्त पर आधारित थी और तभी तक सुचारु रूप से चल सकती थी, जब तक कि शासन-सूत्र योग्य तथा चरित्र-बल रखने वाले व्यक्ति के हाथों में होते। इसके विपरीत यदि शासक दुर्बल होता तो उसकी दुर्बलता शासन के सभी विभागों में प्रतिबिम्बित होती थी। तुग़लक-वंश के परवर्ती सुल्तान अयोग्य तथा महत्वहीन थे और भोग-विलास में लिप्त रहने के कारण शक्तिशाली अमीरों के हाथों की कठपुतली बन गये थे। उनमें से किसी में इतनी राजनीतिक सूक्ष्मदर्शिता तथा बुद्धि नहीं थी कि वह एक उपयुक्त व्यक्ति को अपना प्रधान मन्त्री चुनकर उसे पूर्ण विश्वास तथा समर्थन प्रदान करता। योग्य संचालक के अभाव के कारण दरबार में प्रतिस्पर्धी गुट उठ खड़े हुए और गृह-युद्ध छिड़ गये। पाँचवें, दरबारी अमीरों का चरित्र भी उतना ही पतित हो चुका था जितना कि सुल्तानों का। इसलिए उनमें प्रथम श्रेणी की योग्यता के व्यक्ति का मिलना ही असम्भव-सा हो गया था। तुर्की शासन के प्रारम्भिक युग में दास-प्रथा के कारण अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए थे किन्तु फीरोज़ के समय में इस प्रथा का इतनी तेजी से पतन हुआ कि उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के गुलामों में कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश अथवा बलबन जैसा कोई व्यक्ति न निकल सका। छठे, दिल्ली सल्तनत शक्ति तथा सैनिक संगठन की सुयोग्यता पर आधारित थी। मुहम्मद, फीरोज़ तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में दिल्ली की सेना शक्ति का साधन नहीं रही, और इसलिए वह जनता पर राज-शक्ति का आतंक नहीं कायम रख सकी। सातवें सरकार पुलिस सरकार थी और उसके मुख्य काम कानून तथा व्यवस्था कायम रखना और राजस्व वसूल करना थे, जब वह इन दो कर्तव्यों का भी सन्तोषजनक पालन न कर सकी तब उसके अस्तित्व का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। आठवें, दक्षिण जिसको अलाउद्दीन ख़लजी के समय में प्रथम बार विजय किया गया था, सल्तनत का एक उपद्रव-ग्रस्त भाग रहा। उस पर ख़लजी-विजेता जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति ही नियन्त्रण रख सकता था। किन्तु दुर्बल शासकों के समय में दक्षिण में अनेक विद्रोह हुए और दिल्ली से उसके पृथक हो जाने से उत्तरी भारत पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ा। अन्त में, यद्यपि हिन्दू दो सौ वर्ष तक दक्षिण में विदेशी शासन के अन्तर्गत रह चुके थे किन्तु उन्होंने अपनी स्वाधीनता को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नहीं त्यागा था। उत्तरी भारत में भी कुछ ऐसे भाग थे जिन पर तुर्क दृढ़ता से अपना प्रभुत्व कायम न कर सके थे; रणथम्भौर को ही जीतने में डेढ़ सौ वर्ष से अधिक लग गये थे। दोआब का प्रदेश यद्यपि दिल्ली के निकट स्थित था किन्तु उसका भी कभी दमन न हो सका था। तुग़लक लोगों की दुर्बलता से लाभ उठाकर राजस्थान स्वतन्त्र हो गया। ग्वालियर तथा अन्य

राज्यों ने भी दिल्ली के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका। उपर्युक्त समस्त तत्वों के संचित प्रभाव के बावजूद यदि तुग़लक-वंश की अधीनता में दिल्ली सल्तनत जितने दिनों तक टिकी उससे अधिक कायम रही होती, तो यह एक महान् आश्चर्य की बात होती।

वंशावली वृक्ष : तुग़लक-वंश

- अज्ञात
  - (१) ग़ियासुद्दीन तुग़लक
    - (२) फक्रुद्दीन जौन मुहम्मद तुग़लक
      - महमूद
    - पुत्री ब्याही गयी खुसरव मलिक
      - दवार मलिक
    - महमूदखाँ
  - रज्जब
    - (३) फीरोज़
      - फतेहखाँ
        - (४) ग़ियासुद्दीन द्वितीय
        - (१०) नसरतशाह
          - दौलतखाँ लोदी (बलापहर्ता) (खिज्रखाँ सईद द्वारा हराया गया)
      - जफरखाँ
        - (५) अबूबक्र
      - (६) मुहम्मद बिन फीरोज़
        - (८) हुमायूँखाँ अलाउद्दीन सिकन्दर
        - (९) नासिरुद्दीन महमूद
    - कुतुबुद्दीन
    - इब्राहीम
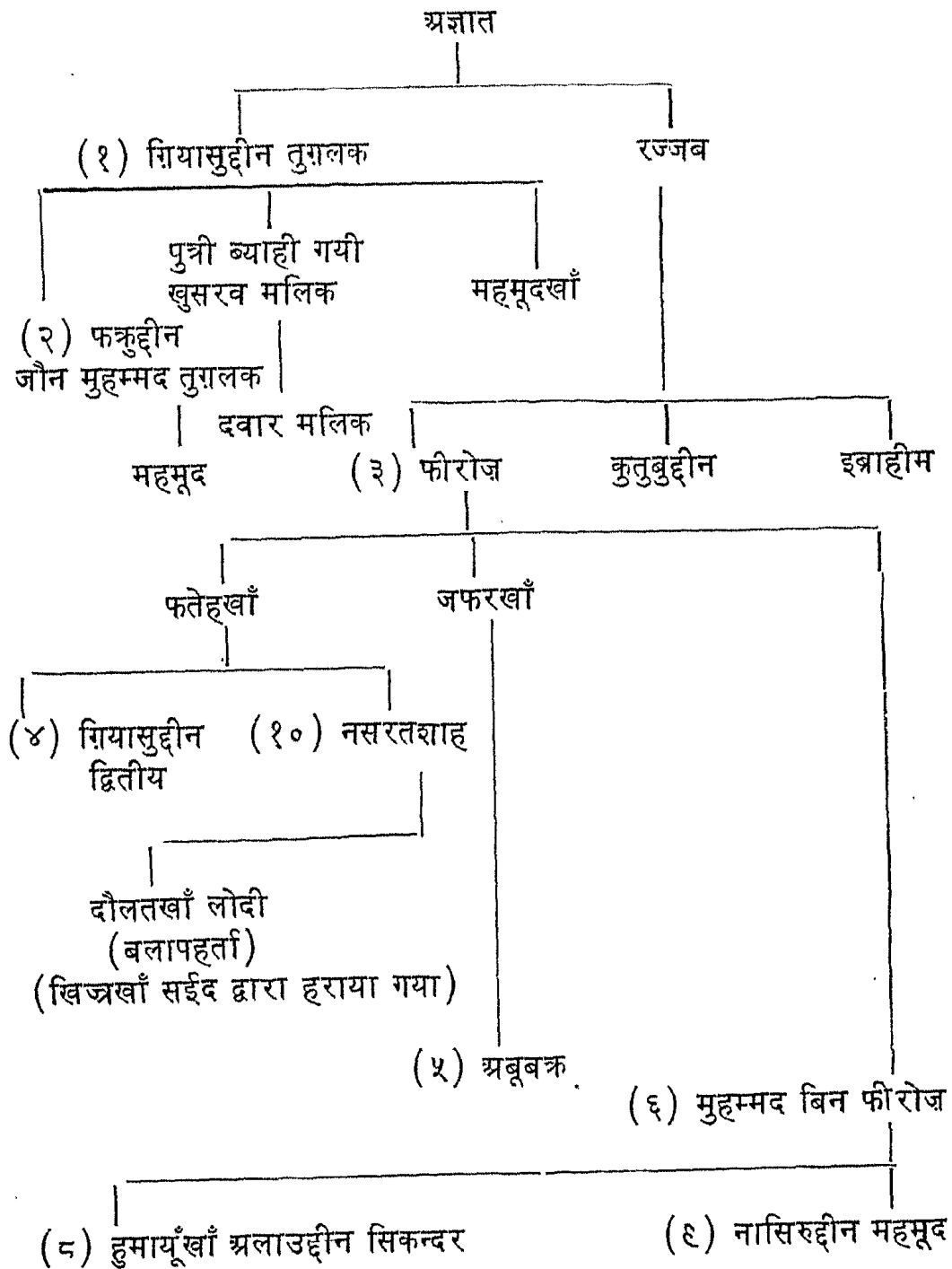
BOOKS FOR FURTHER READING

1. Elliot & Dowson : History of India, etc., Vol. III.
2. Prasad, Ishwari : A History of Qaraunah Turks in India, Vol. I.
3. Husain, Mahdi : Rise and Fall of Muhammad bin Tughluq.
4. Tripathi, R. P. : Some Aspects of Muslim Administration.
5. Haig, Woolseley : Cambridge History of India, Vol. III.
6. Aiyangar, K. S. : South India and Her Muhammadan Invaders.

अध्याय १५

सैय्यद-वंश

खिज्रखाँ (१४१४–१४२१ ई.)

खिज्रखाँ तथाकथित सैय्यद-वंश का प्रथम तथा योग्यतम शासक था। पैगम्बर मुहम्मद का वंशज होने का उसका दावा सन्देहास्पद था और बुखारा के शेख जलालुद्दीन की मान्यता पर निर्भर था। किन्तु इतना निश्चित प्रतीत होता है कि उसके पूर्वज अरब से आये थे। खिज्रखाँ ने सुल्तान की उपाधि नहीं धारण की और रयाते आला की उपाधि से सन्तोष किया। उसने तिमूर के चतुर्थ पुत्र तथा उत्तराधिकारी शाह रुख के प्रतिनिधि के रूप में शासन करने का बहाना किया और कहा जाता है कि नियमपूर्वक उसे वार्षिक कर भेजता रहा। उसने खुतबा मुग़ल शासक के नाम में पढ़वाया किन्तु सिक्कों में अपने तुग़लक पूर्वाधिकारियों का नाम ही खुदवाता रहा। उसके सिंहासन पर बैठने से पंजाब, मुल्तान तथा सिन्ध फिर दिल्ली सल्तनत के अंग बन गये। राज्य का विस्तार अब लगभग दूना हो गया।

खिज्रखाँ को अपने शासन-काल में कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली। उसने इटावा, कतेहर, कन्नौज, पटियाली और कम्पिल को पुनः जीतने का प्रयत्न किया किन्तु अधिक सफलता न प्राप्त कर सका। लगभग प्रत्येक वर्ष वह लूट और राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक-यात्रा करता और कुछ लूट का माल लेकर लौट आता। राज्य के जिलों से सैनिकों की सहायता के बिना राजस्व नहीं वसूल हो पाता था। उसके मन्त्री ताज-उल-मुल्क ने अव्यवस्था का दमन करने में उसको सहयोग दिया किन्तु उसे महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली। दिल्ली तथा गुजरात और दिल्ली तथा जौनपुर में प्रतिद्वन्द्वता आरम्भ हो गयी और इन दोनों नव-स्थापित राज्यों के शासकों ने दिल्ली को जीतकर अपने राज्यों में मिलाने का प्रयत्न किया। पंजाब में एक छलिया ने अपने को सारंगखाँ बतलाया और होशियारपुर के निकट उपद्रव किया। उत्तर-पूरबी पंजाब में खोक्खर-नेता जसरथ ने अधिक उपद्रव मचाया। मेवात के बहादुर नादिर ने भी सिर उठाया। दोआब के सामन्त निरन्तर विद्रोह करते रहे और जब तक उनके विरुद्ध तलवार का प्रयोग नहीं किया गया उन्होंने कभी राजस्व नहीं दिया। खिज्रखाँ ने इन आये दिन होने वाले विद्रोहों का दमन करने के लिए

कठिन संघर्ष किया, किन्तु उसमें इतनी शक्ति न थी कि भक्तिहीन सामन्तों के साथ विद्रोहियों जैसा बर्ताव करता और उन्हें पूर्णतया कुचल देता। इसलिए उसने समझौते की नीति से काम लिया। वह सामन्तों और करद राजाओं को राजस्व का कुछ भाग अदा करने तथा शेष अगले वर्ष चुकाने का वचन देने पर बाध्य करता किन्तु जैसे ही वह पीठ फेरता वे लगभग अनिवार्य रूप से अपने वायदे को तोड़ देते। इन्हीं कष्टों और अव्यवस्था से जर्जरित होकर खिज्रखाँ २० मई, १४२१ ई. को संसार से चल बसा। फरिश्ता के अनुसार वह न्यायप्रिय तथा उदार शासक था, किन्तु उसमें उस योग्यता, शक्ति तथा चरित्र का अभाव था जो देश के इतिहास के उस संकट-काल में दिल्ली सुल्तान में होना चाहिए था।

मुबारकशाह (१४२१-१४३४ ई.)

जिस समय खिज्रखाँ मृत्यु-शैय्या पर लेटा हुआ था उसने अपने पुत्र मुबारकखाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। नया सुल्तान दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और मुबारकशाह की उपाधि धारण की। अमीरों ने उसे अपना शासक स्वीकार कर लिया किन्तु वास्तव में उसे उनसे उचित सहायता न मिल सकी। अपने पिता की भाँति उसे भी राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोहियों तथा अव्यवस्था का दमन करने के लिए सैनिक यात्राएँ करनी पड़ती थीं। मुबारक को भटिण्डा में एक विद्रोह को शान्त करने में सफलता मिली; दोआब में भी उसने एक विद्रोह का दमन किया। किन्तु नमक की पहाड़ियों के खोक्खर लोगों को वह दण्ड नहीं दे सका। उनका नेता जसरथ महत्वाकांक्षी सामन्त था और दिल्ली की गद्दी को हस्तगत करने की अभिलाषा रखता था। मुबारक ने दिल्ली के खोये हुए प्रान्तों को पुनः जीतने का प्रयत्न नहीं किया। उसके शासन-काल की एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। सल्तनत के इतिहास में प्रथम बार हमें दिल्ली दरबार में दो महत्वपूर्ण हिन्दू अमीरों का उल्लेख मिलता है। राज्य के वज़ीर सरवर-उल-मुल्क के नेतृत्व में कुछ हिन्दू तथा मुस्लिम अमीरों ने सुल्तान के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा। १९ फरवरी, १४३४ ई. को जब मुबारक यमुना के किनारे एक नये नगर के निर्माण का निरीक्षण कर रहा था, उसी समय षड्यन्त्रकारी उस पर टूट पड़े और उसका वध कर दिया।

"तारीखे मुबारकशाही" नामक फारसी ग्रन्थ से हमें मुबारकशाह तथा उसके पूर्वाधिकारियों के शासन-काल का काफी विस्तृत वृत्तान्त मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना इसी सुल्तान के शासन-काल में यहिया बिन अहमद सरहिन्दी ने की थी।

मुहम्मदशाह (१४३४-१४४५ ई.)

मुबारकशाह की मृत्यु के उपरान्त दिल्ली के अमीरों ने मुहम्मद को सिंहासन पर बिठाया। वह खिज्रखाँ का नाती और मुबारकशाह का युवराज था। वज़ीर सरवर-उल-मुल्क राज-शक्ति अपने हाथों में ही रखना चाहता था, इसलिए उसने राजकोष, भण्डारों तथा हाथियों को हस्तगत करके अपने अधिकार में रखा। उसने सुल्तान को फुसलाकर खानेजहाँ की उपाधि भी प्राप्त कर ली। राज्य के उच्च पदों पर उसने अपने समर्थक उम्मीदवारों की नियुक्ति की। बयाना, अमरोहा, नारनौल, कुहराम की जागीरें तथा दोआब के कुछ परगने उसने सिद्धपाल तथा अपने उन मित्रों और अनुयायियों को दे दिये जिन्होंने मुबारकशाह की हत्या में प्रमुख भाग लिया था। विश्वासघाती वज़ीर के अन्य अनुयायियों को भी इसी भाँति पुरस्कृत किया गया। किन्तु कमाल-उल-मुल्क नाम का एक अमीर खिज्रखाँ के वंश के प्रति वफादार रहा और मुबारक के हत्यारों के विरुद्ध अपने क्रोध को छिपाये रहा। वह उन्हें दण्ड देना चाहता था, इसलिए गुप्त रूप से उसने अपने अनुयायियों का एक दल संगठित किया जिसमें वे पुराने अमीर और मलिक सम्मिलित थे जो वज़ीर की दरबार के शासन में हिन्दुओं को स्थान देने की नीति से असन्तुष्ट थे। इन असन्तुष्ट अमीरों ने वज़ीर को सिरी के किले में घेर लिया। नया सुल्तान भी षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गया और उसने कमाल-उल-मुल्क तथा उसके दल को सहायता दी। इधर सरवर-उल-मुल्क सुल्तान पर हाथ साफ करना चाहता था। किन्तु इससे पहले कि वह अपना इरादा पूरा कर सकता, सुल्तान ने अपनी योजना को कार्यान्वित कर डाला और जब वज़ीर तथा उसके साथी दरबार में उपस्थित हुए तो उन पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। कमाल-उल-मुल्क अपने अनुयायियों को लेकर ठीक समय पर आ गया और सरवर-उल-मुल्क तथा उसके साथियों की हत्या कर दी। अब कमाल-उल-मुल्क वज़ीर नियुक्त हो गया और उसने महत्वपूर्ण पद अपने मित्रों तथा समर्थकों में बाँट दिये। किन्तु उसे भी सफलता मिलने की आशा नहीं थी क्योंकि उसके पास कोई शक्तिशाली सेना नहीं थी। विद्रोह पूर्ववत जारी रहे। जौनपुर के इब्राहीम शर्की ने सल्तनत के पूरबी भागों पर आक्रमण किया और कई परगनों पर अधिकार कर लिया। मालवा के महमूद ने भी दिल्ली पर आक्रमण करने के उद्देश्य से उसके पड़ोस में धावे मारे। किन्तु अपनी राजधानी मांडू पर गुजरात के अहमदशाह के आक्रमण का समाचार सुनकर उसे बाध्य होकर लौटना पड़ा। इसके अतिरिक्त वह यह सुनकर भी घबरा गया था कि लाहौर और सरहिन्द का सूबेदार बहलोल लोदी कुमुक लेकर दिल्ली सेना की सहायता के लिए आ रहा है। बहलोल समय पर आ पहुँचा और मालवा की सेना को उसने खदेड़

दिया तथा उसका सामान छीन लिया। इस सामयिक सहायता के लिए बहलोल को खानेजहाँ की उपाधि प्रदान की गयी और मुहम्मद ने उस लोदी सरदार को प्रेमपूर्वक अपना पुत्र कहकर पुकारा।

दुर्भाग्य से इसी समय दिल्ली की राजनीति में एक नया चक्र चल पड़ा। बहलोल लोदी स्वयं दिल्ली का सिंहासन हस्तगत करने की आकांक्षा रखता था। जसरथ खोक्खर ने भी उसकी महत्वाकांक्षा को प्रोत्साहन दिया क्योंकि वह स्वयं अपना काम बनाना चाहता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहलोल ने अफग़ानों की एक विशाल सेना एकत्र करना आरम्भ किया। एक भारी सेना लेकर उसने दिल्ली पर आक्रमण किया किन्तु उसे हस्तगत करने में सफल न हो सका। फिर भी सैय्यद-वंश का पतन कुछ ही दिनों की बात थी। हर जगह लोग सुल्तान की अवज्ञा कर रहे थे। राजस्व वसूल नहीं हो रहा था और सबसे बड़ा संकट यह था कि राज्य का शक्तिशाली सूबेदार बहलोल बड़ी उत्सुकता से सल्तनत पर घातक प्रहार करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। इसी संकटपूर्ण परिस्थिति में १४४५ ई. में मुहम्मद की मृत्यु हो गयी। वह अपने पूर्वाधिकारियों से अधिक दुर्बल सिद्ध हुआ।

अलाउद्दीन आलमशाह (१४४५-१४५० ई.)

अब मलिकों और अमीरों ने मुहम्मद के पुत्र को अलाउद्दीन आलमशाह के नाम से सिंहासन पर बिठाया। नया सुल्तान अपने पिता से भी अधिक अयोग्य निकला। बहलोल लोदी ने दिल्ली सरकार की दुर्बलता से अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उसके भाग्य से नये सुल्तान तथा उसके वज़ीर हमीदखाँ में झगड़ा छिड़ गया। सुल्तान हमीदखाँ का वध करना चाहता था, इसलिए हमीदखाँ ने बहलोल को दिल्ली आमन्त्रित किया और सोचा कि यह अफग़ान अमीर मेरे हाथ की कठपुतली बन जायेगा और उसे पूर्ववत शासन का संचालन करने देगा। किन्तु बहलोल ऐसा व्यक्ति नहीं था कि अन्य किसी व्यक्ति को राज-शक्ति में हिस्सा देता। उसने कुटिल नीति से दिल्ली पर अधिकार कर लिया और हमीद को अपने मार्ग से हटा दिया। अलाउद्दीन आलमशाह नीच प्रकृति का शासक था, उसने सम्पूर्ण राज्य बहलोल को सौंप दिया और स्वयं बदायूँ में जाकर रहने लगा। बहलोल ने खुतबा तथा सिक्कों से आलमशाह का नाम हटवा दिया और १९ अप्रैल, १४५१ ई. को अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। अलाउद्दीन एक साधारण अमीर की भाँति बदायूँ में जीवन बिताता रहा और वहीं कुछ वर्ष उपरान्त उसकी मृत्यु हो गयी।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. SARHINDI, YAHIYA BIN AHMAD : Tarikh-i-Mubarakshahi.
2. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vol. III.
3. HAIG, WOOLSELEY : Cambridge History of India, Vol. III.

अध्याय १६

लोदी-वंश

बहलोल लोदी (१४५१–१४८९ ई.)

प्रारम्भिक जीवन

दिल्ली के प्रथम पठान राज्य का संस्थापक बहलोल लोदी अफ़ग़ानिस्तान के गिलज़ाई कबीले की महत्वपूर्ण शाखा लोदी के शाहूखेल नामक कुटुम्ब में उत्पन्न हुआ था। उसका दादा मलिक बहराम फीरोज़ तुग़लक के समय में मुल्तान में आकर बस गया था और उस प्रान्त के सूबेदार मलिक मर्दान के यहाँ नौकरी करली थी। उसके पाँच पुत्र थे जिनमें मलिक सुल्तान शाह तथा मलिक काला नामक दो ने कुछ ख्याति प्राप्त करली थी। बहलोल मलिक काला का पुत्र था जो जसरथ खोक्खर को हराकर स्वतन्त्र सरदार बन बैठा था। बहलोल के चाचा सुल्तान शाह को खिज्रखाँ ने १४१९ ई. में सरहिन्द का सूबेदार नियुक्त किया था और इस्लामखाँ की उपाधि प्रदान की थी। उसे पंजाब के अफ़ग़ानों को अपने नेतृत्व में संगठित करने में पर्याप्त सफलता मिली। अपनी मृत्यु से पहले उसने अपने पुत्र कुतुबखाँ को छोड़कर बहलोल को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसकी मृत्यु के उपरान्त बहलोल सरहिन्द का सूबेदार नियुक्त हो गया। बाद में उसे लाहौर को भी अपनी सूबेदारी में सम्मिलित करने की आज्ञा मिल गयी। वह चतुर तथा महत्वाकांक्षी पदाधिकारी था, इसलिए उसने अपनी सेना की संख्या बढ़ायी और शीघ्र ही सैय्यद राज्य में प्रथम श्रेणी का सूबेदार बन गया। जब मालवा के महमूद खलजी ने दिल्ली को आक्रान्त किया तो बहलोल शीघ्र ही अपने स्वामी मुहम्मदशाह की सहायता के लिए पहुँचा। इस सेवा के पुरस्कारस्वरूप उसे खानेजहाँ की उपाधि मिली। किन्तु इस अफ़ग़ान नेता को एक प्रान्त की सूबेदारी से सन्तोष नहीं हुआ। दिल्ली की गद्दी पर अधिकार करने की उसकी महत्वाकांक्षा थी। जब अलाउद्दीन आलमशाह ने अपने मन्त्री हमीद से झगड़ा कर लिया और उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया तब बहलोल को अपनी अभिलाषा पूरी करने का अवसर मिल गया। क्रोध के आवेश में आकर हमीद ने बहलोल को दिल्ली बुलाया और शाही सेना का भार अपने ऊपर लेने को कहा। सुल्तान पहले

ही बदायूँ को भाग गया था, इसलिए दरबार की शक्ति अफ़ग़ान नेता ने हस्तगत कर ली।

सिंहासनारोहण

बहलोल सम्पूर्ण प्रभुत्व का आकांक्षी था, इसलिए वज़ीर हमीद को वह राजशक्ति में भाग नहीं देना चाहता था। किन्तु शासन-संचालन का कार्य अभी बूढ़े मन्त्री के हाथों में था, अतः खुले रूप से उससे झगड़ा करने से बहलोल के लिए संकट उत्पन्न हो सकता था। इसलिए अपनी शक्ति-लोलुपता को तृप्त करने के लिए चालाक अफ़ग़ान ने दाँव-पेच से काम लिया। उसने अपने अनुयायियों को जिनमें से शत-प्रतिशत अफ़ग़ान थे, हमीद के सम्मुख अनाड़ियों जैसा बर्ताव करने की सलाह दी। बहलोल ने स्वयं हमीदखाँ के प्रति अत्यन्त सावधानी-पूर्ण नम्रता तथा चाटुकारितापूर्ण भ्रातृभाव का प्रदर्शन किया। उसने उसे विश्वास दिला दिया कि मेरी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है और मैं सेनापति के पद से ही सन्तुष्ट हूँ। उसकी इन बातों तथा अफ़ग़ान सैनिकों के अनाड़ियों जैसे आचरण के कारण हमीदखाँ झाँसे में आ गया और उसने बहलोल तथा उसके अनुयायियों को प्रतिदिन खुले दरबार-गृह में आने की आज्ञा दे दी। एक दिन अपने अनुयायियों के साथ बहलोल वज़ीर का अभिवादन करने गया। मुलाकात के समय बहलोल के चचेरे भाई कुतुबखाँ ने जंजीरें निकालकर प्रधान मन्त्री के हाथों में चारों ओर कस दीं और कहा कि राज्य की भलाई इसी में है कि आप कुछ दिन विश्राम कर लें। हमीद के हृदय को आघात पहुँचा और उसने इस विश्वासघातपूर्ण आचरण का कारण जानना चाहा। कुतुबखाँ ने उत्तर दिया कि अफ़ग़ानों को आप में विश्वास नहीं है और आपने अपने स्वामी के प्रति द्रोह किया था। वज़ीर को कारागार में डालने के उपरान्त बहलोल ने अलाउद्दीन आलमशाह को दिल्ली लौटने के लिए लिखा। किन्तु भीरु सैय्यद सुल्तान को डर था कि दिल्ली में मेरा जीवन संकट में पड़ जायगा इसलिए उसने इस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया और उत्तर दिया कि मेरे पिता आपको अपना पुत्र कह कर पुकारा करते थे, इसलिए आप मेरे बड़े भाई के सदृश हैं। वास्तव में भी बहलोल ने अलाउद्दीन को हृदय से आमन्त्रित नहीं किया था। अब उसने १९ अप्रैल, १४५१ ई. को अपना राज्याभिषेक करा लिया और अपने नाम से खुतबा पढ़वाया।

गृह-नीति

बहलोल चतुर राजनीतिज्ञ था और अपनी स्थिति की दुर्बलताओं को भली-भाँति समझता था, उसकी शक्ति पूर्णतया उसके अफ़ग़ान अनुयायियों पर निर्भर थी, इसलिए उसने उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। उसने ऐसा व्यवहार

किया कि मानो वह अफ़ग़ान अमीरों में से ही एक था। वह सिंहासन पर नहीं बैठता था बल्कि उसके सामने एक कालीन पर बैठता था और अमीरों को भी उस पर अपने साथ बिठाता था। अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए उसने खुले हाथों भेंट, पुरस्कार आदि बाँटकर सेना का विश्वासपात्र बनने का प्रयत्न किया। अपने मूल निवास-स्थान से उसने अफ़ग़ानों को आमन्त्रित किया, उन्हें बड़े-बड़े भू-भाग जागीरों के रूप में प्रदान किये और अपने कबीले के प्रमुख व्यक्तियों को पदोन्नति का उसने वचन दिया।

राज्य में आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करने तथा उन अमीरों और सूबेदारों को दण्ड देने के लिए जिन्होंने उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं किया था, बहलोल ने कठोर सैनिकवादी नीति का अनुसरण करने का निर्णय किया। विद्रोही सूबेदारों को आतंकित करने के उद्देश्य से वह अनेक बार आसपास के जिलों में स्वयं सेना लेकर गया। सबसे पहले उसने अहमदखाँ मेवाती पर आक्रमण किया जो मेवात नामक प्रदेश पर शासन करता था, जिसमें आधुनिक गुड़गाँव और अलवर के जिले तथा भरतपुर और आगरा जिलों के कुछ भाग सम्मिलित थे। भयभीत होकर अहमदखाँ ने समर्पण कर दिया। सुल्तान ने उसके छः जिले छीन कर दिल्ली में मिला लिये। इसके उपरान्त सुल्तान ने सम्भल के दरियाखाँ के विरुद्ध कूच किया, किन्तु उसके पूर्व-द्रोहपूर्ण आचरण के बावजूद बहलोल ने उसके साथ उदारता का बर्ताव किया। दरियाखाँ ने समर्पण कर दिया और उसके भी सात परगने छीन लिये गये। इसके बाद बहलोल ने कोइल (आधुनिक अलीगढ़) के ईसाखाँ का दमन किया, किन्तु उसके प्रदेश उसके अधिकार में ही रहने दिये। सकीट के सुबेदार मुबारकखाँ और मैनपुरी तथा भोगाँव के राजा प्रतापसिंह को भी उनके अधिकृत प्रदेशों पर स्थायी कर दिया गया। इसके उपरान्त बहलोल ने हुसैनखाँ अफ़ग़ान के पुत्र कुतुबखाँ पर आक्रमण किया। अन्त में उसने भी बाध्य होकर दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और सुल्तान को सिजदा किया, इसलिए रेवाड़ी की जागीर उसके हाथों में रहने दी गयी। दोआब से राजस्व वसूल करने में बहलोल को कुछ कठिनाई हुई, अन्त में वह इटावा, चन्दवार तथा अन्य जिलों में व्यवस्था कायम करने में सफल हुआ। मुल्तान और सरहिन्द में भी कुछ उपद्रव हुए किन्तु उन्हें भी दबा दिया गया। इस प्रकार अपनी कठोर नीति के कारण सुल्तान को दिल्ली के छोटे-से राज्य में व्यवस्था और अनुशासन स्थापित करने में सफलता मिली।

'तारीखे सलातीने अफ़ग़ाना' के लेखक अहमद यादगार का कहना है कि बहलोल ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और राणा को पराजित किया, किन्तु यह असम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि मेवाड़ और दिल्ली के बीच में अनेक स्वतन्त्र राज्य थे, जिनका लोदी सुल्तान दमन नहीं कर सका था। इसके

अतिरिक्त यादगर के कथन का अन्य किसी विश्वसनीय लेखक ने समर्थन नहीं किया है। बहलोल यथार्थवादी राजनीतिज्ञ था, इसलिए वह भली-भाँति समझता था कि दिल्ली सल्तनत के खोये हुए प्रान्तों की पुनर्विजय असम्भव है। यही कारण था कि उसने अपने उन शक्तिशाली पड़ोसियों पर आक्रमण नहीं किया जो फीरोज़ तुग़लक के समय में दिल्ली की अधीनता में रह चुके थे।

किन्तु बहलोल जौनपुर के राज्य को पराजित करके दिल्ली सल्तनत में मिलाने का इच्छुक था। शर्की-वंश के महमूदशाह ने सैय्यद-वंश के अन्तिम सुल्तान अलाउद्दीन की पुत्री से विवाह कर लिया था। वह घमंडी स्त्री अपने पिता का बदला लेना चाहती थी। इसलिए उसने अपने पति को दिल्ली पर आक्रमण करने तथा वहाँ से बहलोल को मार भगाने के लिए उत्तेजित किया। इसके अतिरिक्त बहलोल के दरबार के कुछ विद्रोही अमीरों ने भी महमूदशाह को आमन्त्रित किया। इन्हीं कारणों से सुल्तान महमूद शर्की ने एक लाख सत्तर हजार अश्वारोही तथा एक हजार चार सौ हाथियों की विशाल सेना लेकर दिल्ली पर आक्रमण किया। बहलोल उस समय सरहिन्द पर हमला करने गया हुआ था, किन्तु आक्रमणकारी के आगमन का समाचार सुनकर वह शीघ्र ही राजधानी को लौट आया। मार्ग में शर्की सेना की एक टुकड़ी ने फतेहखाँ के नेतृत्व में उसका मुकाबला किया। जैसे ही दोनों सेनाओं का आमना-सामना हुआ, बहलोल के चचेरे भाई कुतुबखाँ लोदी ने शर्की सेना के सेनापति दरियाखाँ लोदी को महमूद का पक्ष त्यागने तथा अपनी बिरादरी वालों के विरुद्ध न लड़ने के लिए फुसलाया। दरियाखाँ ने उसकी सलाह के अनुसार ही कार्य किया जिससे फतेहखाँ की शक्ति बहुत कम हो गयी। फतेहखाँ पराजित हुआ और मारा गया। महमूद शर्की को अपनी विजय-योजना त्याग कर जौनपुर लौटना पड़ा। यह युद्ध दिल्ली तथा जौनपुर के बीच होने वाले अनेक युद्धों में से प्रथम था। कुछ समय उपरान्त महमूदशाह शर्की की रानी ने फिर उसे दिल्ली को हस्तगत करने के लिए प्रेरित किया। इसलिए उसने इटावा की ओर प्रस्थान किया। उसको रोकने के लिए बहलोल ने एक सेना भेजी। अन्त में दोनों पक्षों में एक सन्धि हो गयी जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि दोनों शासक अपने पूर्वाधिकारियों से प्राप्त भूमि पर अधिकार रखें, और बहलोल जौनपुर के उन हाथियों को लौटा दे जो उसने पिछले युद्ध में पकड़ लिये थे। महमूद ने जौनशाह को अपनी नौकरी से बर्खास्त करने का वचन दिया। किन्तु किसी भी पक्ष ने इस सन्धि की शर्तों को पूरा नहीं किया। बहलोल ने शमशाबाद पर अधिकार करने का प्रयत्न किया जो उसे इस सन्धि के अनुसार मिला था, किन्तु जौनपुर के सुल्तान ने उसका प्रतिरोध किया। अतः संघर्ष पुनः अनिवार्य हो गया। युद्ध में कुतुबखाँ लोदी बन्दी बना लिया गया, किन्तु

दूसरे दिन महमूद की मृत्यु हो गयी और जौनपुर से बहलोल ने पुनः सन्धि कर ली। किन्तु उसमें कुतुबखाँ को वापिस करने की शर्त नहीं थी, इसलिए दिल्ली सुल्तान को पुनः जौनपुर पर आक्रमण करना पड़ा। दिल्ली सेना ने शर्की राजवंश के एक सदस्य जलालखाँ को गिरफ्तार कर लिया। इसी बीच जौनपुर में एक क्रांति हुई जिसके फलस्वरूप हुसैनशाह ने वहाँ का सिंहासन हस्तगत कर लिया। अब चार वर्ष के लिए दोनों पक्षों में शान्ति स्थापित हो गयी और कुतुबखाँ तथा जलालखाँ दोनों छोड़ दिये गये, किन्तु शीघ्र ही फिर शान्ति भंग हो गयी, क्योंकि हुसैनशाह ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और चन्दवार के निकट अफगान सेना को परास्त किया। उसने इटावा को अपने राज्य में मिला लिया। बहलोल के अधीनस्थ सामन्त अहमदखाँ मेवाती और बयाना का ईसाखाँ भी जौनपुर के सामन्त से जा मिले। इस समय बहलोल मुल्तान पर आक्रमण करने गया हुआ था। दिल्ली से इन चिन्ताजनक समाचारों को सुनकर वह राजधानी में लौटने पर बाध्य हुआ और हुसैनशाह से सन्धि कर ली। इसके उपरान्त शीघ्र ही हुसैनशाह ने फिर दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और बदायूँ के कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया। आरम्भ में उसे कुछ सफलता मिली, किन्तु दिल्ली सेना के प्रतिरोध के कारण उसे सन्धि करने के लिए राजी होना पड़ा। गंगा नदी दोनों राज्यों के बीच की सीमा निश्चित की गयी। समझौते के उपरान्त जौनपुर की सेना जैसे ही पीछे लौटी, वैसे ही बहलोल ने धोखे से उस पर आक्रमण कर दिया और उसका सामान तथा कोष छीन लिया। हुसैन की बेगम मलिकेजहाँ भी उसके अधिकार में आ गयी। उसमें वीरोचित सम्मान की इतनी भावना थी कि उसने बेगम के साथ आदरपूर्ण व्यवहार किया और जौनपुर वापिस भेज दिया। पुनः दोनों पक्षों में समझौता हो गया, किन्तु इस बार हुसैनशाह ने उसकी शर्तों का उल्लंघन किया, लेकिन वह पराजित हुआ और ग्वालियर के राजा के यहाँ शरण लेने पर बाध्य हुआ। ग्वालियर से कुमुक लेकर वह दिल्ली की ओर बढ़ा किन्तु बहलोल ने उसे भयंकर पराजय दी।

इन सफलताओं ने बहलोल को जौनपुर पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। हुसैन ने उसका मुकाबला किया और अनेक वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। अन्त में हुसैन की पराजय हुई, बहलोल ने उसके राज्य को दिल्ली सल्तनत में मिला लिया और अपने पुत्र बारबकशाह को जौनपुर के सिंहासन पर बिठा दिया। बहलोल की यह सबसे बड़ी सफलता थी। हुसैनशाह के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के कारण उसकी प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई और कालपी, धौलपुर, बाड़ी और अलापुर के शासकों को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर बाध्य करने में भी उसे सफलता प्राप्त हुई।

इसके उपरान्त बहलोल ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। ग्वालियर के राजा मानसिंह को अस्सी लाख टंका सुल्तान की भेंट करने पड़े। ग्वालियर से लौटते समय मार्ग में ही बहलोल बीमार पड़ गया और जलाली के निकट सन १४८९ की जुलाई के मध्य में उसका देहान्त हो गया।

बहलोल का मूल्यांकन

बहलोल एक वीर तथा निर्भीक योद्धा और सफल सेनानायक था। उसमें स्वस्थ सामान्य बुद्धि, यथार्थवादिता और बुद्धिमत्ता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। इसलिए उसने अपने समय की सम्भावनाओं को भली-भाँति समझा और अपनी योग्यता तथा साधनों के अनुरूप कार्य करने का संकल्प किया। उसने दिल्ली सल्तनत के दक्षिण, बंगाल, राजस्थान और मालवा आदि प्रान्तों को जीतने का स्वप्न नहीं देखा। उसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य दोआब, निकटवर्ती जिलों और जौनपुर पर दिल्ली का नियन्त्रण पुनः स्थापित करना था। शासन-व्यवस्था का पुनः संगठन करने के लिए उसे समय नहीं मिला। किन्तु सैनिक, नेता तथा शासक दोनों रूप में वह अपने उन सभी पूर्वाधिकारियों से कहीं अधिक योग्य था जो फीरोज़ की मृत्यु से लेकर अलाउद्दीन आलमशाह तक दिल्ली के सिंहासन पर बैठे थे। वह भली-भाँति समझता था कि मेरे अफ़ग़ान अमीर तथा अनुयायी जो जातीय एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग करते आये हैं; तुर्कों के प्रभुत्व सम्बन्धी सिद्धान्त की पुनः स्थापना सहन न कर सकेंगे। इसलिए बहलोल ने कभी भी सुल्तानों के से हाव-भाव नहीं दिखाये, और उसने एक सार्वजनिक घोषणा की कि मैं अपने को केवल अमीरों का अमीर समझता हूँ। वह सिंहासन पर नहीं बैठा और न उसने अमीरों को दरबार में खड़े रहने पर ही बाध्य किया। अपने प्रमुख अमीरों को वह अपने कालीन पर ही बिठाता था। यदि कभी कोई उच्च श्रेणी का अमीर उससे अप्रसन्न हो जाता तो वह स्वयं उसके घर जाता और उसे शान्त करने का यथा-साध्य प्रयत्न करता। कभी-कभी तो वह अप्रसन्न अमीर के सामने अपनी तल-वार खोलकर रख देता था। वह अपनी पगड़ी तक उतार कर अमीरों के सम्मुख रख देता और कहता कि यदि आप मुझे अयोग्य समझते हैं तो किसी अन्य व्यक्ति को अपना सुल्तान चुन लीजिये। अपने सुदीर्घ शासन-काल में उसे अपनी इस नीति में पर्याप्त सफलता मिली और उसके शक्तिशाली अफ़ग़ान अनुयायियों ने उसे कभी कष्ट नहीं दिया।

इस लोदी सुल्तान का हृदय दयालु था। कहा जाता है कि उसने कभी किसी भिखारी अथवा निर्धन व्यक्ति को अपने फाटक से निराश नहीं जाने दिया। स्त्रियों के प्रति उसमें वीरोचित सम्मान की भावना थी। जौनपुर के सुल्तान हुसैनशाह की बेगम उसके अधिकार में आ गयी थी, किन्तु उसने उसके

साथ शिष्टता एवं आदर का व्यवहार किया और शक्तिशाली रक्षकों के साथ उसे अपने पति के पास वापिस भेज दिया। अपनी बुद्धि के अनुसार वह समान दृष्टि से न्याय किया करता था। यद्यपि बहलोल स्वयं शिक्षित नहीं था किन्तु वह विद्वानों तथा शिक्षित व्यक्तियों को संरक्षण दिया करता था। धर्म में उसका अनुराग था किन्तु अपने पुत्र तथा उत्तराधिकारी सिकन्दर की भाँति वह धर्मान्ध नहीं था।

बहलोल को दो मुख्य सफलताएँ मिलीं। सर्वप्रथम उसने दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा तथा साख का जो परवर्ती तुग़लकों तथा सैय्यद सुल्तानों के समय में बहुत नीची गिर चुकी थी, पुनरुत्थान किया। जौनपुर राज्य की विजय तथा उसे दिल्ली सल्तनत में मिलाना उसकी दूसरी मुख्य सफलता थी। इन सफलताओं के बावजूद दिल्ली सल्तनत के इतिहास में बहलोल का अधिक उच्च स्थान नहीं है। उसे हम साधारण कोटि का सफल सुल्तान कह सकते हैं।

सिकन्दर लोदी (१४८९–१५१७ ई.)

सिंहासनारोहण

बहलोल की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उसके मुख्य अमीरों के दो दल बन गये। एक दल उसके तीसरे पुत्र निज़ामखाँ को जो जनता में सिकन्दरशाह के नाम से विख्यात था, सिंहासन पर बिठाना चाहता था, किन्तु दूसरा दल जो अधिक शक्तिशाली था, निज़ाम को सुल्तान बनाने के इसलिए विरुद्ध था कि उसकी माता एक सुनार की पुत्री थी। इस दल के लोग स्वर्गीय सुल्तान के सबसे बड़े पुत्र बारबकशाह के समर्थक थे जो उस समय जौनपुर का शासक था। जब बहलोल मृत्यु-शैय्या पर पड़ा हुआ था तो उन्होंने उसे निज़ाम को दिल्ली से बुलाने के लिए फुसलाया क्योंकि उन्हें डर था कि पिता की मृत्यु होने पर वह कहीं सिंहासन न हस्तगत कर ले। किन्तु किसी न किसी बहाने निज़ाम ने वहाँ से चलने से इन्कार कर दिया। निज़ाम की माँ अपने पति के साथ खेमे में ही थी। उसने अपने पुत्र के अधिकार का समर्थन किया, किन्तु बहलोल के चचेरे भाई ईसाखाँ ने उसे गालियाँ दीं और अशिष्टता-पूर्ण शब्दों में कहा कि एक सुनार माता का पुत्र दिल्ली की गद्दी के लिए नहीं चुना जा सकता। ईसाखाँ के इस प्रकार के अभद्र व्यवहार के कारण बहु-संख्यक दल के कुछ सदस्य भी उस विधवा के साथ सहानुभूति दिखाने लगे। परिणाम यह हुआ कि ख़ानेख़ाना ने ऐसी चाल चली कि अधिकतर पठान अमीर निज़ामखाँ के समर्थक हो गये और १७ जुलाई, १४८९ ई. को सिकन्दर-शाह के नाम से उसे सुल्तान घोषित कर दिया गया।

गृह-नीति

विद्रोह का दमन

सिकन्दर को अपने चुनाव का औचित्य सिद्ध करना था। थोड़े ही समय में अपनी नीति, चरित्र और सुदृढ़ शासन-व्यवस्था के द्वारा उसने दिखा दिया कि उसका चुनाव उचित था और दिल्ली के सिंहासन की पूर्ति के लिए बहलोल के पुत्रों में वह सबसे अधिक योग्य था। उसका पहला कार्य अपने प्रतिद्वन्द्वियों का दमन और अपने अनुयायियों की शक्ति की वृद्धि करके आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करना था। उसका चाचा आलमखाँ भी सिंहासन के लिए उम्मीदवार था और रापड़ी तथा चन्दवार में अपनी स्वाधीनता की स्थापना करने की तैयारियाँ कर रहा था। सिकन्दर ने रापड़ी में उसे घेर लिया और पराजित करके उसे वहाँ से भगा दिया। आलमखाँ ने ईसाखाँ के यहाँ शरण ली जो उन प्रथम श्रेणी के लोगों में था जिन्होंने सिकन्दर के उत्तराधिकार का विरोध किया था। सिकन्दर ने प्रसन्न करने की नीति से काम लिया और आलमखाँ को ईसाखाँ से पृथक करके अपने पक्ष में मिला लिया तथा इटावा का सूबेदार नियुक्त कर दिया। इसके उपरान्त उसने ईसाखाँ को पटियाला के निकट युद्ध में पराजित किया। युद्ध के थोड़े ही दिनों बाद ईसाखाँ की मृत्यु हो गयी। सिकन्दर का चचेरा भाई आज़म हुमायूँ भी गद्दी के लिए उम्मीदवार था, उसे भी सुल्तान ने हराया और उससे कालपी को छीनकर मुहम्मदखाँ लोदी के सुपुर्द कर दिया। इसके बाद उसने दूसरे विरोधी तातारखाँ लोदी को पराजित किया किन्तु दयापूर्वक झातरा की जागीर उसके अधिकार में रहने दी। इस प्रकार सिंहासनारोहण के एक वर्ष के भीतर ही सिकन्दर अपने विरोधियों को कुचलने अथवा उन्हें शान्त करने में सफल हुआ और अपनी शक्ति को उसने सुदृढ़ कर लिया।

बारबकशाह का दमन

द्वैध राजतन्त्र से उत्पन्न संकट को सिकन्दर भली-भाँति समझता था। इसलिए वह अपने बड़े भाई जौनपुर के सुल्तान बारबकशाह को समझा बुझाकर अपने अधीन करने का इच्छुक था। उसने जौनपुर को एक शान्ति-दूत भेजा जो किन्हीं कारणों से विफल रहा। सम्भवतः सिकन्दर सोचता था कि मैंने अपने भाई को उसके जन्म-सिद्ध अधिकार से वंचित कर दिया है, इसलिए मुझे उसको इसका बदला देना चाहिए। किन्तु जौनपुर के भूतपूर्व सुल्तान हुसैनशाह ने जिसने बिहार में शरण ली थी और जो समझता था कि दोनों भाइयों के पारस्परिक संघर्ष से मुझे अपना राज्य पुनः प्राप्त करने का अवसर मिल जायेगा, बारबकशाह को भड़काया जिसके कारण उसने अपने भाई सिकन्दर से समझौता करने से इन्कार कर दिया, इसलिए सिकन्दर ने युद्ध की तैयारियाँ

आरम्भ कर दीं। उसने बारबकशाह को जो अपनी सेना लेकर कन्नौज तक बढ़ आया था, पराजित किया। इस हार के बाद बारबकशाह बदायूँ को भाग गया किन्तु वहाँ भी सिकन्दर ने उसे घेर लिया और आत्मसमर्पण करने पर बाध्य किया। सिकन्दर इतना उदार निकला कि उसने अपने भाई को पुनः नाममात्र के लिए जौनपुर का सुल्तान बना दिया, किन्तु उसके राज्य को उसने जागीरों में विभक्त करके अपने अनुयायियों में बाँट दिया और बारबकशाह के दरबार तथा महल में भी गुप्तचर नियुक्त कर दिये। कुछ समय उपरान्त हुसैनशाह के भड़काने पर जौनपुर राज्य के जमींदारों ने भयंकर विद्रोह किया। बारबकशाह स्थिति को काबू में न कर सका और उसने जौनपुर को छोड़कर लखनऊ के निकट दरयाबाद में शरण ली। सिकन्दर ने तत्परता से काम लिया और विद्रोह को कुचलकर पुनः दूसरी बार बारबकशाह को अपने अधीनस्थ सामन्त के रूप में जौनपुर के सिंहासन पर बिठा दिया। किन्तु बारबकशाह एक नितान्त अयोग्य शासक निकला, इसलिए सिकन्दर ने उसे हटाकर कारागार में डाल दिया और जौनपुर में अपना सूबेदार नियुक्त कर दिया।

अमीरों का दमन

जौनपुर का दमन तथा अपने पैतृक राज्य पर निरंकुश सत्ता स्थापित करने के उपरान्त सिकन्दर अफ़ग़ान अमीरों को उचित नियन्त्रण एवं अनुशासन में लाने के कार्य में जुट गया। सुल्तान राज्य-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करने का इच्छुक नहीं था, किन्तु वह अपने अमीरों की विद्रोही भावनाओं से परिचित था, इसलिए वह उनकी वैयक्तिक प्रवृत्तियों तथा जातीय स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करना चाहता था जिससे वे भारत में पठान जाति के सामूहिक उत्कर्ष में योग दे सकें। उसने अपने सूबेदारों तथा अन्य पदाधिकारियों की आय-व्यय के हिसाब की उचित जाँच पर जोर दिया। उसने हिसाब में गड़बड़ करने वालों तथा गबन करने वालों को कठोर दण्ड दिये। अपने मुख्य अमीर मुबारकखाँ लोदी को जिसे जौनपुर का राजस्व वसूल करने के लिए नियुक्त किया गया था, सुल्तान ने कठोर दण्ड दिया और राज्य का जो धन उसने गबन कर लिया था, उसे राज-कोष में जमा करने पर बाध्य किया। इसके अतिरिक्त सिकन्दर ने अपने अमीरों को दरबार में और उसके बाहर सुल्तान के प्रति उचित सम्मान प्रकट करने के लिए बाध्य किया। वह उनके किसी भी प्रकार के अशिष्ट अथवा असम्मानपूर्ण आचरण को सहन न कर सकता था। एक बार जौनपुर में चौगान खेलते समय कुछ अमीर सुल्तान के सामने ही खुले रूप में लड़ पड़े। यह देखकर सुल्तान आगबबूला हो गया और एक अमीर के उसने अपने ही सामने कोड़े लगवाये और दूसरों के साथ अत्यन्त कठोरता का व्यवहार किया। अमीरों ने भी बदला लेने के उद्देश्य से सिकन्दर को पदच्युत

INDIA IN 1517 A.D.
Sikandar Lodi.
TRANS-OXIANA
Bukhara
Samarqand
Tashkent
Andijan
FARGHANA
Balkh
Qunduz
Sari pul
Ghur
Herat
AFGHANISTAN
AFGHANS
MUGHULS
Kabul
Ghazni
Kandahar
PERSIA
KASHMIR
BAJAUR
SWAT
Peshawar
Taxila
Srinagar
Naushahra
Khushab
Jammu
Bhera
Sialkot
Nagarkot
Kangara
Lahore
Dipalpur
Jalandar
Multan
Sarhind
Samana
Thaneshwar
Uch
Kalat
SUMRAS
Rohri
Sehwan
Thatta
Amarkot
Jaisalmer
Bikaner
RAJASTHAN
Merta
Jodhpur
Ajmer
Siwana
Jalor
Abu
Chittor
Ranthambhor
Hisar
Hansi
Panipat
Delhi
Narnaul
Nagaur
Amber
Mathura
Agra
Khanua
Bayana
Aligarh
Amaroha
Sambhal
Badaun
Shamsabad
Kanauj
Lucknow
Awadh
Etawa
Gwalior
Kalpi
Chanderi
Mahoba
Kalinjar
Khajuraho
Banaras
Jaunpur
Chunar
BIHAR
Patna
Gaya
NEPAL
KARAQORAM
TIBET
CHINA
Hajo
Gauhati
KAMARUPA
Sylhet
Lakhanauti
BANGAL
Sonargaon
Nadia
Satgaon
Chatgaon
BURMA
GUJARAT
Anhilwara
Junagarh
Somanath
Diu
Daman
MALWA
Ujjain
Dhar
Mandu
Bhilsa
Garhmandal
KHANDESH
Asirgarh
Gwaligarh
Illichpur
BARAR
(1484)
Chanda
GONDWANA
ORISSA
Jajnagar
Puri
Daultabad
(1490)
Ahmadnagar
AHMADNAGAR
BIDAR
Bidar
Golkunda
(1512)
GOLKUNDA
Gulbarga
Bijapur
BIJAPUR
(1489)
Raichur
Mudgal
Bombay
Chaul
Dabhol
Sandabur
(Goa)
Ganjam
Simhachalam
Naupada
Vizagapattam
Rajamundry
Masulipattam
VIJAYANAGAR EMPIRE
Vijayanagar
Chandragiri
Kanchi
Gingee
Sringapattam
Calicut
Tanjore
Cochin
Madura
CEYLON
Colombo
ARABIAN SEA
BAY OF BANGAL
ANDAMAN IS.
Boundary of the Empire.
Independent Provincial Boundaries.
0 50 100 150 200 250 300
Miles
Copyright DHARMA BHANU.

करके उसके भाई फतेहखाँ को सिंहासन पर बिठाने के लिए षड्यन्त्र किया, किन्तु षड्यन्त्र का समय से पूर्व ही भेद खुल गया और सुल्तान ने बाईस अमीरों को दरबार से निर्वासित कर दिया। इस प्रकार सिकन्दर को अपनी कठोर नीति द्वारा अफ़ग़ान अमीरों पर उचित नियन्त्रण स्थापित करने में सफलता मिली। राजसत्ता की पूर्ति के रूप में उसका सम्मान ही नहीं होता था वरन सूबेदार तथा जागीरदार उसकी आज्ञाओं को रस्मपूर्वक शिरोधार्य करते थे। जब सिकन्दर किसी अमीर के लिए फरमान जारी करता था, तो वह अमीर उसे छः मील चलकर उचित रस्म के साथ स्वीकार करता था।

शासक के रूप में सिकन्दर की सफलता का अधिक श्रेय उसकी उत्कृष्ट गुप्तचर व्यवस्था को था, जिसे उसने अलाउद्दीन ख़लजी के आदर्श पर संगठित किया था। सुल्तान ने प्रत्येक स्थान पर, यहाँ तक कि अमीरों के घरों में भी विश्वसनीय गुप्तचरों एवं संवाददाताओं को नियुक्त किया। उसे ताजी से ताजी घटनाओं की इतनी अच्छी जानकारी थी कि लोग उसमें अलौकिक शक्तियों का आरोप करने लगे थे। लोगों को विश्वास था कि सुल्तान को जिन्दों द्वारा समाचार प्राप्त होते हैं। अनुशासन के विषय में ही सुल्तान कठोर नहीं था अपितु वह इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार न्याय करने में भी निष्पक्ष था। यह दूसरा कारण था जिससे उसे कानून तथा व्यवस्था के लिए लोगों के हृदय में सम्मान स्थापित करने में सफलता मिली। सिकन्दर का शासन-काल भौतिक समृद्धि के लिए भी प्रसिद्ध था और इसका श्रेय कुछ हद तक सुल्तान को ही था। उसने नाज पर से चुंगी हटा दी और अन्य असह्य व्यापारिक नियन्त्रण दूर कर दिये जिससे नाज, कपड़ा तथा आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ सस्ती हो गयीं।

धार्मिक नीति

सिकन्दर की धार्मिक नीति एक धर्मान्ध मुसलमान की सी थी। जब वह राजकुमार था तभी अपनी धार्मिक कट्टरता का परिचय दे चुका था। उसने हिन्दुओं को थानेश्वर के पवित्र तड़ाग में स्नान करने से रोकना चाहा, और सुल्तान होने पर मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट करने तथा उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी करने की नीति का अनुसरण किया। उसने नगरकोट के ज्वालामुखी मन्दिर की पवित्र मूर्ति को तोड़ डाला और उसके टुकड़े कसाइयों को दे दिये जिससे वे उनका उपयोग माँस तोलने के बाटों के रूप में कर सकें। उसने मथुरा, मन्दैल, उतगिर, नरवर, चन्देरी आदि स्थानों में मन्दिरों का विध्वंस किया। बोधन नामक एक हिन्दू को उसने यह कहने के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया कि "हिन्दू धर्म उतना ही सच्चा है जितना कि इस्लाम।" सिकन्दर ने हिन्दुओं को यमुना के घाटों पर स्नान करने की आज्ञा नहीं दी और नाइयों को उनकी दाढ़ियाँ बनाने से रोका। फीरोज़ की भाँति उसने भी

हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए फुसलाया। इस प्रकार की नीति से सुल्तान का जनता के एक विशाल वर्ग की सहानुभूति खो बैठना अनिवार्य था।

विदेश-नीति

बिहार की विजय

अपने पिता के विपरीत सिकन्दर एक अत्यधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था इसलिए उसने दिल्ली की तुर्की सल्तनत के खोये हुए अधिक से अधिक प्रान्तों को पुन: जीतने की योजना बनायी। अपने भाई बारबकशाह का दमन करने तथा जौनपुर को दिल्ली राज्य में मिलाने के कारण उसका बिहार के प्रान्त से संघर्ष हो गया जो उस समय बंगाल का एक भाग था। जौनपुर के कुछ जमींदारों का भूतपूर्व सुल्तान हुसैनशाह से जो उस समय बिहार में रह रहा था, घनिष्ठ सम्बन्ध था। सिकन्दर इन जमींदारों की शक्ति को पूर्णतया कुचलना चाहता था इसलिए उसने फाफामऊ (इलाहाबाद के निकट) के भील राजा पर जो विद्रोही जमींदारों का नेता था, आक्रमण किया। सुल्तान के स्वयं प्रयत्न करने के बावजूद भी राजा का पूर्णरूप से दमन नहीं किया जा सका। यही नहीं, १४९४ ई. के आक्रमण में सुल्तान की सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी और उसके घोड़ों की एक बड़ी संख्या नष्ट हो गयी। विद्रोही राजाओं की हुसैनशाह से साठ-गाँठ थी, इसलिए उन्होंने उसे जौनपुर पर आक्रमण करने तथा सिकन्दर से लड़ने के लिए आमन्त्रित किया और लिखा कि सुल्तान की सेना के घोड़े नष्ट हो चुके हैं और उसमें प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं है। इस निमन्त्रण को स्वीकार करते हुए हुसैनशाह एक विशाल सेना लेकर बिहार से आ गया। सिकन्दर उसके मार्ग को रोकने के लिए आगे बढ़ा और बनारस के निकट भयंकर युद्ध हुआ जिसमें हुसैनशाह पराजित हुआ और भाग गया। सिकन्दर ने भागते हुए शत्रु का पीछा किया और बिहार पर अधिकार करके उसे दिल्ली राज्य में मिला लिया। उसने बिहार में कुछ दिनों तक निवास किया और तिरहुत पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली और कर देने का वचन दिया।

बंगाल से सन्धि

बंगाल का सुल्तान अलाउद्दीन हुसैनशाह बिहार पर इस आक्रमण को सहन न कर सका क्योंकि जौनपुर के हुसैन को वह अपना अधीनस्थ सामन्त और बिहार को अपने राज्य का भाग समझता था। उसने अपने पुत्र दानियाल को दिल्ली सेना की प्रगति को रोकने के लिए भेजा। दिल्ली सेना ने भी महमूदखाँ लोदी और मुबारकखाँ लोहानी के नेतृत्व में लड़ने की तैयारी की किन्तु अन्त में सिकन्दर तथा अलाउद्दीन हुसैन दोनों ही बिना लड़े समझौता करने के

लिए तैयार हो गये। दोनों पक्षों ने एकदूसरे के राज्य पर आक्रमण न करने का वचन दिया और बंगाल के सुल्तान ने सिकन्दर के शत्रुओं को शरण न देने का भी वायदा किया। इस प्रकार सिकन्दर के राज्य की पूरबी सीमा बंगाल की पश्चिमी हद तक पहुँच गयी।

धौलपुर तथा अन्य स्थानों की विजय

सिकन्दर धौलपुर तथा ग्वालियर को भी जीतने की महत्वाकांक्षा रखता था। १५०२ ई. में कठिन तथा दीर्घकालीन युद्ध के उपरान्त सुल्तान को राजा विनायक देव के हाथों से धौलपुर छीनने में सफलता मिली। किन्तु ग्वालियर की विजय सिकन्दर की योग्यता तथा शक्ति से परे थी। कई वर्ष तक उसने लगातार मानसिंह पर जो उस सुदृढ़ किले तथा निकटवर्ती प्रदेश पर शासन करता था, आक्रमण किया। १५०४ ई. में सिकन्दर ने आगरा को जो उस समय तक बयाना के अधीन एक छोटा-सा गाँव था, अपनी राजधानी बनाया। वह उसे एक सैनिक छावनी तथा धौलपुर, ग्वालियर और मालवा के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के लिए आधार बनाना चाहता था। कई वर्ष के परिश्रम के फलस्वरूप सुल्तान ने मन्दैल, उतगिर, नरवर[1] और चन्देरी पर भी दिल्ली का प्रभुत्व स्थापित कर लिया, किन्तु वह ग्वालियर को जीत कर दिल्ली सल्तनत में न मिला सका। मालवा को जीतने की भी सुल्तान की अभिलाषा थी किन्तु उस समृद्धशाली राज्य पर अधिकार करने में उसे सफलता नहीं मिली। १५१० ई. में उसने नागौड़ को हस्तगत कर लिया। यद्यपि ये सैनिक सफलताएँ चकाचौंध करने वाली नहीं थीं, फिर भी इनसे विजेता के रूप में सिकन्दर की प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हुई।

मृत्यु

अपने शासन-काल के अन्तिम दिन सुल्तान ने ग्वालियर, धौलपुर, नरवर तथा राजस्थान की सीमाओं पर स्थित अन्य हिन्दू राजाओं के विरुद्ध आक्रमण-कारी युद्धों में बिताये। निरन्तर सैनिक जीवन ने उसका स्वास्थ्य नष्ट कर दिया। मालवा पर आक्रमण करने के उद्देश्य से वह बयाना गया और वहाँ से लौटकर बीमार पड़ गया, और हर प्रकार की सम्भव चिकित्सा के बावजूद भी २१ नवम्बर, १५१७ ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

सिकन्दर का मूल्यांकन

सिकन्दर लोदी-वंश का महानतम सुल्तान था। मध्यकालीन इतिहासकारों

---

[1] १५०६ ई. में नरवर तथा पद्मावती का पतन हुआ। पद्मावती चौथी शताब्दी में नाग राजाओं की प्रसिद्ध राजधानी थी। १५१२ ई. में लोदी गवर्नर सफदरखाँ ने यहाँ पर एक दुर्ग बनवाया था।

ने उसकी अतिशय प्रशंसा की है और लिखा है कि वह बहुत ही योग्य, न्याय-प्रिय, उदार तथा ईश्वर से डरने वाला सुल्तान था। आधुनिक लेखकों ने भी उनके मत का समर्थन किया है, किन्तु उसके शासन-काल की महत्वपूर्ण घटनाओं, शासन सम्बन्धी ब्यौरे की बातों तथा नीति की आलोचनात्मक परीक्षा करने से स्पष्ट हो जायगा कि सिकन्दर के चरित्र तथा व्यक्तित्व के दो पहलू थे। निस्सन्देह वह योग्य शासक था, किन्तु अपनी धार्मिक अत्याचारों की नीति के कारण उसने राज्य की बहुसंख्यक जनता की सहानुभूति खो दी थी और अपने अच्छे शासन-प्रबन्ध के प्रभाव को नष्ट कर दिया था।

सिकन्दर लोदी की आकृति राजाओं जैसी थी। उसका कद लम्बा तथा शरीर सुन्दर और सुडौल था। 'तारीखे दाऊदी' का लेखक अब्दुल्ला लिखता है कि बाल्यकाल में सिकन्दर इतना सुन्दर था कि शेख हसन नामक प्रसिद्ध मुस्लिम मौलवी उससे प्रेम करने लगा, किन्तु शाहजादा को उसका आना-जाना पसन्द नहीं था इसलिए एक दिन उसने बलपूर्वक उसके सिर को आग के पास ले जाकर उसकी दाढ़ी को जला दिया। उसकी चाल-ढाल तथा दैनिक आचरण भी प्रभावोत्पादक था। अत्यधिक शिक्षित होने के कारण उसे साहित्य तथा कविता से प्रेम था। हिन्दू-माता से उत्पन्न होने के कारण वह अपने सहधर्मियों को यह दिखाना चाहता था कि मैं पक्का मुसलमान हूँ और किसी भी दृष्टि से उन लोगों से नीचा नहीं हूँ जो शुद्ध अफ़ग़ान रक्त से उत्पन्न हैं। अपने धर्म में उसे पूर्ण श्रद्धा थी, यद्यपि प्रतिदिन पाँच बार नमाज़ पढ़ने के सम्बन्ध में वह नियमबद्ध नहीं था। अपने पूर्वाधिकारियों के विपरीत और सामान्य इस्लामी परिपाटी के विरुद्ध वह अपनी दाढ़ी बनाया करता था। उसे शराब का शौक था किन्तु वह खुले रूप से नहीं पिया करता था। सिकन्दर बहुत ही उद्यमी, फुर्तीला और कर्मठ था। अपना सम्पूर्ण शासन-काल उसने निरन्तर युद्धों में बिताया। कहना न होगा कि वह अच्छा योद्धा तथा सफल सेनानायक था।

पूर्वात्य परिपाटी के अनुसार सिकन्दर प्रचुर मात्रा में दान दिया करता था। मुहम्मद के जन्म तथा मृत्यु की जयन्ती, मुहर्रम, शबे-बरात तथा ईद आदि मुस्लिम त्यौहारों के अवसर पर कच्चा तथा पका हुआ भोजन बाँटा जाता था और बहुत-सा धन दान में व्यय किया जाता था। उलेमा, मुस्लिम विद्वानों तथा दरिद्रों को छात्रवृत्तियाँ एवं जीवन-निर्वाह के लिए भत्ते दिये जाते थे। फीरोज़ तुग़लक की भाँति वह भी मुस्लिम विधवाओं की लड़कियों की शादियों के लिए दहेज का प्रबन्ध किया करता था।

उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि सिकन्दर की सफलताएँ असाधारण थीं। उसके पिता ने 'बराबर वालों में प्रमुख' की स्थिति से ही सन्तोष किया था, किन्तु सिकन्दर का राजस्व सम्बन्धी

आदर्श अफ़ग़ान आदर्शों की अपेक्षा तुर्की तथा हिन्दू सिद्धान्तों से अधिक मिलता-जुलता था। उसका यह विश्वास उचित ही था कि अफ़ग़ानी राजस्व सिद्धान्त भारत में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता, क्योंकि भारत अफ़ग़ानिस्तान नहीं है। इसी विचार से उसने दोहरे प्रभुत्व के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया और अपने भाई जौनपुर के सुल्तान बारबकशाह पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया। उसने अफ़ग़ान अमीरों की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का दमन किया और उन्हें राज्य द्वारा अपने हिसाबों की जाँच कराने पर बाध्य किया। उच्चतम अफ़ग़ान अमीरों को भी सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने और उसकी आज्ञाओं का पालन करने पर बाध्य किया गया। कोई अमीर कितने ही उच्च पद पर क्यों न हो, उसके लिए सुल्तान की आज्ञाओं का उल्लंघन करना असम्भव हो गया। यही नहीं, किसी में सुल्तान के फरमानों की उपेक्षा करने तक का साहस नहीं था, बल्कि फरमानों को उचित रस्म के साथ उन्हें स्वीकार करना पड़ता था। इस प्रकार सिकन्दर शासन-व्यवस्था में शक्ति तथा जीवन फूँकने में सफल हो सका। सल्तनत तथा ताज की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना हुई, जो परवर्ती तुग़लकों के समय में बहुत नीची गिर गयी थी।

बिहार की विजय सुल्तान की मुख्य सफलता थी। इसके अतिरिक्त उसने धौलपुर, नरवर, चन्देरी तथा ग्वालियर के कुछ भाग को भी विजय किया।

सिकन्दर विद्या का पोषक था। उसके चतुर्दिक विद्वान जमा रहते थे। उसकी आज्ञानुसार संस्कृत के एक आयुर्वेद ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद कराया गया जिसका नाम 'फरहंगे सिकन्दरी' रखा गया। उसने संगीत को प्रोत्साहन दिया और अनेक मस्जिदों का निर्माण कराया। उसने आगरा को अपनी राजधानी बनाया और उसे इमारतों, मस्जिदों तथा सरायों से सुशोभित किया। दिल्ली में उसने अपने पिता का स्मारक बनवाया।

शासक के रूप में सिकन्दर के चरित्र पर सबसे बड़ा कलंक उसकी धर्मान्धता थी। सैनिक यात्राओं के दौरान में हिन्दू-मन्दिरों का विध्वंस करना और उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी करना उसने एक नियम बना लिया था। हिन्दू धर्म को कुचलने तथा इस्लाम का उत्थान करने के लिए उसने हर समय प्रयत्न किया। उसकी अधीनता में दिल्ली सल्तनत इस्लाम के प्रचार का उतना ही सक्रिय साधन बन गयी जितना कि फीरोज़ तुग़लक के समय में थी। इसलिए हम कह सकते हैं कि उसकी धार्मिक नीति मूर्खतापूर्ण थी और उससे उसकी हिन्दू प्रजा अप्रसन्न हो गयी तथा स्वयं उसकी सत्ता की जड़ें खोखली हो गयीं।

इब्राहीम लोदी (१५१७–१५२६ ई.)

राज्यारोहण

सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त अफ़ग़ान अमीरों ने सर्व-सम्मति से उसके

पुत्र इब्राहीम को सिंहासन पर बिठाया (नवम्बर २१, १५१७ ई.)। उसने इब्राहीमशाह की उपाधि धारण की।

विदेश-नीति

ग्वालियर का दमन

इब्राहीम की विदेश-नीति का मुख्य उद्देश्य अपने पिता द्वारा प्रारम्भ किये गये विजय के कार्य को पूर्ण करना था। उसने सिकन्दर की ग्वालियर को विजय करने की नीति को कार्यान्वित करने का संकल्प किया। ग्वालियर ने अनेक बार पूर्व सुल्तान की शक्ति को चुनौती दी थी। उस राज्य के शासक ने इब्राहीम के भाई जलालखाँ को शरण देकर युद्ध का एक बहाना उपस्थित कर दिया था। इसके अतिरिक्त वीर मानसिंह की जिसने सफलतापूर्वक सिकन्दर का प्रतिरोध किया था, मृत्यु हो चुकी थी, और उसका पुत्र विक्रमाजीत उसका उत्तराधिकारी हुआ था। योग्यता तथा राजनीतिक बुद्धिमत्ता की दृष्टि से वह अपने पिता की तुलना में बहुत ही निम्नकोटि का व्यक्ति था। ग्वालियर को घेरने के लिए इब्राहीम ने आजम हुमायूँ शेरवानी को तीस हजार घुड़सवार तथा तीन सौ हाथियों की फौज के साथ भेजा। इस कठिन कार्य में उसको सहयोग देने के लिए आगरा से एक अन्य सेना भी भेजी गयी। आजम हुमायूँ उस दैत्याकार किले को घेरने के कार्य में बड़े उत्साह के साथ जुट गया। उसकी कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप एक महत्वपूर्ण बाहरी दुर्ग पर दिल्ली सेना का अधिकार हो गया। घेरे का कार्य सन्तोषजनक तरीके से चलता रहा और अन्त में किले के रक्षकों को हथियार डालने पड़े। विक्रमाजीत दिल्ली सुल्तान का अधीनस्थ सामन्त हो गया। इब्राहीम की यह महानतम सफलता थी।

राणा सांगा द्वारा इब्राहीम की पराजय

इब्राहीम अपने पिता की विजय-नीति को पूर्ण करने का इच्छुक था, इसलिए उसने राजस्थान के प्रमुख राज्य मेवाड़ पर आक्रमण किया। मेवाड़ पर उस समय पराक्रमी राणा संग्रामसिंह अथवा सांगा शासन करता था। उसको परास्त किये बिना सुल्तान को मध्यभारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की आशा नहीं थी इसलिए उसने मियाँ मक्खन की अध्यक्षता में एक शक्तिशाली सेना भेजी। उसके साथ हुसैनखाँ ज़रबख्श, मियाँ ख़ानेख़ाना करमाली और मियाँ मासूफ जैसे विख्यात अफ़ग़ान सेनानायक भी भेजे गये। आक्रमणकारी सेना में तीस हजार अश्वारोही और तीन सौ हाथी थे। जैसे ही वह मेवाड़ की सीमा पर पहुँची राणा ने उसका मुकाबला किया और मेवाड़ के वर्तमान जिले असिन्द में स्थित बकरौल के निकट उसे परास्त किया। युद्ध में दिल्ली सेना का भयंकर संहार हुआ। मियाँ मक्खन तथा

उसके सैनिक घबड़ाकर भाग खड़े हुए, किन्तु राजपूतों ने घटोली (बूँदी की सीमा पर) के निकट उन पर आक्रमण किया और बड़ी संख्या में उन्हें मार डाला।[२]

गृह-नीति

जलालखाँ के विद्रोह का दमन

इब्राहीम के शासन-काल में विभिन्न दलों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण अशान्ति रही। उसके सिंहासनारोहण के बाद शीघ्र ही स्वार्थी अमीरों के दल ने राज्य के विभाजन की नीति का समर्थन किया और इब्राहीम के भाई जलालखाँ को जौनपुर के सिंहासन पर बिठाने में उन्हें सफलता भी मिल गयी। अमीरों के दबाव से बाध्य होकर सुल्तान ने विभाजन को स्वीकार किया था, इसलिए जलालखाँ जौनपुर में अपनी सत्ता स्थापित भी न कर पाया था कि इब्राहीम पश्चाताप करने लगा और उसके प्रभावशाली अमीर खानेजहाँ लोहानी ने राज्य-विभाजन की मूर्खतापूर्ण नीति की कठोर शब्दों में निन्दा की और जलालखाँ को वापिस बुलाने पर जोर दिया। इब्राहीम ने यह काम हैवातखाँ के सुपुर्द किया। हैवातखाँ समझा बुझाकर जलालखाँ को दिल्ली लौटाने में सफल नहीं हुआ, इसलिए उसने कूटनीति से काम लिया। अपनी चतुर नीति द्वारा उसने जलालखाँ के बहुत-से अनुयायियों को अपनी ओर फोड़ लिया। उन्होंने जलालखाँ को जौनपुर छोड़कर कालपी जाने को बाध्य किया, जहाँ उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और सुल्तान की उपाधि धारण की। उसने आजम हुमायूँ शेरवानी को जो उस समय सुल्तान इब्राहीम की ओर से कालिंजर को घेरे हुआ था, अपने पक्ष में कर लिया। अपनी सेनाओं को संयुक्त करके जलालखाँ और आजम हुमायूँ शेरवानी ने अवध पर आक्रमण किया। इब्राहीम को स्वयं विद्रोहियों का दमन करने के लिए जाना पड़ा। किन्तु सौभाग्य से आजम हुमायूँ ने जलालखाँ का साथ छोड़ दिया और इब्राहीम के पक्ष में मिल गया। इस प्रकार परित्यक्त होने पर जलालखाँ आगरा की ओर बढ़ा और वहाँ की रक्षा-सेना पर आक्रमण किया। इब्राहीम ने मलिक आदम को कुमुक देकर आगरा भेजा। मलिक आदम ने जलालखाँ को प्रभुत्व सम्बन्धी दावा त्यागने पर राजी कर लिया और कालपी को उसी के अधिकार में रहने देने का वचन दिया। किन्तु इब्राहीम ने इन शर्तों को मानने से इन्कार किया और अपने भाई का पूर्णरूप से दमन करने का संकल्प किया। इसलिए जलालखाँ को भागकर ग्वालियर के राजा के यहाँ

---

२ बाबर ने अपनी आत्मकथा (Memoirs) में इब्राहीम की पराजय का उल्लेख किया है।

शरण लेनी पड़ी। इब्राहीम ने अपने भाई को गिरफ्तार करने तथा किले पर अधिकार करने के दोहरे उद्देश्य से ग्वालियर पर आक्रमण करना आवश्यक समझा। किन्तु जैसे ही वह निकट पहुँचा जलालखाँ ग्वालियर से मालवा को भाग गया। किले का घेरा चल रहा था, उसी समय मालवा के सुल्तान के दुर्व्यवहार से तंग आकर जलालखाँ गढ़कंटक के गौड़ राज्य की ओर भाग गया। किन्तु गौड़ों ने उसे गिरफ्तार कर लिया और बन्दी बनाकर इब्राहीम के पास भेज दिया। सुल्तान ने उसे हाँसी में कैद करके रखने की आज्ञा दी, किन्तु उस स्थान को जाते समय मार्ग में ही उसका वध कर दिया गया। अब इब्राहीम अपने राज्य का निर्विवाद शासक बन गया और उसके विरुद्ध कुचक्र रचने वाला कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा।

अमीरों का दमन

जलालखाँ के विद्रोह का दमन करने तथा राज्य पर अपना निरंकुश शासन स्थापित करने में इब्राहीम को जो सफलता मिली उससे उसका सिर फिर गया। वह निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासक की भाँति आचरण और कार्य करने लगा। तुर्की प्रभुत्व सिद्धान्त से अनुप्राणित होकर उसने मूर्खतापूर्ण घोषणा की कि राजा का कोई सम्बन्धी नहीं होता, सभी लोग राजा के अधीनस्थ सामन्त अथवा प्रजा होते हैं। उसने अफ़ग़ानी परम्परा को त्यागकर अमीरों को दरबार में अपने हाथों को कैंची के रूप के सीने पर रखकर नम्र भाव से खड़े होने पर बाध्य किया। अफ़ग़ानअमीरों पर भी उसने कठोर दरबारी रस्म लागू किये। अमीर लोग जो सुल्तान को अपने में से ही एक समझने के अभ्यस्त थे और जो बहलोल और कभी-कभी सिकन्दर के साथ कालीन पर बैठते थे, इस अपमान को न सह सके। सुल्तान के व्यवहार के विरुद्ध उन्होंने रोष प्रकट किया और कुछ प्रमुख अफ़ग़ान अमीरों ने उसकी धृष्टता और अहंकार के कारण विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। आजम हुमायूँ जलालखाँ से जा मिला था और फिर उसे छोड़कर सुल्तान से सन्धि करली थी, इस सबका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इब्राहीम अपने प्रति उसके इस अस्थायी द्रोह को न भूल सका। उसने आजम हुमायूँ और उसके पुत्र फतेहखाँ को ग्वालियर से बुलाया और कारागार में डाल दिया। सिकन्दर के समय के प्रमुख अमीर मियाँ भोबा को उसने पहले ही कैद कर लिया था। उसके इस अन्यायपूर्ण व्यवहार से उत्तेजित होकर आजम हुमायूँ के एक दूसरे पुत्र इस्लामखाँ ने विद्रोह कर दिया। अपनी पिता की फौज का सेनापतित्व लेकर उसने आगरा के सूबेदार अहमदखाँ पर आक्रमण किया। सुल्तान को भी इस विद्रोह का दमन करने के लिए अपनी सेना एकत्रित करनी पड़ी। उसी समय आजम हुमायूँ लोदी नाम के दो अन्य अफ़ग़ान अमीर सुल्तान का पक्ष त्याग कर लखनऊ में अपनी जागीरों में चले गये और

इस्लामखाँ से जा मिलने की तैयारियाँ करने लगे। इन दो विद्रोहियों के विरुद्ध जो सेना सुल्तान ने भेजी वह पराजित हुई और भारी क्षति उठाकर पीछे लौटने पर बाध्य हुई। सुल्तान को अन्य अमीरों पर सन्देह हो गया इसलिए मूर्खतावश उसने उन्हें चेतावनी दी कि यदि तुम इस विद्रोह को न दबा सके तो तुम्हारे साथ भी विद्रोहियों जैसा बर्ताव किया जायगा। इसके उपरान्त वह स्वयं पचास हजार सेना लेकर युद्ध-क्षेत्र में उतरा। विद्रोही अमीरों ने एक विशाल सेना एकत्र करली जिसमें चालीस हजार घुड़सवार, पैदलों की एक बड़ी संख्या और पाँच सौ हाथी सम्मिलित थे। शेख राजू बुखारी नाम के एक धार्मिक व्यक्ति ने हस्तक्षेप करने तथा शान्तिमय बातचीत द्वारा झगड़े को निबटाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। विद्रोही नेताओं ने आजम हुमायूँ शेरवानी की रिहाई की माँग की, किन्तु सुल्तान इस पर राजी नहीं हुआ। परिणामस्वरूप भयंकर युद्ध हुआ। 'मखजाने अफग़ना' नामक ग्रन्थ का रचयिता अहमद यादगर इन शब्दों में युद्ध का वर्णन करता है—"लाशों के ढेर पर ढेर लग गये और युद्ध-क्षेत्र उनसे ढक गया, पृथ्वी पर पड़े हुए सिरों की संख्या कल्पनातीत थी। मैदान में रक्त की नदियाँ बहने लगीं और इसके बाद दीर्घकाल तक जब कभी हिन्दुस्तान में कोई भयंकर युद्ध हुआ तो लोग यही कहते थे कि किसी भी युद्ध की तुलना इस युद्ध से नहीं की जा सकती। इसमें भाई ने भाई और पिता ने पुत्र के विरुद्ध युद्ध किया, धनुष-बाण अलग फेंक दिये गये और भालों, तलवारों, चाकुओं और बर्छों से नर-संहार हुआ।" अन्त में इब्राहीम की विजय हुई। उसने विद्रोहियों को परास्त किया। इस्लामखाँ मारा गया और सैय्यदखाँ बन्दी बना लिया गया। जो लोग सुल्तान के प्रति वफादार रहे उन्हें उसने विद्रोहियों की जागीरें छीन कर दीं और पुरस्कृत किया।

इस सफलता ने इब्राहीम को पहले से भी अधिक धृष्ट बना दिया और अन्य अमीरों को दण्ड देने के लिए प्रोत्साहित किया। दुर्भाग्य से आजम हुमायूँ शेरवानी तथा कुछ अन्य अमीर कारागार में ही मर गये जिससे चारों ओर क्रोध और विद्रोह की ज्वाला धधकने लगी। बिहार में सूबेदार दरियाखाँ लोहानी, खानेजहाँ लोदी, मियाँ हुसैन करमाली तथा अन्य अमीरों ने विद्रोह कर दिया।

चन्देरी में शेख हसन करमाली के वध की आज्ञा देकर सुल्तान ने एक और मूर्खतापूर्ण कार्य किया। इससे विद्रोहियों को विश्वास हो गया कि जब तक इब्राहीम सिंहासन पर बैठा है, हमारा जीवन तथा सम्मान सुरक्षित नहीं रह सकते। इसलिए उन्होंने सुल्तान को अपदस्थ करने के उपाय रचे। इसी समय विद्रोहियों के नेता दरियाखाँ लोदी की मृत्यु हो गयी। किन्तु उसके पुत्र

बहादुरखाँ ने जो बिहार का जागीरदार था, मुहम्मदशाह के नाम से अपने को सुल्तान घोषित कर दिया। अनेक विद्रोही उसके झण्डे के नीचे एकत्रित हो गये और उसकी सेना की संख्या एक लाख घुड़सवार हो गयी। उसने बिहार से लेकर सम्भल तक के समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया। गाजीपुर का सूबेदार नासिरखाँ लोहानी भी उससे जा मिला।

पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी ने भी विद्रोह कर दिया। उसका पुत्र गाजीखाँ दिल्ली से निकल भागा और अपने पिता को सूचना दी कि यदि इब्राहीम बिहार के विद्रोह को दबाने में सफल हुआ तो आपको भी लाहौर से वंचित कर देगा। इसी भय के कारण दौलतखाँ ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया और काबुल के राजा बाबर से बातचीत आरम्भ कर दी और उसे भारत पर आक्रमण-करने तथा इब्राहीम को सिंहासनाच्युत करने के लिए आमन्त्रित किया। बाबर स्वयं भारत को जीतने का इच्छुक था इसलिए उसने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। सम्भवतः दौलतखाँ लोदी समझता था कि बाबर आयेगा, देश को लूट कर वापिस चला जायेगा, और मुझे पंजाब में अपनी शक्ति की स्थापना करने का अवसर मिल जायगा, किन्तु उसकी यह भूल थी। उसी समय आलमखाँ नामक एक अन्य अफग़ान अमीर जो इब्राहीम का चाचा था, मैदान में आया। वह भी दिल्ली का सिंहासन हस्तगत करने की अभिलाषा रखता था, इस उद्देश्य से उसने भी बाबर से बातचीत आरम्भ कर दी। इस सबके परिणामस्वरूप २१ अप्रैल, १५२६ ई. को पानीपत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ जिसमें इब्राहीम लोदी हारा और मारा गया। उसकी मृत्यु के साथ दिल्ली सल्तनत का भी अवसान हो गया।

इब्राहीम का मूल्यांकन

यद्यपि इब्राहीम लोदी में योग्यता तथा बुद्धि का पूर्ण अभाव नहीं था, फिर भी उसे दुखद विफलता भोगनी पड़ी। वह वीर तथा निर्भीक योद्धा और एक सफल सेनानायक था। वह ईमानदार तथा परिश्रमी था। मध्ययुगीन इतिहासकारों के संक्षिप्त वृत्तान्त से स्पष्ट है कि उसका निजी जीवन अच्छा था और उसने उत्साह के साथ अपने को राजकाज में संलग्न किया था। उसका न्याय-शासन उतना ही योग्य था जितना उसके किसी भी पूर्वाधिकारी का, किन्तु स्वयं अफग़ान होते हुए भी वह अफग़ान जाति के चरित्र तथा भावनाओं से अपरिचित था। मूर्खतावश उसने अपने पिता तथा पितामह की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति त्याग दी और अपने उन अमीरों पर कठोर अनुशासन तथा दरबारी शिष्टाचार थोपने का प्रयत्न किया जो कट्टर लोकतन्त्रवादी थे और जो सुल्तान को केवल अमीरों का अमीर समझते थे। उसकी वास्तविक सुल्तान बनने तथा अपनी आज्ञाओं का उल्लघंन करने वालों को धृष्टतापूर्वक दण्ड देने

की नीति ने उन्हें विद्रोही बना दिया। इस प्रकार स्वयं उसने सल्तनत की नींव को खोखला किया और अपने जीवन तथा सिंहासन से हाथ धोये।

वंशावली वृक्ष: लोदी-वंश
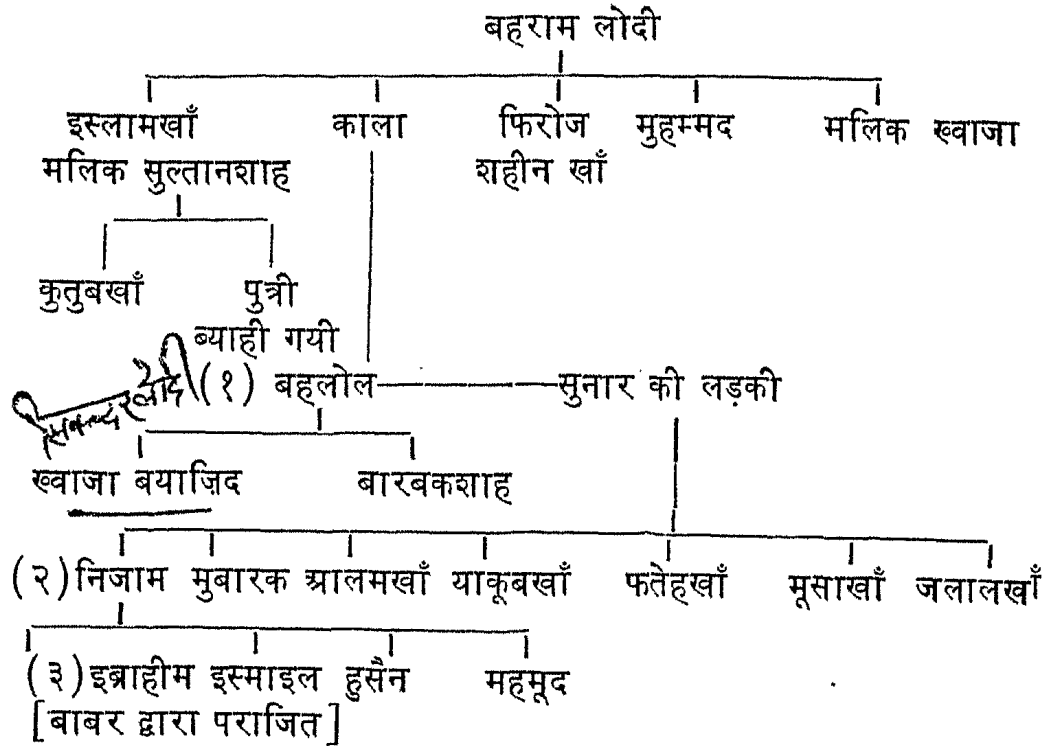
BOOKS FOR FURTHER READING

1. THOMAS, EDWARD : The Chronicles of the Pathan Kings of Delhi.
2. DORN : History of the Afghans.
3. ELLIOT & DOWSON : History of India, etc., Vol. IV.
4. HAIG, WOOLSELEY : Cambridge History of India, Vol. III.

अध्याय १७

प्रान्तीय राज्य

उत्तरी भारत

जौनपुर

फीरोज़ तुग़लक की मृत्यु के पश्चात कुछ ही वर्षों के भीतर दिल्ली सल्तनत के कुछ प्रान्तों ने अपनी स्वाधीनता की स्थापना कर ली और नये राजवंशों की नींव डाली। सर्वप्रथम ऐसा करने वालों में जौनपुर एक था। जौनपुर नगर की स्थापना फीरोज़ तुग़लक ने ही की थी और अपने चचेरे भाई जूनाखाँ उपनाम मुहम्मद बिन तुग़लक के नाम पर उसका नाम रखा था। मलिक सरवर नामक एक हिजड़ा जिसे सुल्तान-उस-शर्क की उपाधि मिली हुई थी, जौनपुर का अन्तिम सूबेदार था जिसने तिमूर के आक्रमण से उत्पन्न हुई अव्यवस्था के काल में दिल्ली के प्रभुत्व से अपने को मुक्त कर लिया था और वास्तविक सुल्तान बन बैठा था। उसने सुल्तान की उपाधि नहीं धारण की किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसने स्वतन्त्र शासक की भाँति ही कार्य किया। उसका वंश उसकी उपाधि के नाम पर शर्की कहलाता है। सरवर-उल-मुल्क ने अवध तथा अलीगढ़ तक दोआब के प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। तिरहुत और बिहार पर भी उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। १३९९ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका दत्तक पुत्र मलिक करनफूल उत्तराधिकारी हुआ। उसने मुबारकशाह की उपाधि धारण की। इस प्रकार यह व्यक्ति ही शर्की-वंश का पहला शासक था जिसने सुल्तान की उपाधि धारण की, अपने नाम के सिक्के जारी किये और खुतबा पढ़वाया। उसके शासनकाल में दिल्ली के मल्लू इकबाल ने जौनपुर को पुनः जीतने के उद्देश्य से आक्रमण किया, किन्तु असफल रहा। इस प्रकार १४०१ ई. में दिल्ली तथा जौनपुर के बीच शत्रुता का बीज बो दिया गया जिसके कारण दोनों राजवंशों में दीर्घ-काल तक संघर्ष चला। १४०२ ई. में मुबारकशाह की मृत्यु हो गयी और उसका अनुज सिंहासन पर बैठा जो इतिहास में इब्राहीमशाह के नाम से प्रसिद्ध है।

इब्राहीम शर्की-वंश का महानतम शासक था। उसने लगभग ३४ वर्ष तक राज्य किया। वह सुसंस्कृत सुल्तान तथा विद्या का संरक्षक था। उसने

पाठशालाओं तथा विद्यालयों की स्थापना की और राज-कोष से उन्हें उदार धर्मस्व प्रदान किये । उसने देश के विभिन्न भागों से विद्वानों तथा धर्म-शास्त्रज्ञों को आमन्त्रित किया और उन्हें निर्वाह के लिए भत्ते तथा हर प्रकार से राज्य की ओर से संरक्षण दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लामी धर्म-शास्त्रों, कानून तथा अन्य विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । जौनपुर नगर को उसने अनेक इमारतों, विशेषकर मस्जिदों से सुशोभित किया जिसमें प्रसिद्ध अटाला मस्जिद अत्यधिक सुन्दर है । उसके संरक्षण में जौनपुर में स्थापत्य की एक नयी शैली का विकास हुआ जो शर्की-शैली के नाम से प्रसिद्ध है । जौनपुर की मस्जिदें देखने में सुन्दर हैं, उनमें सामान्य प्रकार की मीनारें नहीं हैं और उन पर हिन्दू स्थापत्य का प्रभाव दीख पड़ता है । इब्राहीम को संगीत तथा अन्य ललित-कलाओं से भी प्रेम था । उच्चकोटि के सांस्कृतिक कार्यों के कारण इस सुल्तान के समय में जौनपुर 'भारत के शीराज' के नाम से विख्यात हुआ ।

इब्राहीम के शासन-काल में दिल्ली तथा जौनपुर के पारस्परिक सम्बन्धों में कटुता आ गयी । मल्लू के अत्याचारों से बचने के लिए जब महमूद तुग़लक भाग कर जौनपुर पहुँचा तो इब्राहीम ने उसके साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जैसा कि एक सुल्तान के साथ करना चाहिए था । अतः महमूद ने जौनपुर राज्य के कन्नौज जिले पर बलपूर्वक अधिकार करके इस अपमान का बदला लिया । इसके उपरान्त इब्राहीम का खिज्रखाँ से जो दिल्ली का सुल्तान बन बैठा था, संघर्ष हो गया । १४०७ ई. में इब्राहीम ने महमूद को कन्नौज से मार भगाने का प्रयत्न किया । इब्राहीम की बाह्य नीति महत्वाकांक्षापूर्ण तथा आक्रमणकारी थी । उसने बंगाल पर आक्रमण किया किन्तु उसे जीतने में सफल नहीं हुआ । १४३६ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और महमूदशाह उसका उत्तराधिकारी हुआ । इस सुल्तान ने चुनार के जिले को विजय किया किन्तु कालपी पर अधिकार करने में वह सफल नहीं हुआ । उसने दिल्ली पर आक्रमण किया किन्तु बहलोल लोदी ने उसे परास्त किया । १४५७ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी । अब उसका पुत्र भिक्खन मुहम्मदशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा । वह सिद्धान्तहीन शासक था । उसने अपने अमीरों से झगड़ा मोल ले लिया और उन्होंने उसका वध करके उसके भाई हुसैनशाह को सिंहासन पर बिठा दिया । हुसैनशाह शर्की-वंश का अन्तिम सुल्तान था । उसके समय में दिल्ली तथा जौनपुर की प्रतिद्वन्द्विता पराकाष्ठा को पहुँच गयी और एक दीर्घकालीन युद्ध आरम्भ हो गया । १४५८ ई. में हुसैनशाह ने बहलोल लोदी से सन्धि कर ली जो चार वर्ष तक चली । इस बीच में उसने तिरहुत के जमींदारों के विद्रोह का दमन किया और लूट के उद्देश्य से उड़ीसा पर आक्रमण करके वहाँ के राजा से एक भारी रकम युद्ध के हरजाने के रूप में वसूल की । १४६६ ई. में

उसने ग्वालियर पर आक्रमण किया। यद्यपि वह किले को विजय न कर सका किन्तु राजा मानसिंह को युद्ध-क्षति-पूर्ति के रूप में बहुत-सा धन जौनपुर के सुल्तान को देना पड़ा। इसी बीच दिल्ली तथा जौनपुर के बीच में पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। बहलोल लोदी ने हुसैनशाह को पराजित करके बिहार में शरण लेने पर बाध्य किया। उसने सम्पूर्ण जौनपुर पर अधिकार करके अपने ज्येष्ठ पुत्र बारबकशाह को वहाँ के सिंहासन पर बिठा दिया। बिहार में बैठ-कर हुसैनशाह ने दिल्ली सुल्तान के विरुद्ध निर्मम कुचक्र चलाये और जौनपुर राज्य के जमींदारों को उसके विरुद्ध विद्रोह करने को भड़काया। यही कारण था कि बहलोल के उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी को कठोर नीति अपनानी पड़ी और जौनपुर को स्थायी रूप से दिल्ली सल्तनत में मिलाना पड़ा। १५०० ई. में बिहार में ही निर्वासित की दशा में हुसैनशाह की मृत्यु हो गयी और उसके साथ शर्की राज-वंश का भी अवसान हो गया। शर्की-वंश ने लगभग पचासी वर्ष तक जौनपुर में शासन किया। इस वंश के शासन-काल में राज्य की भौतिक समृद्धि हुई और सांस्कृतिक कार्यों को प्रोत्साहन मिला। देश के प्रान्तीय राज्यों में जौनपुर ने उच्च स्थान प्राप्त कर लिया।

मालवा

मालवा का प्रान्त जिसे अलाउद्दीन खलजी ने १३०५ ई. में विजय किया था, १३९८ ई. तक दिल्ली सल्तनत का एक अंग बना रहा। उसके सूबेदार दिलावरखाँ ग़ोरी ने जिसे सम्भवतः फीरोज़ ने नियुक्त किया था, तिमूर के आक्रमण के उपरान्त दिल्ली के प्रभुत्व का जुआ उतार फेंका था और वास्तविक सुल्तान बन बैठा था। किन्तु मलिक-उस-शर्क की भाँति उसने भी विधिवत सुल्तान की उपाधि नहीं धारण की। १४०६ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र अलपखाँ हुसंगशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। नया सुल्तान वीर, पराक्रमी तथा साहसी था। आक्रमणकारी युद्धों में उसे आनन्द आता था और वे उसके सम्पूर्ण शासन-काल में जारी रहे। १४२२ ई. में उसने सहसा उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया और वहाँ से अतुल धन लूट कर लाया जिसमें ७५ हाथी भी सम्मिलित थे। इसके बाद उसने खेरल पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार करके वहाँ के राजा को बन्दी बना लिया। उसने दिल्ली, गुजरात, जौनपुर तथा दक्षिण के बहमनी सुल्तानों के विरुद्ध युद्ध किये, किन्तु इन आक्रमणकारी युद्धों से मालवा को अधिक लाभ नहीं हुआ और न सुल्तान के यश में ही वृद्धि हुई। निरन्तर युद्धों से जर्जरित होकर ६ जुलाई, १४३५ ई. को हुसंगशाह इस संसार से चल बसा। उसका पुत्र गाजीखाँ उत्तराधिकारी हुआ और मुहम्मदशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह एक नितान्त अयोग्य शासक था और राज-काज की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता

था। उसके वज़ीर महमूदखाँ ने उसे पदच्युत करके मई, सन १४३६ ई. में सिंहासन स्वयं हड़प लिया। महमूह ने शाह की उपाधि धारण की और एक नये राजवंश की नींव डाली जो मालवा के ख़लजी-वंश के नाम से विख्यात है। किन्तु अमीरों के एक दल ने उसकी सत्ता को चुनौती दी और उसे सुल्तान मानने से इन्कार किया। गुजरात के अहमदशाह प्रथम ने भी स्वर्गीय मुहम्मद-शाह के पुत्र का पक्ष लिया किन्तु महमूद ख़लजी ने सफलतापूर्वक अपने शत्रुओं के विरोध का दमन कर दिया। वह वीर योद्धा था, उसने गुजरात के अहमद-शाह प्रथम, दिल्ली के मुहम्मदशाह, मुहम्मदशाह तृतीय बहमनी और मेवाड़ के राणा कुम्भ के विरुद्ध युद्ध किये। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके तथा मेवाड़ के राणा कुम्भ के बीच युद्ध निर्णायक नहीं सिद्ध हुआ क्योंकि दोनों ही पक्षों ने अपने को विजयी माना और विजय-स्तम्भ गड़वाये। महमूद मालवा के मुस्लिम शासकों में सबसे अधिक योग्य था। उसने अपने राज्य का अत्यधिक विस्तार किया और उसकी सीमाओं को दक्षिण में सतपुड़ा, पश्चिम में गुजरात की सीमाओं तक, पूरब में बुन्देलखण्ड और उत्तर में मेवाड़ तथा बूँदी तक पहुँचा दिया। मिस्र के खलीफा ने उसे सुल्तान स्वीकार कर लिया था। उस देश के सुल्तान अबू सईद ने भी उसके पास अपना दूत-मण्डल भेजा। फरिश्ता के कथनानुसार वह नम्र, वीर, न्याय-प्रिय तथा विद्वान था और उसके शासन-काल में उसकी हिन्दू तथा मुसलमान, सभी प्रजा सुखी थी और उसमें पारस्परिक मित्रतापूर्ण सम्बन्ध था। शायद ही कोई ऐसा वर्ष बीता हो जब उसने युद्ध न किया हो, इसीलिए कहा जाता है कि उसका खेमा, उसका घर और युद्ध-क्षेत्र उसका विश्राम-स्थल बन गया था। अपने अवकाश के समय को वह इतिहास-ग्रन्थों तथा संसार के विभिन्न राज-दरबारों के संस्मरणों के सुनने में बिताया करता था। उसने ३४ वर्ष तक राज्य किया।

गियासुद्दीन दूसरा सुल्तान हुआ जो अपने पिता महमूद की मृत्यु के उपरान्त १४६९ ई. में सिंहासन पर बैठा। वह धार्मिक प्रवृत्ति का युवक था और अपना अधिकांश समय ईश्वर-प्रार्थना में बिताया करता था। वह मदिरा तथा इस्लाम द्वारा निषिद्ध अन्य भोजन की वस्तुओं से परहेज करता था। वह शान्ति-प्रिय था, किन्तु उसके पुत्रों के पारस्परिक द्वन्द्व के कारण उसका पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण था। उसके सबसे बड़े पुत्र नासिरुद्दीन ने १५०० ई. में उसको विष देकर मार डाला और सिंहासन हस्तगत कर लिया। नया सुल्तान व्यभिचारी तथा प्रजापीड़क निकला। कहा जाता है कि उसके रनिवास में १५,००० स्त्रियाँ थीं। मदिरा पीने का दुर्व्यसन भी उसमें अधिक था। १५१० ई. में एक दिन मदिरा के नशे में वह एक झील में गिरकर डूब गया। उसका पुत्र महमूद द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने चन्देरी के मेदिनीराय नामक एक

शक्तिशाली राजपूत सामन्त को अपने विद्रोही अमीरों का दमन करने के लिए आमन्त्रित किया और अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। दरबार में राजपूतों के प्रभुत्व के कारण मुसलमान अमीरों की ईर्ष्या भड़क उठी और उस शक्तिशाली वज़ीर के विरुद्ध उन्होंने गुजरात के मुजफ्फरशाह द्वितीय से सहायता की प्रार्थना की। किन्तु मेदिनीराय ने राणा सांगा की सहायता से स्वयं महमूद को ही पराजित कर दिया। चित्तौड़ के विरुद्ध इस युद्ध में महमूद द्वितीय बन्दी बना लिया गया, किन्तु राणा ने उसके साथ अत्यधिक उदारता का व्यवहार किया और उसका राज्य लौटा दिया। सिसौदिया राणा के इस दयापूर्ण व्यवहार के बावजूद भी न तो मालवा की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की ही पुनः स्थापना हो सकी और न मालवा तथा चित्तौड़ के बीच संघर्ष का ही अन्त हो पाया। मूर्ख महमूद राणा की उदारता की सराहना न कर सका और सांगा के उत्तराधिकारी रत्नसिंह पर उसने आक्रमण किया। राणा रत्नसिंह ने बदला लेने के लिए मालवा पर आक्रमण किया और महमूद को हराया। इसके बाद महमूद ने गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के छोटे भाई चाँदखाँ को अपने यहाँ शरण दी और इस प्रकार उस सुल्तान से शत्रुता मोल ले ली। १७ मार्च, १५३१ ई. को बहादुरशाह ने माँडू पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार मालवा की स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। १५३५ ई. में मुग़ल सम्राट हुमायूँ के आक्रमण तक वह प्रान्त गुजरात राज्य का अंग बना रहा। हुमायूँ तथा शेरशाह के समय में वह दिल्ली-साम्राज्य का प्रान्त रहा। शेरशाह ने शुज्जातखाँ को उसका सूबेदार नियुक्त किया। शुज्जातखाँ की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र बाजबहादुर सूबेदार हुआ। इस्लामशाह सूर की मृत्यु के बाद के अराजकता के समय में बाजबहादुर ने सुल्तान की उपाधि धारण कर ली। १५६२ ई. में मुग़ल सम्राट अकबर ने बाजबहादुर को पराजित करके मालवा को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

गुजरात

गुजरात के धनी प्रान्त को अलाउद्दीन ख़लजी ने १२९७ ई. में जीत कर दिल्ली सल्तनत में मिलाया था। उस समय से लेकर १४०१ ई. तक वह दिल्ली का प्रान्त बना रहा। १३९१ ई. में फीरोज़ तुग़लक के सबसे छोटे पुत्र मुहम्मदशाह तुग़लक द्वितीय ने जफरखाँ को जो एक राजपूत मुसलमान का पुत्र था, गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता तथा तिमूर के आक्रमण से उत्पन्न हुई अव्यवस्था से लाभ उठाकर १४०१ ई. में वह स्वतन्त्र शासक बन बैठा। कुछ समय के लिए उसके विद्रोही पुत्र तातारखाँ ने उसे पदच्युत करके अपने आप को नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया किन्तु उसके चाचा शम्सखाँ ने उसका वध कर दिया।

जफरखाँ ने इसके बाद पुनः गद्दी प्राप्त कर ली और १४११ ई. तक सुल्तान मुजफ्फरशाह के नाम से शासन किया। मुजफ्फरशाह के शासन-काल में गुजरात तथा मालवा में संघर्ष हुआ। मुजफ्फरशाह ने मालवा के सुल्तान हुसंगशाह को परास्त किया और धार पर अधिकार कर लिया। १४११ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पौत्र अहमदशाह गद्दी पर बैठा। इस सुल्तान की गणना गुजरात के महानतम शासकों में है। उसी को उस राज्य की स्वतन्त्रता का संस्थापक माना जाता है, और यह उचित ही है। उसने इकत्तीस वर्ष (१४११ से १४४२ ई.) तक राज्य किया। वह महत्वाकांक्षी तथा पराक्रमी सुल्तान था और विजयों द्वारा उसने अपने राज्य का विस्तार किया। उसने मालवा, असीरगढ़, राजस्थान तथा अन्य पड़ोसी राज्यों के शासकों के विरुद्ध युद्ध किये। उसमें महान् शक्ति तथा महत्वाकांक्षा विद्यमान थी, उसने शासन का पुनः संगठन किया और असावल नामक पुराने कस्बे के स्थान पर आधुनिक अहमदाबाद नामक नगर का निर्माण कर उसे अपनी राजधानी बनाया। यहाँ पर उसने अनेक शानदार इमारतें बनवायीं जिनमें से एक विशाल मस्जिद आज भी खड़ी हुई है। वह सफल शासक था और गुजरात के इतिहास में अपनी न्यायप्रियता, उदारता तथा दानशीलता के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु वह धर्मान्ध था और अपनी गैर-मुस्लिम प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण था। १६ अगस्त, १४४२ ई. को उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मदशाह ने १४४२ ई. से १४५१ ई. तक शासन किया। फिर कुतुबुद्दीन अहमद और दाऊद नामक दो दुर्बल शासक हुए। दाऊद इतना अयोग्य था कि सिंहासन पर बैठने के कुछ ही दिनों के भीतर अमीरों ने उसे अपदस्थ करके अहमदशाह के पौत्र अबुल फतेहखाँ को गद्दी पर बिठाया। उसने महमूदशाह की उपाधि धारण की। वह महमूद बेगड़ा के नाम से प्रसिद्ध है।

महमूद बेगड़ा अपने वंश का महानतम शासक था। वह वीर योद्धा, महान् विजेता तथा सफल शासक था। उसका शरीर पर्वताकार, मूँछें लम्बी, आकृति भव्य तथा भूख असीम थी। एक अधिकारपूर्ण गुजराती इतिहासकार के अनुसार "महमूद बेगड़ा ने गुजरात राज्य के वैभव और प्रताप में वृद्धि की, वह अपने से पहले तथा बाद के सभी गुजराती शासकों में सर्वश्रेष्ठ था; न्यायप्रियता, उदारता.........इस्लामी नियमों का प्रचार तथा मुसलमानों की अभिवृद्धि, ठोस निर्णय-बुद्धि, शक्ति, पराक्रम तथा विजय सभी दृष्टि से और बाल्यकाल, यौवन तथा वृद्धावस्था में समान रूप से वह श्रेष्ठता का आदर्श था।" उसने तिरेपन वर्ष तक शासन किया। उसका पहला कार्य उन विद्रोही दरबारियों का दमन करना था जो उसके भाई हसनखाँ को सिंहासन

पर बिठाना चाहते थे। इसके बाद उसने विजय की नीति आरम्भ की। उसने कच्छ के सुम्र और सोढ़ा सामन्तों को हराया और जूनागढ़ तथा चम्पानेर के किलों को जीत लिया। जगत (द्वारका) के समुद्री डाकुओं को उसने दण्ड दिया। मालवा के महमूद ख़लजी के विरुद्ध उसने निजामशाह बहमनी का पक्ष लिया और ख़लजी को पराजित किया। उसके शासन-काल में गुजरात राज्य की सीमाएँ विस्तार की पराकाष्ठा को पहुँच गयीं। अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में उसने मिस्र के सुल्तान की सहायता से पुर्तगालियों पर आक्रमण किया जिन्होंने भारतीय समुद्रों के लाभप्रद व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर रखा था। मिस्री बेड़े का सेनापति जैदा का सूबेदार अमीर हुसैन कुर्द था और भारतीय सेना का संचालन मलिक अयाज़ ने किया। १५०८ ई. में चौल के निकट एक पुर्तगाली टुकड़ी की पराजय हुई किन्तु १५०९ ई. में पुर्तगालियों ने अपनी हानि पूरी करली और ड्यू के निकट मित्रों के बेड़े को कुचल दिया। इस विजय से पुर्तगाली समुद्र-तट पर अपने खोये हुए प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करने में सफल हो सके। बाध्य होकर महमूद बेगड़ा को उन्हें ड्यू के निकट व्यापारिक कोठी बनाने के लिए भूमि देनी पड़ी। नवम्बर, १५११ ई. में महमूद की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र मुजफ्फरशाह द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ। नये सुल्तान ने मेदिनीराय राजपूत के विरुद्ध युद्ध किया और महमूद ख़लजी को पुनः मालवा की गद्दी पर बिठा दिया। १५२६ ई. में उसका देहावसान हो गया। इसके उपरान्त सिकन्दर तथा महमूद द्वितीय नामक दो अयोग्य शासक गद्दी पर बैठे किन्तु उन्होंने कुछ महीनों ही राज्य किया। जुलाई, १५२६ ई. में मुजफ्फरशाह द्वितीय का एक अन्य पुत्र बहादुरशाह सुल्तान हुआ।

बहादुरशाह ने १५२६ ई. से १५३७ ई. तक राज्य किया। उसकी गणना अपने समय के योग्यतम शासकों में की जाती थी। अपने पितामह की भाँति वह भी साहसी, पराक्रमी तथा युद्ध-प्रिय था। सिंहासन पर बैठने के उपरान्त शीघ्र ही उसने विजय-कार्य आरम्भ कर दिया। मालवा के महमूद द्वितीय को हराकर १५३१ ई. में उसने उस राज्य को गुजरात में सम्मिलित कर लिया। तदुपरान्त १५३१ ई. में उसने मेवाड़ पर आक्रमण किया और चित्तौड़-गढ़ को घेर लिया। किन्तु उसने एक भूल की, हुमायूँ के विद्रोही चचेरे भाइयों को शरण देकर उसने मुग़ल-साम्राज्य से झगड़ा मोल ले लिया, अतः हुमायूँ ने उसे पराजित करके मालवा पर अधिकार कर लिया और फिर उसे गुजरात से भी मार भगाया। किन्तु हुमायूँ को अपनी सेना वापिस बुलानी पड़ी। बहादुरशाह ने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया और अब उसने पुर्तगालियों को गुजरात से मार भगाने की योजना बनायी क्योंकि उन्होंने हुमायूँ के विरुद्ध उसे सहायता

नहीं दी थी। फरवरी, १५३७ ई. में पुर्तगाली सूबेदार डा. नुनहो कून्हा ने धोखा देकर उसे अपने एक जहाज पर बुला लिया और विश्वासघात करके समुद्र में डुबा दिया। उसकी मृत्यु के बाद गुजरात में कई दुर्बल शासक हुए और राज्य भर में अव्यवस्था फैली रही। इससे लाभ उठाकर महान् मुग़ल सम्राट अकबर ने १५७२ ई. में गुजरात को जीतकर मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

बंगाल

बंगाल को बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार ख़लजी ने विजय करके दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया था। किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया। बंगाल का प्रान्त धनी तथा दिल्ली से दूर था और स्थानीय स्वायत्तता का उपभोग करने की इच्छुक वहाँ की जनता भी सम्भवतः उनका समर्थन करती थी, इसलिए अपनी योजनाओं का कार्यान्वित करने के लिए उन्हें और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। बलबन ने बंगाल को दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया और अपने पुत्र बुग़राखाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त बुग़राखाँ स्वतन्त्र हो गया। ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने शासन की सुविधा के लिए बंगाल को लखनौती, सतगाँव और सुनारगाँव इन तीन टुकड़ों में बाँटकर समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। किन्तु इससे भी बंगालियों को विद्रोही होने से न रोका जा सका। मुहम्मद बिन तुग़लक को भी दिल्ली का प्रभुत्व पुनः स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने पड़े थे। किन्तु उसकी मृत्यु से पहले ही प्रान्त ने पुनः दिल्ली से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। १३४५ ई. में हाजी इलियास ने प्रान्त के विभाजन को समाप्त कर दिया और शम्सुद्दीन इलियासशाह के नाम से वह संयुक्त बंगाल का शासक बन बैठा। वह युद्ध-प्रिय शासक तथा महान् योद्धा था। उसने उड़ीसा तथा तिरहुत पर आक्रमण करके उनसे कर वसूल किया। उसने दिल्ली सल्तनत की भूमि को भी पदाक्रान्त किया। परिणामस्वरूप फीरोज़ तुग़लक को बाध्य होकर उसे दण्ड देने के लिए बंगाल पर आक्रमण करना पड़ा। किन्तु बंगाल को पुनः विजय करने की उसकी योजना विफल रही। १३५७ ई. में १२ वर्ष के समृद्धपूर्ण शासन के उपरान्त इलियास की मृत्यु हो गयी।

१३५७ ई. में इलियास का पुत्र सिकन्दर सुल्तान हुआ। उसके शासन-काल में फीरोज तुग़लक ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का पुनः प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। १३९३ ई. में ३६ वर्ष के सम्पन्न शासन-काल के उपरान्त सिकन्दर का देहावसान हो गया। उसका उत्तराधिकारी

ग़ियासुद्दीन आजम हुआ जो योग्य शासक था। उसका धर्म में अनुराग और फारसी साहित्य में विशेष रुचि थी। उसने चीन के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया। १४१० ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अब सैफ़ुद्दीन हम्जाशाह सुल्तान हुआ, किन्तु वह दुर्बल शासक था। उसके शासन-काल में भतूरिया और दीनाजपुर के ब्राह्मण जमींदार राजा गणेश ने दरबार में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, जिसके कारण सुल्तान की स्थिति एक नाममात्र के शासक की सी रह गयी। एक वर्ष तथा कुछ महीनों राज्य करने के उपरान्त हम्जाशाह की मृत्यु हो गयी। स्थानीय इतिहासकारों का कथन है कि राजा गणेश स्वतन्त्र शासक बन बैठा, किन्तु कुछ समय उपरान्त उसने अपने पुत्र जादू के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। सिंहासन पर बैठने के कुछ वर्ष बाद जादू मुसलमान हो गया और जलालुद्दीन मुहम्मदशाह की उपाधि धारण की। १४३१ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। फिर उसके पुत्र शम्सुद्दीन अहमद ने १४४२ ई. तक राज्य किया। वह अप्रिय शासक था और उसके समय में उपद्रवी अमीरों ने राज्य की शक्ति का अपहरण कर लिया। उसके उपरान्त एक के बाद एक दो सुल्तान हुए। वे अमीरों के हाथों की कठपुतली बने रहे, उन्होंने थोड़े ही समय तक राज्य किया। फिर हाजी इलियास का एक पौत्र नासिरुद्दीन सिंहासन पर बैठा। इस सुल्तान ने नासिरुद्दीन अबुल मुजफ्फर महमूदशाह की ऊँची उपाधि धारण की। उसने शान्तिपूर्वक सत्रह वर्ष तक राज्य किया और गौड़ में कुछ सुन्दर इमारतें तथा सतगाँव में एक मस्जिद बनवायी। १४६० ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र रुकुनुद्दीन बारबकशाह उत्तराधिकारी हुआ। वह योग्य शासक था। १४६७ ई. में उसका पुत्र शम्शुद्दीन यूसुफशाह सिंहासन पर बैठा। वह पुण्यात्मा तथा विद्वान शासक था। १४८१ ई. में उसका देहावसान हो गया और उसका पुत्र सिकन्दर द्वितीय सुल्तान हुआ। उसकी बुद्धि खराब थी इसलिए नासिरुद्दीन महमूद के एक पुत्र जलालुद्दीन फतेहशाह के पक्ष में उसे पदच्युत कर दिया गया। १४८६ ई. में उसके हब्शी गुलामों ने उसे मार डाला; उनके नेता ने सिंहासन हस्तगत कर लिया और बारबकशाह के नाम से सुल्तान हुआ। अब बंगाल की शासन-व्यवस्था में गड़बड़ फैल गयी और कुछ समय तक यही दशा रही। अन्त में इन्दलखाँ नामक एक दरबारी ने व्यवस्था कायम की और सैफ़ुद्दीन फीरोज़ के नाम से गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि वह योग्य शासक तथा सर्वप्रिय सुल्तान था। १४८९ ई. में वह मर गया और उसका पुत्र नासिरुद्दीन महमूदशाह द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु सिदी बद्र नामक एक हब्शी ने उसका वध कर दिया और सिंहासन हस्तगत करके शम्शुद्दीन अबनूसर मुजफ्फरशाह की उपाधि धारण की। वह अत्याचारी था। अपने हब्शी अनुयायियों की सहायता से उसने प्रजा पर बहुत अत्याचार किये।

अमीरों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और गौड़ में उसे घेर लिया। घेरे के दौरान में ही उसकी मृत्यु हो गयी। तब १४९३ ई. में अमीरों ने अलाउद्दीन हुसैनशाह को सिंहासन सौंप दिया। इस सुल्तान ने एक नये राज-वंश की नींव डाली जिसने लगभग पचास वर्ष तक शासन किया और प्रजा की समृद्धि के लिए अनेक लाभप्रद कार्य किये। महल-रक्षकों का दमन करना और हब्शियों को अपने राज्य से निकाल देना उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। १४९४ ई. में उसने जौनपुर के सुल्तान हुसैनशाह को शरण दी, इस कारण सिकन्दर लोदी से उसका संघर्ष हो गया, किन्तु अन्त में बाध्य होकर उसने दिल्ली सुल्तान से सन्धि कर ली जिसके अनुसार बिहार की पूरबी सीमा दोनों राज्यों के बीच की हद निश्चित की गयी। अलाउद्दीन हुसैनशाह ने उड़ीसा तक अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। उसने मगध तथा कूचबिहार में स्थित कामतपुर पर अधिकार कर लिया। १५१८ ई. में उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका सबसे बड़ा पुत्र नसीबखाँ नासिरुद्दीन नसरतशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। अपने पिता की भाँति वह भी योग्य तथा सफल शासक हुआ। उसने तिरहुत के राजा को हराकर उस राज्य पर अपना सूबेदार नियुक्त किया। नसरतशाह कला तथा साहित्य का संरक्षक था। उसके संरक्षण में महाभारत का बंगला में अनुवाद किया गया। उसने गौड़ में बड़ा सोना तथा कदम रसूल नामक दो प्रसिद्ध मस्जिदों का निर्माण कराया। १५३३ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र अलाउद्दीन फीरोजशाह उत्तराधिकारी हुआ। इस सुल्तान ने लगभग तीन महीने तक राज्य किया। उसका उसके चाचा ग़ियासुद्दीन महमूदशाह ने वध कर दिया। ग़ियासुद्दीन अपने वंश का अन्तिम शासक हुआ। १५३८ ई. में शेरशाह ने उसे बंगाल से मार भगाया और उस प्रान्त पर अपना अधिकार कर लिया।

काश्मीर

काश्मीर का पहला मुसलमान शासक शम्शुद्दीनशाह था जिसने १३३९ ई. में उस देश के सिंहासन पर अधिकार किया। उसका मूल नाम शाह मिर्जा था और स्वात का रहने वाला था। उसने काश्मीर के अन्तिम हिन्दू राजा के यहाँ नौकरी कर ली और अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली कि राजा के वंशजों को हटा कर वह स्वयं शासक बन बैठा। उसे बुद्धिमान तथा उदार बतलाया जाता है। १३४९ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उपरान्त उसके चार बेटों—जमशेद, अलाउद्दीन, शिहाबुद्दीन और कुतुबुद्दीन ने एक के बाद एक लगभग ४६ वर्ष राज्य किया। कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद १३९४ ई. में उसका पुत्र सिकन्दर गद्दी पर बैठा। इसी के समय में तिमूर ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया, किन्तु सौभाग्य से काश्मीर उन विपदाओं से बच गया जो उत्तरी-पश्चिमी

भारत को भोगनी पड़ी थीं। सिकन्दर शक्तिशाली शासक तथा इस्लामी विद्या का पोषक था। ईरान, अरब तथा मैसोपोटामिया के अनेक विद्वानों को उसके दरबार में हार्दिक स्वागत मिला। किन्तु वह धर्मान्ध तथा अपनी प्रजा के धर्म का कट्टर शत्रु था। उसने हिन्दुओं पर अत्याचार किये और ब्राह्मणों को या तो मुसलमान बना लिया अथवा काश्मीर से बाहर भगा दिया; केवल ग्यारह परिवारों को वहाँ रहने दिया। उसने अनेक मन्दिरों को नष्ट किया जिनमें मत्तन का मार्तण्ड मन्दिर अधिक महत्वपूर्ण था। यह विशाल कला-कृति आज भी आधी जली हुई तथा भग्नावस्था में खड़ी हुई है और अपनी उपस्थिति से सुल्तान की बुतशिकनी के उत्साह का परिचय देती है। अपनी इस धर्मान्धता के कारण ही वह सिकन्दर 'बुतशिकन' के नाम से विख्यात हुआ। बाईस वर्ष तथा नौ महीने के उपरान्त १४१६ ई. में वह मृत्यु को प्राप्त हुआ और उसका पुत्र अलीशाह उत्तराधिकारी हुआ। उसने थोड़े ही वर्ष राज्य किया। उसके भाई शाहखाँ ने उसे पदच्युत कर दिया और जून, १४२० ई. में स्वयं जैनुलअबीद्दीन के नाम से सिंहासन पर बैठा। जैनुलअबीद्दीन काश्मीर का महानतम सुल्तान था। वह इतना उदार, दयालु तथा उज्ज्वल विचारों का व्यक्ति था कि उसे काश्मीर का अकबर कहा गया है। उसने काश्मीरी ब्राह्मणों के उन परिवारों को जिन्हें सिकन्दर ने निर्वासित कर दिया था, अपने घरों को वापिस लौटने की आज्ञा दी। उसने हिन्दू विद्वानों को भी अपने दरबार में आश्रय दिया और घृणित जज़िया कर हटा दिया। उसने गौ-वध का निषेध कर दिया और अपनी सम्पूर्ण प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। काश्मीरी के अतिरिक्त जैनुलअबीद्दीन फारसी, हिन्दी तथा तिब्बती भाषाओं का विद्वान था। वह साहित्य, कला, संगीत तथा चित्र-कला का पोषक था। उसने महाभारत तथा राजतरंगिणी का फारसी में अनुवाद कराया। इसी प्रकार अरबी तथा फारसी के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कराया गया। उससे राहजनी का पूर्णरूप से दमन किया और कानून तथा व्यवस्था कायम करने का प्रयत्न किया। उसने जनता पर कर का बोझ कम कर दिया और मुद्रा में भी सुधार किये। उसने वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया और बाजार पर नियन्त्रण कायम किया। उसके शासन-काल में काश्मीर की असाधारण भौतिक उन्नति हुई। १४७० ई. के अन्त में किसी समय उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र हैदरशाह सुल्तान हुआ।

सम्भवतः हैदर भी काफी योग्य शासक था, किन्तु उसके उत्तराधिकारी दुर्बल तथा अयोग्य थे। परिणामस्वरूप चारों ओर अव्यवस्था तथा कुप्रबन्ध छा गया। अनेक दल उठ खड़े हुए और शक्ति के लिए संघर्ष करने लगे। १५४० ई. में मिर्जा हैदर नामक बाबर के एक सम्बन्धी ने काश्मीर को विजय

कर लिया। नाम के लिए उसने हुमायूँ के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया किन्तु वास्तव में वह स्वतन्त्र शासक था। १५५१ ई. में काश्मीरी अमीरों ने उसे पराजित करके राज्य के बाहर खदेड़ दिया, किन्तु अमीरों का पारस्परिक संघर्ष पूर्ववत चलता रहा। १५५५ ई. में चक कबीले ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और उनका एक सदस्य काश्मीर का राजा हो गया। १५८६ ई. में अकबर ने काश्मीर को जीत कर मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

उड़ीसा

उड़ीसा का राज्य गंगा के डेल्टा से गोदावरी के मुहाने तक फैला हुआ था। उसका संगठन अनन्तवर्मन चोल ने किया था, जिसने लगभग ७० वर्ष (१०७६-११४८ ई. लगभग) राज्य किया था। वह असाधारण शासक था। वीर तथा विजेता होने के अतिरिक्त वह धर्म और संस्कृत तथा तैलगू साहित्यों का पोषक था। उसने पुरी में प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण कराया। उसका उत्तराधिकारी प्रसिद्ध नरसिंह प्रथम हुआ (१२३८-६४ ई.)। उसने तथा उसके उत्तराधिकारी ने सफलतापूर्वक तुर्की आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और राज्य की रक्षा की। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके वंश का पराभव होने लगा। १४३४ ई. में अथवा उसके लगभग उसके स्थान पर एक नये राजवंश की स्थापना हुई जिसने एक शताब्दी से अधिक उड़ीसा पर शासन किया।

इस नये राजवंश का संस्थापक कपिलेन्द्र योग्य तथा साहसी शासक था। उसने विजयनगर तथा बहमनी शासकों के आक्रमणों से अपने राज्य की सफलतापूर्वक रक्षा की। उसके बाद पुरुषोत्तम (१४७०-९७ ई.) राजा हुआ। उसके शासन-काल में राज्य का पराभव होने लगा और गोदावरी के दक्षिण का आधा भाग उससे पृथक हो गया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र प्रताप-रुद्र (१४९७-१५४० ई.) हुआ। उसे गोदावरी के दक्षिण का अपने राज्य का आधा भाग विजयनगर के राजा को देना पड़ा। गोलकुण्डा के सुल्तान ने भी उड़ीसा पर आक्रमण किया और प्रतापरुद्र को अपमानजनक शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। १५४१-४२ ई. के लगभग कपिलेन्द्र-वंश के स्थान पर भोई-वंश की स्थापना हुई जिसका संस्थापक गोविन्द भोई अथवा लेखक जाति का था। भोई-वंश ने १५५९ ई. तक राज्य किया; फिर मुकन्द हरिचन्दन ने उसका अन्त कर दिया। उसने उड़ीसा को मुसलमान आक्रमणकारियों से बचाने का प्रयत्न किया। १५६८ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अब मुग़लों तथा बंगाल के कारारानी सुल्तानों ने उड़ीसा पर लोभपूर्ण दृष्टि डाली। १५६८ ई. में बंगाल के सुल्तान ने उसको जीत कर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

कामरूप

१३वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ब्रह्मपुत्र की घाटी में अनेक स्वतन्त्र राज्य थे जिनमें कामरूप का राज्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उस समय वह कामत राज्य के नाम से प्रसिद्ध था। वह पूरब में अहोमों तथा पश्चिम में बंगाल के सुल्तानों द्वारा घिरा हुआ था। पन्द्रहवीं शताब्दी में खैन लोगों ने कामरूप पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और कूचबिहार के दक्षिण में कुछ मील दूर पर स्थित कामतपुर को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के अन्तिम राजा नीलाम्बर को १४९८ ई. में बंगाल के अलाउद्दीन हुसैनशाह ने पदच्युत कर दिया। कुछ समय उपरान्त १५१५ ई. में कूच जाति का विषसिंह कामरूप का राजा बन बैठा। नरनारायण कूच-वंश का महानतम राजा हुआ। इसके शासन-काल में कामत राज्य वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँच गया, किन्तु दुर्भाग्य से राजा तथा उसके सामन्तों में द्वन्द्व छिड़ गया जिसके फलस्वरूप राज्य का विभाजन हो गया। नरनारायण को बाध्य होकर कामरूप का एक भाग अपने भतीजे रघुदेव को देना पड़ा। राज्य के ये दोनों भाग क्रमानुसार कूच-बिहार तथा कूचहाजों के नाम से प्रसिद्ध थे। विभाजन के कारण उन दोनों में संघर्ष आरम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप उनके पड़ोसी अहोमों और मुसलमानों ने हस्तक्षेप किये। १६३९ ई. में कामरूप का पश्चिमी भाग मुसलमानों और पूरबी अहोमों के अधिकार में चला गया।

१२१५ ई. में अथवा उसके आसपास आसाम अहोमों की एक शाखा के आधिपत्य में चला गया। अहोम लोग शान जाति के थे। इस प्रकार संस्थापित राजवंश ने उस प्रान्त पर लगभग छः सौ वर्ष राज्य किया। समृद्धि के दिनों में अहोमों ने कामरूप तथा बंगाल के शासकों को पूरब की ओर बढ़ने से सफलतापूर्वक रोका, किन्तु जब उन्होंने स्वयं कामरूप को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया तो उन पर बंगाल के सुल्तानों के आक्रमणों का मार्ग खुल गया। अलाउद्दीन हुसैनशाह ने आसाम पर आक्रमण किया, किन्तु उसे जीत न सका। इसका परिणाम यह हुआ कि अहोमों तथा बंगाल के सुल्तानों में शत्रुता हो गयी जो तीस वर्ष से अधिक चली। जब बंगाल के सुल्तानों को अहोमों के विरुद्ध सफलता नहीं मिली तो आसाम के कुछ स्थानीय मुसलमानों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, किन्तु वे भी वहाँ प्रभुत्व स्थापित करने में सफल नहीं हुए। इसलिए दिल्ली सल्तनत के समस्त युग में आसाम और कामरूप दोनों अहोमों के शासन के अन्तर्गत रहे।

राजस्थान

इस युग में राजस्थान में तीन महत्वपूर्ण स्वतन्त्र राज्य थे—मेवाड़, मारवाड़ तथा आमेर।

मेवाड़ (आधुनिक उदयपुर)

मेवाड़ का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार चित्तौड़ पर सिसौदिया गुहिलौत वंश का शासन छठी शताब्दी ईसवी के पीछे तक पहुँचता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान ने सिद्ध कर दिया है कि कम से कम सातवीं शताब्दी ईसवी में गुहिलौत राजपूत मेवाड़ पर राज्य करते थे। १३०३ ई. में अलाउद्दीन ख़लजी ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया, किन्तु राज्य का एक भाग गुहिलौतों के हाथ में बना रहा। राजधानी को भी राणा हम्मीर ने पुनः जीत लिया और अपने राजवंश की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करके १३६४ ई. में वह मर गया। उसका उत्तराधिकारी क्षेत्रसिंह हुआ जो योग्य पिता का योग्य पुत्र था। १३८२ ई. के लगभग वह एक पारिवारिक झगड़े में मारा गया। उसके बाद उसका पुत्र लक्खा सिंहासन पर बैठा। उसके उपरान्त मोकल हुआ जिसका १४३१ ई. में वध कर दिया गया। मोकल का उत्तराधिकारी प्रसिद्ध राणा कुम्भकरण था। उसकी गणना मेवाड़ के महानतम शासकों तथा समस्त देश के अत्यधिक यशस्वी और सफल राजाओं में थी। वह एक वीर योद्धा तथा प्रथम श्रेणी का सेनानायक था। उसने अपनी सेना में वृद्धि की और राज्य की सीमाओं की किलेबन्दी करने के लिए अनेक दुर्गों का निर्माण कराया, जिनमें कुम्भलगढ़ सबसे अधिक प्रसिद्ध था। तदुपरान्त उसने मालवा तथा गुजरात के शासकों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष किया। मालवा के विरुद्ध अपनी महान् विजय के स्मारकस्वरूप चित्तौड़ में उसने कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण कराया। राणा कुम्भ विद्या का पोषक और स्वयं भी उच्चकोटि का विद्वान था। राणा सांगा (१५०९-२८ ई.) के समय में मेवाड़ अपने वैभव के शिखर पर पहुँच गया था। सांगा के विषय में कहा जाता है कि वह योद्धा का एक टुकड़ा मात्र था क्योंकि उसके शरीर पर तलवार तथा भालों के घावों के अस्सी चिह्न थे और युद्ध में वह अपनी एक टाँग, एक आँख और एक भुजा खो चुका था। उसमें असाधारण सैनिक योग्यता थी। मालवा, दिल्ली तथा गुजरात के विरुद्ध उसने सफलतापूर्वक युद्ध किये। राजस्थान के अन्य राज्य भी उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे। उसने मालवा के महमूद द्वितीय को पराजित किया और बन्दी बना लिया, किन्तु बाद में उदारतापूर्वक उसका राज्य उसे वापिस लौटा दिया। बाबर से उसका संघर्ष हो गया और १५२७ ई. में खानुआ के युद्ध में उसके द्वारा परास्त हुआ, किन्तु बाबर को मेवाड़ जीतने का साहस नहीं हुआ और अकबर भी उसे मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित करने में सफल नहीं हुआ। लेकिन जहाँगीर के समय में मेवाड़ ने मुग़लों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया।

मारवाड़

राजस्थान का एक अन्य महत्वपूर्ण राज्य मारवाड़ था जिसे आजकल जोधपुर कहते हैं। उस पर राठौर राजपूत शासन करते थे जो प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे। मारवाड़ का आधुनिक इतिहास चुन्द के समय से आरम्भ होता है जिसने १३६४ ई. से १४२१ ई. तक शासन किया। उसका उत्तराधिकारी प्रसिद्ध जोधा हुआ जिसने जोधपुर के दुर्ग का निर्माण कराया, वहाँ पर एक नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया। उसने एक अन्य महत्वपूर्ण किला भी बनवाया जिसका नाम मन्दौर था। उसने १४३८ ई. से १४८८ ई. तक लगभग पचास वर्ष शासन किया। उसके एक पुत्र बिक्का ने १४६४ ई. के लगभग आधुनिक बीकानेर राज्य की स्थापना की। इस युग में मारवाड़ का सबसे अधिक महत्वशाली शासक मालदेव (१५३२-६२ ई.) हुआ, जिसके समय में वह राजवंश शक्ति के शिखर पर पहुँच गया। मालदेव को शेरशाह से संघर्ष करना पड़ा जिसने अन्त में बाध्य होकर उस पराक्रमी नरेश से सन्धि कर ली।

आमेर

आमेर के राज्य पर जिसे आजकल जयपुर कहते हैं, सूर्यवंशी कछवाहा राजपूत शासन करते थे। वे अपने को अयोध्या के श्री रामचन्द्र का वंशज मानते थे। कर्नल जेम्स टॉड के मतानुसार आमेर राज्य की स्थापना दसवीं शताब्दी में हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इतिहास के प्रारम्भिक दिनों में यह मेवाड़ के प्रभुत्व में रहा। परन्तु १४वीं शताब्दी में उसका कुछ राजनीतिक महत्व बढ़ गया और मुग़ल-काल में आमेर राजस्थान की प्रथम श्रेणी की रियासत हो गयी। उसके राजा भारमल ने १५६१ ई. में अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

दक्षिणी भारत

खानदेश

ताप्ती नदी की घाटी में स्थित खानदेश फीरोज़ तुग़लक के शासन-काल के अन्त तक दिल्ली सल्तनत का एक प्रान्त बना रहा। उसका सूबेदार मलिक राजा फरुकी जिसे फीरोज़ ने नियुक्त किया था, उसकी मृत्यु के बाद की अवस्था के काल में स्वतन्त्र शासक बन बैठा। उसने गुजरात के मुजफ्फरशाह प्रथम से युद्ध किया किन्तु पराजित हुआ। वह दयालु शासक के रूप में विख्यात था। २६ अप्रैल, १३६६ ई. को उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र मलिक नासिर उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपने भाई हसन को हराया और असीरगढ़ के हिन्दू राजा से वह किला छीन लिया किन्तु उसे गुजरात के सुल्तान का प्रभुत्व

स्वीकार करना पड़ा। बहमनी सुल्तान अलाउद्दीन अहमद के हाथों भी उसे हार खानी पड़ी। उसकी मृत्यु (१४३८ ई.) के उपरान्त क्रमानुसार दो दुर्बल सुल्तान गद्दी पर बैठे। १४५७ ई. में आदिलखाँ द्वितीय ने खानदेश के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वह योग्य तथा साहसी शासक था। उसने गोंडवाना को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और शासन-व्यवस्था में भी सुधार किया। १५०१ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका भाई दाऊद उत्तराधिकारी हुआ। १५०८ ई. में इस सुल्तान की भी मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका पुत्र गाजीखाँ गद्दी पर बैठा, किन्तु राज्यारोहण के दस दिन के भीतर ही उसे विष देकर मार डाला गया। तब खानदेश में अव्यवस्था का युग आरम्भ हो गया और उसके पड़ोसी गुलबर्गा तथा गुजरात के सुल्तानों ने उसकी आन्तरिक दुर्बलताओं से लाभ उठाना चाहा। अन्त में आदिलखाँ तृतीय खानदेश का सुल्तान हुआ। वह गुजरात के सुल्तान महमूद बेगड़ा का उम्मीदवार था जिसका खानदेश के आन्तरिक मामलों में बहुत प्रभाव बढ़ गया था। आदिलखाँ की १५२० ई. में मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी भी उसी की भाँति दुर्बल निकले। वे पड़ोसी शासकों के आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा न कर सके। १६०१ ई. में अकबर ने खानदेश को मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया।

बहमनी राज्य

मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल में कुछ दक्षिणी अमीरों ने उसकी अत्याचारपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया, दौलताबाद नगर पर अधिकार कर लिया और अपने में से इस्माइल मुख नामक एक व्यक्ति को नासिरुद्दीनशाह के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। नासिरुद्दीन बूढ़ा तथा नये राज्य का सुल्तान होने के योग्य न था क्योंकि उसके लिए उससे कहीं अधिक योग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी, इसलिए उसने सिंहासन त्याग दिया। तब अमीरों ने हसन को चुना जो ३ अगस्त, १३४७ ई. को अबुलमुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। फरिश्ता ने एक कहानी दी है कि अपने प्रारम्भिक दिनों में हसन गंग नामक एक ब्राह्मण के यहाँ नौकर था, ब्राह्मण ने उसके साथ उदारता का व्यवहार किया और उसके सुल्तान होने की भविष्यवाणी की, इसी कृतज्ञता के रूप में हसन ने बहमनी की उपाधि धारण की। किन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि यह कहानी केवल एक मनगढ़न्त है। हसन इस्फन्दिया के पुत्र प्रसिद्ध ईरानी वीर बहमन का वंशज होने का दावा करता था, इसलिए उसने बहमनशाह की उपाधि धारण की, न कि अपने तथाकथित ब्राह्मण उपकारी के नाम पर।

हसन शक्तिशाली शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने छोटे-से राज्य की सीमाओं का विस्तार करने का संकल्प किया। निरन्तर युद्धों के परिणामस्वरूप

वह उसकी सीमाओं को उत्तर में वानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा तक और पश्चिम में दौलताबाद से पूरब में भोंगिरी तक फैलाने में समर्थ हुआ। अपनी राजधानी गुलबर्गा में उसने सुयोग्य शासन-व्यवस्था की नींव डाली और अपने राज्य को चार प्रान्तों (तरफों) में विभक्त किया—गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर। प्रत्येक प्रान्त के ऊपर एक सूबेदार होता था, जो एक सेना रखता था तथा अपने सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था। ११ फरवरी, १३५८ ई. को हसन की मृत्यु हो गयी। अपने सहधर्मियों के साथ उसका व्यवहार न्यायपूर्ण था और इस्लाम का वह प्रचारक था। उसका सबसे बड़ा पुत्र मुहम्मदशाह प्रथम (१३५८-७७ ई.) उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसी सुल्तान को राज्य की शासन-व्यवस्था को ठोस आधार पर संगठित करने का श्रेय प्राप्त है। उसकी विदेश-नीति का आधार विजयनगर तथा वारंगल राज्यों के विरुद्ध शत्रुता थी। लगभग अपने सम्पूर्ण शासन-काल में उसने उनसे युद्ध किया। उन राज्यों के शासकों को उसने पराजित किया और भारी युद्ध का हरजाना देने पर बाध्य किया। मुहम्मद को मद्यपान तथा अन्य व्यसनों से प्रेम था। उसकी १३७१ ई. में मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र मुजाहिदशाह सुल्तान हुआ। उसने अपने पिता की विजयनगर के विरुद्ध युद्ध करने की नीति को जारी रखा। उसने विजयनगर को घेर लिया किन्तु हस्तगत करने में सफल नहीं हुआ और राजा से सन्धि करके गुलबर्गा को लौट गया। उसके प्राण लेने के लिए एक षड्यन्त्र रचा गया जिसके परिणामस्वरूप उसके एक सम्बन्धी दाऊदखाँ का सिंहासन पर अधिकार हो गया। किन्तु दाऊद का भी मई, १३७८ ई. में वध कर दिया गया। तब अमीरों ने हसन के एक पौत्र मुहम्मदशाह को सिंहासन पर बिठाया जिसने १३७८ ई. से १३९७ ई. तक शासन किया। वह स्वभाव से शान्ति-प्रिय तथा विद्या का संरक्षक था। उसने मस्जिदों का निर्माण कराया और दरबार में विद्वानों को एकत्र किया। उसके शासन-काल में विजयनगर से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रहा। इसके अन्तिम दिन दुख और चिन्ताओं में बीते क्योंकि उसके पुत्रों ने सिंहासन प्राप्त करने के लिए कुचक्र रचे। अप्रैल, १३९७ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद दो दुर्बल शासक हुए जिन्होंने केवल कुछ महीनों शासन किया। नवम्बर, १३९७ ई. में हसन के एक पौत्र ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया और ताजुद्दीन फीरोज़-शाह की उपाधि धारण की। उसने १३९७ ई. से १४२२ ई. तक राज्य किया। वह वीर शासक था और शेखों तथा विद्वानों के सत्संग का उसे शौक था। साथ ही साथ वह इन्द्रिय-सुखों में भी लिप्त रहता था और संकीर्ण विचारों वाला मुसलमान था। उसने अपने पूर्वाधिकारियों की विदेश-नीति कायम रखी और विजयनगर से तीन युद्ध लड़े जिनमें से दो में वह सफल रहा। अन्तिम

युद्ध में उसकी पराजय हुई। वह अव्यवस्थित रूप में युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ किन्तु शत्रु ने उसका पीछा किया। विजयनगर की सेना ने बहमनी राज्य के दक्षिणी तथा पूरबी जिलों पर अधिकार कर लिया। इससे फीरोज़ को बहुत अपमानित होना पड़ा और उसने शासन की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया। उसकी पराजय के उपरान्त १४२२ ई. में उसके भाई अहमद ने उसे अपदस्थ कर दिया।

अहमदशाह का शासन-काल दो महत्वपूर्ण घटनाओं के लिए प्रसिद्ध है। प्रथम, उसने गुलबर्गा को छोड़कर बीदर को अपनी राजधानी बनाया क्योंकि उसकी स्थिति अधिक अच्छी तथा जलवायु अधिक स्वास्थ्यप्रद थी। दूसरे, उसके दरबार में दक्षिणी दल तथा विदेशी दल में पारस्परिक प्रतिद्वंन्द्विता और भी अधिक बढ़ गयी। दक्षिणी दल में स्थानीय मुसलमान अमीर थे और वह अफ्रीकी जिन्हें राज्य में उच्च पद नहीं मिलते थे, उनका समर्थन करते थे। दूसरा दल विदेशी दल के नाम से प्रसिद्ध था जिसमें तुर्क, ईरानी तथा अरब बहमनी राजवंश सम्मिलित थे जिन्हें दरबार और प्रान्तों में उच्च पद प्राप्त थे। दक्षिणी मुसलमान उनसे ईर्ष्या करते थे। इसके अतिरिक्त धार्मिक मतभेदों के कारण राजनीतिक प्रतिस्पर्धा और भी अधिक कटु हो गयी। दक्षिणी अमीर सुन्नी तथा विदेशी अधिकतर शिया थे। दरबारी झगड़ों के कारण शासन-व्यवस्था में भी शिथिलता आ गयी, फिर भी अहमदशाह ने शक्तिपूर्ण विदेश-नीति का अनुसरण किया। अपने भाई के समय की क्षति को पूरा करने के लिए उसने विजयनगर पर आक्रमण किया और उसे घेर लिया। राजा घोर संकट में फँस गया और भारी युद्ध का हरजाना देने पर बाध्य हुआ। १४२४-२५ ई. में अहमद ने वारंगल को जीतकर उसके शासक को मार डाला। इस प्रकार वारंगल के स्वतन्त्र राज्य का अन्त हो गया। इसके बाद उसने मालवा के हुसैनशाह को पराजित किया और उसे भारी क्षति पहुँचायी। गुजरात के विरुद्ध भी उसने युद्ध किया किन्तु सफलता नहीं मिली। कोंकण के सामन्त पर विजय उसकी अन्तिम सफलता थी। १४३५ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसका पुत्र अलाउद्दीन द्वितीय (१४३५-५४ ई.) उसका उत्तराधिकारी हुआ। अलाउद्दीन ने अपने भाई मुहम्मद के विद्रोह का दमन किया और उसे रायचूर दोआब का सूबेदार नियुक्त किया जहाँ उसने अपने जीवन के अन्त तक वफादारी से काम किया। आन्तरिक द्वन्द्वों को शान्त करने के उपरान्त उसने कोंकण पर आक्रमण किया और उसके शासक को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर बाध्य किया। उसने संगमेश्वर राजा की पुत्री से बलपूर्वक विवाह कर लिया। उसके श्वसुर खानदेश के नसीरखाँ ने अपनी पुत्री का पक्ष लेकर बरार पर आक्रमण किया, किन्तु उसकी हार हुई। अपने कुल की परम्परा के

अनुकूल अलाउद्दीन ने विजयनगर के विरुद्ध युद्ध किया, बहुत धन लूटा और राजा को कर देने पर बाध्य किया। अलाउद्दीन ने एक अस्पताल की स्थापना की और उसके लिए बहुत-सा दान दिया। १४५७ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी उसका सबसे बड़ा पुत्र हुमायूँ हुआ जिसने १४५७ ई. से १४६१ ई. तक राज्य किया। वह अत्याचारी था और लोग उसको 'जालिम' कहते थे। १४६१ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। तब हुमायूँ का एक अल्पवयस्क पुत्र निजामशाह सिंहासन पर बैठा। राजमाता मकदूमेजहाँ ने उसकी अभिभाविका की हैसियत से राज्य किया। सुल्तान की अल्पवयस्कता का लाभ उठाकर उड़ीसा तथा तैलंगाना के राजाओं ने बहमनी राज्य पर आक्रमण किया, किन्तु वे पराजित हुए। तदुपरान्त मालवा के महमूद खलजी ने निजामशाह के राज्य पर आक्रमण किया, किन्तु गुजरात के महमूद बेगड़ा के हस्तक्षेप के कारण उसे वापिस लौटना पड़ा। १४६३ ई. में उस बालक सुल्तान की मृत्यु हो गयी और उसका भाई महमूद उत्तराधिकारी हुआ। उसने मुहम्मदशाह तृतीय (१४६३-८२ ई.) की उपाधि धारण की। अपने वंश के अन्य शासकों की भाँति उसे भी मदिरा तथा व्यभिचार का शौक था। शासन का काम उसका प्रसिद्ध मन्त्री महमूद गवाँ किया करता था जिसे ख्वाजजहाँ की उपाधि मिली हुई थी। वज़ीर ने लगन तथा स्वामिभक्ति के साथ बहमनी राज्य की सेवा की। उसका पहला कार्य कोंकण के हिन्दू राजाओं का दमन करना था। उसने अनेक किले जीत लिये। संगमेश्वर के राजा से उसने खलना का किला जीत लिया। उसने गोआ को भी जीत लिया जो विजयनगर साम्राज्य का सबसे अच्छा बन्दरगाह था। उसके एक सहायक ने राजमहेन्द्री तथा कोंडवीर के किलों पर अधिकार कर लिया। उसका सबसे महत्वपूर्ण आक्रमण विजयनगर पर हुआ। राजा की पराजय हुई और विजेताओं के हाथ अपार लूट का माल लगा। उड़ीसा पर भी एक आक्रमण किया गया और वहाँ से बहुत-सा लूट का सामान जिसमें अनेक हाथी सम्मिलित थे, बीदर लाया गया। किन्तु अनावृष्टि के कारण बहमनी राज्य को एक भयंकर दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा जो दो वर्ष तक चलता रहा। इस संकट के बाद एक दूसरी आपत्ति आयी। वज़ीर महमूद गवाँ का वध कर दिया गया। दक्षिणी अमीर वज़ीर से उसके प्रभाव तथा शक्ति के कारण ईर्ष्या करते थे। उन्हीं के भड़काने पर शराब के नशे में मुहम्मदशाह ने उसके वध की आज्ञा दे दी। अमीरों ने सुल्तान के सामने एक जाली पत्र प्रस्तुत किया और उसे विश्वास दिलाया कि महमूद गवाँ विजयनगर के राजा के साथ विश्वासघातपूर्ण पत्र-व्यवहार कर रहा है। ५ अप्रैल, १४८१ ई. को महमूद गवाँ का वध कर दिया गया। वज़ीर विदेशी था और तीन सुल्तानों के समय में उसने बहमनी राज्य की योग्यता तथा वफादारी से सेवा की थी। वह

विद्वान था अ.र विद्वानों के सत्संग का उसे शौक था। बीदर में उसने एक शानदार विद्यालय की स्थापना की और बड़ी संख्या में बहुत ही मूल्यवान ग्रन्थ वहाँ एकत्र किये। उसका निजी जीवन सादा तथा दोष-रहित था, किन्तु अपने समय के अन्य उच्च पदभोगी अमीरों की भाँति वह भी धर्मान्ध था और हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार किया करता था। उसकी मृत्यु के साथ बहमनी राज्य की एकता तथा शक्ति भी विदा हो गयी। शासन-व्यवस्था में दुर्बलता आ गयी। वज़ीर की मृत्यु के बाद ही २२ मार्च, १४८२ ई. को मद्यपी सुल्तान मुहम्मदशाह भी चल बसा।

उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा पुत्र महमूदशाह हुआ जिसमें योग्यता तथा चरित्र का अभाव था। दक्षिणी तथा विदेशी अमीरों में संघर्ष पूर्ववत चलता रहा। प्रतिद्वन्द्वी अमीरों तथा सूबेदारों ने राज्य के हितों की अवहेलना करके अपने स्वार्थों की ओर अधिक ध्यान दिया। उन्होंने राजशक्ति पर अधिकार कर लिया और स्वतन्त्र बन बैठे। राज्य का आकार कम हो गया और महमूद की सत्ता राजधानी के निकटवर्ती छोटे-से प्रदेश तक ही सीमित रह गयी। महमूद की मृत्यु के उपरान्त एक के बाद एक तीन सुल्तान हुए किन्तु उसकी भाँति वह भी पहले कासिम बरीद-उल-मुमालिक और उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र अमीर अली बरीद के हाथों की कठपुतली बने रहे। इस वंश का अन्तिम सुल्तान कलीमुल्लाशाह हुआ। १५२७ ई. में उसकी मृत्यु के साथ बहमनी राज्य का भी अन्त हो गया और उसके भग्नावशेषों पर पाँच राज्य उठ खड़े हुए। वे इस प्रकार थे—(१) बीजापुर का आदिलशाही राज्य, (२) अहमदनगर का निजामशाही राज्य, (३) बरार का इमादशाही राज्य, (४) गोलकुण्डा का कुतुबशाही राज्य और (५) बीदर का बरीदशाही राज्य।

बहमनी राज्य १७५ वर्ष से भी कुछ अधिक चला और इस काल में उस वंश के अठारह सुल्तान हुए। इस राज्य का इतिहास कुचक्रों, गृह-युद्धों और पड़ोसियों के विरुद्ध निरन्तर संघर्षों से भरा पड़ा है। बहमनी-वंश के अठारह राजाओं में से पाँच की हत्या की गयी, तीन पदच्युत किये गये, दो को अन्धा किया गया और दो अतिशय मद्यपान के कारण मरे। १४१७ ई. में अथानासियस निकीटीन नामक एक रूसी पर्यटक ने बहमनी राज्य की यात्रा की थी। उसके कथन से पता लगता है कि देश की आबादी घनी थी किन्तु बहुसंख्यक जनता निर्धन थी। इसके विपरीत अमीर लोग अत्यधिक धनी थे और विलासमय जीवन बिताते थे। जब कभी कोई अमीर कहीं जाता था तो बीस घुड़सवार उसके आगे और तीन सौ घुड़सवार, पाँच सौ पैदल सैनिक तथा मसालची, गवैये आदि अन्य अनेक लोग उसके पीछे चलते थे। किन्तु साधारण जनता की दशा अत्यन्त दयनीय थी।

दक्षिण के पाँच राज्य

बीजापुर

बहमनी राज्य के पतन के उपरान्त जिन राज्यों का उदय हुआ उनमें बीजापुर सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उसकी स्थापना यूसुफ आदिलशाह ने की थी, इसलिए वह बीजापुर के आदिलशाही राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। अपने प्रारम्भिक जीवन में वह एक जार्जियन गुलाम समझा जाता था जिसे महमूद गवाँ ने खरीद लिया था। किन्तु फरिश्ता के अनुसार वह टर्की के सुल्तान मुराद द्वितीय का पुत्र था और अपने बड़े भाई से बचने के लिए वहाँ से भाग आया था। कुछ भी रहा हो, यूसुफ आदिलशाह में महान् चरित्रबल तथा योग्यता थी और महमूद गवाँ की सेवा में वह उच्च पद पर पहुँच गया था। १४८९-९० ई. में वह बीजापुर का स्वतन्त्र शासक बन बैठा और न्याय-प्रिय तथा शक्तिशाली सुल्तान सिद्ध हुआ। यद्यपि शिया सम्प्रदाय की ओर उसका अधिक झुकाव था, किन्तु उसने अपनी सम्पूर्ण प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता दे रखी थी और हिन्दुओं को भी सरकारी नौकरियाँ दीं। उसका शासन उदार तथा न्यायपूर्ण था और उसके दरबार में ईरान, तुर्किस्तान तथा अन्य मध्य एशियाई देशों के विद्वानों की भीड़ लगी रहती थी। उसके चार तात्कालिक उत्तराधिकारी उस जैसे योग्य नहीं निकले और उनके शासन-काल में कुचक्र तथा युद्ध चलते रहे। छठा सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५७९-१६२६ ई.) सहिष्णु तथा बुद्धिमान शासक था। मीडोज़ टेलर के मता-नुसार "वह आदिलशाही वंश का सबसे बड़ा सुल्तान था और बहुत-सी बातों में उसके संस्थापक को छोड़कर सबसे अधिक योग्य तथा लोकप्रिय भी था।" १६१८-१९ ई. में उसने बीदर को बीजापुर में मिला लिया। उसके उत्तरा-धिकारी महमूद आदिलशाह के समय में बीजापुर का मुग़ल-सम्राट शाहजहाँ से संघर्ष हुआ। १६८६ ई. में औरंगजेब ने उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

गोलकुण्डा

वारंगल का पुराना हिन्दू राज्य ही गोलकुण्डा कहलाता था। उसका संस्थापक बहमनी सल्तनत का कुतुबशाह नामक एक तुर्की अफसर था। महमूद-शाह बहमनी के शासन-काल में वह तैलंगाना का सूबेदार था। उसने १५१२ ई. अथवा १५१८ ई. में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। उसने १५४३ ई. तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र जमशेद हुआ। तीसरे सुल्तान इब्राहीम के शासन-काल में गोलकुण्डा का विजयनगर से संघर्ष हो गया। इब्राहीम की मृत्यु के बाद परवर्ती शासकों की दुर्बलता के कारण गोलकुण्डा की शासन-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। १६८७ ई. में औरंगजेब ने उसे जीत कर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

अहमदनगर

अहमदनगर राज्य की स्थापना मलिक अहमद ने की थी। उसका पिता निजामुलमुल्क बहरी हिन्दू से मुसलमान हुआ था और बहमनी राज्य का प्रधान मन्त्री रह चुका था। १४९० ई. में मलिक अहमद ने जो उस समय चुनार का सूबेदार था, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उसने अहमदनगर शहर की स्थापना की और उसी को अपनी राजधानी बनाया। १४९९ ई. में उसने दौलताबाद को भी हस्तगत कर लिया। १५०८ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र बुरहामे निज़ामशाह उत्तराधिकारी हुआ। इस वंश के तीसरे शासक हुसैनशाह ने १५६५ ई. में विजयनगर के विरुद्ध संघ में भाग लिया। इस राज्य के परवर्ती शासक दुर्बल निकले। १६०० ई. में अकबर ने राज्य को रौंद डाला और उसके शासक को हराकर अपना सामन्त बना लिया। १६३६ ई. में इसे अन्तिम रूप से मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया।

बीदर

बहमनी राज्य के सूबेदारों के स्वतन्त्र हो जाने पर भी उसका एक छोटा-सा भाग कायम रहा। उस पर बरीदों का अधिकार था। १५२६ ई. अथवा १५२७ ई. में अमीर अलीबरीद ने नाममात्र के बहमनी सुल्तान को हटा दिया और स्वयं स्वतन्त्र शासक बन बैठा। उसका वंश बीदर के बरीदशाही वंश के नाम से विख्यात हुआ। १६१८-१९ ई. में उसे बीजापुर में मिला लिया गया।

बरार

इस राज्य का संस्थापक फतेह उल्लाह इमादशाह था जिसने १४९० ई. में अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। उसी की उपाधि पर राज्य का नाम बरार का इमादशाही राज्य पड़ा। १५७४ ई. में उसे अहमदनगर के सुल्तान ने जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

उपर्युक्त पाँचों राज्यों में से बीजापुर तथा गोलकुण्डा दो में कुछ योग्य शासक हुए। पाँचों राज्यों का विजयनगर के हिन्दू राज्य से दीर्घकाल तक संघर्ष चलता रहा। अन्त में उन सब ने सम्मिलित होकर १५६५ ई. में ताली-कोट के युद्ध में विजयनगर के शासक को पराजित किया। वे आपस में भी लड़ते रहे जिससे दक्षिण की शान्ति तथा समृद्धि में बाधा पड़ी।

विजयनगर साम्राज्य

Important.

उत्पत्ति

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल की अव्यवस्था के दौरान में हुई। उसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं और विवाद का अभी अन्त नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि साम्राज्य

की स्थापना १३४६ ई. में संगम के पाँच पुत्रों में से हरिहर और बुक्का दो ने की थी जो आरम्भ में हौयसल राजा वीर वल्लाल तृतीय के यहाँ नौकर थे और जिन्हें दिल्ली सल्तनत की आक्रमणकारी नीति के विरुद्ध प्रतिरोध संगठित करने का श्रेय था। तुंगभद्रा के दक्षिणी तट पर स्थित अनेगुन्दी नगर की स्थापना सम्भवतः वीर वल्लाल तृतीय ने १३३६ ई. में की थी। यही नगर आगे चलकर साम्राज्य का केन्द्र-बिन्दु बना। १३४६ ई. में वीर वल्लाल तृतीय के पुत्र तथा उत्तराधिकारी विरुपाक्ष वल्लाल की मृत्यु हो जाने पर हौयसलों का राज्य हरिहर तथा बुक्का के अधिकार में आ गया। तुंगभद्रा के दक्षिणी तट पर स्थित विजयनगर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। सम्भवतः इस नगर की स्थापना भी वीर वल्लाल तृतीय ने ही की थी, किन्तु अपनी राजधानी बनाने के बाद हरिहर और बुक्का ने उसको अधिक समुन्नत किया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर के संस्थापकों को प्रसिद्ध विद्वान तथा सन्त माधव विद्यारण्य तथा उनके विख्यात अनुज वेदों के टीकाकार सायणाचार्य से अत्यधिक प्रेरणा और सहायता मिली थी।

संगम-वंश

विजयनगर के संस्थापक हरिहर तथा बुक्का संगम-वंश के थे जिसका यह नाम उनके पिता संगम के नाम पर पड़ा था। हरिहर प्रथम ने सम्राट की उपाधि नहीं धारण की और न उसके उपरान्त उसके भाई बुक्का ने ही ऐसा किया। हरिहर तथा उसके भाई ने लगभग उस समस्त प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया जो पहले हौयसल राज्य में सम्मिलित था। बुक्का ने १३७४ ई. में चीन को एक दूत-मंडल भेजा। १३७९ ई. में उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र हरिहर द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ। नये शासक ने महाराजाधिराज तथा राजपरमेश्वर की उपाधियाँ धारण कीं। वह एक महान् योद्धा तथा विजेता था और उसने कनारा, मैसूर, त्रिचनापल्ली, काञ्ची तथा चिंगलपट आदि प्रदेशों पर अपना आधिपत्य कायम किया। उसके शासन-काल में उसके पुत्र बुक्का द्वितीय ने कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के बीच स्थित रायचूर दोआब को जो विजयनगर साम्राज्य तथा बहमनी सल्तनत के बीच संघर्ष की जड़ था, बलपूर्वक हस्तगत करने का प्रयत्न किया, किन्तु फीरोजशाह बहमनी ने उसे हराया। शिव का उपासक होने पर भी हरिहर द्वितीय का अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार था। १४०६ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र देवराय प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासन-काल में भी बहमनी राज्य से युद्ध हुए। १४२२ ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसके बाद विजय बुक्का अथवा वीर विजय सम्राट हुआ किन्तु उसने कुछ महीने शासन किया। उसके बाद देवराय द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने शासन-

व्यवस्था का पुन: संगठन किया और सेना को ठोस नींव पर खड़ा किया। उसने सामुद्रिक व्यापार का निरीक्षण करने के लिए एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त किया। उसके शासन-काल में दो विदेशी यात्री—इटली का निकोलो कोन्टी और ईरान का अब्दुर रज्जाक—विजयनगर का पर्यटन करने आये। उन्होंने नगर तथा साम्राज्य का विस्तृत वर्णन किया है। साम्राज्य में समस्त दक्षिणी भारत सम्मिलित था और उसकी सीमाएँ लंका के तट को छूती थीं। देवराय द्वितीय की १४४६ ई. में मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल सिद्ध हुए। विद्रोह तथा बाह्य आक्रमण आरम्भ हो गये। बहमनी सुल्तान तथा उड़ीसा के राजा ने पूरबी प्रान्तों को आक्रान्त किया, किन्तु चन्द्रगिरि के शक्तिशाली सामन्त नरसिंह ने आक्रमणकारियों को मार भगाया। अन्त में इसी सामन्त ने संगम-वंश के अन्तिम शासक विरुपाक्ष द्वितीय को पदच्युत करके १४८६ ई. में सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

सलुव-वंश

इस घटना के उपरान्त जिसे विजयनगर साम्राज्य के इतिहास में प्रथम अपहरण कहते हैं, नरसिंह सलुव ने नये राजवंश की नींव डाली जो सलुव-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। नरसिंह ने छः वर्ष तक शासन किया। वह योग्य तथा सर्वप्रिय शासक था। उसने बहमनी सुल्तानों तथा उड़ीसा के राजा के विरुद्ध युद्ध किया और खोये हुए अनेक प्रान्तों को पुनः विजय कर लिया। उसके उपरान्त एक के बाद एक उसके दो पुत्र गद्दी पर बैठे, किन्तु वे नितान्त अयोग्य सिद्ध हुए। उनके शासन-काल में राज-शक्ति साम्राज्य के सेनापति नरसनायक के हाथों में रही। १५०५ ई. में नरस की मृत्यु हो गयी और उसके महत्वाकांक्षी पुत्र वीर नरसिंह ने नरसिंह सलुव के निकम्मे पुत्र को पदच्युत करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। यह द्वितीय अपहरण कहलाता है।

तुलुव-वंश

वीर नरसिंह ने नये राजवंश की नींव डाली जो तुलुव-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा पता लगता है कि वह काफी सफल शासक था। उसने १५०५ ई. से १५०९ ई. तक शासन किया और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई कृष्णदेवराय (१५०९-३० ई.) सिंहासन पर बैठा। कृष्णदेवराय विजयनगर का महानतम तथा समस्त भारतीय इतिहास के महानतम शासकों में से एक था। वह एक महान् योद्धा और सेनानायक था। उसने अनेक युद्ध किये और उन सभी में उसे सफलता प्राप्त हुई। सर्वप्रथम उसने अपने विद्रोही सामन्तों का दमन किया और उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। तदुपरान्त उसने रायचूर दोआब पर अधिकार कर लिया।

इसके बाद उसने अपने पड़ोसी शत्रुओं की ओर ध्यान दिया। १५१३ ई. में उसने उड़ीसा के राजा गजपति प्रतापरुद्र को पराजित किया और उससे विजयनगर राज्य की वह भूमि वापिस ले ली जो उसने उसके दुर्बल पूर्वाधिकारियों के समय में छीन ली थी। १५१४ ई. में उसने उदयगिरि का किला हस्तगत कर लिया और उड़ीसा के राजा के एक चाचा और चाची को बन्दी बना लिया। उसके बाद उसने कोडबिन्दु तथा कोडपल्ली पर अधिकार कर लिया। इन युद्धों में उड़ीसा के राजा की पत्नी तथा पुत्र पकड़ लिये गये, किन्तु उनके साथ सम्मान तथा उदारता का बर्ताव किया गया। उड़ीसा पर विजय प्राप्त करने के बाद कृष्णदेवराय ने बीजापुर के सुल्तान पर आक्रमण किया और मार्च, १५२० ई. में उसे हराया। उसने बीजापुर राज्य को रौंद डाला और गुलबर्गा के किले को भूमिसात कर दिया। इस प्रकार अपने पड़ोसी शत्रुओं का दर्प चूर्ण करने में वह सफल हुआ। इन सैनिक कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप उसकी सत्ता पश्चिम में दक्षिणी कोंकण, पूरब में विजगापट्टम और दक्षिण में भारतीय प्रायद्वीप के छोर तक फैल गयी। हिन्द महासागर में स्थित कुछ द्वीप भी उसका प्रभुत्व स्वीकार करते थे। इस राजा के शासन-काल में विजयनगर राज्य की शक्ति तथा प्रतिष्ठा पराकाष्ठा को पहुँच गयी।

कृष्णदेवराय जितना महान् विजेता था उतना ही योग्य शासक भी था। उसने साम्राज्य की शासन-व्यवस्था का पुनः संगठन किया। वह स्वयं सुसंस्कृत, विद्वान एवं विद्या का संरक्षक था। वह अपने धार्मिक उत्साह तथा सहिष्णुता के लिए भी विख्यात था। यद्यपि वह स्वयं वैष्णवधर्मावलम्बी था, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति उसका व्यवहार समान तथा सहिष्णुतापूर्ण था। उसने पुर्तगाली शासक एलबुकर्क के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम किया और भटकल में उसे एक किला बनाने की आज्ञा दे दी। १५२९ ई. अथवा १५३० ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। विदेशी तथा भारतीय लेखक इस विषय में एकमत हैं कि कृष्णदेवराय का स्थान उन असाधारण शासकों के समकक्ष है, जिन्होंने विश्व के किसी भी भाग में कभी भी शासन किया है। पुर्तगाली पर्यटक डोमिंगोस पेइज़ लिखता है—"वह इतना विद्वान तथा पूर्ण शासक है, जितना कि होना सम्भव है, वह प्रसन्नचित्त तथा हास्य-प्रिय है, वह विदेशियों को सम्मानित करता तथा दयापूर्वक उनका स्वागत करता है और उनकी दशा जानने के लिए उनसे सभी मामलों की पूछताछ करता है। वह एक महान् तथा न्यायप्रिय शासक है, किन्तु कभी-कभी उसे क्रोधावेश का दौरा भी हो जाता है······अपने पद, सेना तथा भूमि की दृष्टि से वह किसी भी सम्राट से बढ़कर है, किन्तु वह सभी दृष्टि से इतना वीर तथा पूर्ण है कि उसके पास जो कुछ भी है वह उस जैसे व्यक्ति के पास जो होना चाहिए, उसकी तुलना में कुछ नहीं है।"

तालीकोट का युद्ध (१५६५ ई.)

कृष्णदेवराय का उत्तराधिकारी उसका भाई अच्युतराय हुआ जिसने १५३० ई. से १५४२ ई. तक शासन किया, किन्तु वह दुर्बल शासक था। उसके समय में दरबार में प्रतिद्वन्द्वी गुट उठ खड़े हुए, इसलिए केन्द्रीय सत्ता कमजोर हो गयी। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका भतीजा सदाशिव सिंहासन पर बैठा किन्तु राज्य की वास्तविक शक्ति उसके प्रसिद्ध मन्त्री रामराय के हाथों में रही। रामराय योग्य शासक था, किन्तु वह महत्वाकांक्षी तथा अनीतिज्ञ था। उसने दक्षिण के मुसलमान राज्यों की आन्तरिक कलह में हस्तक्षेप किया क्योंकि वह समझता था कि ऐसा करने से विजयनगर साम्राज्य की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना हो सकेगी। १५४३ ई. में उसने बीजापुर के विरुद्ध गोलकुण्डा तथा अहमदनगर से मित्रता कर ली। कुछ वर्ष उपरान्त उसने अहमदनगर के विरुद्ध बीजापुर तथा गोलकुण्डा का साथ दिया। अहमदनगर पर सम्मिलित आक्रमण किया गया। विजयनगर की सेना ने शत्रु राज्य को खूब रौंदा और कहा जाता है कि उसने मस्जिदों को तोड़ा और कुरान का अपमान किया। इस्लाम के इस अपमान का स्वार्थी लोगों ने बढ़ा-चढ़ाकर प्रचार किया जिसके फलस्वरूप दक्षिण के सुल्तानों का विजयनगर के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बन गया। बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा तथा बीदर की सम्मिलित सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण किया और २३ जनवरी, १५६५ ई. को तालीकोट के युद्ध क्षेत्र में उसकी सेना को भयंकर पराजय दी। प्रधान मन्त्री रामराय ने वीरतापूर्वक युद्ध किया, किन्तु पकड़ा गया और अहमदनगर के सुल्तान ने स्वयं अपने हाथों से उसका वध कर दिया। विजेताओं को घोड़ों तथा गुलामों के अतिरिक्त जवाहरात, तँबुए, हथियार, तथा नगदी के रूप में अतुल लूट का माल मिला। इसके बाद वे विजयनगर शहर में पहुँचे और अत्यन्त निर्दयता-पूर्वक उन्होंने उसका सत्यानाश कर दिया। 'एक विस्तृत साम्राज्य' नामक ग्रन्थ का लेखक सेवेल लिखता है कि "संसार के इतिहास में कभी भी इतने वैभवशाली नगर का इस प्रकार सहसा सर्वनाश नहीं किया गया, जैसा कि विजयनगर का।"

यद्यपि तालीकोट के युद्ध ने विजयनगर साम्राज्य को पंगु बना दिया किन्तु वह उसके अस्तित्व को नहीं मिटा सका। विजय के उपरान्त चारों सुल्तानों में पारस्परिक ईर्ष्या की ज्वाला पुनः प्रज्ज्वलित होने लगी जिसके कारण वे विजयनगर का अन्त करने के लिए मिलकर कार्य न कर सके। उनकी ईर्ष्या के कारण विजयनगर अपनी खोयी हुई भूमि तथा शक्ति को पुनः प्राप्त करने में समर्थ हो सका।

अरविदु-वंश

तालीकोट के युद्ध के उपरान्त रामराय के भाई तिरुमाल ने वैनुगोंडा को राजधानी बनाया। उसे कुछ अंशों में साम्राज्य की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना करने में सफलता मिली। वह महत्वाकांक्षी व्यक्ति था और १५७० ई. में उसने सदाशिव को अपदस्थ करके सिंहासन हस्तगत कर लिया। उसने अरविदु-वंश की नींव डाली। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र रंग द्वितीय हुआ। वह योग्य शासक था। उसके बाद उसका भाई बैंकट द्वितीय सिंहासन पर बैठा और उसने १५८६ ई. से १६१४ ई. तक राज्य किया। उसके शासन-काल में राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और उसने मैसूर राज्य की जिसकी स्थापना १६१२ ई. में ओड्यार ने की थी, पूर्ण स्वायत्तता स्वीकार करके भयंकर भूल की। इस वंश का अन्तिम स्वतन्त्र शासक रंग तृतीय हुआ। उसमें इतनी शक्ति न थी कि विद्रोही सामन्तों का दमन कर सकता और बीजापुर तथा गोलकुण्डा के सुल्तानों के आक्रमणों को रोक सकता। परिणाम यह हुआ कि श्रीरंगपट्टम, बेदनूर, मदुरा, तंजौर आदि के अधीनस्थ नायकों (सामन्तों) ने अपने आप को स्वतन्त्र कर लिया और इस प्रकार साम्राज्य का अन्त हो गया।

विजयनगर साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

केन्द्रीय सरकार

विजयनगर राज्य में राजा ही राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत माना जाता था, किन्तु निरंकुश होने पर भी वह उदार तथा विचारवान होता था। यद्यपि वह साम्राज्य का सर्वोच्च सैनिक, असैनिक तथा न्याय अधिकारी होता था, किन्तु वह अत्याचारी अथवा उत्तरदायित्वहीन निरंकुश शासक न था। वह धर्म के अनुसार साम्राज्य का शासन चलाता तथा राज्य और प्रजा की भलाई का सदैव ध्यान रखता था। कृष्णदेवराय विजयनगर का सबसे अधिक महत्वशाली राजा था। उसका राजस्व सम्बन्धी आदर्श प्रशिया के फ्रेडरिक महान् के समान था। अपनी अमुक्त-माल्यद नामक तैलगू पुस्तक में वह लिखता है, "मुकुटधारी राजा को सदैव धर्म पर दृष्टि रखते हुए शासन करना चाहिए।" उसी पुस्तक में वह आगे कहता है, "राजा को अपने चतुर्दिक राजनीति में दक्ष लोगों को एकत्र करके शासन करना चाहिए; राज्य में ऐसी खानों की खोज करनी चाहिए जो बहुमूल्य रत्न देती हों और उन रत्नों को निकलवाना चाहिए, प्रजा पर हल्का कर लगाना चाहिए, शत्रुओं को शक्ति द्वारा कुचल कर उनके कार्यों को रोकना चाहिए, सब के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए, अपनी सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और जातियों के सम्मिश्रण को रोकना चाहिए, ब्राह्मणों के गुणों में वृद्धि करनी चाहिए, अपने किलों को दृढ़

करना चाहिए, अवांछनीय वस्तुओं की बढ़ती रोकनी चाहिए और अपने नगरों की शुद्धता की ओर सदैव ध्यान देना चाहिए।"

राजा को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद होती थी। यद्यपि हमें मन्त्रियों की ठीक संख्या का पता नहीं है किन्तु विजयनगर जैसे बड़े राज्य के लिए छः से लेकर आठ तक मन्त्री रहे होंगे। राजा उनकी नियुक्ति तथा पदच्युति करता था और वे राजा के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर काम करते थे। मन्त्री ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियों के हुआ करते थे। कभी-कभी मन्त्री का पद वंशानुगत भी होता था, किन्तु यह सामान्य नियम नहीं था। एक राजकीय कार्यालय था। मन्त्रियों के अतिरिक्त निम्न पदों पर कार्य करने वाले अन्य पदाधिकारी भी होते थे, जैसे मुख्य कोषाध्यक्ष, रत्नों की रक्षा करने वाला पदाधिकारी, व्यापार का निरीक्षण करने वाला अफसर, पुलिस अध्यक्ष, घोड़ों का अध्यक्ष इत्यादि। राजा का गृह-विभाग भी सुसंगठित था। दरबार में सामन्तों, पुरोहितों, ज्योतिषियों, गवैयों, विद्वानों तथा कवियों की भीड़ लगी रहती थी। दरबार का वैभव जिस पर राज्य बहुत-सा धन व्यय किया करता था, विदेशी यात्रियों तथा कूटनीतिज्ञों के लिए एक आश्चर्य का विषय था।

प्रान्तीय सरकार

विजयनगर साम्राज्य छः प्रान्तों में विभक्त था। कुछ लेखकों ने जिनका मत डोमिंगोस पेइज़ के कथन पर आधारित है, भ्रमवश लिखा है कि साम्राज्य में दो सौ प्रान्त थे। इस भूल का कारण सम्भवतः यह है कि पेइज़ ने करद सामन्तों और प्रान्तीय सूबेदारों को एक ही समझा था। प्रत्येक प्रान्त एक सूबेदार की अधीनता में होता था जिसे नायक कहते थे और जो राज-परिवार का सदस्य अथवा प्रभावशाली सामन्त होता था। प्रान्त की सैनिक, असैनिक तथा न्याय सम्बन्धी शक्ति सूबेदार के ही हाथों में होती थी, किन्तु उसे अपने प्रान्त की आय-व्यय का लेखा केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता था। आवश्यकता पड़ने पर उसे सैनिक सहायता भी भेजनी पड़ती थी। यद्यपि राजा शक्तिशाली होता और सूबेदारों पर नियन्त्रण रखता था, परन्तु फिर भी अपने क्षेत्राधिकारों में वे विस्तृत शक्तियों का उपभोग करते थे।

स्थानीय शासन

प्रान्त जिलों में और जिले अन्य छोटी इकाइयों में विभक्त थे। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव था जो आत्मनिर्भर होता था। प्रत्येक गाँव में आधुनिक पंचायत की भाँति की एक गाँव-सभा होती थी। वह गाँव के लेखक,

तौला, चौकीदार, बेगार का चौधरी और अनेक वंशानुगत पदाधिकारियों की सहायता से गाँव का प्रबन्ध किया करती थी। इन पदाधिकारियों को जागीरों अथवा कृषि की उपज के एक भाग के रूप में वेतन मिलता था। केन्द्रीय सरकार महानायकाचार्य नामक एक पदाधिकारी द्वारा गाँव से सम्बन्ध कायम रखती थी। उस पदाधिकारी को गाँव के प्रबन्ध का निरीक्षण करने का अधिकार था।

वित्त

भू-राजस्व सरकार की आय का मुख्य साधन था। भू-राजस्व से सम्बन्ध रखने वाला एक पृथक विभाग था। कर-निर्धारण के हेतु भूमि को चार वर्गों में विभक्त किया गया था—सिंचित भूमि, शुष्क भूमि, उद्यान तथा वन। हिन्दू-युग में सामान्यतया उपज का छठा भाग राज्य-कर के रूप में वसूल किया जाता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर के राजा $\frac{1}{6}$ से कुछ अधिक वसूल करते थे क्योंकि उन्हें बहमनी सुल्तानों की निरन्तर शत्रुता से राज्य की रक्षा के लिए एक विशाल सेना रखनी पड़ती थी। भूमि-कर के अतिरिक्त सरकार चरागाह-कर, विवाह-कर, बहिःशुल्क तथा उद्यानों और दस्तकारी की वस्तुओं पर भी कर लगाती थी। राज्य-कर भारी था किन्तु अनियमित रूप से लोगों से धन नहीं वसूल किया जाता था। कर नकद तथा उपज के रूप में, दोनों प्रकार से वसूल किये जाते थे।

सेना

विजयनगर सम्राट एक विशाल सेना रखते थे जिसकी संख्या समयानुसार घटती-बढ़ती रहती थी। कृष्णदेवराय के समय में सेना में ३,६०० अश्वारोही, सात लाख पैदल और ६५१ हाथी थे। एक तोपखाना भी था किन्तु वह अविकसित अवस्था में रहा होगा। सैनिक-विभाग का प्रबन्ध महासेनापति के अधीन था जिसकी सहायता के लिए अनेक अधीनस्थ पदाधिकारी भी थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विजयनगर की सेना का संगठन तथा अनुशासन दक्षिण के मुस्लिम सुल्तानों की अपेक्षा घटिया रहा होगा।

न्याय

राजा न्याय का स्रोत था और स्वयं मुकदमों का फैसला किया करता था। नियमानुसार संचालित न्यायालय भी थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति स्वयं राजा करता था। गाँव के लोग गाँव-सभाओं अथवा पंचायतों द्वारा अपने झगड़े तय कर लिया करते थे। कभी-कभी न्यायाधीश लोग स्थानीय संस्थाओं की सहायता से मुकदमों का निर्णय करते थे। जिन कानूनों के अनुसार न्यायालयों में फैसले होते थे, वे अत्यन्त प्राचीन काल से चले आये थे और

परम्परागत नियमों, रीति-रिवाजों तथा देश के संवैधानिक व्यवहारों पर आधारित थे। दण्ड-विधान कठोर था। चोरी, व्यभिचार और राजद्रोह के लिए अंग-छेद और मृत्यु का दण्ड दिया जाता था। साधारण अपराधों के लिए जुर्माने का दण्ड दिया जाता अथवा सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी।

धार्मिक सहिष्णुता

विजयनगर के राजा गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वे वैष्णव-धर्मावलम्बी थे, किन्तु अन्य भारतीय तथा पूर्णतया अभारतीय धर्मों के प्रति भी उनका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। बारबोसा लिखता है कि "राजा ने इतनी स्वतन्त्रता दे रखी है कि कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार विचरण कर सकता है तथा अपने धर्म के अनुसार जीवन बिता सकता है; उसे न कोई कष्ट देगा और न यह पूछेगा कि तुम ईसाई, यहूदी, मुसलमान अथवा हिन्दू हो।"

विजयनगर की शासन-व्यवस्था के दोष

विजयनगर की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था विस्तृत रूप से सुसंगठित तथा न्यायपूर्ण थी, किन्तु उसमें कुछ दोष भी थे जिनमें सबसे अधिक स्पष्ट यह था कि प्रान्तीय सूबेदारों के हाथों में अत्यधिक शक्ति थी और अन्त में यही उसके छिन्न-भिन्न होने का कारण सिद्ध हुआ। दूसरे, सैनिक-संगठन इतना सुयोग्य नहीं था जितना कि होना चाहिए था और विशेषकर उस स्थिति में जबकि विजयनगर को निरन्तर बहमनी सुल्तानों से युद्ध करना पड़ता था। तीसरे, राजाओं ने यह भूल की कि व्यापारिक लाभ के उद्देश्य से पुर्तगालियों को राज्य के पश्चिमी तट पर बस जाने दिया। चौथे, उन्होंने लोगों की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का दमन करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्त में, सब सुविधाओं के होते हुए भी राजाओं ने स्थायी व्यापारिक नीति विकसित करने का प्रयत्न नहीं किया।

सामाजिक जीवन

विदेशी यात्रियों के लेखों से हमें विजयनगर के लोगों के सामाजिक जीवन का स्पष्ट चित्र मिलता है। समाज सुसंगठित था। स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था और वे साम्राज्य के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भाग लेती थीं। उन्हें कुश्ती, आक्रमण तथा बचाव के लिए विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग, संगीत, कला तथा ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। कुछ को उच्चकोटि की साहित्यिक शिक्षा भी मिलती थी। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों के लिए किसी प्रकार की सामान्य शिक्षा का अवश्य प्रबन्ध रहा होगा। नुनिज लिखता है कि स्त्री हिसाब रखने वालों, स्त्री क्लर्कों और स्त्री अंगरक्षकों के अतिरिक्त राज-दरबार में स्त्री पहलवान स्त्री ज्योतिषी और स्त्री

भविष्यवक्ता भी थीं। निस्सन्देह संगीत, नृत्य तथा अन्य ललित कलाओं में वे पुरुषों से अधिक बढ़ी-चढ़ी थीं। धनी लोगों में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। बाल-विवाह का सामान्य नियम था। धनी लोगों में बड़े पैमाने पर दहेज का रिवाज था। विधवाएँ अपने मृत पतियों के साथ चिता में जलकर सती हो जाया करती थीं। ब्राह्मणों का समाज में अधिक प्रभाव था। सामाजिक और धार्मिक जीवन में ही नहीं बल्कि राजनीतिक तथा शासन सम्बन्धी विषयों में भी उनका विशेष महत्व था। ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सब जातियों के लिए खान-पान के प्रतिबन्ध नहीं थे। राजा तथा साधारण जनता माँसाहारी थी और वे गाय तथा बैल को छोड़कर सभी प्रकार का गोश्त खाया करते थे। पशु-यज्ञों का सामान्य रिवाज था। महत्वपूर्ण त्यौहारों पर बकरों और भैंसों की बलि चढ़ाई जाती थी।

कला और साहित्य

कला और संस्कृति के क्षेत्र में विजयनगर में असाधारण उन्नति हुई। हम पहले उल्लेख कर आये हैं कि कृष्णदेवराय उच्चकोटि का विद्वान तथा साहित्य का उदार संरक्षक था। अन्य राजाओं को भी विद्या से अनुराग था और विद्वान तथा कवि उनके राज्य में निवास करते थे। उन्होंने संस्कृत, तैलगू, तामिल तथा कन्नड़ भाषाओं और साहित्य को प्रोत्साहन दिया। विजयनगर शासन के प्रारम्भिक दिनों में वेदों के प्रख्यात भाष्यकार सायण तथा उनके भाई माधव विद्यारण्य हुए थे। कृष्णदेवराय के समय में साहित्य-रचना का कार्य पराकाष्ठा को पहुँच गया था। महान् कवि, दार्शनिक तथा धर्मोपदेशक उसके दरबार को सुशोभित करते थे। उन्हें धन तथा भूमि-दान द्वारा पुरस्कृत किया जाता था। राजा स्वयं उच्चकोटि का विद्वान तथा लेखक था। यह परम्परा जारी रही और उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसे जारी रखा। राज-परिवार के सदस्य, सामन्त तथा अन्य धनी लोग राजा का अनुकरण करते थे। संगीत, नृत्यकला, नाटक, व्याकरण, हेतुविद्या, दर्शन तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं पर अनेक ग्रन्थ रचे गये। कला तथा स्थापत्य की भी उपेक्षा नहीं की गयी। राजाओं ने अद्भुत सौन्दर्यपूर्ण मन्दिरों का निर्माण कराया। कृष्णदेवराय ने प्रसिद्ध हजारा मन्दिर बनवाया जो कला के मर्मज्ञों के मतानुसार हिन्दुओं की मन्दिर-स्थापत्य कला का सर्वोत्तम आदर्श है। विट्ठलस्वामी का मन्दिर विजयनगर के स्थापत्य का अन्य श्रेष्ठ उदाहरण है। विजयनगर के शासकों ने चित्र-कला तथा संगीत को भी प्रोत्साहन एवं संरक्षण दिया और नाट्य-कला की भी उपेक्षा नहीं की गयी। संक्षेप में, विजयनगर साम्राज्य का इतिहास साहित्यिक एवं कलात्मक रचनाओं के प्रस्फुटन के लिए प्रसिद्ध है। एक विद्वान का मत है कि साम्राज्य ने दक्षिण भारतीय संस्कृति का समन्वय किया।

आर्थिक दशा

विजयनगर साम्राज्य की गणना विश्व-इतिहास के उन राज्यों में है जो अत्यधिक धनी हुए हैं। अनेक विदेशी यात्रियों ने जिन्होंने १५वीं और १६वीं शताब्दियों में हमारे देश का भ्रमण किया था, विजयनगर के वैभव तथा समृद्धि का देदीप्यमान वर्णन छोड़ा है। इटली का पर्यटक निकोली कोन्टी जिसने १४२० ई. में विजयनगर की यात्रा की थी, लिखता है, "नगर की परिधि साठ मील है; उसकी दीवारें पर्वत-शिखरों तक पहुँचती हैं और उनके चरणों को घाटियाँ घेरे हुए हैं, इससे उसका विस्तार और भी अधिक बढ़ जाता है। अनुमान से नगर में ९० हजार व्यक्ति अस्त्र-शस्त्र धारण करने योग्य हैं। राजा भारत के अन्य सभी राजाओं से शक्तिशाली है।" ईरानी कूटनीतिज्ञ तथा पर्यटक अब्दुर रज्जाक जिसने १४४२-४३ ई. में विजयनगर का भ्रमण किया था, लिखता है, "देश इतना अच्छा बसा हुआ है कि संक्षेप में उसका चित्र प्रस्तुत करना असम्भव है। राजा के कोष-गृह में जिनमें गड्ढे खुदे हुए हैं उनमें पिघला हुआ सोना भर दिया गया है जिसकी ठोस शिलाएँ बन गयी हैं। देश की सभी उच्च और निम्न जातियों के निवासी यहाँ तक कि बाजार के कारीगर भी कानों, कंठों, बाहुओं, कलाइयों तथा उँगलियों में जवाहरात तथा सोने के आभूषण पहिनते हैं।" डोमिंगोस पेइज़ नामक पुर्तगाली यात्री लिखता है, "राजा के पास भारी कोष, अनेक सैनिक तथा हाथी हैं।······इस नगर में तुम्हें प्रत्येक राष्ट्र और जाति के लोग मिलेंगे क्योंकि यहाँ व्यापार अधिक होता है और हीरे आदि बहु-मूल्य पत्थर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। संसार में यह सबसे अधिक सम्पन्न नगर है और यहाँ चावल, गेहूँ आदि नाज के भण्डार भरे हैं। भारतीय अन्न, जौ, मटर, मूँग, दालें, चना तथा अन्य नाज जो इस देश में उत्पन्न होते हैं, यहाँ के लोगों का मुख्य भोजन है और नगर में उनके बड़े-बड़े भण्डार हैं और बिकते भी बहुत सस्ते हैं। बाजार तथा सड़कें असंख्य सामान से भरे हुए बैलों से भरी हुई हैं।" बारबोसा भी जो १५१६ ई. में भारत आया था, विजयनगर की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि "नगर विस्तृत, घना बसा हुआ तथा चालू व्यापार का केन्द्र है; हीरे, पीगू के लाल, चीन और सिकन्दरिया का रेशम, कपूर, सिंदूर कस्तूरी तथा मालाबार की कालीमिर्च और चन्दन—इन वस्तुओं का अधिक क्रय-विक्रय होता है।"

विदेशी लोगों ने एकमत होकर जो प्रशंसा की है उससे स्पष्ट है कि विजयनगर साम्राज्य अत्यधिक धनी तथा समृद्ध था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में कृषि को प्रोत्साहन देना और बुद्धिमत्तापूर्ण सिंचाई नीति द्वारा कृषि के उत्पादन में वृद्धि करना विजयनगर के शासकों की मुख्य नीति थी। कृषि से प्राप्त धन के अतिरिक्त अनेक उद्योग-धन्धों से भी साम्राज्य की पर्याप्त आय

होती थी जिनमें वस्त्र तथा धातुओं के उद्योग मुख्य थे। इत्र निकालना अन्य महत्वपूर्ण उद्योग था। उद्योगों तथा व्यवसायों के नियन्त्रण के लिए अनेक संघ थे। एक प्रकार का कारबार करने वाले लोग बहुधा नगर के एक ही भाग में बसा करते थे। अन्तर्देशीय तथा सामुद्रिक दोनों प्रकार का व्यापार उन्नतावस्था में था। साम्राज्य में अनेक बन्दरगाह थे और हिन्द महासागर के द्वीपों, मलाया द्वीपमाला, ब्रह्मा, चीन, अरब, ईरान, दक्षिणी अफ्रीका, अबीसीनिया, पुर्तगाल आदि के साथ अच्छा व्यापार होता था। वस्त्र, चावल, लोहा, शोरा, शक्कर तथा मसाले निर्यात की मुख्य वस्तुएँ थीं। घोड़े, हाथी, मोती, ताँबा, कोयला, पारा, रेशम तथा मखमल बाहर से मँगाये जाते थे। सामुद्रिक व्यापार जहाजों द्वारा होता था। विजयनगर के पास अपना एक छोटा-सा जहाजी बेड़ा था और यहाँ के लोग जहाज-निर्माण कला से भली-भाँति परिचित थे। आन्तरिक व्यापार के लिए बैलों, घोड़ों, गाड़ियों और गधों का प्रयोग होता था।

विजयनगर साम्राज्य में सोने तथा ताँबे के सिक्के चलते थे। कुछ चाँदी के सिक्कों का भी चलन था। उच्च तथा मध्य श्रेणियों के लोग धनी थे और उनके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा था। साधारण लोगों के लिए भी जीवन की आवश्यक वस्तुओं का अभाव नहीं था, किन्तु उच्च लोगों की तुलना में वे दरिद्र थे। साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था में एक दोष था; साधारण जनता को राज्य-कर का मुख्य बोझ सहना पड़ता था, अन्यथा लोग सुखी थे। बहमनी राज्य की जनता से वे कहीं अधिक समृद्ध थे।

संक्षेप में, विजयनगर साम्राज्य ने दक्षिण के मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करके एक महान् ऐतिहासिक उद्देश्य पूरा किया।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. BEG, HINDU : Gulishtan-i-Ibrahimi *alias* Tarikh Farishta. (*English translation by Briggs*)
2. SEWELL : A Forgotten Empire.
3. SHERWANI, H. K. : Mahmud Gawan.
4. HAIG, WOOLSELEY : Cambridge History of India, Vol. III.
5. VENKATARAMANAYYA, N. : Vijayanagar : Origin of the City and Empire.
6. AIYANGAR, S. K. : South India and her Mohammedan Invaders.
7. SALETORE : Social and Political Life in the Vijayanagar Empire, Vols, I and II.

अध्याय १८

सल्तनत की शासन-व्यवस्था

केन्द्रीय सरकार

सल्तनत : साम्प्रदायिक राज्य

दिल्ली सल्तनत धर्म-निरपेक्ष राज्य नहीं था बल्कि एक विशेष धर्म से उसका सम्बन्ध था। इस सम्पूर्ण युग में इस्लाम राज-धर्म रहा। सल्तनत अन्य किसी धर्म को मान्यता नहीं देती थी, जैसे हिन्दू धर्म जिसके अनुयायी राज्य की आबादी के बहुसंख्यक अंग थे। राज-वंश तथा शासक-वर्ग इस्लाम के मानने वाले थे और सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य के सभी साधन इस धर्म की रक्षा और प्रचार के लिए थे। आधुनिक लेखक डा. आई. एच. कुरैशी का कथन है कि दिल्ली सल्तनत धर्म पर केन्द्रित अवश्य थी किन्तु पूर्णतया धर्म पर अवलम्बित नहीं थी क्योंकि धर्मावलम्बित राज्य की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें निर्दिष्ट पुरोहित-वर्ग का शासन होना चाहिए। दिल्ली सल्तनत में यह विशेषता विद्यमान नहीं थी। किन्तु यह तर्क थोथा है और वास्तविकता की उपेक्षा करता है। इस तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता और डा. कुरैशी भी मानते हैं कि प्रत्येक मुस्लिम राज्य में इस्लाम के शास्त्रीय कानून ही सर्वोच्च होते हैं, व्यवहार-विधि उनके अधीन होती है और वास्तव में उसी में लीन हो जाती है। यद्यपि मुस्लिम उलेमा निर्दिष्ट तथा वंशानुगत नहीं थे किन्तु उतने ही धर्मान्ध और पक्षपातपूर्ण थे जितने कि कोई पुरोहित हो सकते हैं और वे सदैव कुरान के कानूनों को कार्यान्वित करने तथा मूर्ति-पूजा और इस्लाम-द्रोह का मूलोच्छेदन करने पर जोर दिया करते थे। दिल्ली सल्तनत में शासकों का आचरण भी कुरान के नियमों द्वारा नियन्त्रित होता था। सुल्तान को अपने निजी जीवन[1] में ही नहीं बल्कि शासन के सम्बन्ध में भी इन नियमों का पालन करना पड़ता था। वास्तव में सुल्तान को इन्हीं कानूनों के अनुसार शासन चलाना पड़ता था और यदि शासन के मामले में इन नियमों को

---

[1] ये लोग मानवीय दुर्बलता के कारण ही कुरान के नियमों का पालन न कर मद्यपान करते थे और निषिद्ध कार्यों में प्रवृत्त होते थे, धार्मिक जोश के अभाव के कारण नहीं।

कार्यान्वित करने में वह सफल नहीं होता था तो उसकी प्रजा के मतानुसार वह उसका नियमानुमोदित शासक नहीं रहता था। इसलिए भारत में इस्लामी राज्य का आदर्श था देश की समस्त जनता को मुसलमान बनाना, देशी धर्मों का मूलोच्छेदन करना तथा जनता को मुहम्मद का धर्म अंगीकार करने पर बाध्य करके दार-उल-हर्ब (गैर मुसलमानों का देश) को दार-उल-इस्लाम (मुसलमानों का देश) में परिवर्तित करना।

नाममात्र का प्रभु खलीफा

इस्लामी प्रभुत्व सिद्धान्त के अनुसार संसार के सब मुसलमानों का चाहे वे कहीं भी हों एक ही मुस्लिम शासक होता है। उसे खलीफा कहते हैं। उन दिनों में जब कि खलीफा की शक्ति चरम सीमा पर थी वह खिलाफत के विभिन्न प्रान्तों के लिए सूबेदारों को नियुक्त किया करता था। जब कभी कोई सूबेदार स्वतन्त्र शासक बन बैठता था अथवा कोई मुस्लिम साहसिक नेता नया देश जीत कर राजा बन जाता था तब भी अपने पद को स्थायित्व देने के लिए वह खलीफा के नाम का सहारा लेता, अपने को उसका अधीनस्थ सामन्त कहता और अपने पद के लिए उससे मान्यता प्राप्त करता था, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वह पूर्ण सत्ताधारी शासक की भाँति आचरण करता। १२५८ ई. में मंगोल नेता हुलगू ने अन्तिम अब्बासी खलीफा मुस्तसीम का वध कर दिया और इस प्रकार खिलाफत का अन्त हो गया, किन्तु खिलाफत की एकता का आडम्बर फिर भी कायम रहा। अपने युग की प्रचलित प्रथा के अनुसार दिल्ली सुल्तान भी अपने को खलीफा का नाइब कहते, उससे मान्यता प्राप्त करते और सिक्कों तथा खुतबा में उसका नाम सम्मिलित करते थे। इस परम्परा को तोड़ने वाला पहला सुल्तान अलाउद्दीन ख़लजी था। उसका पुत्र मुबारक खिलाफत के आडम्बर में विश्वास नहीं करता था इसलिए उसने स्वयं खलीफा की उपाधि धारण की। इन दो को छोड़कर इस युग के सभी दिल्ली सुल्तान नाममात्र के लिए खलीफा का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। आधुनिक मुसलमान लेखकों ने तथाकथित इस्लामी जगत की एकता को वास्तविक सिद्ध करने के लिए इस चीज को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया, किन्तु तथ्य यह है कि किसी दिल्ली सुल्तान ने कभी भी खलीफा को अपना वास्तविक प्रभु नहीं स्वीकार किया। फिर भी चूँकि इस युग के शासक विदेशी और मुसलमान थे इसलिए बाहरी इस्लामी जगत से रस्म के रूप में सम्बन्ध कायम रखना वे लाभप्रद समझते थे।

सुल्तान

दिल्ली सल्तनत का प्रमुख सुल्तान कहलाता था। ऐसा माना जाता था कि प्रभुत्व सम्पूर्ण सुन्नी जनता में निवास करता है और उसे मिल्लत कहते थे।

इसी मिल्लत को सुल्तान का चुनाव करने का अधिकार था। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देश की सम्पूर्ण मुस्लिम जनता को एकत्र करना असम्भव था इसलिए मताधिकार पहले कुछ प्रमुख व्यक्तियों और अन्त में एक ही व्यक्ति तक सीमित रह गया। मरने से पूर्व सुल्तान को भी अपना उत्तराधिकारी निर्देशित करने का अधिकार था। इस प्रकार दिल्ली सुल्तानों के चुनाव में दोनों प्रणालियों से काम लिया जाता था। वंशानुगत उत्तराधिकार का सिद्धान्त नहीं था और कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रत्येक सच्चे मुसलमान के लिए सुल्तान के पद का द्वार खुला हुआ था। किन्तु व्यवहार में वह विदेशी तुर्कों तक ही सीमित था, बाद में अमीरों के एक छोटे-से दल और अन्त में राज-वंश तक ही सीमित रह गया। १५वीं और १६वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में कुछ विस्तार हुआ और अरब तथा अफ़ग़ान नस्ल के सुल्तान भी हुए।

शुद्ध इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर ही मुस्लिम राज्य का शासक माना जाता है। सुल्तान उसका प्रतिनिधि होता है और उसका मुख्य कर्तव्य कुरान-प्रतिपादित तथाकथित ईश्वरीय नियमों को कार्यान्वित करना होता है। इस प्रकार सुल्तान दिल्ली सल्तनत की प्रमुख कार्यपालिका था। उसका काम नियमों को कार्यान्वित करना ही नहीं बल्कि उनकी व्याख्या करना भी था। इस काम में उसे हदीस तथा सुविख्यात विधिविज्ञों के निर्णयों के अनुसार चलना पड़ता था और जब किसी नियम के अर्थ के सम्बन्ध में विवाद उठता तो उसे विद्वान उलेमा की राय को स्वीकार करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सुल्तान सर्वोच्च न्यायाधिकारी भी था। वास्तव में वह राज्य में न्याय का स्रोत समझा जाता था। सेना का सेनापति भी वही था। वास्तव में उसकी शक्तियाँ विस्तृत थीं। वह पूर्णरूप से निरंकुश था और उसकी सत्ता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। उसकी शक्ति का आधार धार्मिक तथा सैनिक था। जब तक वह कुरान के नियमों का अनुसरण करता उसकी सत्ता सर्वोच्च थी। कुछ दिल्ली सुल्तान ऐसे भी हुए—मुख्यतः अलाउद्दीन ख़लजी और कुछ समय के लिए मुहम्मद तुग़लक जिन्होंने कुरान के नियमों की अवहेलना की; फिर भी उन्हें अपदस्थ करने का किसी को साहस नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें शक्तिशाली सेना का समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार कुरान की आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर भी सुल्तान को तब तक अपदस्थ नहीं किया जा सकता था जब तक कि एक शक्तिशाली सेना उसके अधिकार में थी। नियम-विरुद्ध आचरण करने वाले सुल्तानों को शान्तिपूर्वक सिंहासन से हटाने का कोई संवैधानिक उपाय नहीं था। सफल विद्रोह ही इसका एक उपाय था जिसका अर्थ होता था गृह-युद्ध।

इस युग में सुल्तान की शक्ति कितनी अपरिमित थी यह तो इसी से स्पष्ट

है कि वह अपने राज्य की सम्पूर्ण प्रजा का शासक नहीं बल्कि जनता के मुस्लिम-वर्ग का धार्मिक प्रमुख भी था। इस प्रकार उसमें कैसर तथा पोप दोनों की शक्तियाँ केन्द्रित थीं।

सुल्तान पूर्णरूप से निरंकुश शासक था और उसकी शक्ति सैनिक बल पर निर्भर थी। राज्य की समस्त शक्तियाँ उसी के हाथ में केन्द्रित थीं। यद्यपि मूलतः इस्लामी राज्य का रूप लोकतान्त्रिक था, किन्तु परिस्थितियों के कारण दिल्ली सल्तनत की सरकार को एक केन्द्रीयकृत संगठन का रूप धारण करना पड़ा। सुल्तान को शत्रुतापूर्ण हिन्दू जनता के बीच में रहना तथा काम करना पड़ता था। अनेक ऐसे हिन्दू सामन्त थे जो विदेशी सरकार के प्रसार को रोकने तथा अपनी स्वाधीनता की पुनः स्थापना करने के लिए प्रयत्न करने के इच्छुक थे। बाह्य संकट भी सदैव उपस्थित रहता था और सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर निरन्तर मंगोलों के प्रहार होते रहते थे। इन परिस्थितियों में सुल्तान को सुरक्षा तथा शासन के केन्द्रीयकरण के लिए एक विशाल सेना रखनी पड़ती थी।

मन्त्रीगण

शासन में सुल्तान को सहायता देने के लिए मन्त्री होते थे जिनकी संख्या समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती थी। तथाकथित गुलाम-युग में चार मन्त्री थे : वज़ीर, आरिज़े मुमालिक, दीवाने इंशा तथा दीवाने रसालात। कभी-कभी नाइब अथवा नाइबे मुमालिक भी हुआ करता था जिसका पद सुल्तान से नीचा तथा वज़ीर से ऊँचा होता था। जब सुल्तान दुर्बल होता तब नाइब के हाथों में अधिक शक्ति आ जाती थी, किन्तु सामान्य समय में वह नाममात्र का नाइब सुल्तान होता था और वज़ीर से बहुत नीचा समझा जाता था। आगे चलकर सद्रुस-सुदूर तथा दीवाने-कज़ा को भी मन्त्रियों के समकक्ष कर दिया गया। इस प्रकार सल्तनत के शासन के उत्कर्ष के दिनों में छः मन्त्री काम करते थे। इनके अतिरिक्त एक सातवाँ अन्य पद और भी था जिसका धारण करने वाला मन्त्रियों के समकक्ष न होते हुए भी अधिकतर मन्त्रियों से अधिक शक्तिशाली होता था। यह पद सुल्तान के घर के प्रबन्धक का था।

वज़ीर

प्रधान मन्त्री वज़ीर कहलाता था। उसकी स्थिति सुल्तान तथा प्रजा के बीच में थी। उसके हाथ में बहुत सत्ता थी और कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत वह सुल्तान की शक्ति तथा विशेषाधिकारों का प्रयोग किया करता था। वह सुल्तान के नाम से महत्वपूर्ण पदाधिकारियों की नियुक्ति करता तथा सब पदाधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें सुनता था। सुल्तान की रुग्णावस्था और

अनुपस्थिति में तथा उसके अल्पवयस्क होने पर वह सुल्तान के स्थान पर कार्य करता था। सुल्तान को प्रजा की भावनाओं तथा आवश्यकताओं से अवगत कराना और सभी राजकीय विषयों में उसे सलाह देना वज़ीर का अन्य महत्व-पूर्ण कर्तव्य था। सामान्य शासन-व्यवस्था का अध्यक्ष होने के अतिरिक्त वह विशेष रूप से वित्त-विभाग का प्रमुख था। इस हैसियत से लगान के बन्दोबस्त के लिए नियम बनाना, अन्य करों की दर निश्चित करना तथा राज्य के व्यय का नियन्त्रण रखना उसका मुख्य उत्तरदायित्व था। इसके अतिरिक्त असैनिक पदाधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण भी वही करता था। सैनिक-व्यवस्था पर भी उसका नियन्त्रण था क्योंकि सैनिक-विभाग की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसी के द्वारा होती थी। उसी के अधीनस्थ कर्मचारी सैनिक पदाधिकारियों तथा सिपाहियों के वेतन बाँटते और तत्सम्बन्धी हिसाब रखते थे। विद्वान तथा गरीब लोगों को जो क्षात्रवृत्तियाँ तथा निर्वाह के लिए भत्ते दिये जाते थे, उनका प्रबन्ध भी वज़ीर के ही हाथों में था। इस प्रकार जन-शासन की सभी शाखाओं पर उसका नियन्त्रण था और सूबेदार से लेकर चपरासी तक प्रत्येक कर्मचारी को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उससे काम पड़ता था। इन शक्तियों का उपभोग करने के कारण राज्य में वज़ीर की बड़ी प्रतिष्ठा थी और एक बड़ी जागीर के राजस्व के रूप में उसे अच्छा वेतन मिलता था।

वज़ीर का कार्यालय दीवाने-विजारत कहलाता था। उसकी सहायता के लिए एक नाइब-वज़ीर हुआ करता था जिसके सुपुर्द दफ्तर का काम होता था। नाइब-वज़ीर के नीचे मुश्रिफे-मुमालिक (महालेखाकार) होता था और उसके बाद मुस्तौफीए-मुमालिक (महालेखा-परीक्षक)। मुश्रिफे-मुमालिक प्रान्तों तथा अन्य विभागों से होने वाली आय का लेखा रखता था और महालेखा-परीक्षक उसकी जाँच किया करता था। फीरोज़शाह तुग़लक के शासन-काल में इस व्यवस्था में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया गया था। महालेखाकार आय का और महालेखा-परीक्षक व्यय का हिसाब रखता था। महालेखाकार की सहायता के लिए एक नाज़िर हुआ करता था। महालेखा परीक्षक की सहायता के लिए भी कुछ पदाधिकारी होते थे। दोनों के बड़े-बड़े दफ्तर थे जिनमें अनेक क्लर्क काम करते थे।

दीवाने-आरिज़

दीवाने-आरिज़ अथवा दीवाने-अर्ज़ राजधानी में अन्य महत्वपूर्ण मन्त्री था। हम उसे सेना-मन्त्री अथवा सैनिक-विभाग का महाप्रबन्धक कह सकते हैं। उसका मुख्य काम सैनिकों की भरती करना, सैनिकों और घोड़ों की हुलिया रखना तथा फौजों का निरीक्षण करना था। चूँकि सेना का महासेनापति सुल्तान स्वयं हुआ करता था इसलिए सामान्यतया आरिज़े-मुमालिक को शाही

फौज का सेनापतित्व नहीं करना पड़ता था, किन्तु कभी-कभी सेना के किसी भाग का नेतृत्व उसे दे दिया जाता था। उसका मुख्य काम फौज के अनुशासन तथा साज-सज्जा और युद्ध-क्षेत्र में उसके कार्यों का निरीक्षण करना था। यह विभाग इतना महत्वपूर्ण था कि कभी-कभी सुल्तान स्वयं उससे सम्बन्धित अनेक कार्यों को किया करता था। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन ख़लजी को सेना के संगठन तथा उसके जीवन में बहुत रुचि थी इसलिए वह उसकी ओर निजी तौर से ध्यान दिया करता था।

दीवाने-इंशा

दीवाने-इंशा तीसरा मन्त्री था। उस पर शाही पत्र-व्यवहार का भार था। उसकी सहायता के लिए अनेक दबीर अथवा लेखक रहते थे जो लेखन-शैली में दक्ष होने के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके होते थे। सुल्तान का अन्य राज्य के शासकों, महत्वपूर्ण अधीनस्थ सामन्तों तथा राज्य के पदाधिकारियों से जो पत्र-व्यवहार होता था और जिसका बहुत कुछ अंश गुप्त रखा जाता था, वह सब इसी विभाग द्वारा होता था। सुल्तान के महत्वपूर्ण आदेशों के प्रारूप इसी विभाग में तैयार किये जाते थे। उसके बाद वे सुल्तान की स्वीकृति के लिए भेजे जाते थे और अन्त में उनकी प्रतिलिपियाँ बनायी जातीं और मुद्रांकित करके यथास्थान भेज दी जाती थीं। इस विभाग का कार्य गुप्त ढंग का होने के कारण उसका अध्यक्ष एक अत्यन्त विश्वसनीय पदाधिकारी हुआ करता था।

दीवाने-रसालात

इनके उपरान्त दीवाने-रसालात नाम का अन्य मन्त्री होता था। इस मन्त्री के कार्यों के सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है। डा. आई. एच. कुरैशी के मतानुसार उसका सम्बन्ध धार्मिक विषयों से था; इसके अतिरिक्त विद्वानों तथा धार्मिक व्यक्तियों को जो भत्ते दिये जाते थे उनका भी भार उसी पर था। इसके विपरीत डा. हबीबुल्ला का कथन है कि वह विदेश-मन्त्री था और इसलिए कूटनीतिक पत्र-व्यवहार तथा विदेशों को भेजे जाने वाले और वहाँ से आने वाले राजदूतों का भार उस पर था। डा. हबीबुल्ला का मत सही प्रतीत होता है। डा. कुरैशी ने गलत अर्थ लगाया है। इसके अतिरिक्त उनके सिद्धान्त से सिद्ध होगा कि सल्तनत में एक ही काम के लिए अनिवार्य रूप से दो पदाधिकारी रहे होंगे, क्योंकि धार्मिक विषयों, धर्मस्व तथा दान के लिए प्रारम्भ से ही एक अन्य पदाधिकारी था जो सद्रुस-सुदूर कहलाता था। दीवाने-रसालात बहुत ही महत्वपूर्ण पदाधिकारी था, क्योंकि सुल्तान देशी राजाओं के अतिरिक्त मध्य एशियाई शक्तियों से भी कूटनीतिक सम्बन्ध कायम करने के इच्छुक रहते थे।

सद्रुस-सुदूर

सद्रुस-सुदूर तथा दीवाने-कज़ा दो अन्य मन्त्री थे। बहुधा इन दोनों विभागों—धर्मस्व-विभाग तथा न्याय-विभाग—का काम चलाने के लिए एक मन्त्री नियुक्त किया जाता था। मुख्य सद्र (सद्रुस-सुदूर) का काम था इस्लामी नियमों और उपनियमों को लागू करना तथा यह देखना कि मुसलमान लोग उनका अपने दैनिक जीवन में पालन करते हैं और प्रतिदिन नियमानुसार दिन में पाँच बार नमाज़ पढ़ते तथा रोज़ा आदि रखते हैं। दान के रूप में बहुत-सा धन वितरण करने तथा मुस्लिम उलेमा, विद्वानों और धार्मिक पुरुषों को जीवन-निर्वाह के लिए भत्ते मंजूर करने आदि का भार भी उसी पर था। मुख्य काज़ी न्याय-विभाग का अध्यक्ष था और राज्य भर में न्याय-शासन का निरीक्षण करना उसका कार्य था।

मजलिसे-खल्वत

सब मन्त्रियों के पद तथा स्थिति समान नहीं थी। वज़ीर की हैसियत तथा अधिकार अन्य मन्त्रियों से कहीं अधिक थे। अन्य पाँच मन्त्री तो केवल शिष्टाचार की दृष्टि से मन्त्री कहे जाते थे, वास्तव में उनकी स्थिति लगभग सुल्तान के सचिवों (सेक्रेटरियों) जैसी थी। सुल्तान सब मन्त्रियों को एक ही समय तथा साथ-साथ परामर्श के लिए आमन्त्रित नहीं किया करता था, इसलिए मन्त्रि-परिषद जैसी कोई संस्था नहीं थी। सुल्तान अपनी इच्छानुसार उनको नियुक्त तथा पदच्युत करता था और उनमें से किसी की अथवा सबकी सलाह मानने के लिए वह बाध्य नहीं था। इनके अतिरिक्त सुल्तान के सलाहकारों की एक बड़ी संख्या थी, जिनमें अनेक ग़ैर-सरकारी थे; उन सबको मजलिसे-खल्वत कहते थे। इसमें सुल्तान के निजी मित्र, कुछ विश्वसनीय पदाधिकारी तथा प्रमुख उलेमा सम्मिलित थे। समय-समय पर सुल्तान उन्हें परामर्श के लिए बुलाता था तथापि शासन पर कुछ उनका प्रभाव रहता था।

अन्य विभाग

चार प्रथम श्रेणी तथा दो द्वितीय श्रेणी के मन्त्रियों (सद्रुस-सुदूर तथा मुख्य काज़ी) के अतिरिक्त राजधानी में अन्य विभागाध्यक्ष भी थे जिनके ऊपर महत्वपूर्ण कार्यों का भार था। वे इस प्रकार थे—बरीदे-मुमालिक (डाक तथा गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष); दीवाने-अमीर कोही अर्थात् कृषि-विभाग जिसकी स्थापना मुहम्मद तुग़लक ने की थी; दीवाने-मुस्तख़ाज अर्थात वह विभाग जिसका काम किसानों तथा कलक्टरों से बकाया वसूल करना था और जिसकी स्थापना अलाउद्दीन ख़लजी ने की थी और दीवाने-इस्तिहकाक अर्थात पैंशन विभाग।

शाही गृह-प्रबन्धक

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से सुल्तान के गृह-विभाग का अध्यक्ष उसके निजी मामलों की देख-रेख करता था, किन्तु शासन पर भी उसका काफी प्रभाव रहता था। शाही अंग-रक्षक तथा गुलाम जो सरे-जाँदार तथा दीवाने-बन्दागान नामक पदाधिकारियों के अधीन थे, उसी की देख-रेख में कार्य करते थे। उन्हें युद्ध में भी भाग लेना पड़ता था। अनेक कारखाने थे जिनमें सेना तथा अन्य विभागों की आवश्यकता की वस्तुएँ बनायी जाती थीं। शाही अस्तबलों में घोड़े तथा अन्य पशु थे जिनका युद्ध तथा सामान ढोने के लिए प्रयोग किया जाता था। ये सब शाही गृह-प्रबन्धक के नियन्त्रण में कार्य करते थे। उसका सुल्तान से सीधा सम्पर्क रहता था और कभी-कभी वज़ीर से भी। इसलिए उसके हाथों में बहुत शक्ति थी और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

प्रान्तीय शासन

दिल्ली सल्तनत कभी भी एकसे प्रान्तों में नहीं विभक्त थी और न उन सब की शासन-व्यवस्था ही एक ढंग की थी। कभी किसी सुल्तान ने प्रान्तों को समान आधार पर संगठित करने का विचार नहीं किया। १३वीं शताब्दी में सल्तनत सैनिक क्षेत्रों में विभक्त थी, जो इक्ता कहलाते थे। प्रत्येक इक्ता एक मुक्ती अथवा शक्तिशाली सैनिक पदाधिकारी के अधीन होता था। तथाकथित गुलाम सुल्तानों के समय के इक्तों की संख्या हम उनकी शासन-व्यवस्था का वर्णन करते समय बारहवें अध्याय में कर चुके हैं। अलाउद्दीन ख़लजी ने दक्षिण सहित लगभग सम्पूर्ण देश को विजय किया और यद्यपि वह मौलिक तथा रचनात्मक राजनीतिज्ञ था, किन्तु उसने भी छोटे तथा बड़े प्रान्तों को पूर्ववत रहने दिया। इसलिए उसके शासन-काल में दो प्रकार के प्रान्तों का आविर्भाव हुआ अर्थात इक्ते जो उसके पूर्वाधिकारियों के समय से चले आये थे और वे राज्य जिन्हें उसने विजय किया था। उसने इक्तों को कायम रखा और नव-विजित राज्यों पर सैनिक सूबेदार नियुक्त किये; वे क्षेत्रफल तथा आय दोनों की दृष्टि से इक्तों से बहुत बड़े थे क्योंकि विजय से पूर्व वे समृद्धशाली हिन्दू राज्य रह चुके थे। इनमें उन हिन्दू सामन्तों के राज्यों को जोड़ दीजिये जिनकी स्थिति सूबेदारों की सी रह गयी थी। इस प्रकार अलाउद्दीन ख़लजी के शासन-काल में हम दिल्ली सल्तनत में तीन प्रकार के प्रान्त पाते हैं। इक्ते के पदा-धिकारी का नाम पूर्ववत मुक्ती बना रहा। जिन्हें नये सैनिक प्रान्तों का भार सौंपा गया, वे वली और कभी-कभी अमीर कहलाते थे। मुक्ती की तुलना में वली का पद तथा प्रतिष्ठा कहीं अधिक ऊँची थी। बड़े प्रान्तों की संख्या समया-नुसार घटती-बढ़ती रहती थी। ख़लजी तथा तुग़लक सुल्तानों के शासन-काल

में बंगाल, गुजरात, जौनपुर, मालवा, खानदेश तथा दक्षिण सबसे महत्वपूर्ण सैनिक प्रान्त थे। मुक्तियों तथा वलियों दोनों को अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में सेनाएँ रखनी पड़ती थीं। शान्ति-व्यवस्था स्थापित करना और विद्रोही जमींदारों को दण्ड देना उन्हीं का कर्तव्य था। अपने अधीन पदाधिकारियों को नियुक्त करने का उन्हें अधिकार था और अपने अधीनस्थ सम्पूर्ण प्रदेशों के शासन का उत्तरदायित्व उन्हीं पर था। जब तक वे सुल्तान की आज्ञा का पालन करते और आवश्यकतानुसार सैनिक सहायता देते रहते तब तक वे अपरिमित शक्ति का उपभोग करते थे। उन्हें अपनी आय-व्यय का हिसाब रखना पड़ता और बचत का धन केन्द्रीय सरकार के कोष में जमा करना पड़ता था। मुक्तियों तथा वलियों को इस्लामी कानूनों की रक्षा तथा उन्हें कार्यान्वित करने, उलेमा की रक्षा करने, न्याय-शासन का प्रबन्ध करने, न्यायालयों के निर्णयों को कार्यान्वित करने, राज-मार्गों को डाकुओं से सुरक्षित रखने तथा व्यापार, वाणिज्य और भौतिक समृद्धि को प्रोत्साहन देने का आदेश दिया जाता था। फीरोज़ तुग़लक ने अपने पुत्र फतेहखाँ को जब सिन्ध का सूबेदार नियुक्त करके भेजा तो उसने उसे किसानों को लूट और अत्याचारों से बचाने, विद्वानों तथा धार्मिक पुरुषों को सहायता देने और प्रजा की रक्षा करने की सलाह दी। इन सद्भावनापूर्ण आदेशों के बावजूद साधारण समय में प्रान्तीय सूबेदार विस्तृत शक्तियों का उपभोग करते और अपने अधीन क्षेत्रों में तुच्छ निरंकुश शासकों जैसा आचरण करते थे। दुर्बल सुल्तानों के समय में वे वास्तविक शासकों जैसा व्यवहार करते तथा अपरिमित सत्ता का उपभोग करते थे। फीरोज़ तुग़लक के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में इनमें से कुछ सूबेदार सरलता से स्वतन्त्र शासक बन बैठे।

प्रत्येक प्रान्त में राजस्व वसूल करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे जिनमें नाज़िर तथा वाकुफ मुख्य होते थे। इनके अतिरिक्त साहिबे-दीवान अथवा ख्वाजा नामक उच्च पदाधिकारी होता था। सम्भवतः वज़ीर की सिफारिश के आधार पर ही सुल्तान उसकी नियुक्ति करता था। वह हिसाब रखता तथा उसके सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के पास विस्तृत ब्यौरा भेजा करता था। डा. कुरैशी के मतानुसार वह सुल्तान के प्रति उत्तरदायी था। प्रान्तों में काज़ी तथा कुछ अन्य निम्न श्रेणी के कर्मचारी भी होते थे।

स्थानीय शासन

१३वीं शताब्दी में इक्ते से नीची शासन की इकाई न थी। किन्तु १४वीं शताब्दी में सल्तनत के विस्तार तथा हिन्दू सामन्तों के दमन के कारण प्रान्तों को शिकों में बाँटना आवश्यक हो गया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक

प्रान्त में ऐसा नहीं किया गया। हमें ज्ञात है कि मुहम्मद तुग़लक ने दक्षिण के सूबे को चार तथा दोग्राब को दो शिकों में विभक्त किया था। शिक का अध्यक्ष शिकदार कहलाता था। सम्भवतः वह सैनिक पदाधिकारी होता था और उसका काम अपने अधिकार-क्षेत्र में कानून तथा व्यवस्था कायम रखना था। कुछ समय उपरान्त शिक से छोटी शासन इकाई का प्रादुर्भाव हुआ। इसे परगना कहते थे और वह कई गाँवों से मिलकर बनता था। इब्नबतूता 'सादी' अथवा सौ गाँवों के मण्डल का शासन की इकाई के रूप में उल्लेख करता है। परगनों के पद के नामों तथा कामों के सम्बन्ध में हमें निश्चय रूप से ज्ञान नहीं है। प्रत्येक परगने में एक चौधरी तथा एक राजस्व वसूल करने वाला होता था। सबसे छोटी इकाई गाँव था और उसकी अपनी देशी ढंग की शासन-व्यवस्था थी। प्रत्येक गाँव में झगड़ों का निबटारा करने के लिए एक पंचायत हुआ करती थी। गाँव के लोग एक राज्य की प्रजा के रूप में संगठित होते, अपने मामलों की देखभाल करते और सुरक्षा, चौकीदारी, प्राथमिक शिक्षा तथा सफाई का प्रबन्ध करते थे। साधारण समय में सुल्तान गाँवों के कामों में हस्तक्षेप नहीं करता था। प्रत्येक गाँव में आज की भाँति एक चौकीदार, एक लगान वसूल करने वाला तथा एक पटवारी होता था।

सेना

दिल्ली सल्तनत मूलतः शक्ति पर आधारित थी, न कि जनता की अनुमति पर, इसलिए उसे अपने राज्य के लिए जितनी सेना की आवश्यकता होती थी उससे कहीं बड़ी फौज रखनी पड़ती थी। इस युग के अधिकतर समय में सेना के चार वर्ग होते थे—(१) वे नियमबद्ध सैनिक जो स्थानीय रूप से सुल्तान की सेना के लिए भरती किये जाते थे, (२) वे सैनिक जो प्रान्तीय सूबेदारों और अमीरों की सेवा के लिए स्थानीय रूप से भरती किये जाते थे, (३) वे रँगरूट जो मुख्यतया युद्ध के समय में भरती होते थे, और (४) मुसलमान स्वयंसेवक जो जिहाद अथवा धर्म-युद्ध लड़ने के लिए सेना में सम्मिलित हो जाया करते थे।

दिल्ली में स्थित सुल्तान की सेना हश्मे-क़ल्ब कहलाती थी। उसमें दो प्रकार के सैनिक होते थे—प्रथम सुल्तान के और दूसरे दिल्ली में निवास करने वाले दरबारी मन्त्रियों तथा अन्य पदाधिकारियों के। सुल्तान के सैनिक खास-खेल कहलाते थे और उनमें शाही गुलाम तथा रक्षक (जाँदार तथा अफबाजे-क़ल्ब) सम्मिलित होते थे। यद्यपि ये सैनिक स्थायी रूप से सुल्तान की सेना के लिए रहते थे, फिर भी हम उन्हें स्थायी सेना का नाम नहीं दे सकते। उनकी संख्या कम होती थी और संकट तथा युद्ध के समय सुल्तान के लिए उन पर निर्भर रहना असम्भव था। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में अलाउद्दीन ख़लजी

ने प्रथम बार एक स्थायी सेना की नींव डाली जिसको सीधी केन्द्रीय सरकार भरती करती और वेतन देती थी और उसके पदाधिकारी भी उसी की अधीनता में कार्य करते थे। उसमें पैदलों की विशाल सेना के अतिरिक्त ४,७५,००० अश्वारोही थे। इस प्रकार की सेना मुहम्मद बिन तुग़लक के समय तक कायम रही। फीरोज़ तुग़लक ने फिर उसे एक सामन्ती संगठन में परिवर्तित कर दिया। लोदियों की सेना कबीलों के आधार पर संगठित थी और उसमें लोदी, करमाली, लोहानी, सूर तथा अन्य अफ़ग़ान कबीलों के लोग सम्मिलित थे। वह दुर्बल तथा उसका संगठन अव्यवस्थित था।

अमीरों तथा प्रान्तीय सूबेदारों की सेवाएँ युद्ध के समय दीवाने-आरिज़ को सौंप दी जाती थीं। उसके संगठन, अनुशासन तथा वेतन का भार स्वयं प्रत्येक सूबेदार पर रहता था। उनकी भरती, शिक्षण तथा तरक्की के लिए एकसे नियम न थे। युद्ध के समय में विशेष रूप से भरती किये हुए रँगरूट नियम-बद्ध सैनिक नहीं होते थे। उनके वेतन के लिए भी कोई निश्चित नियम नहीं था। जब कभी सुल्तान की सेना को किसी हिन्दू शासक के विरुद्ध लड़ना पड़ता था तो मुसलमान स्वयंसेवकों को उसमें सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। मौलवी और उलेमा राज्य में चारों ओर भेज दिये जाते थे और वे मुस्लिम जनता को हिन्दू राजा के विरुद्ध लड़ने के लिए उत्तेजित करते थे। स्वयंसेवकों को राजकोष से वेतन नहीं दिया जाता था; उन्हें लूट के धन का एक भाग मिलता था।

सेना राष्ट्रीय सेना नहीं थी क्योंकि उसमें तुर्क, ताजिक, ईरानी, मंगोल, अफ़ग़ान, अरब, हब्शी, भारतीय मुसलमान तथा हिन्दू सभी सम्मिलित रहते थे। वह किराये के टट्टुओं का एक जमघट थी जो धन के लोभ से लड़ते थे। अतः उनमें एकता कायम रखने के लिए एकमात्र सूत्र सुल्तान का व्यक्तित्व ही था। विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी हुई होने के कारण सेना में राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव था, किन्तु उसके अधिकतर सदस्य तथा अफसर मुसलमान होते थे इसलिए धार्मिक सुदृढ़ता और कट्टरपन की भावना अवश्य उन्हें अनुप्राणित करती थी। यद्यपि डा. आई. एच. कुरैशी ने सल्तनत की सेना की अति-रंजित प्रशंसा की है, फिर भी मानना पड़ेगा कि वह समान तत्वों से बनी, वैज्ञानिक ढंग से ट्रेनिंग पाई हुई सुयोग्य सेना नहीं थी जैसा कि फ्रांस के चार्ल्स अष्टम अथवा प्रशिया के फ्रेडरिक विलियम प्रथम की सेनाएँ थीं।

अश्वारोही, पैदल तथा हाथी सेना के मुख्य अंग थे। सबसे अधिक मूल्य-वान अश्वारोही थे और वे सैनिक-संगठन की रीढ़ समझे जाते थे। प्रत्येक घुड़सवार के पास दो तलवारें, एक भाला, एक धनुष तथा बाण होते थे। कभी-कभी वह गदा भी धारण करता था। सैनिक कवच पहिनते तथा घोड़ों

को फौलाद के बख्तर पहनाये जाते थे। सैनिक का मूल्य घोड़े पर ही निर्भर रहता था, इसलिए अधिकतर घुड़सवारों के पास दो-दो घोड़े होते थे। वास्तव में अश्वारोही तीन श्रेणियों में विभक्त थे :—(१) मुरत्तव अर्थात दो घोड़ों वाला सैनिक, (२) सवार अर्थात एक घोड़े वाला सैनिक, और (३) दो-अस्पा जिसके पास फालतू घोड़ा होता था किन्तु जो वास्तव में अश्वारोही नहीं था। अच्छे घोड़े जुटाने में बड़ी सावधानी से काम लिया जाता था और यह आवश्यक भी था। अरब, तुर्किस्तान और कभी-कभी रूस से अच्छे घोड़े मँगाये जाते थे। सुल्तान के अस्तबलों में कई हजार फालतू घोड़े सेना के लिए सदैव तैयार रहते थे।

सेना का दूसरा महत्वपूर्ण अंग पैदल थे। वे पायक कहलाते थे। उनमें से अधिकतर भारतीय मुसलमान, हिन्दू तथा गुलाम होते थे। वे तलवारें, भाले और धनुप-बाण धारण करते थे। धनुर्धारी धानुक कहलाते थे। यह शब्द संस्कृत के धनुष शब्द का विकृत रूप है।

इसके बाद हाथियों का स्थान था जिन पर सुल्तानों को बहुत भरोसा था। कहा जाता है कि बलबन युद्ध में एक हाथी को ५०० घुड़सवारों के समान प्रभावोत्पादक समझता था। मुहम्मद तुग़लक की सेना में तीन हजार हाथी थे। फीरोज़ तुग़लक के पास भी लगभग इतनी ही संख्या थी। हाथियों का रखना सुल्तान का एक विशेषाधिकार माना जाता था। कभी-कभी किसी अमीर को भी हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी और यह अत्यधिक सम्मानसूचक चिन्ह समझा जाता था। हाथी की पीठ पर किले के ढंग का लकड़ी का हौदा रखा जाता था और उसके भीतर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अनेक सैनिक बैठते थे। हाथियों के शरीर लोहे के तवों से ढके जाते और उनकी सूड़ों तथा दाँतों में हँसिये खुरस दिये जाते थे। उन्हें भी युद्ध करना सिखाया जाता था। हाथियों का अध्यक्ष शाहनाएफील कहलाता था।

उस युग में आधुनिक ढंग का तोपखाना नहीं था, किन्तु युद्ध में ज्वलनशील बाणों, बर्छों और ज्वलनशील पदार्थों से भरे हुए पात्रों का प्रयोग किया जाता था। हथगोलों, पलीतों, धूरगोलों और आग लगाने वाली गेंदों का भी प्रयोग होता था। बारूद की सहायता से गोला फेंकने की भी मशीनें थीं। इनके अतिरिक्त मंगनीक अथवा मंगोनेल अथवा मंगोन नाम की एक मशीन होती थी, जिसके द्वारा आग के गोले, आग लगाने वाले तार, पत्थर के टुकड़े और बड़ी-बड़ी चट्टानें तथा लोहे के गोले तक फेंके जा सकते थे। कभी-कभी विषैले साँप और बिच्छू भी शत्रु-सेना में फेंक दिये जाते थे। सुल्तान के अधिकार में नावों का एक विशाल बेड़ा रहता था, जिसका प्रयोग सामान ढोने तथा नदियों के युद्ध में किया जाता था।

सुल्तान स्वयं अपनी सेना का महासेनापति होता था। वह उसके संगठन तथा उसे समुचित अवस्था में रखने की ओर स्वयं ध्यान दिया करता था, फिर भी एक सेना-मन्त्री होता था जो दीवाने-आरिज़ कहलाता था। सैनिकों की भरती, उनके संगठन, अनुशासन तथा तरक्की आदि विषयों का भार उसी पर था। सेना दशमलव के आधार पर संगठित की जाती थी। अश्वारोही सेना में दस सवारों की एक टुकड़ी होती थी और उसके नेता को सरेखेल कहते थे। दस सरेखेलों के ऊपर एक सिपहसालार, दस सिपहसालारों के ऊपर एक अमीर, दस अमीरों के ऊपर एक मलिक और दस मलिकों के ऊपर एक खान होता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह योजना केवल कागजी थी और इस युग के किसी भी सुल्तान के शासन-काल में इसको कार्यान्वित नहीं किया गया। बलबन के समय तक सेना के अधिकतर पद वंशानुगत हो चुके थे। बहुत-से सैनिक युद्ध में तथा सैनिक निरीक्षण के अवसर पर अपने प्रतिनिधि भेज दिया करते थे। अलाउद्दीन ख़लजी ने इस भ्रष्टाचार को दूर करने का प्रयत्न किया, उसने घोड़ों को दागने की प्रथा चलायी जिससे निरीक्षण के समय एक ही घोड़ा दो बार प्रस्तुत न किया जा सके और अच्छे के स्थान पर निकम्मा टट्टू न रखा जा सके। उसने आज्ञा निकाली कि प्रत्येक सैनिक की हुलिया रजिस्टर में लिखी जाय जिससे कोई सैनिक अथवा अफसर अपने स्थान पर किसी दूसरे व्यक्ति को न भेज सके। इन सुधारों से सेना में अनुशासन की पुनः स्थापना हुई, किन्तु फीरोज़ तुग़लक के समय में इन नियमों की उपेक्षा की गयी और सैनिकों को अपने स्थान पर दूसरों को भेजने की आज्ञा दे दी गयी। सिकन्दर लोदी के समय तक सेना में यही अव्यवस्था और अनुशासनहीनता प्रचलित रही; उस सुल्तान ने पुनः हुलिया अथवा चेहरा लिखने तथा घोड़ों को दागने का नियम जारी किया।

राजधानी में स्थित सेना के संगठन तथा अनुशासन के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार कठोरता का व्यवहार करती थी, किन्तु जहाँ तक प्रान्तीय सेनाओं के संगठन का सम्बन्ध था, उन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं था। वे वर्ष में केवल एक बार निरीक्षण के लिए उपस्थित की जाती थीं और उस समय दीवाने-आरिज़ अपने बनाये हुए नियमों को लागू कर सकता था।

सेना की कुछ टुकड़ियाँ प्रान्तों में सामरिक महत्व के स्थानों में रख दी जाती थीं। सीमान्त किलों की रक्षा के लिए अनुभवी सैनिक रखे जाते थे। किले में रसद तथा पशुओं के चारे के लिए समुचित प्रबन्ध करना किलों के अध्यक्षों का ही कर्तव्य था।

सुल्तान समर-नीति में दक्ष हुआ करते थे। छिपकर तथा सहसा आक्रमण करने की कला का बहुधा प्रयोग किया जाता था। युद्ध आरम्भ करने से पहले

सेनापति भावी युद्ध-प्रदेश की अवश्य जाँच-पड़ताल कर लेता और रण-क्षेत्र निश्चित करने में भौगोलिक स्थितियों का ध्यान रखता था। युद्ध-भूमि में सेना कई डिवीजनों में विभक्त की जाती थी जैसे अग्रगामी दल, केन्द्र, दक्षिण पार्श्व, वाम पार्श्व तथा संरक्षक अथवा रिजर्व दल। सामने हाथी खड़े किये जाते थे और उनके आगे अश्वारोही। डा. कुरैशी का मत है कि सेना के दोनों पार्श्वों में पार्श्व-दल भी हुआ करते थे। किन्तु इसमें सन्देह मालूम होता है। पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम लोदी की सेना में पार्श्व-दल नहीं था। इसके विपरीत बाबर की सेना में यह दल था और इसी के कारण इब्राहीम की पराजय हुई थी। सेना के साथ स्काउट तथा स्थानीय भेदिये भी चलते थे। शत्रु की गति-विधियों का निरीक्षण करना तथा तत्सम्बन्धी समाचार सेनापति को देना स्काउटों का मुख्य कर्तव्य था। उनकी सेवा का अत्यधिक महत्व था।

सैनिक पदाधिकारियों को भू-राजस्व के भाग के रूप में वेतन मिलता था किन्तु सैनिकों को नकद तनख्वाह दी जाती थी। सैनिकों का वेतन समयानुसार घटता-बढ़ता रहता था। अलाउद्दीन के शासन-काल में एक सुसज्जित सैनिक का वेतन २३४ टंका प्रति वर्ष था, जबकि मुहम्मद तुग़लक के समय में ५०० टंका मिलता था। युद्ध के समय में सिपाहियों को भोजन, वस्त्र तथा चारा मुफ्त दिया जाता था। अफसरों का वेतन भी समय-समय पर घटता-बढ़ता रहता था। खान को एक लाख टंका तथा मलिक को पचास या साठ हज़ार टंका तक प्रति वर्ष मिलता था। छोटे अफसरों को एक से दस हज़ार टंका तक प्रति वर्ष दिया जाता था। अफसरों के वेतन में उनके अधीन सैनिकों का वेतन भी सम्मिलित रहता था।

अनियमित सैनिकों को जो कि गैर-वजही कहलाते थे और जिन्हें थोड़े समय के लिए भरती किया जाता था, किसी स्थानीय कोष से और कभी-कभी केन्द्रीय राजकोष से नकद वेतन मिलता था। फीरोज़ तुग़लक ने सैनिकों को भी वेतन भू-राजस्व के भाग के रूप में देने की प्रथा प्रचलित की थी। सैनिकों के वेतन तथा भत्ते समुचित ही नहीं बल्कि बहुत अच्छे थे।

वित्त

सल्तनत-युग की वित्त-नीति सुन्नी विधिविज्ञों की हनीफी शाखा के वित्त सिद्धान्तों पर आधारित थी। भारत के प्रारम्भिक तुर्की-सुल्तानों ने अपने गज़नवी पूर्वाधिकारियों से यह प्रथा अपनाली थी। शरा में जो राजस्व के मुख्य साधन बताये गये हैं और जिन पर सुल्तान निर्भर रहते थे, वे थे—(१) उश्र, (२) खराज़, (३) खम्स, (४) ज़कात और (५) जज़िया। इनके अतिरिक्त आय के कई अन्य साधन भी थे जैसे खानों से आय, भूमि में गड़ा हुआ धन, निःसन्तान लोगों की सम्पत्ति, बहिःशुल्क, आबकारी-कर इत्यादि।

उश्र भूमि-कर था और मुसलमान भूमिधरों की उस भूमि पर लगाया जाता था जिसकी सिंचाई प्राकृतिक साधनों से होती थी । यह उपज के $\frac{१}{१०}$ की दर से वसूल किया जाता था । खराज़ भी भूमि-कर था जो गैर-मुसलमानों की भूमि पर लगाया जाता था । इस्लामी कानून के अनुसार इसकी दर $\frac{१}{१०}$ से $\frac{१}{२}$ तक होती थी । खम्स उस लूट के धन के $\frac{१}{५}$ को कहते थे जो काफिरों के विरुद्ध युद्ध में प्राप्त होता था, उसका $\frac{४}{५}$ सेना में बाँट दिया जाता था । ज़कात धार्मिक कर था जो केवल मुसलमानों से वसूल किया जाता था । यह कर कुछ निश्चित मूल्य से अधिक की सम्पत्ति पर ही लगता था । सम्पत्ति का वह भाग जो इससे मुक्त था, निसाब कहलाता था । इसकी दर २$\frac{१}{२}$ प्रतिशत थी । इस कर से होने वाली आय कुछ निश्चित मदों पर मुसलमानों के लाभ के लिए व्यय की जाती थी जैसे मस्जिदों और कब्रों की मरम्मत, धर्मस्व और धार्मिक लोगों तथा दरिद्रों को दिये जाने वाले भत्ते इत्यादि ।

जज़िया क्या है ?

जज़िया केवल गैर-मुसलमानों पर लगाया जाता था । इस कर के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । कुछ का कहना है कि यह धार्मिक कर था और गैर-मुसलमानों से वसूल किया जाता था और इसके बदले में उन्हें अपने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा का आश्वासन मिलता था और वे सैनिक-सेवा से मुक्त रहते थे। क्योंकि कट्टर सुन्नी विधिविज्ञों के अनुसार गैर-मुसलमानों को मुसलमानों के राज्य में रहने का अधिकार नहीं है। किन्तु कुछ आधुनिक मुस्लिम विद्वानों का मत है कि जज़िया धर्म-निरपेक्ष कर था और गैर-मुसलमानों पर इसलिए लगाया जाता था, क्योंकि वे सैनिक-सेवा से मुक्त थे । मुसलमानों को कम से कम सिद्धान्ततः अनिवार्य रूप से राज्य की सैनिक-सेवा करनी पड़ती थी । प्रारम्भिक मुसलमान विधिविज्ञों ने करों को दो वर्गों में विभक्त किया— धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष, और जज़िया को उन्होंने दूसरी कोटि में रखा । धार्मिक कर ज़कात और सदका थे जो केवल मुसलमानों पर लगाये जाते थे । जज़िया मुसलमानों पर नहीं लगाया जाता था और न उसके सम्बन्ध में कोई ऐसा नियम ही था कि उससे होने वाली आय को धार्मिक कार्यों में ही व्यय किया जाय । यही कारण था कि मुस्लिम विधिविज्ञों ने उसे धर्म-निरपेक्ष करों की कोटि में रखा । किन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर जज़िया को धर्म-निरपेक्ष कर कहना युक्तिसंगत नहीं है । प्रारम्भ में भारत के बाहर इस्लामी देशों में इस कर के लगाने का कुछ भी उद्देश्य रहा हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जब अरबों ने सिन्ध-विजय की उस समय तक जज़िया धार्मिक कर समझा जाने लगा था । वह गैर-मुसलमानों पर इसलिए लगाया जाता था कि राज्य उनके जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करता और सैनिक-सेवा से उन्हें मुक्त

रखता था। दिल्ली के सुल्तान कठोरता से इस कर को वसूल करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। वे आधुनिक लेखक जो इस कर को धर्म-निरपेक्ष मानते हैं, धर्माज्ञा के पहले भाग—जिम्मियों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा—को जानबूझकर भूल जाते हैं और केवल दूसरे भाग—सैनिक-सेवा से मुक्ति—पर जोर देते हैं। मुग़ल-युग के इतिहास से स्पष्ट है कि अधीनस्थ हिन्दू राजा जो बाबर और हुमायूँ के समय में, अकबर के प्रारम्भिक दिनों तथा औरंगजेब के शासन-काल में मुग़ल-सम्राटों की सैनिक-सेवा किया करते थे, वे भी जज़िया से मुक्त नहीं थे। हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि उदयपुर के राणा ने औरंगजेब की सेवा के लिए एक सैनिक टुकड़ी दे रखी थी फिर भी जज़िया के बदले में उसे अपनी भूमि का कुछ भाग मुग़लों के हवाले करना पड़ा था। इसलिए यह स्पष्ट है कि जज़िया का धार्मिक महत्व था। इस कर के सम्बन्ध में बयाना के काज़ी मुगिसुद्दीन के निर्णय का हम पहले एक अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं।

इस समस्त युग के ऐतिहासिक तत्वों को ध्यान में रखते हुए भी यह कहना कि जज़िया तुरुश का दण्ड अथवा अन्य किसी कर की भाँति धर्म-निरपेक्ष कर था, सत्य से बहुत दूर होगा।

स्त्रियाँ, बच्चे, भिखारी तथा लंगड़े जज़िया से मुक्त थे। इस कर के लिए समस्त हिन्दू जनता को तीन वर्गों में विभक्त किया गया था। पहले वर्ग को ४८ दिरहम, दूसरे को २४ दिरहम और तीसरे को १२ दिरहम चुकाना पड़ता था।

अन्य कर

आयात पर भी कर लगता था, जिसकी दर व्यापारिक वस्तुओं के लिए २½ और घोड़ों के लिए ५ प्रतिशत थी। आयात-कर की दर गैर-मुसलमानों के लिए मुसलमानों से दूनी थी। इसके अतिरिक्त मकान-कर, चरागाह-कर, पानी कर तथा अन्य साधारण कर भी वसूल किये जाते थे। खनिज-पदार्थों तथा व्यक्तियों को मिले हुए कोष का ⅕ राज-कोष में जमा होता था। मुसलमानों द्वारा विजित देशों में सोना और चाँदी की शिलाओं तथा ढाले हुए सिक्कों का भी एक भाग राज्य ले लेता था। जो लोग निःसंतान मर जाते थे और जिनका कोई उत्तराधिकारी न होता था उनकी सम्पत्ति भी राज्य की हो जाती थी। आय का एक अन्य महत्वपूर्ण साधन भी था। प्रति वर्ष सुल्तान को जनता, पदाधिकारियों तथा अमीरों से बहुत-सा धन भेंट के रूप में मिल जाया करता था।

भू-राजस्व

दिल्ली सल्तनत की आय का सबसे महत्वपूर्ण साधन भू-राजस्व था और युद्ध में प्राप्त लूट के धन के बाद उसी का स्थान था। राजस्व-शासन की दृष्टि

से भूमि के चार मुख्य वर्ग थे—(१) खालसा भूमि, (२) क्लोम-विभक्त भूमि, जो मुक्तियों को कुछ निश्चित वर्षों अथवा जीवन भर के लिए दे दी जाती थी, (३) हिन्दू सामन्तों के राज्य जिन्होंने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली थी और (४) मुसलमान विद्वान तथा सन्तों को इनाम अथवा मिल्क अथवा वक्फ के रूप में दी गयी भूमि। खालसा भूमि का प्रबन्ध सीधा केन्द्रीय सरकार द्वारा होता था किन्तु सरकार प्रत्येक किसान से सीधा नहीं, बल्कि चौधरी, मुकद्दम आदि स्थानीय राजस्व पदाधिकारियों द्वारा भूमि-कर वसूल करती थी। उपर्युक्त पदाधिकारी किसानों से लगान वसूल करते थे और प्रत्येक उपक्षेत्र में (सम्भवत: शिक में) आमिल नाम का एक पदाधिकारी रहता जो इनसे राजस्व इकट्ठा करके राज-कोष में जमा करता था। राजस्व की दर वास्तविक उपज के आधार पर सावधानी से हिसाब लगाकर नहीं, बल्कि ,अनुमान से ही निश्चित कर दी जाती थी। इक्ता में राजस्व निर्धारित तथा वसूल करने का काम मुक्ती के हाथ में होता था। वह अपना भाग काटकर बचत को केन्द्रीय सरकार के कोष में जमा कर देता था। उसका हित नाममात्र की बचत दिखाने तथा किसी न किसी बहाने उसे अदा न करने में ही था। इसलिए वज़ीर की सलाह से सुल्तान प्रत्येक इक्ते के लिए ख्वाजा नामक एक पदाधिकारी को नियुक्त करता था जिसका काम राजस्व की वसूली की देख-रेख करना तथा मुक्ती पर कुछ नियन्त्रण रखना था। गुप्तचरों की उपस्थिति के कारण ख्वाजा तथा मुक्ती में झगड़ा होने की सम्भावना कम रहती थी, क्योंकि वे स्थानीय पदाधिकारियों के कामों की सीधी रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को दिया करते थे। वे हिन्दू राजा जिन्होंने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली थी, अपने-अपने राज्यों में पूर्ण स्वायत्तता का उपभोग करते थे। उन्हें केवल सुल्तान को कर देना पड़ता था। इसी प्रकार जमींदार लोग सरकार को निश्चित कर दिया करते थे, और उनके अधिकार-क्षेत्रों में रहने वाले किसानों का अपने जमींदारों को छोड़कर अन्य किसी अधिकारी से सम्बन्ध नहीं था। वक्फ अथवा इनाम के रूप में दी गयी भूमि राजस्व से मुक्त और माफीदारों की वंशानुगत सम्पत्ति हो जाती थी।

दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण युग में उपर्युक्त व्यवस्था ही प्रचलित रही। अलाउद्दीन ख़लजी पहला सुल्तान था जिसने राजस्व-नीति तथा व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसकी नीति दो मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित थी—(१) राज्य की आय में अधिक से अधिक वृद्धि करना और (२) लोगों को आर्थिक अभाव की दशा में रखना जिससे वे विद्रोह अथवा आज्ञोल्लंघन का विचार भी न कर सकें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने निम्नलिखित उपाय किये :—

सबसे पहले उसने मुसलमान अमीरों की तथा मिल्क (स्वामित्व अधिकार), इनाम (निःशुल्क भेंट), इद्रात (पेंशन) और वक्फ (धर्मस्व) के रूप में धर्म के नाम पर दी गयी भूमि को जब्त कर लिया। उपर्युक्त प्रकार की अधिकतर भूमि पर राज्य ने अधिकार कर लिया, किन्तु कुछ माफीदार पूर्ववत अपने अधिकारों का उपभोग करते रहे। दूसरे, हिन्दू, मुकद्दम, खुत, चौधरी आदि राजस्व पदाधिकारियों को जो विशेषाधिकार मिले हुए थे, उनसे छीन लिये गये और अब उन्हें भी अन्य लोगों की भाँति अपनी भूमि पर राजस्व तथा मकान और चरागाह-कर देने पड़ते थे। तीसरे, उसने राजस्व की दर उपज का $\frac{१}{२}$ भाग निर्धारित की। चौथे, उसने भू-राजस्व तथा अन्य प्रचलित करों के अतिरिक्त किसानों पर मकान-कर तथा चरागाह-कर भी लगाये और जज़िया, बहिःशुल्क और ज़कात पूर्व-सुल्तानों के युग की भाँति लगते रहे। पाँचवे, उसने भूमि की वास्तविक उपज जानने के लिए भूमि की नाप करने की परिपाटी प्रचलित की और पटवारियों के अभिलेखों की जाँच करवायी जिससे कि राजस्व-विभाग लगान निर्धारित करने के लिए सही जानकारी प्राप्त कर सके। छठें, सब प्रकार का राजस्व कठोरता से वसूल करने के लिए उसने एक सुयोग्य विभाग का निर्माण किया और फसल की प्राकृतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की हानि होने पर राजस्व में छूट करने का नियम नहीं रखा। यद्यपि नाप की परिपाटी सल्तनत के सब प्रान्तों में प्रचलित नहीं की जा सकी, किन्तु सुल्तानों की नीति का मुख्य उद्देश्य राजस्व में पर्याप्त वृद्धि करना तथा कर का बोझ किसान, जमींदार, व्यापारी, दुकानदार आदि सभी वर्गों पर डालना था।

अलाउद्दीन की नीति अत्यधिक कठोर तथा अप्रिय थी इसलिए उसके उत्तराधिकारी उसका अनुसरण नहीं कर सके। उसके अनेक कठोर नियम त्याग दिये गये, किन्तु उसके द्वारा निश्चित की गयी लगान की दर में परिवर्तन नहीं किया गया। ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने अलाउद्दीन की राजस्व-नीति की कठोरता को कुछ कम किया, किन्तु राज्य-कर की दर किसी प्रकार से नहीं घटाई और वह पूर्ववत उपज का $\frac{१}{२}$ कायम रही। पहले, उसने फसल को प्राकृतिक अथवा अन्य किन्हीं कारणों से हानि होने पर छूट देने के सिद्धान्त को स्वीकार किया और उचित अनुपात में राजस्व की छूट दी। दूसरे, उसने खुद, मुकद्दम और चौधरी लोगों को भूमि-कर तथा चरागाह-कर से मुक्त कर दिया। तीसरे, उसने नियम बनाया कि किसी इक्ता में १ वर्ष में $\frac{१}{१०}$ अथवा $\frac{१}{११}$ से अधिक राजस्व में वृद्धि न की जाय। किन्तु ग़ियासुद्दीन की राजस्व-नीति में दो मुख्य दोष थे। एक तो उसने भूमि का नाप कराने की परिपाटी त्याग दी और पूर्ववत अनुमति से राजस्व निर्धारित करने की नीति को अपनाया।

दूसरे, उसने सैनिक तथा असैनिक पदाधिकारियों को जागीरें देने की प्रथा को पुनः प्रचलित कर दिया।

उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद तुग़लक सल्तनत के राजस्व-शासन को सुव्यवस्थित करने का इच्छुक था। उसकी आज्ञानुसार राजस्व-विभाग ने सल्तनत की आय और व्यय का विस्तृत लेखा तैयार करना आरम्भ किया, जिससे समस्त राज्य में एकसी राजस्व-व्यवस्था स्थापित की जा सके और कोई गाँव भूमि-कर से न बच सके। किन्तु यह आवश्यक तथा लाभप्रद कार्य अधूरा ही रह गया। उसका दूसरा प्रयोग गंगा-यमुना दोआब में भूमि-कर को छोड़कर अन्य करों की दरों में वृद्धि करना था जबकि भूमि-कर की दर पहले की भाँति ५० प्रतिशत ही कायम रही। रैयत ने इस नीति के विरुद्ध घोर असंतोष प्रकट किया किन्तु सुल्तान ने बढ़े हुए करों को वसूल करना जारी रखा। अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ गया जिसकी भी उसने चिन्ता नहीं की। परिणामस्वरूप भयंकर विद्रोह उठ खड़ा हुआ, किन्तु सुल्तान ने अपने अध्यादेश को वापिस नहीं लिया। बाद में उसने तकावी बाँटी और सिंचाई के लिए कुएँ भी खुदवाये, किन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। अतः दोआब का सम्पूर्ण प्रदेश बरबाद हो गया। सुल्तान का एक अन्य सुधार था; कृषि-विभाग की स्थापना करना, जिसे दीवाने-कोही कहते थे। इसका उद्देश्य कृषि के क्षेत्र में विस्तार करना था, किन्तु यह योजना भी निष्फल रही।

१३५१ ई. में फीरोज़ तुग़लक के सिंहासन पर बैठने के समय से दिल्ली सल्तनत की कृषि-नीति का एक नया युग आरम्भ हुआ। उसने राजस्व सम्बन्धी विषयों की ओर बहुत ध्यान दिया और जनता की भौतिक अभिवृद्धि के लिए हृदय से प्रयत्न किया। सबसे पहले उसने प्रजा के उन कष्टों को दूर करने का प्रयत्न किया जो मुहम्मद तुग़लक के सुधारों के कारण हुए थे। उसने तकावी ऋण माफ कर दिया, राजस्व-विभाग के पदाधिकारियों के वेतन बढ़ा दिये और उन शारीरिक यातनाओं को बन्द कर दिया जो सूबेदारों और राजस्व पदाधिकारियों को भुगतनी पड़ती थीं। इसके अतिरिक्त उसने राजस्व सम्बन्धी लेखों की बड़ी सावधानी और परिश्रम से जाँच करवायी और समस्त खालसा भूमि का राजस्व स्थायी रूप से निश्चित कर दिया। तीसरे, उसने २४ कष्टप्रद कर हटा दिये जिनमें घृणित मकान-कर तथा चरागाह-कर भी सम्मिलित थे। कुरान-विहित केवल पाँच कर—खराज़, खम्स, जज़िया, ज़कात तथा सिंचाई-कर कायम रखे। चौथे, उसने खेती की सिंचाई के लिए पाँच नहरों का निर्माण कराया और अनेक कुएँ खुदवाये। पाँचवे, उसने गन्ना, तिलहन, अफीम आदि उत्तम फसलों की कृषि को प्रोत्साहन दिया। छठे, उसने अनेक बाग लगवाये और फलों के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया। इन

सुधारों से राज्य की आय में बहुत वृद्धि और सामान्य जनता की आर्थिक दशा में उन्नति हुई।

किन्तु फीरोज़ की राजस्व-व्यवस्था में तीन भयंकर दोष थे—(१) भू-राजस्व को ठेके पर उठाने के सिद्धान्त को पुनः लागू करना, (२) भू-राजस्व के रूप में वेतन देना और तत्सम्बन्धी पदों को बेचने की आज्ञा देना, तथा (३) जज़िया के क्षेत्र में वृद्धि करना और कठोरता से उसका वसूल करना।

यद्यपि फीरोज़ तुग़लक के राजस्व-सम्बन्धी न्यायपूर्ण तथा उदार नियम उसके उत्तराधिकारियों के दुर्बल शासन-काल में और तिमूर के आक्रमण के उपरान्त अव्यवस्था के युग में त्याग दिये गये, फिर भी परवर्ती तुग़लक तथा सैय्यद सुल्तान उनके मूल तत्वों का अनुसरण करते रहे। जब लोदियों के हाथों में राजशक्ति आयी तो उन्होंने अपने राज्य की समस्त भूमि महत्वपूर्ण अफ़ग़ान परिवारों में बाँट दी। खालसा भूमि का क्षेत्र तथा महत्व बहुत कम हो गया। सिकन्दर लोदी ने भूमि की नाप करने की परिपाटी पुनः प्रचलित करने का प्रयत्न किया, अन्यथा उसने राजस्व नियमों तथा उपनियमों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया।

दिल्ली सुल्तानों की राजस्व-दर के सम्बन्ध में विद्वानों में वाद-विवाद चला करता है। एक आधुनिक विद्वान लिखता है कि इस युग के अधिकतर काल में लगान की दर उपज का $\frac{1}{5}$ रही। यह मत अनुमान पर आधारित है और गलत प्रतीत होता है। पक्के मुसलमान विधिविज्ञों द्वारा निर्धारित इस्लामी कानून के अनुसार खराज़ की दर उपज के $\frac{1}{10}$ से $\frac{1}{2}$ तक होनी चाहिए। जैसा कि हमें ज्ञात है, प्रत्येक इस्लामी देश में और भारत में भी राज्य मुसलमान किसानों से उपज का $\frac{1}{10}$ वसूल करता था, यदि वे अपने खेतों को राजकीय नहरों, तालाबों और कुओं से नहीं सींचते थे। यदि अपने खेतों की सिंचाई के लिए सरकारी नहरों और कुओं के पानी का प्रयोग करते तो उन्हें सिंचाई-कर भी देना पड़ता था। यह भी निश्चित है कि सम्पूर्ण सल्तनत-युग में हिन्दू व्यापारियों को व्यापार-कर मुसलमानों से दूना देना पड़ता है। इससे यह परिणाम निकालना युक्तिसंगत ही है कि हिन्दू किसानों को मुसलमानों से दूना भूमि-कर देना पड़ता होगा अर्थात हिन्दू किसानों के लिए भूमि-कर की दर उपज का $\frac{1}{5}$ रही होगी। यदि इस नियम का पालन भी किया गया होगा तो केवल तथाकथित गुलाम सुल्तानों के समय में। अलाउद्दीन ख़लजी ने लगान की दर बढ़ाकर उपज का $\frac{1}{2}$ कर दी थी और दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले उसके सभी उत्तराधिकारी सल्तनत के अन्त तक इसी दर से भूमि-कर वसूल करते रहे। आधुनिक अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि शेरशाह उपज का

एक-तिहाई[२] वसूल करता था और उसके समय में यह दर उचित तथा न्यायपूर्ण मानी जाती थी और आगे चलकर अकबर महान् ने भी इसी को अपना लिया था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रतीत होता है कि सम्भवतः गुलाम सुल्तानों के समय में भी उपज का एक-तिहाई भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। इस युग में भूमि-कर को छोड़कर किसानों पर अन्य अनेक कर भी लगाये जाते थे। तत्कालीन इतिहासकार लिखते हैं कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने उन सब करों को हटा दिया था जो इस्लामी कानूनों के विरुद्ध थे किन्तु उसके बाद के सुल्तानों को वे कर बार-बार फिर हटाने पड़े। इससे स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण युग में किसानों को भू-राजस्व के अतिरिक्त अन्य कर भी देने पड़ते थे। यह प्रश्न निरर्थक है कि इन करों को जारी रखने का उत्तर-दायित्व किस पर था और उनसे होने वाली आय राजकोष में जमा होती थी अथवा भ्रष्ट राजस्व पदाधिकारी, सूबेदार और मन्त्री उसे हड़प लेते थे। ऊपर जो कुछ हम कह आये हैं, उससे यह सिद्ध है कि किसानों को अपनी कमाई का एक-तिहाई से अधिक उपभोग नहीं करने दिया जाता था।

व्यय की मुख्य मदें थीं :—सुल्तान का परिवार, सैनिक तथा असैनिक सेवाएँ, धर्मस्व तथा दान, युद्ध और विद्रोह, खलीफा को बहुमूल्य भेंटें तथा भारत के बाहर धार्मिक स्थानों के लिए दान।

न्याय तथा शान्ति

शासन का सबसे दुर्बल तथा अव्यवस्थित विभाग दीवाने-उजा (न्याय-विभाग) था। सुल्तान न्याय का स्रोत था। उसका मुख्य उत्तरदायित्व कुरान के नियमों को कार्यान्वित करना और कायम रखना था क्योंकि सैद्धान्तिक रूप से दिल्ली सल्तनत केवल इन्हीं नियमों को मान्यता देती थी। इसलिए सुल्तान स्वयं न्याय-विभाग का अध्यक्ष था। वह सप्ताह में दो बार दरबार करता तथा स्वयं मुकदमों का फैसला करता था। नाम के लिए उसका दरबार अपील का उच्चतम न्यायालय था किन्तु वह मौलिक मुकदमे भी सुनता था। धार्मिक मुकदमों का निर्णय करते समय वह मुख्य सद्र तथा मुफ्ती की सहायता लेता था, किन्तु धर्म-निरपेक्ष मुकदमों में काज़ी उसकी सहायता करता था। इस सम्पूर्ण युग में इन दोनों महत्वपूर्ण पदों—मुख्य सद्र तथा मुख्य काज़ी के पद—का कार्य-भार सँभालने के लिए एक ही व्यक्ति नियुक्त किया जाता था। वह व्यक्ति दो रूपों में सुल्तान के साथ बैठता था—धार्मिक मुकदमों में मुख्य सद्र की, और धर्म-निरपेक्ष के मामलों में काज़ी की हैसियत से।

---

[२] देखिये ए. एल. श्रीवास्तव कृत 'शेरशाह और उसके उत्तराधिकारी' (अंग्रेज़ी संस्करण), पृ० ७१-७६।

मुख्य काज़ी न्याय-विभाग का अध्यक्ष होता था, किन्तु वह नाममात्र का ही अध्यक्ष था क्योंकि इस विभाग का वास्तविक नियन्त्रण सुल्तान के ही हाथों में था। जब सुल्तान दरबार में नहीं बैठता था तभी मुख्य काज़ी अपील के उच्चतम न्यायाधीश का कार्य करता था। अपील के उच्चतम न्यायाधीश के रूप में वह जो निर्णय देता उसमें भी सुल्तान संशोधन कर सकता था। प्रबन्ध की दृष्टि से भी मुख्य काज़ी न्याय-विभाग का प्रमुख नहीं था, क्योंकि सुल्तान स्वयं प्रान्तों एवं जिलों के काज़ियों और शहरों के अमीरे-दादों की नियुक्ति करता था; इस सम्बन्ध में वह काज़ी की सलाह भले ही लेता हो किन्तु नियुक्ति, स्थानान्तर तथा पदच्युति का वास्तविक कार्य उसी के हाथों में था। मुख्य काज़ी राजधानी में ही रहता और कचहरी करता था। उसकी सहायता के लिए एक मुफ्ती बैठता था; वह प्रान्तीय न्यायाधीशों के कार्यों का निरीक्षण करता तथा उनके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनता था।

बड़े नगरों में अमीरे-दाद नामक पदाधिकारी होता था जिसकी तुलना हम आधुनिक सिटी मजिस्ट्रेट से कर सकते हैं। इसके दो मुख्य कार्य थे—अपराधियों को गिरफ्तार करना और काज़ी की सहायता से मुकदमों का फैसला करना। यह न्यायाधीश तथा कार्यपालिका का पदाधिकारी, दोनों ही था। दूसरे रूप में वह काज़ी के निर्णयों को कार्यान्वित करता तथा मुहतासिब की सहायता से नियमों को लागू करता था। उसकी सहायता के लिए नाइबे-दादबक नामक एक पदाधिकारी होता था।

प्रत्येक प्रान्त तथा प्रत्येक जिले में एक काज़ी रहता था। महत्वपूर्ण नगरों में काज़ी तथा अमीरे-दाद भी होते थे। छोटे कस्बों और ग्रामीण क्षेत्रों को जिनमें देश की ९० प्रतिशत जनता रहती थी, सुल्तानों ने छोड़ रखा था और वहाँ न्याय करने के लिए अपने न्यायाधीश नहीं नियुक्त किये थे। सौभाग्य से हमारे गाँव आत्मनिर्भर गणराज्यों की भाँति थे और उनकी अपनी पंचायतें होती थीं जो केवल झगड़े ही नहीं तय करतीं बल्कि अपने फैसलों को कार्यान्वित भी करती थीं। इसलिए जनता प्रसन्न थी कि उसके विदेशी शासकों ने उसे निर्विघ्न छोड़ रखा था। गाँवों में दिल्ली सुल्तानों के शासन का अस्तित्व केवल राजस्व वसूल करने के लिए था।

यद्यपि डा. इश्तियाक हुसैन कुरैशी ने सुल्तानों की न्याय-व्यवस्था की अति-रंजित प्रशंसा की है, किन्तु तत्कालीन फारसी लेखकों के ग्रन्थों से हमें उपर्युक्त संक्षिप्त चित्र उपलब्ध होता है। उसके निरीक्षण से हमें न्याय-व्यवस्था में स्पष्ट दोष दिखायी देते हैं। न्यायालयों का कोई उचित क्रम नहीं था और न उनका क्षेत्राधिकार ही निश्चित था। फरयादी जहाँ चाहता अपनी इच्छानुसार शिका-यत कर सकता अथवा मुकदमा दायर कर सकता था। उदाहरण के लिए वह

अपने नगर के काज़ी अथवा प्रान्तीय काज़ी अथवा सुल्तान के दरबार तक जा सकता था। अपील का उच्चतम न्यायालय मूल मुकदमों का भी निर्णय कर सकता था। न्यायालयों की कार्य-विधि भी निश्चित नहीं थी और न समस्त राज्य में एकसी ही थी। बिना जाँच किये मुकदमे आरम्भ कर दिये जाते थे। न्यायालयों की कार्यवाही लिखी नहीं जाती थी और फैसला बहुधा समरी (Summary) ढंग से होता था। न्यायालयों में कुरान के नियमों के अनुसार न्याय होता था। हिन्दू और मुसलमानों के बीच मुकदमों का निर्णय भी काज़ी इन्हीं नियमों के आधार पर करते थे। भिन्न धर्मों के लोगों के बीच धर्म-निरपेक्ष मुकदमों का निर्णय परम्परागत कानूनों के अनुसार होता था, किन्तु वे लिखित नहीं होते थे। इसलिए प्रत्येक न्यायाधीश अपने चित्त की लहर अथवा बुद्धि के अनुसार उनकी व्याख्या कर सकता था। इसके परिणामस्वरूप उन लोगों के साथ महान् अन्याय होता होगा जो काज़ी के सहधर्मी नहीं होते थे।

दण्ड-विधान अत्यधिक कठोर था। अपराधियों को सामान्यतया अंगच्छेदन और मृत्यु दण्ड दिया जाता था और अपराध स्वीकार करवाने के लिए अभियुक्तों को यातनाएँ दी जाती थीं। यद्यपि हिन्दुओं के सामाजिक मामलों में सरकार न्यूनतम हस्तक्षेप करती थी और उनके मुकदमों का निर्णय उस कानून के अनुसार करती थी जिसे गैरतर्श्री कहते थे, फिर भी लोगों के साथ घोर अन्याय होता होगा क्योंकि उन दिनों न्यायाधीश के सामने फरयादी का दृष्टिकोण व्यक्त करने के लिए वकील नहीं होते थे। मुख्य काज़ी एक ही साथ प्रधान न्यायाधीश तथा मुख्य धर्माधिकारी के पदों पर कार्य करता था। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति उन मुकदमों में जिनमें एक पक्ष में मुसलमान और दूसरे में गैर-मुसलमान होते होंगे शायद ही तटस्थ तथा निष्पक्ष नीति का अनुसरण कर पाता होगा। इसके अतिरिक्त मुख्य काज़ी तथा प्रान्तों, जिलों और नगरों के काज़ियों को अन्य अनेक धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था जिसके कारण उनके मुख्य कर्तव्यों में अवश्य विघ्न पड़ता होगा। उदाहरण के लिए उन्हें अनाथों और पागलों की सम्पत्ति तथा धर्मस्व के रूप में दी गयी सम्पत्ति की देखभाल और वसीयतनामों को कार्यान्वित करना पड़ता था। दरिद्र मुसलमान विधवाओं की सहायता करना और उनके लिए योग्य पति ढूँढ़ना भी उनका ही कार्य था। सार्वजनिक मार्गों तथा मैदानों का अतिक्रमण रोकने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द था। न्याय से बिलकुल सम्बन्ध न रखने वाले इन अनेक कार्यों के कारण उनके न्याय सम्बन्धी कार्यों के पालन में अवश्य बाधा पड़ती होगी। सबसे बड़ा दोष यह था कि राज्य के अधिकांश क्षेत्रों में कोई सरकारी न्याय-पदाधिकारी नहीं थे, इसलिए जनता को अपने झगड़ों का निबटारा करने के लिए अपने साधन निकालने पड़ते थे।

महत्वपूर्ण नगरों में कोतवाल को छोड़कर पुलिस का कहीं नाम भी नहीं था। कोतवाल संस्कृत के 'कोटपाल' शब्द से बना है जिससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में वह सैनिक पदाधिकारी रहा होगा। उसकी अधीनता में कुछ व्यक्तियों का एक छोटा-सा जत्था रहता था और उसका मुख्य कर्तव्य नगर में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना था। प्रत्येक प्रान्त तथा प्रत्येक महत्वपूर्ण नगर में मुहतासिब नामक एक अन्य अफसर होता था। उसके ऊपर कुछ धार्मिक तथा कुछ धर्म-निरपेक्ष कार्यों का भार था। इस्लाम के नियमों को कार्यान्वित करना और यह देखना कि मुसलमान प्रतिदिन पाँच बार नमाज़ पढ़ते, रमजान के दिनों में रोजा रखते, तथा दैनिक जीवन में अन्य धार्मिक अध्यादेशों का पालन करते हैं—ये उनके मुख्य कार्य थे। इनके अतिरिक्त उसे बाजार का नियन्त्रण तथा बाटों और नापों का निरीक्षण करना पड़ता था। मदिरा, भंग, गाँजा आदि मादक द्रव्यों तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थों के निषेध सम्बन्धी नियमों को भी वह लागू करता था। गाँवों तथा छोटे कस्बों में पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं था। समुचित ढंग से बने हुए कारागार भी नहीं थे। पुराने किलों और गढ़ों से कैदखानों का काम लिया जाता था। कैदखानों में व्यवस्था शिथिल थी और उनके पदाधिकारियों में भ्रष्टाचार अत्यन्त सामान्य था।

धार्मिक नीति

दिल्ली सल्तनत के सम्पूर्ण युग में इस्लाम राजधर्म था। इस धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा करना और जनता में उसका प्रचार करना सुल्तान तथा उसकी सरकार का कर्तव्य समझा जाता था। कुरान के नियमों के अनुसार मुस्लिम शासक का सबसे बड़ा कर्तव्य है मूर्तिपूजा का नाश करना, धर्म-युद्ध (जिहाद) लड़ना और दारुल-हर्ब को दारुल-इस्लाम में परिवर्तित करना। अपने धर्म-ग्रन्थ कुरान की स्पष्ट आज्ञाओं को ध्यान में रखते हुए दिल्ली सुल्तान अपनी हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाने के इच्छुक रहते थे, किन्तु व्यावहारिक कठिनाइयाँ तथा राजनीतिक बुद्धिमत्ता उन्हें उनके विरुद्ध निरन्तर युद्ध करने से रोकती थीं। फिर भी फीरोज़ तुग़लक तथा सिकन्दर लोदी जैसे कुछ अतिशय उत्साही सुल्तानों ने धर्म-प्रचार के लिए राज्य की मशीनरी और धन का प्रयोग किया। किन्तु अलाउद्दीन ख़लजी तथा मुहम्मद बिन तुग़लक आदि राजनीतिक विचारों के सुल्तानों ने धर्म-प्रचार तथा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिए राज्य के साधनों और मशीनरी का इस्तेमाल नहीं किया। फिर भी मुहम्मद तुग़लक जैसे अत्यधिक ज्ञानवान सुल्तानों ने भी धर्म के सिद्धान्तों का पालन किया और हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिरों की मरम्मत की आज्ञा नहीं दी। उदाहरण के लिए जब चीन के सम्राट ने अपना राजदूत दिल्ली भेजा और उन बौद्ध मन्दिरों के जीर्णोद्धार की आज्ञा माँगी जिन्हें कराजल पर आक्रमण के समय

सुल्तान के सैनिकों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, तो मुहम्मद तुग़लक ने आज्ञा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि इस प्रकार की प्रार्थना स्वीकार करना मेरे धर्म के विरुद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तथाकथित उदार सुल्तानों के समय में भी हिन्दुओं को नये मन्दिर बनाने तथा पुरानों का जीर्णोद्धार कराने की आज्ञा नहीं थी। इस सम्पूर्ण युग में वे जिम्मी कहलाते थे, जिसका तात्पर्य था कि वे एक गारन्टी के आधार पर जीवित थे और गारन्टी यह थी कि जज़िया देने पर वे एक सीमित रूप में अपने धर्म का अनुसरण कर सकते थे। जिम्मियों को खुले रूप से तथा मुसलमानों को बुरे लगने वाले तरीकों से अपनी धार्मिक क्रियाओं को सम्पादित करने का अधिकार नहीं था और न वे अपने धर्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रचार ही कर सकते थे। सरकारी नौकरियों तथा नागरिक अधिकारों के उपभोग के सम्बन्ध में उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे। वास्तव में उनके साथ राज्य के पूर्ण नागरिकों जैसा व्यवहार नहीं किया जाता था। हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करना तथा मूर्तियों को तोड़ना सुल्तानों ने एक नियम बना रखा था। फीरोज़ तुग़लक तथा सिकन्दर लोदी ने हिन्दुओं को पवित्र नदियों के घाटों पर स्नान करने से रोका और इस्लाम अंगीकार करने के लिए उन्हें हर प्रकार से प्रोत्साहित किया। अपना धर्म त्यागकर मुसलमान होने वालों को जज़िया से मुक्त कर दिया जाता था, उन्हें सरकारी नौकरियाँ मिलती थीं तथा नकद धन और जागीरों के रूप में पुरस्कार दिया जाता था। संक्षेप में, यही नहीं कि हिन्दुओं को अपने धर्म का अनुसरण करने की वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं थी वरन राज्य धार्मिक असहिष्णुता तथा अत्याचारों की नीति पर चलता था। तत्कालीन मुसलमान लेखकों के ग्रन्थों में मूर्तियों को अपवित्र करने, मन्दिरों को नष्ट करने तथा सैकड़ों-हजारों हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के विस्तृत वर्णन भरे पड़े हैं। हमारे धार्मिक स्थान तथा भवन सुल्तानों और उनके अनुयायियों के मूर्ति-खण्डन के उत्साह के साक्षी हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी आँखों से अधटूटे मन्दिरों तथा ऐसी मूर्तियों को देखना चाहता है जिनके सिर, हाथ, पाँव आदि खण्डित तथा नष्ट-भ्रष्ट हैं तो उसे अजमेर, मथुरा, अयोध्या, बनारस तथा अन्य पवित्र स्थानों की यात्रा करनी चाहिए।

कुछ आधुनिक मुसलमान लेखकों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानों ने असहिष्णुता तथा धार्मिक अत्याचारों की नीति का अनुसरण नहीं किया। उनका कथन है कि मन्दिर तथा मूर्तियाँ केवल युद्धों के दौरान में तोड़ी गयी थीं; हिन्दू मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित किया गया था, वह उनका अपमान नहीं था, और वास्तव में तो सुल्तानों ने मूर्ति-पूजा का दमन करके हिन्दुओं को एकेश्वरवाद की शिक्षा दी और इस प्रकार उनकी सेवा ही की।

एक लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि हिन्दुओं में भी आर्यसमाज आदि कुछ सम्प्रदाय मूर्ति-पूजा का खण्डन करते हैं। मध्ययुगीन मुसलमानों ने उन्हीं सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया जिनका आर्यसमाजी आज प्रचार कर रहे हैं। डा. मुहम्मद नाज़िम का कहना है कि हिन्दू मन्दिर धन के भण्डार थे इसलिए उनके ऊपर संकट आया। विद्वान मौलाना सुलेमान नदवी की राय है कि हमें मिनहाजुस्सिराज, ज़ियाउद्दीन बरनी, शम्सेसिराज-अफीफ और यहिया बिन अहमद आदि उन तत्कालीन लेखकों के अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों का विश्वास नहीं करना चाहिए जिन्होंने धार्मिक अत्याचारों, मन्दिरों के विध्वंस तथा मूर्तियों के तोड़ने के विशद वर्णन अपने ग्रन्थों में दिये हैं, क्योंकि वे भारत के बाहर के मुसलमानों के लिए लिखे गये थे।

इन मतों की विस्तार से समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। तुर्कों की दुर्बलता स्पष्ट है क्योंकि इन लेखकों को प्रश्न का दूसरा पक्ष देखने का अभ्यास नहीं है। हम पहला ही तर्क ले लें। यह कल्पना करना सरल है कि एक धर्मान्ध सुल्तान अपने स्वतन्त्र हिन्दू पड़ोसी के विरुद्ध अकारण ही युद्ध की घोषणा करके मन्दिरों का नाश करता, मूर्तियों को तोड़ता और निर्दोष हिन्दू जनता को मुसलमान बनाता और फिर भी अपने को धर्मात्मा समझता और सन्तोष से कहता कि मैंने यह सब कुछ युद्ध में किया है; और उसके आधुनिक समर्थक यह जानते हुए भी कि दिल्ली सुल्तानों ने जितने युद्ध लड़े थे उनमें से ९९ प्रतिशत अकारण थे; उसके अत्याचारों को इस सिद्धान्त के आधार पर उचित ठहराते हैं कि "प्रेम और युद्ध में सब कुछ उचित है।" इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शान्ति-काल में भी मन्दिर ढाये गये थे और मूर्तियाँ तोड़ी गयी थीं। दूसरे तर्क के सम्बन्ध में हमें केवल यह कहना है कि यदि मस्जिदों को मन्दिरों में परिवर्तित कर दिया जाय तो लेखक को कैसा लगेगा ? यह निश्चित है कि इस रूपान्तर के उपरान्त भी वे पवित्र स्थान बनी रहेंगीं। जहाँ तक इस तर्क का सम्बन्ध है कि पत्थर की मूर्तियों को तोड़कर हिन्दुओं को एकेश्वरवाद की दीक्षा दी गयी थी, हमें यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार से तो उद्देश्य ही विफल हो गया था। यह लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक स्वर्ग भेजने का प्रयत्न करना जैसा ही था। दुर्भाग्य की बात यह थी कि हमारे तुर्क तथा अफग़ान शासक यह न समझ सके थे कि हिन्दू तो युगों से ईश्वर की एकता में विश्वास करते आये थे और मूर्ति-पूजा उनके लिए केवल एक साधन थी, साध्य नहीं। महान् मुस्लिम विद्वान अलबरुनी ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा था। डा. नाज़िम उन लोगों में से मालूम होते हैं जिन्होंने स्त्रियों को इसलिए पर्दे में बन्द किया था कि गुण्डे पुरुष उनके सौन्दर्य से आकर्षित होकर संकट न खड़ा कर दें। सम्भवतः वह इस नग्न

सत्य को स्वीकार करेंगे कि हिन्दुओं का अपराध केवल इतना ही था कि उन्होंने धर्मान्ध मुसलमान लुटेरों का अनुकरण न करके मितव्ययता का जीवन बिताया तथा धन संचय किया। मौलाना सुलेमान नदवी की सलाह का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन मुसलमान लेखकों के विस्तृत वर्णनों, तथ्यों और आँकड़ों में विश्वास मत करो क्योंकि वे प्रचारक थे और आधुनिक लेखकों ने जो परिणाम निकाले हैं उन्हें ठीक मानो, क्योंकि २०वीं शताब्दी के लोगों के लेखों में प्रोपेगेंडा को स्थान नहीं है। वास्तव में आधुनिक पाठक अपने परिणाम निकालने में स्वतन्त्र हैं। वे सरलता से गेहूँ को भूसे से अलग कर सकते हैं।

दिल्ली सुल्तान तथा सल्तनत के बहुसंख्यक मुसलमान पक्के सुन्नी थे और शिया तथा इस्लाम के अन्य विद्रोही सम्प्रदायों के कट्टर विरोधी थे। सनातनी इस्लाम से विरोध रखने वाले सभी विचारों का नाश करने की उनकी बलवती इच्छा थी। वास्तव में वे इस्लाम के अन्तर्गत सभी प्रकार के विरोध का अन्त करना चाहते थे इसलिए उन्होंने करमाथी, शिया, महदवी आदि सम्प्रदायों का निर्दयतापूर्वक दमन किया और उनके धार्मिक रीति-रिवाजों को कुचला। कभी-कभी उनके नेताओं को यातनाएँ दीं और उनका वध भी किया। शिया लोगों को विशेष रूप से विद्रोही समझा जाता था। फीरोज़ तुग़लक ने तो शिया सम्प्रदाय के व्यवहारों पर प्रतिबन्ध लगाने तथा उनके अनुयायियों पर अत्याचार करने का भी श्रेय लिया था। उसने उनकी धार्मिक पुस्तकों को सार्वजनिक रूप से जलवाया। यथासम्भव शिया लोगों को राजकीय नौकरियाँ नहीं दी जाती थीं। इस युग के किसी भी सुल्तान ने ईरानी शियाओं को महत्वपूर्ण, विश्वास और उत्तरदायित्व के पदों पर नियुक्त नहीं किया। इसलिए विद्रोही इस्लाम सम्प्रदायों के अनुयायियों का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था। करमाथियों ने इल्तुतमिश तथा रज़िया के समय में खुले विद्रोह और हिंसा द्वारा अपने असन्तोष को व्यक्त किया, किन्तु निर्दयतापूर्वक उनका दमन कर दिया गया। अनेक शेखों को भी जो उदार रहस्यवादी थे, द्वेष-भाव से देखा जाता था, क्योंकि वे विचारों में कट्टर नहीं थे और उनके अनुयायियों की बड़ी संख्या थी। अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सल्तनत का युग संकीर्ण तथा कठोर धार्मिक कट्टरता का युग था।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. Elliot & Dowson : History of India etc., Vols. I to IV.
2. Qureshi, I. H. : Administration of the Sultanate of Delhi.
3. Habibullah, A. B. M. : The Foundation of Muslim Rule in India.
4. Husain, Wahid : Administration of Justice in Muslim India.
5. Tripathi, R. P. : Some Aspects of Muslim Administration.

अध्याय १९

उत्तर-पश्चिमी सीमा-नीति : मंगोल-आक्रमण

भारत के लिए वैज्ञानिक सीमा की समस्या

मध्य-युग में जबकि भाप से चलने वाले जहाज नहीं थे, हमारे देश पर केवल उत्तर-पश्चिमी कोने से आक्रमण हो सकता था। पूरबी हिमालय तथा आसाम की पहाड़ियों में होकर भी विदेशी आक्रमणकारी को मार्ग मिल सकता था, किन्तु उस काल में आक्रमणकारी सेना के लिए उन्हें पार करना असम्भव था। यही कारण था कि प्राचीन तथा मध्य युगों में विदेशी आक्रमणकारियों ने हमारे देश में उत्तर-पश्चिम की ओर से ही प्रवेश किया। इसलिए इस सीमा की रक्षा करना सदैव हमारे शासकों की नीति रही। किन्तु इस प्रदेश की पर्वत श्रृंखलाओं की स्थिति विचित्र है, इसलिए काबुल-गज़नी-कन्धार प्रदेश पर सैनिक अधिकार तथा नियन्त्रण रखे बिना इस सीमा की सफलतापूर्वक रक्षा नहीं की जा सकती थी, क्योंकि यह प्रदेश पंजाब की उपजाऊ घाटियों के लिए आने वाले मार्गों की नाकेबन्दी करता है। इसलिए काबुल-गज़नी-कन्धार रेखा को जिसके पार्श्व में हिन्दूकुश स्थित है, सही अर्थों में भारत की वैज्ञानिक सीमा कहा जा सकता है। इस रेखा पर अधिकार रखने तथा उसकी रक्षा करने के साथ-साथ काश्मीर तथा समुद्र के बीच स्थित प्रदेश में बसने वाली उद्दण्ड जातियों पर नियन्त्रण रखना भी आवश्यक था, क्योंकि इस पट्टी में होकर ही उपर्युक्त रेखा तथा पंजाब के बीच मार्ग आते जाते हैं। सिन्ध सागर दोआब के उत्तरी भाग में स्थित नमक की पहाड़ियों के प्रदेश में बसने वाली खोक्खर आदि स्वतन्त्र तथा युद्धप्रिय जातियों की उपस्थिति ने समस्या को और भी अधिक विकट बना दिया था। खोक्खर लोग मध्य पंजाब की लूटमार किया करते थे, इसलिए मध्य-युग में उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा करना और भी अधिक कठिन हो गया।

वास्तविक सीमा (१२०६-१२१७ ई.)

११वीं तथा १२वीं शताब्दी में पंजाब पर शासन करने वाले गज़नवी-वंश के सुल्तानों के सामने इस सम्बन्ध में कोई विशेष कठिनाई नहीं थी क्योंकि काबुल, गज़नी तथा कन्धार उनके अधिकार में थे। इसी कारण उनके उत्तराधिकारी मुहम्मद-ग़ोरी को भी इस सम्बन्ध में किसी विशेष संकट का सामना

NORTH-WEST FRONTIER
(In relation to Delhi)
AFGHANISTAN
U.S.S.R.
BADAKHSHAN
HINDUKUSH MOUNTAIN
KAFIRISTAN
CHITRAL
KOHISTAN
Gilgit
BALTISTAN
Skardo
LADAKH
KASHMIR
KARAQORAM RANGE MTS.
Herat
Maimona
Sar-i-pul
Ghur
Kabul
Jalalabad
Ghazni
Kandahar
Farah
Chakansur
N.W. FRONTIER PROVINCE
DIR
BAJAUR
SWAT
BUNER
MARDAN
HAZARA
Peshawar
Taxila
Rawalpindi
PUNCH
Srinagar
UDHAMPUR
KHAIBAR PASS
TERAH
KURRAM
KHOST
WAZIRISTAN
KOHAT
ATTOK
MIRPUR
Rohtas
JHELAM
Khushab
SALT RANGE
Baniyan
BANNU
DERA ISMAIL KHAN
MIANWALI
Kallurkot
Nandnah
Bhera
GUJARAT
Jammu
CHAMBA
Sialkot
GUJARANWALA
Pasraur
PANJAB
Kangara
ZHOB
Chaman
Quetta
BOLAN PASS
SARAWAN
Kalat
MARRI
KACHHI
BUGTI
CHAGAI
KHARAN
MAKRAN
BALUCHISTAN
DERAJAT VALLEY
DERA GHAZI KHAN
MUZAFFARGARH
JHANG
SHAIKHUPURA
Amritsar
HOSHIARPUR
Suket
Lahore
LAYALPUR
Sultanpur
Jalandar
Simla
Kasur
Harappa
MONTGOMERY
Dipalpur
Ferozpur
Hajner
LUDHIANA
Samana
AMBALA
SIRMUR
Talamba
Multan
SIND SAGAR DOAB
Uch
BAHAWALPUR
Bhatinda
Sunam
Patiala
PATIALA
SIVALIK HILLS
TEHRI
Sirsa
KARNAL
SAHARANPUR
Hardwar
GARHWAL
ALMORA
NEPAL
HISAR
Panipat
MUZAFFARNAGAR
MEERUT
BIJNOR
NAINITAL
Hansi
ROHTAK
Siri
Old Delhi
MORADABAD
Sambhal
RAMPUR
BARELI
PILIBHIT
UTTAR PRADESH
BIKANER
GURGAON
Rewari
Baran
Badaun
SHAHJAHANPUR
KHERI
BAHRAICH
Jacobabad
Sukkar
Rohri
Panjnad
LARKHANA
JAISALMER
ALWAR
BHARATPUR
Aligarh
Mathura
ETAH
HARDOI
SITAPUR
GONDA
BASTI
GORAKHPUR
RAJASTHAN
Merta
JAIPUR
Agra
MAINPURI
FARRUKHABAD
Lucknow
BARABANKI
Ayodhya
Sehwan
SINDH
LAS BELA
MARWAR
Ajmer
DHOLPUR
Etawa
UNNAO
FAIZABAD
Kanpur
RAIBARELI
SULTANPUR
AZAMGARH
Gwalior
FATEHPUR
PRATAPGARH
Jaunpur
Karachi
Kotri
Haiderabad
BUNDI
Narwar
JHANSI
BANDA
Banaras
Thatta
Amarkot
Allahabad
ARABIAN SEA
Abu
Chittor
MANDSOR
KOTA
Chanderi
ORCHHA
Kalinjar
MIRZAPUR
Debal
Anhilwara
Ajaigarh
KUTCH
Ujjain
BHILSA
REWA
BHOPAL
Jabalpur
Jamnagar
Rajkot
Cambay
Baroda
Indore
Junagarh
0 50 100 150 200 250 300
Miles
Copyright DHARMA BHANU.

नहीं करना पड़ा, किन्तु मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त दिल्ली के प्रथम सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक ने १२०८ ई. में गज़नी पर अधिकार करके भारत की वैज्ञानिक सीमा तक पहुँचने का निर्बल प्रयत्न किया। वह असफल रहा और गज़नी को छोड़ने पर बाध्य हुआ। इसके उपरान्त शीघ्र ही इस सुल्तान के सम्मुख एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई। ख्वारिज्म के शाह ने गज़नी पर अधिकार कर लिया और अब उसके साम्राज्य की पूरबी सीमाएँ सिन्ध को छूने लगीं। एक शक्तिशाली पड़ोसी के सम्पर्क में आने के कारण नवस्थापित दिल्ली सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमा को सीधा खतरा उपस्थित हो गया। किन्तु भाग्य से सिन्धु नदी जो ख्वारिज्म तथा दिल्ली सल्तनत के बीच सीमा थी, उपद्रवों से मुक्त रही, क्योंकि मंगोलों के द्रुत प्रसार के कारण ख्वारिज्म-साम्राज्य स्वयं लड़खड़ा रहा था। एक दशक के भीतर ही साम्राज्य संकटग्रस्त हो गया; मंगोलों ने मध्य एशिया के मुस्लिम राज्यों को छिन्न-भिन्न कर दिया और अफ़ग़ानिस्तान, गज़नी तथा पेशावर सहित उनकी भूमि पर अधिकार कर लिया, इसलिए दिल्ली सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमा सिन्धु नदी नहीं रही बल्कि पीछे हटकर पंजाब के मध्य तक आ गयी। इन परिस्थितियों में दिल्ली सुल्तानों के लिए भारत की वैज्ञानिक सीमा पर नियन्त्रण रखने का प्रश्न ही नहीं उठता था। जो कुछ उसके अधिकार में था उसे कैसे बनाये रखा जाय यही १३वीं शताब्दी भर उनके सामने मुख्य समस्या थी। उनके राज्य की सीमा वह रेखा थी जो सियालकोट से नमक की पहाड़ियों में नन्दन तक फैली हुई थी और जिस पर इल्तुतमिश ने १२१७ ई. के बाद अधिकार कर लिया था।

इल्तुतमिश तथा मंगोल

१२२० ई. तक अपने महान् नेता चंगेजखाँ के नेतृत्व में मंगोलों ने ख्वारिज्म के साम्राज्य का पूर्णरूप से नाश कर दिया और उसके शासक अला-उद्दीन मुहम्मद को कैस्पियन सागर की ओर खदेड़ दिया जहाँ शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी (१२२० ई.)। अलाउद्दीन का उत्तराधिकारी जलालुद्दीन मंगबर्नी भी भय के कारण खुरासान से गज़नी को भाग गया। चंगेजखाँ ने तालकन से उसका पीछा किया इसलिए वह गज़नी छोड़कर हमारे देश की सीमाओं की ओर भाग गया। सिन्धु के तट पर मंगोलों ने उसे घेर लिया, इसलिए पीछे मुड़कर उसे युद्ध करना पड़ा, किन्तु पराजित हुआ। हताश होकर उसने अपने परिवार के लोगों को एक नाव में बिठा कर भेज दिया, किन्तु वे सिन्धु में डूब गये। वह स्वयं एक घोड़े को लेकर नदी में कूद पड़ा और पार करके पश्चिमी किनारे पर जा पहुँचा और वहाँ से भागकर सिन्ध सागर दोआब में शरण ली। चंगेजखाँ तीन महीने तक नदी के दाएँ किनारे पर ठहरा किन्तु यह भाग्य की बात थी कि उसने उसे पार करके भगोड़े राजकुमार का पीछा

नहीं किया और न दिल्ली सल्तनत की स्वाधीनता का ही उल्लंघन किया। यदि उसने ऐसा करने का विचार किया होता तो मध्य एशिया के शक्तिशाली तथा पुराने मुस्लिम राज्यों की भाँति भारत की नव-स्थापित तुर्की सल्तनत भी मंगोलों के ही प्रहार से चकनाचुर हो गयी होती। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इल्तुतमिश ने मंगोल नेता से किसी प्रकार का समझौता कर लिया था और सम्भवतः भगोड़े मंगबर्नी को शरण न देने का वचन दे दिया था। कुछ भी कारण रहा हो, उसने ख्वारिज्म के राजकुमार को दूर रखने की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का अनुसरण किया जिससे कि मंगोलों को किसी प्रकार भी उत्तेजना न मिले। सुल्तान के मित्रतापूर्ण आचरण के कारण चंगेजखाँ ने भारत में होकर कराकुरम को लौटने के अपने इरादे को जिसके सम्बन्ध में उसने इल्तुत-मिश से आज्ञा माँगी थी, त्याग दिया और इस प्रकार दिल्ली सल्तनत एक महान् संकट से बच गयी। चंगेजखाँ १२२२ ई. के शीतकाल में हिन्दूकुश होकर अपने देश को लौट गया।

सिन्ध में मंगबर्नी के कार्यों का परिणाम

यद्यपि चंगेजखाँ ने बड़ी सावधानी से भारत के प्रभुत्व का सम्मान किया किन्तु उसके अनुयायी मंगबर्नी को कष्ट पहुँचाते रहे और सिन्धु के इस पार के प्रदेश पर भी उन्होंने अनेक धावे मारे। ख्वारिज्म के राजकुमार ने नमक की पहाड़ियों के प्रदेश में प्रवेश करके एक छोटी सेना एकत्र कर ली और वहाँ के हिन्दू राजा को परास्त करके अपने लिये एक राज्य का निर्माण करने की तैयारी करने लगा। परन्तु चंगेजखाँ ने गज़नी से एक सेना भगोड़े राजकुमार का पीछा करने के लिए भेजी। इसलिए मंगबर्नी पीछे हटकर लाहौर पहुँचा और अपने एक दूत आइन-उल-मुल्क को दिल्ली सुल्तान के पास भेजा और शरण माँगी। इल्तुतमिश ने यह कहकर कि दिल्ली की जलवायु आपके अनुकूल नहीं पड़ेगी उसको शरण देने से इन्कार कर दिया। तब मंगबर्नी ने खोक्खर सरदार से मित्रता कर ली, जिसने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया और सैनिक सहायता दी। मंगोल सेना जो राजकुमार का पीछा करने के लिए भेजी गयी थी, पंजाब में उसके पीछे नहीं पड़ी। सम्भवतः चंगेजखाँ ने ही उसे ऐसा न करने की हिदायत कर दी थी अतः उसने केवल नमक की पहाड़ियों के प्रदेश को लूटा।

मंगबर्नी ने खोक्खर सेना की सहायता से नासिरुद्दीन कुबैचा के राज्य पर आक्रमण किया और उसे मुल्तान की ओर भगा दिया। सैहवान तथा अन्य कुछ महत्वपूर्ण नगरों पर उसने अधिकार कर लिया, अन्हिलवाड़ के विरुद्ध भी एक सेना भेजी और कुछ लूट का माल प्राप्त किया। इसी बीच में एक दूसरी मंगोल सेना उसका पीछा करने के लिए आ पहुँची। इसलिए

१२२४ ई. में मंगबर्नी ने भारत छोड़ दिया और मकरान के मार्ग से इराक को चला गया।

मंगबर्नी तीन वर्ष तक पश्चिमी पंजाब और सिन्ध में ठहरा। इसका परिणाम यह हुआ कि मंगोलों ने सिन्धु के इस पार के कुछ प्रदेशों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। तुराई के नेतृत्व में एक मंगोल सेना ने नन्दन पर अधिकार कर लिया, मुल्तान की ओर बढ़ी और कुबाचा को उस नगर में घेर लिया। मुल्तान का पतन सन्निकट था किन्तु अत्यधिक गर्मी ने मंगोलों को पीछे लौटने पर बाध्य किया। लौटते समय मार्ग में उन्होंने लाहौर तथा मुल्तान के जिलों को लूटा। उसके चले जाने के उपरान्त भी पंजाब तथा मुल्तान में उपद्रव होते रहे। नमक की पहाड़ियों में बसने वाली जातियाँ पहले से भी अधिक उद्दंड हो गयीं और उन्होंने इस अव्यवस्था से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सिन्ध सागर दोआब के सम्पूर्ण उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया और पूरब में व्यास नदी के उस पार तक फैल गयीं तथा लाहौर को लूटा। सिन्ध के पश्चिम में केवल बनियन मंगबर्नी के एक सहायक हसन कार्लूग के हाथों में बना रहा। मंगबर्नी के एक अन्य अफसर हसन पाई ने मुल्तान सहित कुबैचा के राज्य के अधिकतर भाग पर अधिकार रखा। मंगोलों की प्रगति ने कुबैचा की शक्ति को कुचल दिया जिससे इल्तुतमिश को उसे परास्त करने तथा मुल्तान और उच्च सहित उसके समस्त राज्य को दिल्ली सल्तनत में मिलाने का अवसर मिल गया। मंगोलों ने अफग़ानिस्तान को अपनी सैनिक कार्यवाहियों का अड्डा बना रखा था, इसलिए १२२८ ई. के लगभग दिल्ली सल्तनत की सीमाएँ उनके राज्य से टकराने लगीं।

१२२९ ई. तक मंगोलों ने खुरासान तथा अफग़ानिस्तान को स्थायी रूप से जीतकर अपने राज्य में मिलाने का संकल्प कर लिया था। इस नीति के कारण दिल्ली सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं के ठीक उस पार के प्रदेशों में मंगोलों की लगातार अनेक सैनिक कार्यवाहियाँ हुईं। १२३५ ई. में मंगोलों ने पश्चिमी अफग़ानिस्तान में स्थित सीस्तान पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने देराजाति घाटी को पार किया, जो उत्तरी सिन्ध से मिलती है। साथ ही साथ वे सिन्धु नदी के उत्तरी प्रदेश में भी घुस आये। मंगोलों की इन शत्रुतापूर्ण हलचलों के कारण बनियन में हसन कार्लूग की स्थिति डाँवाडोल होने लगी, उसने मंगोलों के विरुद्ध दिल्ली से एक समझौता भी करने का प्रयत्न किया, किन्तु रज़िया ने जो उस समय दिल्ली में शासन कर रही थी, इस झगड़े में पड़कर मंगोलों की शत्रुता मोल लेने से इन्कार कर दिया। उसकी मित्रतापूर्ण तटस्थता की नीति के कारण मंगोलों ने दिल्ली सल्तनत की सीमाओं का अतिक्रमण करना उचित नहीं समझा, फिर भी सल्तनत की सीमाएँ सिकुड़कर चिनाब तक रह गयीं।

मंगोलों की अधीनता में मुलतान, सिन्ध तथा पश्चिमी पंजाब

१२४० ई. में रज़िया का पतन हो गया और उसके साथ दिल्ली तथा मंगोलों के समझौते का भी अन्त हो गया। १२४१ ई. में बहादुर ताइर ने एक विशाल मंगोल सेना लेकर सिन्धु नदी को पार किया और पहली बार लाहौर का घेरा डाला। वहाँ का सूबेदार अपनी प्राण-रक्षा के लिए भाग खड़ा हुआ किन्तु जनता ने वीरतापूर्ण प्रतिरोध किया। अन्त में उसे समर्पण करना पड़ा। मंगोलों ने नगर तथा उसके दुर्गों को भूमिसात कर दिया। उनके लौट जाने के बाद लाहौर के इक्ता का केवल एक भाग फिर दिल्ली के अधिकार में आ सका। रावी नदी मंगोलों के प्रभाव-क्षेत्र तथा सल्तनत के बीच की व्यावहारिक सीमा बन गयी।

१२४५ ई. में मुल्तान और सिन्ध भी दिल्ली सुल्तान के हाथों से निकल गये। मुल्तान पर हसन कार्लूग और सिन्ध पर विद्रोही कबीरखाँ के वंशजों ने अधिकार कर लिया। इन दोनों प्रान्तों पर मसूद के शासन-काल में (१२४५ ई.) बलबन ने पुनः दिल्ली की सत्ता स्थापित की।

मंगोलों का दूसरा आक्रमण सली बहादुर के नेतृत्व में १२४७ ई. में हुआ और उन्होंने मुल्तान को घेर लिया। युद्ध के हरजाने के रूप में एक लाख दीनार पाने पर उन्होंने घेरा उठा लिया। तदुपरान्त सली ने लाहौर की ओर कूच किया और वहाँ के सूबेदार को भारी हरजाना देने तथा मंगोलों की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। नासिरुद्दीन के सिंहासनारोहण के उपरान्त किसी समय बलबन ने मध्य पंजाब पर आक्रमण किया, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रावी के उस पार के प्रदेश पर जो कुछ समय से मंगोलों के अधिकार में था, पुनः दिल्ली की सत्ता स्थापित करने में उसे सफलता नहीं मिली। इसी प्रकार मुल्तान और सिन्ध १२५० ई. तक विदेशियों के अधिकार में रहे। उस वर्ष शेरखाँ नामक सल्तनत के एक शक्तिशाली सूबेदार ने उन्हें फिर जीत लिया। इसके बाद भी इन प्रान्तों पर दिल्ली का अधिकार ढिल-मिल रहा और अनेक बार उनका हस्तान्तरण हुआ। दिल्ली के कुछ सामन्त तथा पदाधिकारी गद्दार सिद्ध हुए और उन्होंने मंगोलों से बातचीत की तथा उनसे जाकर मिल भी गये। इस कारण परिस्थिति और भी अधिक पेचीदा हो गयी। शेरखाँ नामक सरदार ऐसा ही एक पदाधिकारी था। बलबन को उसे पुनः अपने पक्ष में मिलाने में बड़ी कठिनाई हुई।

नासिरुद्दीन के राज्यारोहण के बाद मंगोलों के अनेक आक्रमण हुए, विशेषकर सिन्ध तथा मुल्तान पर। बलबन उस समय सुल्तान के नाइब के पद पर कार्य कर रहा था। उसने आक्रमणकारियों की प्रगति को रोकने के लिए महान् सैनिक तैयारियाँ कीं, किन्तु उसने मंगोलों द्वारा अधिकृत प्रदेश पर

आक्रमण करने के उद्देश्य से सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमा को पार करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सम्पूर्ण सिन्ध, मुल्तान तथा पश्चिमी पंजाब को मंगोलों के हाथों में छोड़ना स्वीकार कर लिया था। सुल्तान ने मंगोलों के अधीनस्थ सामन्तों की शत्रुता से बचने का प्रयत्न किया। बलबन ने १२५८ ई. में शेरखाँ को भटिण्डा से स्थानान्तरित कर दिया क्योंकि वह मंगोल सूबेदार काश्लूखाँ से मुल्तान तथा उच्च छीनने का इरादा कर रहा था। मंगोलों से झगड़ा मोल न लेने की नीति के अनुसार ही उसने ऐसा किया। इस समझौते के आधार पर ही सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद तथा मंगोल नेता हुलागू ने एक दूसरे के दरबार में अपने राजदूत भेजे। इससे स्पष्ट है कि दिल्ली दरबार ने सिन्ध, मुल्तान तथा व्यास के उस पार के पंजाब प्रदेश की हानि को सहन करना स्वीकार कर लिया था।

बलबन की सीमा-नीति

बलबन के शासन-काल के प्रारम्भिक दिनों में सिन्ध तथा मुल्तान के प्रान्तों पर दिल्ली का अधिकार पुनः स्थापित हो गया था, किन्तु उत्तर-पश्चिमी पंजाब से मंगोलों को नहीं हटाया जा सका। लाहौर को अवश्य उनके चंगुल से मुक्त करके मुल्तान और दिपालपुर के सीमान्त प्रदेश में सम्मिलित कर लिया गया। अपने शासन के प्रारम्भ में बलबन ने भटिण्डा, दिपालपुर तथा लाहौर को मिलाकर एक सैनिक प्रान्त बना दिया और शेरखाँ को उसका सूबेदार नियुक्त किया। शेरखाँ की मृत्यु के उपरान्त मुल्तान, सिन्ध तथा दिपालपुर सुल्तान के सबसे बड़े पुत्र शाहजादा मुहम्मद और शेष भाग जिसमें सुनम तथा समाना सम्मिलित थे, दूसरे पुत्र बुग़राखाँ के सुपुर्द कर दिये गये। इस प्रकार बलबन ने समस्त उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश की रक्षा और प्रबन्ध का भार अपने पुत्रों को ही सौंपा। समाना तथा सुनम के सूबेदार को मुल्तान तथा सिन्ध के सूबेदार के अधीन कार्य करना पड़ता था। बलबन ने उत्तर-पश्चिमी सीमा पर एक दुर्ग-शृंखला का निर्माण किया और अनुभवी पठान सैनिकों को उसकी रक्षा के लिए नियुक्त किया। सीमा-रक्षा के लिए सत्रह-अठारह हजार की एक अलग सेना रखी गयी और उसे इस प्रदेश में नियुक्त किया गया। सल्तनत की शेष सेना भी सदैव संकट का मुकाबला करने के लिए तैयार रहती थी। इस प्रशंसनीय प्रबन्ध के कारण सीमाएँ इतनी सबल हो गयीं कि यद्यपि बलबन के राज्य-काल में मंगोलों ने अनेक जोरदार आक्रमण किये किन्तु आगे बढ़ने में उन्हें सफलता नहीं मिली। १२७९ ई. में मंगोलों ने अपने आक्रमण पुनः आरम्भ कर दिये और सुनम तक के प्रदेश को रौंद डाला। किन्तु मुल्तान से शाहजादा मुहम्मद, समाना से बुग़राखाँ और दिल्ली से मुबारक बख्तियार की फौजों ने मिलकर शत्रु को पूर्ण रूप से पराजित किया और पश्चिमी पंजाब के

बाहर खदेड़ दिया। मंगोलों का भय जाता रहा; किन्तु यह थोड़े ही समय के लिए था। १२८५ ई. में तैमूरखाँ के नेतृत्व में उन्होंने पुनः लाहौर और दिपालपुर पर हमला किया। शाहजादा मुहम्मद उनका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा, किन्तु फरवरी, १२८६ ई. में वह युद्ध करते हुए मारा गया। इस भयंकर विपत्ति के बावजूद बलबन का प्रबन्ध इतना सबल सिद्ध हुआ कि मंगोल और आगे न बढ़ सके और पीछे लौटने पर बाध्य हुए। मंगोलों के आक्रमणों के भय का बलबन की गृह तथा बाह्य नीति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। उसे अत्यधिक भारी खर्च पर एक विशाल सेना ही नहीं रखनी पड़ी, बल्कि देश के स्वतन्त्र शासकों की भूमि को विजय करने का विचार भी उसे त्यागना पड़ा।

कैकुबाद के समय में मुल्तान तथा निचले पंजाब पर मंगोलों के दो आक्रमण हुए। दूसरे हमले के दौरान में आक्रमणकारियों ने मुल्तान से लाहौर तक के प्रदेश को रौंद डाला, किन्तु वे आगे न बढ़ सके और दोनों बार उन्हें भारी क्षति उठाकर पीछे लौटना पड़ा। बलबन ने सल्तनत की सीमाओं की रक्षा का जो ठोस प्रबन्ध कर रखा था, उसकी वजह से अथवा इसलिए कि मंगोलों और दिल्ली सल्तनत के बीच राजनीतिक समझौता चला आ रहा था, अथवा इन दोनों ही कारणों से मंगोलों ने गुलाम-वंश के अन्त तक दिल्ली पर कभी आक्रमण नहीं किया। खलजियों के सिंहासनारूढ़ होने के समय से उन्होंने अपनी नीति बदल दी। पहले उनका उद्देश्य केवल लूटमार करना था, अधिक से अधिक वे मुल्तान, सिन्ध अथवा पंजाब को जीतना चाहते थे, किन्तु अब वे दिल्ली को जीतने का प्रयत्न करने लगे। पंजाब को आधार बनाकर उन्होंने सल्तनत की राजधानी पर लगातार आक्रमण आरम्भ कर दिये।

दिल्ली पर मंगोलों के आक्रमण : रक्षा के लिए खलजियों का प्रबन्ध

जलालुद्दीन के शासन-काल में मंगोलों का केवल एक आक्रमण १२९२ ई. में हुआ। हुलागू के एक नाती के नेतृत्व में एक मंगोल सेना जिसकी संख्या एक डेढ़ लाख थी, सल्तनत के सीमान्त प्रदेश में घुस आयी और सुनम तक आ धमकी। सुल्तान ने स्वयं आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और हराकर उन्हें पीछे लौटने पर बाध्य किया। जलालुद्दीन ने चंगेजखाँ के एक वंशज उलगू तथा कुछ अन्य मंगोलों को दिल्ली में बस जाने की आज्ञा दे दी। उन्होंने इस्लाम अंगीकार कर लिया और सुल्तान के यहाँ नौकरी कर ली। सुल्तान ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू के साथ कर दिया। ये मंगोल-प्रवासी 'नये मुसलमानों' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

अलाउद्दीन के शासन-काल में मंगोलों ने दिल्ली को जीतने के अनेक प्रयत्न किये। उनका सबसे पहला आक्रमण उनके सिंहासन पर बैठने के कुछ ही महीनों के भीतर हुआ। सुल्तान के मित्र तथा सेनापति जफरखाँ ने जालन्धर के

निकट आक्रमणकारियों को परास्त किया और भारी संख्या में उनका संहार कर दिया। दूसरा हमला १२९७ ई. में हुआ। इस बार मंगोलों ने मुल्तान के निकट स्थित सिबी के किले को हस्तगत कर लिया किन्तु जफरखाँ ने उन्हें पुनः हराया और १७०० आक्रमणकारियों को जिनमें उनका नेता, उनकी स्त्रियाँ तथा पुत्रियाँ भी सम्मिलित थीं, बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया। १२९९ ई. में कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व में मंगोलों ने दिल्ली को जीतने का भयंकर प्रयत्न किया। उन्होंने राजधानी को घेर लिया और रसद आने के मार्ग काट दिये। संकट इतना गम्भीर था कि कोतवाल अला-उल-मुल्क ने सुल्तान को उन पर आक्रमण करके अपना सर्वस्व संकट में न डालने की सलाह दी; किन्तु अलाउद्दीन ने इस सलाह को ठुकरा दिया और मंगोलों पर टूट पड़ने का संकल्प किया। जफरखाँ ने धावे का संचालन किया और उन्हें परास्त किया; किन्तु वह स्वयं घिर गया और मारा गया। फिर भी आक्रमण-कारियों पर जफरखाँ की वीरता और साहस का इतना प्रभाव पड़ा कि वे पीछे लौटने को बाध्य हुए। इसके बाद तीन वर्ष तक उनको आक्रमण करने का साहस न हुआ। किन्तु जब मंगोलों को तैलंगाना में अलाउद्दीन की पराजय तथा राजस्थान में उसके व्यस्त होने का समाचार ज्ञात हुआ तो १३०३ ई. में उनके एक नेता तार्गी ने १,२०,००० सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली को घेर लिया। अलाउद्दीन को सीरी के किले में शरण लेनी पड़ी। मंगोलों ने उसे भी घेर लिया। उन्होंने आसपास के प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और दिल्ली की गलियों तक धावे मारे। किन्तु उन्हें नियमपूर्वक घेरे का संचालन करने का अनुभव नहीं था, इसलिए अन्त में उन्हें घेरा उठाना पड़ा। १३०४, १३०६, १३०७-८ ई. तथा इसके बाद के वर्षों में मंगोलों ने भयंकर आक्रमण किये किन्तु प्रत्येक बार उन्हें परास्त होकर लौटना पड़ा। उन्होंने दिल्ली पर अधिकार करने के प्रयत्न में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। किन्तु अलाउद्दीन ने बलबन की सीमा-रक्षा की नीति का अनुसरण किया, इसलिए वह राजधानी को बचाने में सफल हुआ। उसने सीमास्थ किलों की मरम्मत करायी और उनकी रक्षा के लिए नये सैनिक नियुक्त किये। सेना की रक्षा के लिए उसने एक विशाल सेना रखी और १३०५ ई. में अनुभवी योद्धा गाज़ी मलिक को सीमारक्षक के पद पर नियुक्त किया। गाज़ी मलिक ने मंगोल आक्रमणकारियों के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और सीमाओं को सुरक्षित रखा।

परवर्ती युग

अलाउद्दीन की मृत्यु के उपरान्त मंगोलों ने भारत को लूटने के दुर्बल प्रयत्न किये। ग़ियासुद्दीन तुग़लक के समय में उनका एक आक्रमण हुआ किन्तु

आक्रमणकारियों के नेता पराजित हुए और बन्दी बनाकर दिल्ली ले आये गये। सबसे भयंकर मंगोल आक्रमरण १३२८-२९ ई. में हुआ, उनका नेता तर्मासीरीं सल्तनत के मध्य में स्थित बदायूँ तक आ धमका। आक्रमणकारियों ने मार्ग के प्रदेश को लूटा और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। किन्तु मुहम्मद बिन तुग़लक ने उन्हें हराया और आधुनिक गुरदासपुर जिले में स्थित कालानौर तक उनका पीछा किया। फीरोज़ तुग़लक के शासन-काल में सल्तनत मंगोल आक्रमणों से मुक्त रही। मध्य एशिया में उनकी शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो चुकी थी और पश्चिमी पंजाब से भी उनके पैर उखड़ रहे थे।

१४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यद्यपि दिल्ली सल्तनत अत्यन्त दुर्बल हो चुकी थी फिर भी मंगोल आक्रमण का उसे तनिक भी भय नहीं था। मध्य एशिया के मंगोलों ने इस्लाम अंगीकार कर लिया था और महान् तुर्की योद्धा तिमूर ने एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित कर लिया था। समरकन्द उसकी राजधानी थी। शताब्दी के अन्त में इसी व्यक्ति ने उत्तर-पश्चिमी सीमाओं को पार करके दिल्ली सल्तनत पर आक्रमण किया। जैसा कि हम पहले तुग़लक-वंश का इतिहास लिखते समय उल्लेख कर आये हैं, देश को जितना कष्ट और दुख तिमूर ने पहुँचाया, उतना उसके पहले अथवा बाद के किसी एक आक्रमणकारी ने एक हमले में नहीं पहुँचाया।

मंगोल-आक्रमणों का प्रभाव

दिल्ली सल्तनत की आन्तरिक और बाह्य नीति पर मंगोलों के आक्रमणों का गम्भीर प्रभाव पड़ा। जब तक यह संकट गम्भीर रहा तब तक दिल्ली के शासकों को अपनी सैनिक शक्ति अधिक से अधिक बढ़ानी पड़ी। इल्तुतमिश से लेकर मुहम्मद बिन तुग़लक तक सभी सुल्तानों को अपनी सेनाओं की ओर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ता और अधिक से अधिक धन उन पर व्यय करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उन्हें आन्तरिक विद्रोहों तथा फूट को रोकने का भी यथा-सम्भव प्रयत्न करना पड़ता था जिससे उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारी उनसे लाभ न उठा सकें। यही कारण था कि उनका शासन इतना निरंकुशता-पूर्ण हो गया। यदि बाह्य आक्रमणों का निरन्तर भय न होता तो उन्हें इस सीमा तक निरंकुश होने का अवसर न मिलता। इल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन ख़लजी तथा मुहम्मद बिन तुग़लक को सदैव सैनिकवादी नीति अपनानी पड़ी और अपना राजस्व सैनिक तैयारियों में व्यय करना पड़ा। इस विषय में वे प्रमाद अथवा असावधानी से काम नहीं कर सकते थे क्योंकि ऐसा करने से दिल्ली सल्तनत का भी वैसा ही सत्यानाश हो गया होता, जैसा कि मध्य एशिया के उससे अधिक पुराने और शक्तिशाली राज्यों का हो गया था। दूसरे, उत्तर-पश्चिम के संकट के कारण साधारण कोटि के सुल्तानों के लिए आक्रमणकारी

नीति का अनुसरण करना तथा स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों की विजय के लिए रण-यात्राएँ करना असम्भव हो गया। उदाहरण के लिए बलबन को ले लीजिए। अत्यधिक विजयाकांक्षी होते हुए भी वह कभी दिल्ली को छोड़कर कहीं जाने का साहस न कर सका, केवल बंगाल का विद्रोह दबाने के लिए उसने एक बार रण-यात्रा की। इन परिस्थितियों में केवल अलाउद्दीन ख़लजी ही ऐसा निकला जो देश को बचाने तथा स्वतन्त्र देशी राज्यों को विजय करने की दुहरी नीति का अनुसरण कर सका। मुहम्मद तुग़लक ने भी उसी के चरण-चिन्हों पर चलने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे विनाशकारी असफलता का सामना करना पड़ा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मंगोल आक्रमणों के भय ने सल्तनत की नीति तथा भाग्य को अत्यधिक प्रभावित किया। यदि मंगोलों को सफलता मिल गयी होती तो हमारे देश का इतिहास नितान्त भिन्न दशा में प्रवाहित हुआ होता। सल्तनत का तो अन्त हो जाता, बौद्ध धर्मावलम्बी होने के कारण मंगोल भी यूनानी, शक तथा हूणों की भाँति हिन्दू-समाज में विलीन हो गये होते और भारत अत्यधिक पेचीदा सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक उलझनों से बच जाता।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. Elliot & Dowson : History of India, etc., Vols. II, III, IV.
2. Haig, Woolseley : Cambridge History of India, Vol. III.
3. Habibullah, A. B. M. : The Foundations of Muslim Rule in India.

अध्याय २०

समाज तथा संस्कृति

मुस्लिम समाज

शासक-वर्ग

इस सम्पूर्ण युग में जिसके इतिहास का हम पिछले अध्यायों में वर्णन कर चुके हैं, विदेशी मध्य एशियाई मुसलमान देश के शासक-वर्ग थे—१३वीं, १४वीं तथा १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तुर्क तथा १५वीं के उत्तरार्द्ध और १६वीं शताब्दी में अफ़ग़ान। तुर्कों के साथ ईरानी, अरब, हब्सी तथा मिस्री भी सम्बन्धित थे और शासन-सत्ता पूर्ण रूप से इन्हीं विदेशियों के हाथों में थी। तुर्क लोग इस विदेशी शासक-वर्ग के हितों के कट्टर रक्षक थे तथा वे ही वास्तव में इसके नेता थे। १३वीं शताब्दी भर शक्ति का एकाधिकार उनके हाथों में रहा और उन्होंने एशिया की मुस्लिम जातियों का नेतृत्व किया। उन्हें नस्ल-भेद की नीति में विश्वास था; उन्होंने भारतीय मुसलमानों को राजशक्ति में हिस्सा नहीं दिया और सरकारी नौकरियों से भी उन्हें पूर्ण रूप से वंचित रखा। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर कैकुबाद तक सुल्तानों ने सत्ता पर तुर्कों का एकाधिकार कायम रखने की नीति का अनुसरण किया, बलबन तो खुले रूप से निम्न कुलोत्पन्न गैर-तुर्कों से घृणा करता था। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मध्य एशिया के देशों से असंख्य मुस्लिम शरणार्थी भारत में आये जिससे शासकवर्ग की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। इससे विभिन्न मुस्लिम नस्लों तथा जातियों में परस्पर सम्मिश्रण भी आरम्भ हो गया और अन्तर्जातीय विवाहों के कारण धीरे-धीरे वे एक दूसरे में पूर्णतया घुल-मिल गये। रक्त की शुद्धता जिस पर उद्दण्ड तुर्कों को घमण्ड था, समाप्त हो गयी और विभिन्न तत्वों के मेल से बनी हुई मुसलमानों की एक नयी जाति बन गयी। ख़लजी-शासन के आरम्भ से ये सामाजिक तत्व इतने शक्तिशाली हो गये कि तुर्कों के हाथों से शक्ति का एकाधिकार जाने लगा और सल्तनत के इतिहास में प्रथम बार भारतीय मुसलमानों को शासन से सम्बन्धित करने की नीति अपनायी गयी। इस नीति को प्रारम्भ करने का श्रेय अलाउद्दीन ख़लजी को था जिसने मलिक काफ़ूर नामक योग्य किन्तु कुछ हद तक पतित गुलाम को अपना नाइब नियुक्त किया।

ऐसे शासक-वर्ग को जो विभिन्न तत्वों के सम्मिश्रण से बना था, मिलकर तथा एक उद्देश्य के लिए कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती थी। सल्तनत-युग के अमीर केवल गैर-मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध के दौरान में मिलकर कार्य करते थे, शान्ति के समय में निजी महत्वाकांक्षाओं, प्रतिद्वन्द्वता तथा शत्रुता के कारण उनमें भयंकर फूट रहती थी और वे निजी स्वार्थ-पूर्ति में लगे रहते थे जिससे राज्य के हितों को अत्यधिक आघात पहुँचता था।

भारतीय मुसलमान

इस युग के प्रारम्भ में ऐसे मुसलमानों की संख्या जिन्होंने अपना धर्म त्याग कर इस्लाम अंगीकार किया था, बहुत कम रही; किन्तु तुर्कों के राज्य तथा सत्ता के प्रसार के साथ-साथ उसमें भी वृद्धि होती गयी। उसमें अधिकतर नीची जातियों के हिन्दू थे जो अनेक कारणों से अपने पूर्वजों का धर्म छोड़कर मुसलमान हो गये थे। भारतीय मुसलमानों को विजेताओं की श्रेणी में ही नहीं सम्मिलित किया गया था; बल्कि आर्थिक तथा सामाजिक विशेषाधिकारों में भी उन्हें हिस्सा नहीं मिलता था। सम्पूर्ण तथाकथित गुलाम-युग में इमादुलमुल्क रावत को छोड़कर किसी भी भारतीय मुसलमान को उच्च पद पर नहीं नियुक्त किया गया था और इमाद भी इसलिए उच्च पद पर पहुँच सका कि उसने अपने माता-पिता का नाम छिपा रखा था और विदेशी मुसलमानों की सन्तान होने का बहाना बना दिया था। बलबन ने उसके वंश का पता लगवाने के लिए जाँच करवायी और जब उसे यह मालूम हो गया कि उसके माता-पिता भारतीय थे तो उसके प्रति सुल्तान का स्नेह बहुत कम हो गया। इस सुल्तान के विषय में कहा जाता है कि वह सरकारी पद पर किसी भारतीय मुसलमान को देखना सहन नहीं कर सकता था। एक बार उसने अपने दरबारियों को इसलिए बहुत बुरा-भला कहा कि उन्होंने अमरोहा जिले में क्लर्क के पद के लिए एक भारतीय मुसलमान को चुन लिया था। इल्तुतमिश के विषय में भी कहा जाता है कि उसे भारतीय मुसलमानों से बहुत घृणा थी। इस युग में इमामउद्दीन रायहन ही केवल एक ऐसा व्यक्ति था जो भारतीय मुसलमान होते हुए भी उच्च पद पर पहुँच गया; किन्तु अन्त में उसे भी अहंकारी तुर्कों के षड्यन्त्र का शिकार बनना पड़ा। बरनी ने रायहन के पराभव का जो कारण दिया है, उसका गम्भीर महत्व है। "राज्य के अमीर तथा नौकर सब शुद्ध तुर्की रक्त के थे और उच्च वंश के ताजिक थे। किन्तु इमादउद्दीन एक हिजड़ा और नपुंसक था, इसके अतिरिक्त वह हिन्दुस्तान की जातियों में से एक में उत्पन्न हुआ था। फिर भी वह इन सब अमीरों पर शासन करता था। वे इस अवस्था से तंग आ गये थे और अधिक समय तक इसे सहन नहीं कर सकते थे।" किन्तु चौदहवीं शताब्दी में स्थिति बदल गयी; मंगोलों की

सफलताओं के कारण मध्य एशिया से तुर्कों का भारत में आना बन्द हो गया, इसलिए ख़लजी लोगों को भारतीय मुसलमानों की सहायता के बिना शासन का काम चलाना ही असम्भव हो गया। यही कारण था कि अलाउद्दीन ख़लजी ने कुछ महत्वपूर्ण पदों पर भारतीय मुसलमानों को नियुक्त करने की नीति आरम्भ कर दी थी। किन्तु फीरोज़ तुग़लक के समय तक किसी भारतीय को ऐसे पद पर नियुक्त नहीं किया गया जिससे वह राज्य की नीति निर्धारित कर सकता। फीरोज़ ने पहली बार ख़्वाजाजहाँ को जो ब्राह्मण से मुसलमान हुआ था, अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। मुहम्मद बिन तुग़लक और फीरोज़ तथा प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सल्तनत के सभी शासकों को विदेशी अधिक पसन्द थे। किन्तु चौदहवीं शताब्दी के मध्य से भारतीय मुसलमानों को राज्य की नौकरियों में कुछ भाग मिलने लगा, यद्यपि वह बहुत ही सीमित था।

दीर्घ-काल तक भारतीय मुसलमान की स्थिति बहुत ही दयनीय रही होगी। देश के शासन में उसका हाथ नहीं था और न शासक-वर्ग में ही उसका स्थान था। अपने बहुसंख्यक हिन्दू देशवासियों से भी धन, सामाजिक स्थिति तथा स्वाभिमान की दृष्टि से वह कहीं अधिक नीचा था। उसको केवल यही संतोष था कि मेरा भी धर्म वही है जो शासकों का और शुक्र के दिन मैं भी उन्हीं के साथ खड़ा होकर मस्जिद में नमाज़ पढ़ सकता हूँ। उसकी निरन्तर यही इच्छा रहती थी कि विदेशी सहधर्मियों के साथ मेरा समता का स्थान हो और उनकी शक्ति तथा धन में मुझे भी हिस्सा मिले। अपने जीवन की महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए उसे अपने पूर्वजों का रहन-सहन तथा जीवन-प्रणाली त्याग कर विदेशी ढंग तक अपनाना पड़ता था। यह भाग्य की ही कुटिल गति थी कि इन कारणों से उसका अपने जीवित अथवा मृत बन्धु-बान्धवों से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था और अपनी जन्मभूमि में ही वह परदेशी बन गया था।

मुस्लिम समाज में मुख्य वर्ग

मुस्लिम समाज दो कोटियों में विभक्त था—तलवार के धनी तथा लेखनी के धनी। पहली कोटि में सैनिक लोग सम्मिलित थे और उनमें से अधिकतर विदेशियों की सन्तान थे। वे राजधानी तथा प्रान्तों के सैनिक संगठनों में पदाधिकारियों अथवा सिपाहियों के पदों पर काम करते थे। वे खान, मलिक, अमीर, सिपहसालार, सरेखेल आदि श्रेणियों में विभक्त थे। इस श्रेणी-विभाजन में खान का सबसे ऊँचा और सरेखेल का सबसे नीचा स्थान था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह संगठन केवल कागज तक ही सीमित था। व्यवहार में वह प्रारम्भ से ही छिन्न-भिन्न होने लगा था और १४वीं तथा १५वीं शताब्दियों तक उसका महत्व बहुत कुछ घट गया था। लेखनी के धनी लोगों

में से अधिकतर गैर-तुर्की विदेशी अथवा उनके वंशज थे। क्लर्की, अध्यापन तथा धार्मिक सेवाएँ उन्हीं के हाथों में थीं। इनमें सबसे अधिक महत्वशाली वर्ग धर्माधिकारियों का था जो उलेमा कहलाते थे। वे मौलवी, अध्यापक और काज़ी हुआ करते थे। सरकार तथा सामान्य मुस्लिम जनता पर उनका काफी प्रभाव था।

मुस्लिम समाज के सबसे नीचे स्तर में शिल्पी, दुकानदार, क्लर्क तथा छोटे व्यापारी सम्मिलित थे। इस सम्पूर्ण युग में मुसलमान अधिकतर नगरों में ही बसते थे; गाँवों में उनकी संख्या बहुत कम थी। गुलामों को भी हम इसी कोटि में सम्मिलित कर सकते हैं और इस युग में उनकी संख्या भी बहुत ही बड़ी थी। प्रत्येक शासक, सामन्त तथा धनी व्यक्ति के यहाँ—चाहे वह नौकरी करता हो और चाहे व्यवसाय—अनेक गुलाम होते थे; उनसे घरेलू टहल करवायी जाती थी और बहुत-से राजकीय कारखानों में काम करते थे। मुसलमानों में भिखारियों की बड़ी संख्या रही होगी क्योंकि दरिद्रता को धार्मिकता का आधार माना जाता था।

उलेमा

लेखनी से जीविकोपार्जन करने वाले मुस्लिम वर्गों में सबसे अधिक प्रभावशाली लोग धर्माधिकारी लोग थे जो उलेमा कहलाते थे। वे ही मुसलमानों के पादरी थे। उनका समुदाय वंशानुगत नहीं था और न उनमें किसी नस्ल अथवा देश-विदेश के ही लोग सम्मिलित थे। किन्तु उनमें ऐसा मुसलमान शायद ही कोई रहा हो जिसके माता-पिता भारतीय थे क्योंकि इस युग में भारतीय मुसलमान धर्माधिकारियों के उच्च पद पर नहीं पहुँच सकते थे। इस सब के बावजूद उलेमा का एक सुसंगठित समाज था, वे अपने महत्व को भली-भाँति समझते थे और अपने विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में बहुत सचेत थे। देश में जहाँ कहीं भी मुसलमानों की कुछ संख्या होती, वहाँ वे पाये जाते थे और न्याय, धर्म तथा शिक्षा सम्बन्धी नौकरियों पर उनका एकाधिकार था। उनमें से कुछ निजी तथा राजकीय शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापकों का कार्य करते थे और कुछ ने अपने मदरसे स्थापित कर लिये थे। उनमें से अनेक कातिब, मुहतासिब, मुफ्ती तथा काज़ी थे और कुछ ऐसे थे जो अपनी शक्ति तथा समय धर्म-प्रचार में व्यय किया करते थे। इस युग के समस्त इतिहास लेखक ही नहीं बल्कि सभी साहित्यिक व्यक्ति इसी समुदाय में सम्मिलित थे। सभी उलेमा मुस्लिम-धर्मशास्त्रों में पारंगत पाये जाते थे। उनमें से प्रत्येक को विवादग्रस्त धार्मिक विषयों पर फतवा देने का अधिकार था।

तुर्की सल्तनत की स्थापना के समय से ही उलेमा का वर्ग अत्यधिक प्रभावशाली था और सुल्तान तथा उसके महत्वपूर्ण कानूनी विषयों पर ही नहीं,

बल्कि राज्य की नीति के सम्बन्ध में भी उनकी सलाह ली जाती थी । इसलिए धीरे-धीरे उनकी स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण हो गयी थी । वे समझने लगे थे कि धार्मिक अथवा धर्म-निरपेक्ष सभी विषयों पर पूछे जाने का हमारा अधिकार है । दिल्ली के प्रारम्भिक सुल्तान तो लगभग पूर्णतया उन्हीं के प्रभाव में थे । अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने स्वतन्त्र नीति अपनायी और उनकी राय की उपेक्षा की । उसने खुले रूप से घोषणा की कि मैं इस बात की चिन्ता नहीं करता कि मेरा आचरण इस्लामी नियमों के अनुकूल है अथवा नहीं, मैं राज्य के हितों अथवा अवसर विशेष के लिए जो उचित समझता हूँ, वही करता हूँ । किन्तु उसके उत्तराधिकारी उतने कठोर तत्व के नहीं बने थे, जितना कि वह । इसलिए उन्होंने सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उलेमा की राय लेने की पुरानी नीति पुनः अपना ली । मुहम्मद तुग़लक ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में इस वर्ग के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया किन्तु उलेमा ने उसे इतना सताया और उसकी इतनी निन्दा की कि उसे भी पराजय स्वीकार करनी पड़ी और अपने अन्तिम दिनों में प्रायश्चित करना पड़ा । उसका उत्तराधिकारी फीरोज़ तुग़लक पूर्ण रूप से उलेमा की इच्छाओं का दास था और उनके परामर्श के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता था । सुल्तानों के मस्तिष्क पर उलेमा का पूर्ण प्रभुत्व था, इसलिए ऐसा शक्तिशाली कोई सुल्तान नहीं हुआ जो उनकी सत्ता को चुनौती दे सकता ।

राज्य में उलेमा का प्रभाव तथा राजनीतिक और शासन सम्बन्धी विषयों में उनका हस्तक्षेप अत्यधिक हानिकर सिद्ध हुआ । उलेमा कितने ही विद्वान रहे हों, वे राजनीतिज्ञ अथवा शासक नहीं थे । वे सभी समस्याओं को संकीर्ण दृष्टिकोण से देखा करते थे, इसलिए उनकी सलाह बहुधा शासकों को कठिनाइयों में फँसा दिया करती थी । धार्मिक विषयों में भी उलेमा का प्रभाव घातक था । उनके वर्ग के लोगों के विचार संकीर्ण थे, वे काफिरों के विरुद्ध जिहाद का उपदेश किया करते थे । मूर्ति-पूजा का सर्वनाश करना ही उनकी नीति नहीं थी, वे इस्लाम के आन्तरिक भेदों को भी पूर्णतया नष्ट करना चाहते थे । जब कभी कोई सुल्तान उलेमा की सलाह के अनुसार कार्य करता तो उसे धार्मिक विषयों में कट्टर होना पड़ता तथा अपनी बहुसंख्यक प्रजा पर धार्मिक अत्याचार करने पड़ते थे । इससे राज्य के विरुद्ध असन्तोष फैलना तथा उसकी सत्ता की जड़ों का खोखला होना अवश्यम्भावी था ।

हिन्दुओं की दशा

देश की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी । उन दिनों उनकी संख्या ९५ प्रतिशत से कम नहीं रही होगी । तुर्कों के आगमन से पहले वे शासक तथा सम्पूर्ण देश

के स्वामी थे और सल्तनत-युग में भी अधिकांश भूमि पर उन्हीं का अधिकार रहा। उनमें से अनेक धनी तथा समृद्धशाली सामन्त थे। शासन की निम्न शाखाएँ और विशेषकर राजस्व तथा वित्त-विभाग उन्हीं के हाथों में थे। खुत, चौधरी तथा मुकद्दम सब हिन्दू थे। प्रमुख व्यापारी, व्यवसायी तथा साधारण दुकानदार भी अधिकतर हिन्दू ही थे। साहूकारी तथा लेन-देन के पेशों पर उनका लगभग एकाधिकार था। उस युग के इतिहास-ग्रन्थों में मुल्तानी, व्यापारियों तथा साहूकारों का भी उल्लेख मिलता है कि वे उच्च कोटि के तुर्की अमीरों तथा सामन्तों को भी रुपया उधार दिया करते थे। सेनाओं के साथ हिन्दू बंजारे चला करते थे। उस युग में रसद का समुचित प्रबन्ध नहीं था, इसलिए यह वंशानुगत बंजारे ही सैनिकों को रसद पहुँचाया करते थे। हिन्दुओं का एक बहुसंख्यक वर्ग कृषि से ही जीविकोपार्जन किया करता था। अनेक हिन्दू अध्यापन, चिकित्सा आदि पेशे भी करते होंगे। ब्राह्मण लोग सामान्यतया अध्ययन तथा धार्मिक कृत्यों में अपना समय बिताते होंगे।

इस देश में तुर्की शासन साढ़े तीन सौ वर्षों से भी कुछ अधिक चला। इस बीच में विजय तथा दमन की प्रक्रिया भी जारी रही, इसलिए इस युग में लाखों हिन्दू मारे गये। लाखों का युद्धों में संहार हुआ और लाखों स्त्रियाँ तथा बच्चे मुसलमान बनाकर दासों के रूप में बेच दिये गये। उदाहरण के लिए तिमूर ने मुहम्मद तुग़लक से युद्ध करने के पूर्व एक दिन में ही एक लाख हिन्दू बन्दियों को कत्ल करवा दिया। हमारे देश के इतिहास के किसी भी युग में—प्रारम्भिक अथवा परवर्ती ब्रिटिश युग में भी नहीं—मानव-जीवन का इतना नृशंसतापूर्ण नाश नहीं किया गया, जितना कि तुर्क-अफग़ान शासन के इन ३५० वर्षों में। उच्च तथा मध्य श्रेणियों के हिन्दुओं को सैनिक तथा असैनिक सरकारी नौकरियों से वंचित कर दिया गया था। इससे समाज में एक क्रांति हो गयी और अगणित परिवारों को कष्ट भोगने पड़े होंगे। इस युग में हिन्दू जनता को राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से बहुत दुख उठाने पड़े। उन्हें शासकों, मन्त्रियों, सूबेदारों तथा सेनापतियों के महत्वपूर्ण पदों से ही नहीं वंचित किया गया, बल्कि उनके साथ घृणापूर्ण व्यवहार भी किया गया। तुर्की सुल्तान तथा उनके प्रमुख अनुयायी समृद्ध हिन्दू-परिवारों से अपने लिये पत्नियाँ प्राप्त करने के इच्छुक रहते थे और इस हेतु वे उच्च सामन्तों को अपनी लड़कियाँ देने पर विवश करते थे। मुस्लिम कानून के अनुसार इन हिन्दू लड़कियों को पहले अपने धर्म से वंचित करके मुसलमान बना लिया जाता और तब उनके साथ विवाह किया जाता था। इन सब के कारण सम्मान-प्रिय हिन्दुओं को निरन्तर अपमानित होना पड़ता था और इसलिए अपनी पराजय तथा पतन के कारण नहीं, बल्कि वास्तव में वे विश्वास करने लगे थे कि नवागन्तुक संस्कृति, धर्म,

नस्ल और विशेषकर आचरण की शुद्धता, नैतिकता और रहन-सहन की दृष्टि से हमसे बहुत नीचे हैं। विजेताओं ने उन्हें जो राजनीतिक अथवा आर्थिक कष्ट पहुँचाये, उनसे उन्हें इतना दुख और वेदना नहीं हुई, जितनी कि असम्मान-जनक व्यवहार, धार्मिक अत्याचारों और पारिवारिक सम्मान पर आघात के कारण हुई।

हिन्दू-समाज जाति-व्यवस्था पर आधारित था। तुर्क-शासन ने हिन्दुओं को अपने जाति सम्बन्धी नियम पहले से भी अधिक जटिल बनाने पर बाध्य किया। तुर्कों को सुन्दर हिन्दू लड़कियों को अपनी पत्नियाँ बनाने का शौक था, इस कारण हिन्दुओं में बाल-विवाह का सामान्य नियम बन गया। उच्च तथा मध्य वर्गों में पर्दा-प्रथा भी प्रचलित हो गयी। उस युग में नीची जातियों को छोड़कर अन्य लोगों में से विधवा-विवाह का विचार ही जाता रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्ध परिवारों को छोड़कर साधारण हिन्दुओं में स्त्री-शिक्षा का पूर्ण अभाव था किन्तु लड़कों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा का सर्वत्र प्रचार था। प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला होती थी जहाँ पढ़ने-लिखने तथा गणित की शिक्षा दी जाती थी। किसी प्रकार के सैनिक शिक्षण का भी प्रचार रहा होगा। तुर्की सरकार के लिए सम्पूर्ण हिन्दू जनता का निशस्त्रीकरण करना असम्भव था, इसलिए हिन्दू लोग अपने गाँवों की रक्षा का सफलतापूर्वक प्रबन्ध कर लेते थे। हिन्दुओं का अपने धर्म में विशेष अनुराग था। उनमें से सुशिक्षित लोग एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे किन्तु बहुसंख्यक जनता मूर्ति-पूजा करती थी। लोग गूढ़ विश्वासों में फँसे हुए थे। फलित ज्योतिष, सामुद्रिक तथा जादू-टोनों में उनकी आस्था थी। उनका नैतिक तथा योनि-जीवन उच्च कोटि का था। ऋण को लोग अनिवार्य रूप से अदा करते थे। यदि ऋणी स्वयं उसे अदा न कर पाता था तो उसके पुत्र तथा पौत्र ब्याज सहित उसका भुगतान करना अपना कर्तव्य समझते थे। सामान्य रूप से व्यक्तिगत ईमानदारी तथा आचरण की शुद्धता का स्तर बहुत ऊँचा था।

पिछले कुछ दिनों से हमारे आधुनिक लेखकों में यह सिद्ध करने का एक फैशन-सा चल पड़ा है कि तुर्की-शासन के अन्तर्गत हिन्दुओं की दशा अच्छी थी। एक लेखक[१] ने तो यहाँ तक कह दिया है कि तुर्की-शासन में वे देशी राजाओं के शासन-काल से भी अधिक सुखी थे। इस नये सिद्धान्त के समर्थन में कुछ अभिलेख सम्बन्धी साक्ष्य प्रस्तुत किया जाता है जिसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। यदि जहाँ-तहाँ एक-दो ऐसे हिन्दुओं का उदाहरण मिलता है, जिनकी किसी विशेष तुर्की-शासक के सम्बन्ध में अच्छी राय थी, तो मुसलमान

---

[१] डा. आई. एच. कुरैशी तथा डा. मेहदी हुसैन।

लेखकों के ग्रन्थों से ही हजारों ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे हिन्दुओं के प्रति किये गये दुर्व्यवहार तथा धार्मिक अत्याचारों का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि तुर्की-शासन के अन्तर्गत हिन्दुओं के लिए सरकारी नौकरियों के दरवाजे खुले हुए थे और उनमें से कुछ तो काफी उच्च पदों पर पहुँच गये थे। किन्तु उस युग के लेखों की समीक्षा करने पर एक भी ऐसे हिन्दू का उदाहरण नहीं मिलता, जिसे सूबेदार, मन्त्री, सचिव, जिलाधीश अथवा परगना के प्रमुख के पद पर भी नियुक्त किया गया हो। हिन्दू खुत, चौधरी और मुकद्दम स्थानीय क्षेत्रों में वंशानुगत राजस्व पदाधिकारी थे और उनके सहयोग के बिना शासन का कार्य चलाना ही असम्भव था। दो आधुनिक लेखकों ने उदार विचारों वाले मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन की पूर्ण रूप से जाँच की है किन्तु वे रतन को छोड़कर अन्य एक भी ऐसे हिन्दू का उदाहरण नहीं ढूँढ़ सके हैं, जिसे उस सुल्तान के समय में कोई महत्वपूर्ण पद मिला हो। केवल एक हिन्दू पदाधिकारी की नियुक्ति का भी जो परिणाम हुआ, उससे शासक-वर्ग तथा सम्पूर्ण मुस्लिम जनता की संकीर्णता और असहिष्णुता पर ही प्रकाश पड़ता है, शासन-व्यवस्था की उदारता सिद्ध नहीं होती। रतन को सिन्ध का राजस्व पदाधिकारी नियुक्त किया गया था न कि सूबेदार, जैसा कि डाक्टर मेहदीहुसैन ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसकी नियुक्ति से प्रान्त की उद्दण्ड मुस्लिम जनता की भावनाओं को भारी चोट पहुँची। उसमें जो प्रमुख थे उन्होंने रतन के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा और उसका वध करवा दिया। सम्पूर्ण सल्तनत-युग में सिद्धपाल ही पहला तथा अन्तिम हिन्दू था जिसे दिल्ली दरबार में स्थान मिल सका। वह भी इसलिए महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सका कि दरबार हिन्दू सामन्तों को आश्रय देने की नीति में विश्वास करता था, बल्कि इसलिए कि उसका चरित्र वैसा ही था जैसा कि तुर्की अमीरों और विशेषकर वज़ीर का जो एक ऐसे मित्र की खोज में था जो सुल्तान का वध करने में उसको सहायता दे सकता। इसके अतिरिक्त इसका एक यह भी कारण था कि उन दिनों सल्तनत अपनी अन्तिम साँसें भर रही थी। ख़लजी तथा तुग़लक शासकों के समय में दरबार में किसी हिन्दू के लिए चतुर्थ श्रेणी का पद भी प्राप्त करने की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। सुल्तानों की सेनाओं में हिन्दुओं का सैनिकों अथवा निम्न पदाधिकारियों के पदों पर नियुक्त किया जाना भी कोई विशेष महत्व नहीं रखता क्योंकि अन्य जातियों के सैनिकों की भाँति उन्हें भी किराये के टट्टुओं के रूप में भरती किया जाता था और यह परिपाटी महमूद गज़नवी के समय से चली आयी थी। यदि देश की अधिकांश भूमि हिन्दुओं के अधिकार में थी, तो इससे भी मुस्लिम शासकों की उदारता नहीं सिद्ध होती, इस सम्बन्ध

में वे विवश थे। मध्य-युग में कोई भी सरकार चाहे वह कितनी भी बलवती होती, हिन्दुओं जैसे शक्तिशाली तथा वृहद जनसमुदाय को भूमि से वंचित करने में सफल नहीं हो सकती थी। हमारे पूर्वजों का दृढ़ विश्वास इस मध्ययुगीन लोकोक्ति से स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है, "भूमि कोई कालीन नहीं है जिसे कोई विदेशी अथवा सुल्तान समेट ले और अपने कन्धे पर रखकर ले जा सके।" यह एक दयनीय बात है कि अधिकतर मुस्लिम लेखक देश की जनता को विदेशी तुर्की-शासन के अन्तर्गत जो कष्ट हुए और उसके प्रति उनकी जो भावनाएँ थीं, उन्हें समझने में असमर्थ हैं। जिसके पैर में बिभाई नहीं फटती वह पराई पीर को कैसे समझ सकता है। समकालीन अकाट्य साक्ष्य के अतिरिक्त सैकड़ों वर्ष से ऐसी अविच्छिन्न परम्पराएँ चली आयी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि तुर्की-शासन अत्याचारपूर्ण था। प्रकृति के कोप के कारण जब जनता के सिर कोई विपत्ति आ टूटती है तो हिन्दू लोग वेदना से चिल्लाने लगते हैं, "ईश्वर तथा तुर्क दोनों हमारे पीछे पड़े हैं," इन भावनाओं को सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि धर्म तथा पारिवारिक सम्मान यही मनुष्य की दो बहुमूल्य निधियाँ हैं और तुर्की-शासन में इनमें से एक भी सुरक्षित नहीं थी। अनेक वर्ष हुए, लेखक को कई अवसर ऐसे मिले थे, जब उसने ग्रामीण जनता को तुर्की तथा अंग्रेजी शासन की तुलना करते हुए सुना। उनके मत में अंग्रेजी शासन इसलिए बुरा था कि वह जनता का आर्थिक शोषण करता था, किन्तु तुर्की-शासन उससे भी अधिक बुरा था क्योंकि वह धर्म और सम्मान पर आक्रमण करता था।

आर्थिक दशा

मध्य-युग में हमारा देश अतुल धन-सम्पत्ति के लिए विख्यात था। हमारे अपार धन की कहानियों से लालायित होकर ही महमूद गजनवी तथा उसके लुटेरे अनुयायियों के झुण्डों ने हमारे राज्यों की वैभवशाली राजधानियों पर आक्रमण किया और मन्दिरों को लूटा। मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध में और महमूद गजनवी को हिन्दुस्तान खास में सोना, चाँदी, अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्नों, सिक्कों तथा अन्य प्रकार के सामान के रूप में जो करोड़ों रुपये के मूल्य का माल लूट में मिला उसका वर्णन तत्कालीन लेखकों ने किया है, उससे सरलता से विश्वास हो जाता है कि देश के वैभव की कहानियाँ केवल कल्पना की उपज नहीं थीं बल्कि उनका आधार वास्तविकता थी। प्रारम्भिक तुर्क आक्रमणकारी हमारे देश के धन को पूर्णरूप से बटोर ले जाने में सफल नहीं हुए थे। उत्पादन के साधनों का मूलोच्छेदन करना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि दिल्ली सुल्तानों को उत्तरी

तथा दक्षिणी भारत के आक्रमणों में अपार धन लूट में मिला। युद्धों में उन्होंने अन्धाधुन्ध खर्च किया और दरबार तथा महलों के ठाट-बाट पर धन पानी की भाँति बहाया। फिर भी भारत में इतना धन बच रहा कि चौदहवीं शताब्दी के अन्त में तिमूर देश के केवल एक कोने से हजारों नहीं बल्कि लाखों का सामान लूटकर ले गया। इसलिए यह निर्विवाद सत्य है कि तुर्क-अफ़ग़ान-युग में हमारा देश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध था।

हमारे देश की सम्पत्ति का मुख्य साधन कृषि थी। अधिकांश भागों में भूमि का प्राकृतिक उर्वरापन, पर्याप्त वर्षा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही सिंचाई की सुविधाएँ जिन्हें फ़ीरोज़ तुग़लक ने और भी अधिक समुन्नत बना दिया था तथा किसानों की परिश्रमशीलता—इन सब कारणों से देश में इतना अन्न उत्पन्न होता था कि उससे समस्त जनता की आवश्यकताएँ ही नहीं पूरी हो जाती थीं बल्कि बाहर के देशों को भी उसका निर्यात होता था। रुई, गन्ना, तिलहन, अफीम आदि उत्तम फसलें बड़े पैमाने पर उत्पन्न की जाती थीं। देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के फल उत्पन्न होते थे। हम पहले एक अध्याय में उल्लेख कर आये हैं कि फीरोज़ तुग़लक के राजस्व का एक बड़ा भाग बागों से आता था। यद्यपि अधिकांश जनता के जीविकोपार्जन का साधन कृषि थी, किन्तु नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक महत्वपूर्ण उद्योग-धन्धे भी चलते थे। तुर्कों के आगमन से शताब्दियों पूर्व औद्योगिक दृष्टि से हमारा देश सुसंगठित था। गाँवों तथा नगरों में अनेक शिल्प-संघ थे जो विस्तृत रूप से व्यापार किया करते थे। यद्यपि इन औद्योगिक संस्थाओं को राज्य की सहायता नहीं प्राप्त थी फिर भी बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक क्रान्तियों के झकझोरों को सहती हुई वे जीवित रहीं। उद्योग दो प्रकार के थे—एक वे जिन्हें राजाश्रय प्राप्त था और दूसरे वे जिन पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व था। दिल्ली में सुल्तानों के अनेक कारखाने होते थे जिनमें रेशम तथा अन्य प्रकार का कपड़ा बुनने वाले सहस्रों जुलाहे कार्य करते थे। इन शाही कारखानों में सम्मानसूचक वस्त्र बनाने के लिए हजारों गज रेशमी तथा सूती कपड़ा तैयार किया जाता था। सोना, चाँदी तथा कसीदा आदि के काम के लिए अन्य कई प्रकार के कारखाने होते थे। निजी उद्योगों में सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों, रँगाई, वस्त्रों की छपाई, शक्कर, धातु, कागज, पत्थर, ईंट, पच्चीकारी, कलई करने आदि के धन्धे अधिक महत्वपूर्ण थे। इनके अतिरिक्त जूते, अस्त्र-शस्त्र, शराब, पीतल तथा अन्य धातुओं एवं मिट्टी के अन्य छोटे-मोटे धंधे भी थे। वस्त्र-उद्योग का देश के सभी प्रान्तों में प्रचार था, किन्तु कपड़े के उत्पादन तथा निर्यात के लिए बंगाल और गुजरात विशेष रूप से प्रसिद्ध थे।

यद्यपि तुर्क-अफ़ग़ान युग में राज्य देश की जनता की आर्थिक अभिवृद्धि की दृष्टि से व्यापक अर्थनीति का अनुसरण नहीं करता था, फिर भी हमारे देशवासी बड़े पैमाने पर बाह्य तथा आन्तरिक व्यापार किया करते थे। भारत का बाह्य-जगत से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। कृषि की उपज, सूती तथा रेशमी वस्त्र, अफीम, नील, जस्ता आदि वस्तुएँ विदेशों को भेजी जातीं और घोड़े, खच्चर तथा राजपरिवारों और सामन्तों की विलास-वस्तुएँ बाहर से मँगायी जाती थीं। यह स्पष्ट है कि देश का निर्यात आयात से अधिक था और व्यापार का सन्तुलन सदैव हमारे ही पक्ष में रहता था। इसी से लोगों का सामान्य विश्वास था कि "सभी देशों के व्यापारी भारत से निरन्तर शुद्ध सोना ले जाते और वहाँ से जड़ी-बूटियों और गोंद का सामान ले आते हैं।" इस युग में हमारा चीन, मलाया द्वीप-समूह तथा प्रशान्त महासागर के अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था और समुद्री लोगों द्वारा वे हमारे देश से सम्बद्ध थे। भूटान, तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान तथा मध्य एशिया के अन्य देशों के साथ हमारा व्यापार स्थल-मार्गों से होता था।

किन्तु हमारे देश में धन के वितरण में बहुत विषमता थी। वास्तव में वह कुछ अल्पसंख्यक लोगों के हाथों में ही केन्द्रित था। सुल्तान, उनके सामन्त तथा उच्च पदाधिकारी अत्यधिक धनी थे और यही दशा हिन्दू राजाओं, सामन्तों तथा चोटी के व्यापारियों और साहूकारों की थी। हम पहले देख चुके हैं कि सल्तनत-युग में उच्च सैनिक तथा असैनिक पदाधिकारियों के वेतन बहुत भारी थे। पदाधिकारी तथा सामन्त विशाल प्रासादों में रहते, अनेक दास-दासियाँ उनकी सेवा करतीं तथा वे विलास और वैभव का जीवन बिताते थे। मध्य-वर्ग भी जिसमें विभिन्न पेशों के लोग, क्लर्क तथा व्यापारी सम्मिलित थे, काफी सम्पन्न था। किन्तु देश की बहुसंख्यक सामान्य जनता दरिद्र थी और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए भी उसके पास पर्याप्त साधन नहीं थे। पिछले अध्याय में हम लिख आये हैं कि किसानों के पास भूमि की उपज का केवल एक-तिहाई भाग बच पाता था। राजकर का भारी बोझ उन्हीं पर पड़ता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण समय में उन्हें भूखों नहीं मरना पड़ता था। उनकी आवश्यकताएँ कम थीं—उससे भी कम जो आज के किसानों की हैं—और दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ सस्ती थीं। किन्तु जब अनावृष्टि अथवा अन्य किसी प्राकृतिक विपदा अथवा युद्धों में फसल नष्ट होने के कारण दुर्भिक्ष पड़ जाता तब सैकड़ों और कभी-कभी हजारों की संख्या में साधारण लोग मर जाते थे। इस युग में दुर्भिक्ष अवश्य पड़े थे—एक जलालुद्दीन फीरोज़ ख़लजी के समय में जब सकड़ों लोग यमुना में डूब कर मर गये और दूसरा मुहम्मद

बिन तुग़लक के समय में जो बहुत ही भयंकर था और जिसमें मानव-जीवन का बहुत सत्यानाश हुआ।

यातायात के साधनों की कठिनाई के कारण देश के विभिन्न भागों में वस्तुओं के मूल्य एकसे नहीं थे और न इस बात की ही आशा करनी चाहिए कि इस सम्पूर्ण युग में एकसे रहे होंगे। साधारण समय में वस्तुएँ सस्ती रहती थीं किन्तु दुर्भिक्ष तथा अभाव के समय में उनके मूल्य में असाधारण वृद्धि हो जाया करती थी। उदाहरण के लिए मुहम्मद बिन तुग़लक के समय में जब दुर्भिक्ष पड़ा तो एक सेर अन्न का भाव सोलह-सत्रह जीतल तक पहुँच गया। इसी प्रकार युद्ध के समय में चीजों की कीमतें बढ़ जाया करती थीं। जब फीरोज़ तुग़लक ने दूसरी बार सिन्ध पर आक्रमण किया तो उस प्रदेश में एक सेर अन्न का मूल्य आठ से दस जीतल तक पहुँच गया। अलाउद्दीन ख़लजी के शासन-काल में दैनिक व्यवहार की अधिकतर वस्तुओं का जो मूल्य था, वह ठीक समझा जाता था। उस युग में गेहूँ आधा जीतल, जौ चार जीतल, चावल पाँच जीतल, दालें पाँच जीतल, सफेद शक्कर सौ जीतल, कच्ची खाँड़ छः जीतल, तिलहन और माँस दस जीतल तथा घी सोलह जीतल प्रति मन की दर से बिकता था। विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के मूल्य इस प्रकार थे— दिल्ली की मलमल सत्रह टंका तथा अलीगढ़ की छः टंका प्रति थान की दर से बिकती थी; एक बढ़िया कम्बल का मूल्य छत्तीस जीतल तथा घटिया का छः जीतल हुआ करता था। सिकन्दर लोदी के शासन-काल के अन्तिम वर्षों तथा इब्राहीम के सम्पूर्ण शासन-काल में वस्तुओं के मूल्य विशेष तौर से कम रहे। इब्राहीम के समय में कोई व्यक्ति एक बहलोली में दस मन अन्न, पाँच सेर तेल और दस गज मोटा कपड़ा खरीद सकता था। बहलोली नाम का सिक्का बहलोल लोदी ने जारी किया था और उसका मूल्य केवल छः जीतल था। दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ इतनी सस्ती और कहीं नहीं थीं जितनी कि बंगाल में, इसलिए तुर्क लोग उसे सुन्दर वस्तुओं से परिपूर्ण नरक कहा करते थे।

संक्षेप में, भारतीय तथा विदेशी सभी तत्कालीन लेखकों के ग्रन्थों से इस युग की सामान्य समृद्धि प्रमाणित होती है। विदेशी पर्यटकों में मार्कोपोलो जिसने १२८८ ई. तथा १२९३ ई. में दक्षिणी भारत की यात्रा की, इब्नबतूता जिसने १३३४ ई. तथा १३४२ ई. के बीच देश के अनेक भागों का भ्रमण किया और चीनी यात्री माहुआँ जिसने १४०६ ई. में बंगाल का पर्यटन किया, विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इन सब ने देश का जो वर्णन छोड़ा है, उससे सिद्ध होता है कि आर्थिक तथा औद्योगिक दोनों दृष्टि से भारत समृद्ध था और यहाँ जीवन की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं।

साहित्य

फारसी साहित्य

अभी पिछले वर्षों में एक आधुनिक लेखक ने दिल्ली सल्तनत का पक्ष लेकर यह दावा प्रस्तुत किया है कि वह एक संस्कृति-सम्पन्न राज्य था। इसके विपरीत अन्य इतिहासकारों का मत है कि १२०६ ई. से १५२६ ई. तक का युग सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से पूर्णतया निष्फल था। दोनों ही मत अतिवादी विचारों के प्रतीक हैं और सत्य से दूर हैं। जो राज्य साम्प्रदायिक था, जो नग्न पशु-बल पर अवलम्बित था, जिसके कर्मचारी लगभग सभी विदेशी थे, जिसकी भाषा, संस्कृति, आदर्श और यहाँ तक कि प्रेरणा भी विदेशी थी और जिसने इस देश की तथा ९५ प्रतिशत जनता की भाषा, संस्कृति और आदर्शों की उपेक्षा तथा दमन किया, उसे संस्कृति-सम्पन्न राज्य कहना एक ऐसा दावा है जिस पर सरलता से विश्वास नहीं किया जा सकता। संस्कृति तथा धार्मिक कट्टरता का समागम नहीं हो सकता। इसके विपरीत यह सोचना भी अन्यायपूर्ण होगा कि दिल्ली सुल्तान अर्द्ध-सभ्य सैनिक थे और साहित्य, काव्य तथा कलाओं में उन्हें रुचि ही नहीं थी। तुर्क अफग़ान शासक यद्यपि मूलतः सैनिक लोग थे, फिर भी उन्होंने इस्लामी विद्याओं और कलाओं को आश्रय तथा प्रोत्साहन दिया। कुतुबुद्दीन से लेकर सिकन्दर लोदी तक प्रत्येक सुल्तान के दरबार में फारसी लेखकों, कवियों, दार्शनिकों, नैयायिकों, शास्त्रज्ञों तथा विधिविज्ञों का जमाव रहता था। कुछ सुल्तानों के दरबार में इतिहासकार भी रहते थे। इस कोटि में 'ताजुल-मासिर' के लेखक हसन निज़ामी, 'तबकाते नासिरी' के रचयिता मिनहाजुद्दीन सिराज, 'तारीखे फीरोज़शाही' तथा 'फतवाए-जहाँदारी' के लेखक जियाउद्दीन बरनी, 'तारीखे-फीरोज़शाही' के लेखक शम्सेसिराज अफीफ, 'तारीखे मुबारकशाही' (दक्खिन) के रचयिता यहिया बिन अहमद सरहिन्दी तथा 'फुतुह-उस-सलातीन' के लेखक इसामी के नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त अर्द्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थों के रचयिता अमीर खुसरव तथा एन-उल-मुल्क मुलतानी भी अधिक उल्लेखनीय हैं। इस युग के अनेक कवियों तथा शास्त्रज्ञों के नाम गिनाना अनावश्यक है, इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध अमीर खुसरव तथा अमीर हसन देहलवी थे। अमीर खुसरव का मूल नाम मुहम्मद हसन था और उसका जन्म १२५३ ई. में पटियाला में हुआ था। उसका पिता एक तुर्क शरणार्थी था जिसने कुछ वर्ष पहले वहाँ आकर शरण ली थी। अमीर खुसरव ने बलबन के ज्येष्ठ पुत्र युवराज मुहम्मदखाँ के यहाँ दरबारी कवि के रूप में नौकरी करली थी और उसके बाद लगातार बलबन से लेकर ग़ियासुद्दीन तुग़लक तक दिल्ली सुल्तानों की सेवा की। आगे चलकर उसने संसार से वैराग्य ले लिया और शेख निज़ामुद्दीन

औलिया का शिष्य हो गया। वह एक सफल लेखक था और कहा जाता है कि उसने चार लाख से अधिक छन्द लिखे थे। यह निर्विवाद सत्य है कि वह फारसी में लिखने वाले भारतीय कवियों में सर्वश्रेष्ठ था। उसने अनेक गद्य-ग्रन्थों की रचना की जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध 'खजाए-नुल-फुतूह', 'तुग़लकनामा' तथा 'तारीखे-अलाई' हैं। वह पहला मुसलमान लेखक था जिसने हिन्दी शब्दों तथा भारतीय अलंकारों और विषयवस्तु का प्रयोग किया। दुर्भाग्यवश परवर्ती लेखकों ने उसका अनुसरण नहीं किया और जानबूझकर विदेशी शब्दावली, अलंकारों तथा विषय-वस्तु से चिपटे रहे। अमीर हसन देहलवी का पूरा नाम नाज़िमुद्दीन हसन था। खुसरव की भाँति वह योग्य तथा प्रतिभाशाली कवि था जो दौलताबाद जाकर बस गया और वहीं १३३८ ई. में उसका देहावसान हुआ। प्रान्तीय दरबारों में भी कवि तथा विद्वान रहते थे जिन्होंने फारसी में प्रचुर साहित्य की रचना की। इस युग के लेखकों को अरब तथा ईरान से प्रेरणा मिलती थी और अन्धे होकर वे विदेशी लेखकों का अनुसरण करते थे। महान् कवि अमीर खुसरव ने जो मार्ग दिखाया, उसको उन्होंने त्याग दिया और "मत्रुक" प्रणाली का अनुसरण करते हुए जानबूझकर भारतीय शब्दों को अपनी रचनाओं से बहिष्कृत किया। भारतीय विषयों, भारतीय अलंकारों, भारतीय महापुरुषों, पर्वतों तथा नदियों सभी का निषेध था। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सुल्तान लोग साहित्य तथा कला के प्रेमी थे किन्तु उन्होंने एक सीमित प्रकार की संस्कृति को आश्रय दिया। इसके अतिरिक्त सभी सांस्कृतिक कार्य दरबार तथा अमीरों तक ही सीमित थे; जनता से उनका कोई सम्पर्क नहीं था।

यद्यपि दिल्ली सुल्तान जनता की शिक्षा का प्रबन्ध करना अपना कर्तव्य नहीं समझते थे, फिर भी उन्होंने अपनी मुस्लिम प्रजा की रक्षा के लिए स्कूल तथा मदरसे (उच्च न्यायालय) स्थापित करने में रुचि दिखलायी। यह एक नियम था कि प्रत्येक मस्जिद से एक मख़्तब सम्बद्ध रहता था जहाँ क़ुरान की शिक्षा के अतिरिक्त फारसी भाषा का लिखना तथा पढ़ना सिखाया जाता था। मदरसे दिल्ली, आगरा, जालन्धर, फीरोजाबाद आदि महत्वपूर्ण नगरों में स्थित थे और बाद में प्रान्तीय राजवंशों की राजधानियों में भी स्थापित किये गये। उनमें उच्च साहित्य, काव्य, शास्त्रों, दर्शन तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। मुख्य शिक्षा-केन्द्रों में अनेक पुस्तकालय भी स्थापित किये गये थे, जिनमें दिल्ली का शाही पुस्तकालय सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। जलालुद्दीन ख़लजी ने अमीर खुसरव को उसका पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त किया था। जब मंगोलों के दबाव के कारण मध्य एशिया से विद्वान आकर दिल्ली में एकत्र हुए तो वह नगर पूरब में इस्लामी विद्याओं का अनुपम केन्द्र बन गया।

बहुत कम मुसलमान संस्कृत पढ़ने का कष्ट करते थे। अलबरुनी के बाद हमें किसी ऐसे प्रसिद्ध मुसलमान का नाम नहीं मिलता जिसका सम्बन्ध ,संस्कृत शिक्षा से रहा हो। फीरोज़ तुग़लक तथा सिकन्दर लोदी आदि दो-एक सुल्तानों ने संस्कृत के कुछ ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद कराया, किन्तु इससे यह समझना गलत होगा कि वे सुल्तान संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत के लेखकों के आश्रयदाता थे। जिन पुस्तकों का अनुवाद कराया गया, उनका व्यावहारिक मूल्य था। हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे सिद्ध हो सके कि दिल्ली के किसी भी सुल्तान के दरबार में कोई संस्कृत का विद्वान रहता था। प्रान्तीय शासकों ने विशेषकर बंगाल में संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद-कार्य को प्रोत्साहन दिया।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य

हिन्दुओं के सांस्कृतिक कार्य हिन्दू राजाओं के दरबारों तथा हमारे मुख्य विद्या-केन्द्रों और तीर्थस्थानों तक ही सीमित थे। उथल-पुथल तथा संकटों के उस युग में जब कि हिन्दुओं को राज्याश्रय उपलब्ध नहीं था, यह स्वाभाविक ही था कि वे कोई ऐसी महान् तथा अमर साहित्यिक कृति उत्पन्न न कर सकें जिसकी तुलना कालिदास, भवभूति, बाण, तुलसी और सूर की रचनाओं से की जा सकती। फिर भी यह समझना गलत होगा कि तुर्कों की विजय के कारण हिन्दुओं का मस्तिष्क निष्क्रिय हो गया था और उनकी सृजनात्मक प्रतिभा सो गयी थी। संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में हिन्दुओं ने तुर्कों की श्रेष्ठता कभी स्वीकार नहीं की। तुर्कों की विजय से मस्तिष्क पर जो संकुचित करने वाला प्रभाव पड़ा उसकी चिन्ता न करते हुए वे साहित्य-सेवा में लगे रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रचुर मात्रा में धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य की रचना हुई, यद्यपि वह बहुत उच्चकोटि की नहीं थी। रामानुज ने ब्रह्म सूत्रों पर टीकाएँ लिखीं। पाथसारथी ने कर्म मीमांसा पर अनेक ग्रन्थ रचे। 'शास्त्र-दीपक' इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। १२वीं शताब्दी में जयदेव ने प्रसिद्ध 'गीतगोविन्द' की रचना की। हरकेलि नाटक, ललित विग्रहराज नाटक, प्रसन्न राघव (जयदेव द्वारा रचित : १२०० ई. के लगभग), 'हम्मीर मद-मर्दन' (जयसिंह सूरी द्वारा रचित : १२१९-१२२९ ई.), 'प्रद्युम्नाभ्युदय' (रविवर्मन), 'प्रतापरुद्र कल्याण' (विद्यानाथ),'पार्वती परिणय' (वामनभट्ट बाण), 'गंगादास प्रताप विलास' (गंगाधर), 'विदाघ माधव तथा ललित माधव' (रूप गोस्वामी) आदि अनेक सुन्दर नाटक इस युग में लिखे गये। हिन्दुओं के प्रसिद्ध कानून ग्रन्थ 'मिताक्षरा' की रचना विज्ञानेश्वर ने इसी युग में की। इसी विषय का अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'दयाभाग' भी जीमूतवाहन द्वारा लिखा गया। ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित भाष्कराचार्य इसी युग में हुए। योग, वैशेषिक तथा न्याय-

दर्शनों पर भी अनेक टीकाएँ रची गयीं। हेतुविद्या का उत्कर्ष हुआ और इस विषय पर जैन तथा बौद्ध लेखकों ने अनेक ग्रन्थ लिखे। देवसूरी इस युग का महानतम जैन नैयायिक था। अनेक धर्म-सुधारक भी हुए; भक्ति-आन्दोलन भी इस काल की ही मुख्य उपज थी। विजयनगर सम्राटों ने संस्कृत साहित्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनके साम्राज्य में अनेक प्रसिद्ध विद्वान निवास करते थे। वेदों के टीकाकार सायण उनमें से सबसे अधिक महत्वशाली थे। संस्कृत साहित्य के प्रत्येक रूप का उत्कर्ष हुआ, किन्तु ऐतिहासिक रचनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया। कल्हण की 'राजतरंगिणी' ही एक ऐसी रचना है जिसे इतिहास-ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसकी रचना १२वीं शताब्दी के मध्य में कभी हुई होगी।

इस युग में हिन्दी-साहित्य का भी विकास होने लगा। हिन्दी के प्रारम्भिक लेखकों में पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्दवरदाई अधिक प्रसिद्ध थे। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य की रचना की। सारंगधर दूसरे प्रसिद्ध कवि हुए जिन्होंने रणथम्भौर के राणा हम्मीर के सम्बन्ध में 'हम्मीररासो' तथा 'हम्मीर काव्य' नामक दो काव्य-ग्रन्थ लिखे। जगनक ने 'आल्हखण्ड' नामक वृहद काव्य रचा जिसमें महोबा के चन्देल नरेश परमर्दीदेव के आल्हा तथा ऊदल नामक दो महान् योद्धाओं के वीरतापूर्ण कार्यों का ओजपूर्ण भाषा में वर्णन है। कुछ आलोचकों का मत है कि अमीर खुसरव हिन्दी के भी कवि थे। इस युग में मैथिल-साहित्य का भी महान् उत्कर्ष हुआ। इस भाषा के एक महानतम लेखक विद्यापति ठाकुर १४वीं शताब्दी के अन्त में हुए। उन्होंने भी मैथिल, हिन्दी तथा संस्कृत में अनेक ग्रन्थ रचे। अनेक बंगाली विद्वानों ने प्रचुर साहित्य उत्पन्न किया। स्मृति पर रघुनन्दन मिश्र का ग्रन्थ सुविख्यात है, विस्तार से उसका यहाँ उल्लेख करना निरर्थक है। मीराबाई ने राजस्थानी में सुमधुर कविताएँ रचीं। इस युग में अनेक मराठी कवि भी हुए जिनमें नामदेव सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। गुरु नानक ने पंजाबी में कविताएँ लिखीं। हमारी आधुनिक भाषा के विकास का बहुत कुछ श्रेय भक्ति-आन्दोलन को है।

उर्दू भाषा

विदेशी तुर्कों तथा अन्य मध्य एशियाई जातियों और हिन्दुओं के पारस्परिक सम्पर्क के फलस्वरूप इस युग में एक नयी भाषा का जन्म हुआ। प्रारम्भ में वह ज़बाने-हिन्दवी कहलाती थी; आगे चलकर वह उर्दू के नाम से विख्यात हुई। वह पश्चिमी हिन्दी की एक बोली थी जो शताब्दियों से मेरठ तथा दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती थी। उसके व्याकरण का ढाँचा भारतीय ही था किन्तु धीरे-धीरे उसमें फारसी तथा अरबी के शब्दों का प्राधान्य होने लगा। कहा जाता है कि अमीर खुसरव पहले मुस्लिम लेखक थे जिन्होंने अपने

विचारों की अभिव्यक्ति के लिए इस भाषा का प्रयोग किया। किन्तु इस युग के तुर्की शासकों ने उसको प्रोत्साहन नहीं दिया क्योंकि भारतीय होने पर भी वह खिचड़ी थी और उन्हें फारसी से अधिक प्रेम था।

भक्ति आन्दोलन

प्राचीन हिन्दुओं का विचार था कि मोक्ष-प्राप्ति अर्थात जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के तीन मार्ग हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। सल्तनत-युग में हिन्दुओं में अनेक ऐसे धार्मिक विचारक हुए जिन्होंने भक्ति को अधिक महत्व दिया और धर्म-सुधार का एक नया आन्दोलन प्रारम्भ किया जो भक्ति-आन्दोलन के नाम से विख्यात हुआ। स्पष्ट है कि यह आन्दोलन पूर्णरूप से नया नहीं था और न इसकी उत्पत्ति का मूल कारण इस्लाम था, जैसा कि भ्रमवश कुछ आधुनिक लेखकों ने समझ रखा है। वास्तव में हुआ यह कि मूर्ति-पूजा के शत्रु मुस्लिम धर्म-प्रचारकों की उपस्थिति के कारण जिन्होंने हिन्दू धर्म तथा विचारों का खण्डन किया, इस आन्दोलन को अधिक प्रेरणा मिली। आन्दोलन का इतिहास महान् धर्म-सुधारक शंकराचार्य के समय से आरम्भ होता है जिन्होंने बौद्ध धर्म से सफलतापूर्वक टक्कर ली और हिन्दू धर्म को एक ठोस तथा व्यापक दार्शनिक आधार पर खड़ा किया। उन्होंने एक तर्कसंगत अद्वैत दर्शन की स्थापना की तथा मोक्ष-प्राप्ति के तीन मार्गों में से प्रथम अर्थात ज्ञान पर अधिक बल दिया, किन्तु साधारण लोगों ने हृदय से उनके विचारों का स्वागत नहीं किया। साधारण जनता के मस्तिष्क को हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट करने तथा उसे जनता के जीवन का एक सक्रिय तथा स्फूर्तिदायक तत्व बनाने के उद्देश्य से हमारे मध्ययुगीन धार्मिक विचारकों ने तीसरे मार्ग अर्थात भक्ति को अधिक महत्व दिया चूँकि विदेशी शासन में अधिकतर हिन्दू भौतिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उन्नति करने में असमर्थ रहे, अतः भक्ति-आन्दोलन की मुख्य विशेषता यह हो गयी कि जनता तथा भक्त नेता संसार से वैराग्य लेकर भक्ति में ही परमानन्द प्राप्त करने लगे।

इस धार्मिक विचारधारा के सबसे पहले प्रवर्तक वैष्णव आचार्य रामानुज थे जो १२वीं शताब्दी में हुए। उन्होंने सगुण ब्रह्म की भक्ति को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयत्न किया और कहा कि मोक्ष का यही एकमात्र मार्ग है। दूसरे सुधारक रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी रामानन्द हुए, जिनका जन्म इलाहाबाद के एक कान्यकुब्ज वंश में हुआ था। वे राम के उपासक थे। उन्होंने प्रत्येक जाति के स्त्री-पुरुषों को भक्ति का उपदेश दिया। उनके बारह शिष्य थे जिनमें एक नाई (सैन), एक चमार (रैदास) तथा एक मुस्लिम जुलाहा (कबीर) था। इस सम्प्रदाय के तीसरे आचार्य बल्लभाचार्य हुए। वे कृष्ण के उपासक थे,

इसलिए उन्होंने कृष्ण-भक्ति शाखा का प्रतिपादन किया। उनका जन्म १४७९ ई. में बनारस के निकट हुआ था। उनके माता-पिता तैलगू ब्राह्मण थे। वे तीर्थयात्रा के लिए भारत आये थे और यहीं बस गये थे। अपने जीवन के प्रारम्भ में ही बल्लभ ने अद्भुत साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। काशी में उन्होंने विद्यार्जन किया और फिर विजयनगर सम्राट कृष्णदेवराय के दरबार में चले गये। वहाँ उन्होंने कुछ शैव विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उन्होंने शुद्ध द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। साधारण जनता में वे बहुत सर्वप्रिय हो गये, किन्तु आगे चलकर उनके अनुयायियों में जो अधिकतर समृद्ध लोग थे अनेक दोष आ गये। इसके परिणामस्वरूप इस देश में उनके सम्प्रदाय ने वही रूप धारण कर लिया जो पश्चिम में प्राचीन यूनानी दार्शनिक एपीक्यूरस के सम्प्रदाय का था।

भक्ति-आन्दोलन के महानतम सन्त चैतन्य थे। उनका जन्म बंगाल में नदिया के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। जीवन के प्रारम्भ से ही उन्होंने उच्चकोटि की साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। चौबीस वर्ष की अवस्था में वे संसार त्याग कर साधू हो गये और अपना शेष जीवन प्रेम तथा भक्ति का सन्देश देने में बिताया। उन्होंने उत्तर तथा दक्षिण में देश के अधिकांश भागों का भ्रमण किया और बहुत समय तक वृन्दावन में रहे। उनके उपदेशों का सार इस प्रकार है—'जो व्यक्ति कृष्ण की उपासना तथा अपने गुरु की सेवा करता है वह माया-जाल से मुक्त होकर कृष्ण के चरणविन्दु को प्राप्त कर लेता है'। इससे वह संसार के बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। उनका विश्वास था कि प्रेम तथा भक्ति, नृत्य और संगीत से अलौकिक आनन्द की वह अवस्था प्राप्त हो सकती है जिससे सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाय। चैतन्य पुरोहितों के प्रभुत्व तथा धर्म के बाह्य-रूपों और कर्मकाण्ड के विरोधी थे। उन्होंने जाति तथा धर्म के भेद-भाव को त्यागकर सभी लोगों को अपना उपदेश सुनाया। उनका प्रभाव इतना गम्भीर तथा स्थायी सिद्ध हुआ कि उनके अनुयायी उन्हें विष्णु का अवतार मानते हैं। १५१३ ई. में उन्होंने इस लोक को छोड़ दिया।

भक्ति-आन्दोलन के अन्य महत्वशाली सन्त नामदेव थे। वे महाराष्ट्री थे और उनके शिष्यों में सभी वर्गों तथा जातियों के लोग सम्मिलित थे; कुछ मुसलमान भी थे जिन्होंने हिन्दू धर्म अंगीकार कर लिया था। वे स्वयं जाति के दर्जी थे; उनका जीवन-काल १५वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इस युग के अन्य सुधारकों की भाँति उन्हें भी ईश्वर की एकता में विश्वास था। वे मूर्ति-पूजा तथा कर्म-काण्ड के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि ईश्वर-भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

भक्ति-मार्ग के प्रवर्तकों में कबीर तथा नानक दो ऐसे हुए जो हिन्दू तथा

इस्लाम धर्मों के समन्वय के पक्षपाती थे। कबीर का प्रारम्भिक जीवन रहस्य के आवरण से ढका हुआ है। कहा जाता है कि वे बनारस की एक ब्राह्मण विधवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे; उसने उन्हें एक तालाब के किनारे छोड़ दिया जहाँ से एक मुसलमान जुलाहा उन्हें उठा ले गया। उनकी जन्म-तिथि के विषय में विद्वानों में मतभेद है परन्तु इतना निश्चित प्रतीत होता है कि वे १५वीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। आरम्भ से ही वे चिन्तनशील तथा धार्मिक प्रवृत्ति के थे, किन्तु रूढ़िवादी नहीं थे। कहा जाता है कि वे रामानन्द के शिष्य हो गये थे। कबीर नाममात्र के मुसलमान रहे होंगे, क्योंकि उनकी कविताएँ निःसन्देह ही हिन्दुओं के उत्कृष्ट धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत हैं। सूफी विचारों तथा क्रियाओं का भी उन पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने गृहस्थ जीवन बिताया तथा जीवन के दैनिक कृत्य किये फिर भी वे उच्चकोटि के भक्त थे। उन्होंने जाति तथा धर्म के भेद-भाव को छोड़कर सभी लोगों को प्रेम का सन्देश सुनाया। हिन्दू तथा मुसलमानों में एकता स्थापित करना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। भक्ति-मार्ग के अन्य सन्तों की भाँति कबीर भी जाति-व्यवस्था, कर्मकाण्ड तथा धर्म के बाह्य आडम्बरों के विरोधी थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रेम तथा भगवद्भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिए भजन में उनकी गम्भीर आस्था थी। वे सभी प्रकार के ढोंग, आडम्बर तथा पाखण्ड की निन्दा किया करते थे। निम्नांकित पद में उनकी शिक्षाओं का सार अन्तर्निहित है—

न जाने तेरा साहब कैसा है ?
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहरा है;
चींटी के पग नेबर बाजै, सो भी साहब सुनता है।
साँच कहो तो मारन धावै, झूँठे जग पहिचाना;
आतम मारि पषानहि पूजै, उनमें कछू न ज्ञाना।
बहुतै देखे पीर औलिया, पढ़े किताब कुराना;
कहें हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरक कहें रहमाना।

कबीर की भाँति गुरु नानक ने भी हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के समन्वय का सन्देश दिया। उनका जन्म एक खत्री परिवार में १४६६ ई. में तालबंडी नामक गाँव (आधुनिक नानकाना) में हुआ था जो लाहौर से दक्षिण-पश्चिम में ३५ मील की दूरी पर आधुनिक पश्चिमी पंजाब के शेखूपुरा जिले में स्थित है। उनके पिता पटवारी थे। नानक को शिक्षा मिली थी। आगे चलकर उन्होंने अपने बहनोई सुल्तानपुर के जयसिंह के यहाँ नौकरी कर ली; जयसिंह गल्ले का व्यापारी था और दौलतखाँ लोदी के यहाँ कार्य करता था। सुल्तान-पुर में ही नानक का धार्मिक जीवन प्रारम्भ हुआ। उनका पहला वचन जिसने

लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, यह था—"हिन्दुओं तथा मुसलमानों में कोई अन्तर नहीं है।" उन्होंने अपना शेष जीवन देश भर में घूम-घूमकर उपदेश देने में बिताया; वे देश के बाहर भी मक्का तथा मदीना तक गये। जालन्धर दोआब में स्थित करतारपुर में १५३८ ई. में उनका देहावसान हो गया। नानक ने विवाह किया था; उन्होंने गृहस्थ जीवन बिताया और उनके दो पुत्र थे। उनका विश्वास था कि विवाहित जीवन आत्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक नहीं होता। उन्होंने प्राणीमात्र के प्रति सहिष्णुता का उपदेश दिया; हिन्दू धर्म के बाह्य आडम्बरों, जाति-व्यवस्था तथा धार्मिक कट्टरता के वे विरोधी थे। ईश्वर की एकता तथा उसके प्रति अनन्य भक्ति, यही उनकी शिक्षाओं का सार था। उनके शिष्यों में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। उन्होंने अंगद नामक अपने एक शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। अंगद ने अपने अनुयायियों को एकता तथा संगठन के सूत्र में बाँधा। धीरे-धीरे वे सिक्ख कहलाने लगे।

भक्ति-आन्दोलन व्यापक था और सारे देश में उसका प्रचार हुआ। यह एक जनसाधारण का आन्दोलन था और इसके कारण उनमें एक गम्भीर जागृति उत्पन्न हुई। बौद्ध धर्म के पतन के उपरान्त भारत में इतना व्यापक और लोकप्रिय अन्य कोई आन्दोलन नहीं हुआ था। इसके दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला हिन्दू धर्म का सुधार करना जिससे वह इस्लामी प्रचार तथा तबलीग के आक्रमण से अपनी रक्षा कर सके। दूसरा हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों में समन्वय तथा दोनों सम्प्रदायों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना। पहले उद्देश्य में इसे सफलता मिली; पूजा-पाठ में कुछ सरलता आयी और परम्परागत जाति-व्यवस्था कुछ उदार हुई। हिन्दू जनता में ऊँच तथा नीच वर्णों के लोग अपने-अपने अनेक मूढ़ विचारों को भूलकर सुधारकों के इस सन्देश में विश्वास करने लगे कि ईश्वर की दृष्टि में सभी लोग समान हैं और जन्म मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं हो सकता। आन्दोलन का दूसरा उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना करना पूरा नहीं हो सका। न तुर्क-अफ़ग़ान शासकों ने और न मुस्लिम जनता ने राम-सीता की भक्ति के मार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने यह विश्वास करने से इन्कार किया कि राम और रहीम, ईश्वर और अल्लाह एक ही ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इस आन्दोलन का एक अन्य ठोस परिणाम हुआ—प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के उत्कर्ष का मुख्य श्रेय इसी को है। सन्तों ने जनसाधारण की भाषाओं में अपने उपदेश दिये और इस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दी, बंगाली, मराठी, मैथिल आदि आधुनिक भाषाओं को समुन्नत किया। इस प्रकार भक्ति-काल प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के विकास के इतिहास में स्वर्ण युग सिद्ध हुआ।

ललित कलाएँ

सल्तनत-युग में स्थापत्य के अतिरिक्त अन्य किसी कला के विकास का हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता है। यत्र-तत्र एक-दो उल्लेख अवश्य आते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शोभा के लिए विभिन्न प्रकार की डिजाइनें दीवालों पर चित्रित की जातीं, फर्नीचर, हथियारों तथा जमीनों पर खोदी जातीं और ध्वजों तथा वस्त्रों पर काढ़ी जाती थीं। इसके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तनों तथा धातु की वस्तुओं को चित्रों तथा डिजाइनों द्वारा सजाने की कला का भी अच्छा विकास हो चुका था। राजमहलों, सामन्तों तथा उच्च पदाधिकारियों के घरों में जड़े हुए धातु के बर्तनों और सजे हुए पीतल तथा चाँदी के पात्रों का खूब प्रयोग होता था; किन्तु कुरान में निषिद्ध होने के कारण सुल्तानों तथा मुस्लिम अमीरों ने चित्रकला की उपेक्षा की, फिर भी सुलेख-कला का सर्वत्र प्रचार था। धार्मिक कारणों से कट्टर मुसलमान संगीत से भी घृणा करते थे, किन्तु उसका आकर्षण इतना प्रबल था कि पूर्णरूप से उसका बहिष्कार नहीं किया जा सकता था। इसलिए इस युग में कुछ उल्लेखनीय गायक भी हुए जिनमें कवि अमीर खुसरव का प्रथम स्थान था। उन्होंने अपनी कुछ कविताओं को भारतीय स्वरों में आबद्ध किया। कहा जाता है कि उन्होंने कुछ रागों का भी आविष्कार किया।

स्थापत्य

सुल्तानों को स्थापत्य से बहुत प्रेम था। जिस समय तुर्कों ने हमारे देश को विजय किया उस समय तक मध्य एशिया की विभिन्न जातियाँ स्थापत्य की एक विशिष्ट शैली विकसित कर चुकी थीं। वह शैली वहाँ की स्थानीय शैलियों तथा ट्रान्स-आक्सियाना, ईरान, अफग़ानिस्तान, मैसोपोटामिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिमी यूरोप के देशों तथा मुस्लिम अरेबिया की शैलियों के सम्मिश्रण से बनी थी। इस प्रकार १२वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में तुर्की विजेता स्थापत्य की जो शैली भारत में लाये वह न तो पूर्णरूप से इस्लामी थी और न अरबी। इस स्थापत्य की मुख्य विशेषताएँ थीं, (१) गुम्बज, (२) ऊँची मीनारें, (३) महराब तथा (४) भूमिगृह (तहखाना)।

जब तुर्क हमारे देश में आये तो यहाँ उन्हें स्थापत्य की एक अत्यधिक विकसित शैली मिली, किन्तु विजेता होने के नाते इस देश में इमारतों के निर्माण में अपने विचारों तथा कला के रूपों को प्रचलित करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। किन्तु वे ऐसी इमारतें बनाने में सफल नहीं हुए जो उनकी मध्य एशियाई इमारतों का प्रतिरूप होतीं। उनकी इमारतों पर देशी कला-

परम्पराओं का गम्भीर प्रभाव पड़ा, इसलिए स्थापत्य की जिस नयी शैली का जन्म हुआ वह न तो पूर्णतया विदेशी थी और न शुद्ध देशी। कुछ ऐसे तत्व कार्य कर रहे थे जिनके कारण स्थापत्य की भारतीय तथा विदेशी शैलियों का समन्वय सम्भव हो सका। सर्वप्रथम, विदेशी शासकों को भारतीय शिल्पियों और संगतराशों से काम लेना पड़ा। भवन-निर्माण के सम्बन्ध में उनके अपने स्पष्ट विचार तथा तरीके थे, इसलिए उन्होंने बिना जाने मुस्लिम इमारतों में भी सजावट तथा शैली सम्बन्धी ब्यौरे की उन अनेक चीजों का समावेश कर दिया जिनका इस देश में शताब्दियों से प्रचार था। दूसरे, प्रारम्भिक तुर्क विजेताओं ने लगभग बिना अपवाद के अपनी मस्जिदों, महलों और यहाँ तक कि कब्रों का भी निर्माण उन हिन्दू तथा जैन मन्दिरों की सामग्री से किया जिन्हें उन्होंने निर्दयतापूर्वक नष्ट कर दिया था। तीसरे, हिन्दू तथा मुस्लिम शैलियों में स्पष्ट अन्तर होते हुए भी कुछ ब्यौरे की चीजों में उनकी इमारतें एकसी दिखायी देती हैं, इसलिए कभी-कभी दिल्ली सुल्तानों से हिन्दू तथा जैन मन्दिरों की चौरस छतों को तोड़कर उनके स्थान में गुम्बज तथा मीनारें बनाकर उन्हें मस्जिदों का रूप दे दिया। सर जॉन मार्शल के मतानुसार हिन्दू मन्दिरों तथा मुस्लिम मस्जिदों में एक समानता यह थी कि दोनों में एक खुला हुआ आँगन होता था जिसके चारों ओर कमरे तथा स्तम्भों की पंक्तियाँ खड़ी होती थीं। इस योजना से बने हुए मन्दिर सरलता से मस्जिदों में परिवर्तित किये जा सकते थे, इसलिए विजेता लोगों ने अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए सर्वप्रथम उन्हीं में रूपान्तर किया होगा। इसके अतिरिक्त सजावट एक अन्य मूल विशेषता थी जो हिन्दू तथा इस्लामी शैलियों को मिलाने के लिए उभयनिष्ट कड़ी का काम करती थी। सजावट दोनों ही शैलियों का प्राण थी और उनका अस्तित्व ही उस पर निर्भर था।

स्थापत्य के क्षेत्र में कुतुबुद्दीन ऐबक की सर्वप्रथम कृति दिल्ली की कुवत-उल-इस्लाम नाम की मस्जिद थी जिसका निर्माण ११९५ ई. में प्रारम्भ और ११९९ ई. में समाप्त हुआ था। वह एक हिन्दू मन्दिर के चबूतरे पर तथा अनेक हिन्दू मन्दिरों की सामग्री से बनी थी। इस मस्जिद के अधिकतर स्तम्भ, उनके शिखर तथा मध्य भाग मूलतः हिन्दू मन्दिरों के अंग रह चुके थे और मुस्लिम मस्जिद की आवश्यकताओं के अनुसार शीघ्रता से उनमें हेर-फेर कर दिया गया था। स्तम्भों, उनके शिखरों तथा मध्य भागों पर जो चित्र आदि उत्कीर्ण थे, उन्हें मिटा दिया गया था अथवा लौट-पलट कर छिपा दिया गया था। इस इमारत में इस्लामी शैली की केवल एक ही विशेषता है—सामने एक पत्थर की जाली है जिस पर मुस्लिम ढंग की डिजाइनें तथा सजावट है और कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। अजमेर में ढाई दिन का झोंपड़ा नामक तुर्की

इमारत भी एक मस्जिद ही है। इसका निर्माण भी कुतुबुद्दीन ऐबक ही ने करवाया था। यह इमारत वास्तव में एक संस्कृत विद्यालय थी जिसे सम्राट विग्रह राज ने बनवाया था। इसके ऊपरी भागों को तोड़-फोड़कर गुम्बज तथा महराबें बना दी गयी थीं। स्तम्भों पर और यहाँ तक कि भीतर कब्रों पर भी अगणित मानव-चित्र हैं जिनके चेहरे तथा हाथ-पैर मिटे हुए हैं। कुतुबमीनार तुर्की स्थापत्य का तीसरा महत्वपूर्ण आदर्श है। इसकी योजना ऐबक ने ११९९ ई. से कुछ पहले तैयार की थी और इल्तुतमिश ने उसे पूरा किया था। मूलतः यह मीनार मुअज्ज़िन के लिए बनायी गयी थी जो इस पर चढ़कर मुसलमानों को नमाज़ के लिए एकत्र करने को अजाँ दिया करता था। किन्तु आगे चल कर यह विजय-स्तम्भ के रूप में विख्यात हुई। इस इमारत की योजना तथा रूप मूलतः इस्लामी है। इल्तुतमिश ने कुतुबमीनार को पूर्ण करने के अतिरिक्त कुछ नयी इमारतों का भी निर्माण कराया, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण उसके ज्येष्ठ पुत्र का मकबरा है जो सुल्तान गढ़ी के नाम से विख्यात है। भारत में तुर्कों द्वारा निर्मित यह पहला मकबरा था, इसलिए कुतुबमीनार के विपरीत स्थापत्य सम्बन्धी ब्यौरे की बातों तथा सजावट की दृष्टि से यह इमारत हिन्दू शैली के अधिक निकट है। अन्य किसी मकबरे में हिन्दू-शैली का इतना प्रभाव नहीं दीख पड़ता। इल्तुतमिश के समय से सुल्तानों की इमारतों में इस्लामी तत्वों का अधिक समावेश होने लगा। उसने कुवतुलइस्लाम मस्जिद को परिवर्द्धित किया और उसमें एक पत्थर की जाली बनवादी। उसने 'ढाई दिन का झोंपड़ा' में भी कुछ परिवर्द्धन किया। बलबन ने अपने लिये लाल महल नामक भवन का निर्माण कराया। दिल्ली में स्थित उसका मकबरा शुद्ध इस्लामी शैली का है। मकबरे के द्वार की महराब भारत की तुर्की महराबों में सर्वोत्तम है। ख़लजी सुल्तान अलाउद्दीन महान् निर्माता था। उसने अनेक इमारतें बनवायीं जिनमें दो अधिक उल्लेखनीय हैं—निज़ामुद्दीन औलिया के मकबरे के पास जमैयतखाना मस्जिद तथा कुतुबमीनार के पास अलाई दरवाजा नाम की प्रसिद्ध मस्जिद। इन दोनों में इस्लामी स्थापत्य-विचारों का प्राधान्य है। तुग़लक-युग की इमारतें इतनी शानदार नहीं हैं जितनी कि ग़ुलाम तथा ख़लजी-युग की। वे सरल, शुष्क तथा कर्कश हैं। इस परिवर्तन के दो कारण प्रतीत होते हैं। तुग़लक सुल्तानों के पास धन का अभाव था, इसलिए ये इमारतों पर भारी रकमें नहीं व्यय कर सकते थे। इसके अतिरिक्त अपने धार्मिक विचारों तथा रुचि में वे बड़े कट्टर थे। उनकी इमारतों की दीवालें उतार-चढ़ाव की तथा मोटी हैं और देखने में काली-सी लगती हैं। तुग़लकशाह का मकबरा, तुग़लकाबाद का नगर तथा कोटला फीरोज़शाह तुग़लक स्थापत्य के महत्वपूर्ण आदर्श हैं। सैय्यद तथा लोदी सुल्तानों ने ख़लजी इमारतों के ओज तथा लालित्य को

पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया किन्तु इसमें उन्हें आंशिक सफलता मिली। एक दक्ष कला-मर्मज्ञ का मत है कि वे तुग़लक-युग के निस्तेज करने वाले प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सके। पठान इमारतों में सिकन्दर लोदी के वज़ीर द्वारा निर्मित मोठ की मस्जिद सर्वश्रेष्ठ है। आलोचकों के मतानुसार लोदी स्थापत्य का यह सर्वोत्तम आदर्श है।

प्रान्तीय स्थापत्य

तुग़लकों के शासन-काल में दिल्ली सल्तनत के पतन के कारण जो विभिन्न प्रान्तीय राज्य उठ खड़े हुए थे, उनके शासकों ने भी अनेक महलों, मस्जिदों तथा मकबरों का निर्माण कराया। जहाँ तक मूल तत्वों का सम्बन्ध है, प्रान्तीय शैलियाँ दिल्ली की शैली से मिलती-जुलती हैं, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण ब्यौरे की बातों में वे एक दूसरे से तथा दिल्ली की शैली से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, प्रान्तीय राज्यों की तुलना में दिल्ली का स्थापत्य कहीं अधिक शानदार था, क्योंकि उनके शासक उतना धन नहीं व्यय कर सकते थे जितना कि दिल्ली सुल्तान। इसके अतिरिक्त प्राग्तुर्क युग से चली आयी स्थानीय कला-परम्पराओं तथा प्रान्तों की विशेष परिस्थितियों के कारण वहाँ की शैलियों में रूपान्तर हो गया था।

मुलतान

यह प्रान्त शताब्दियों तक निरन्तर मुस्लिम शासन के अन्तर्गत रहा था, इसलिए वहाँ अनेक उल्लेखनीय स्मारक हैं। सबसे पहले की इमारतें दो मस्जिदें थीं—एक का निर्माण मुहम्मद बिन कासिम ने करवाया था और दूसरी उस आदित्य-मन्दिर के स्थान पर बनवायी गयी थी, जिसे करमाथी शासकों ने नष्ट कर दिया था। मुलतान में तीन महत्वपूर्ण स्मारक हैं—शाह यूसुफ़-उल-गर्दिजी का मकबरा (११५२ ई. में निर्मित), बहौल हक का स्मारक (१०६२ ई. में निर्मित) तथा शम्सुद्दीन उपनाम शम्से तब्रीज़ी का मकबरा (१२७२ ई. के बाद निर्मित)। चौथा स्मारक रुक्ने आलम का मकबरा है जिसका निर्माण ग़ियासुद्दीन तुग़लक ने १३२० ई. तथा १३२४ ई. के मध्य किसी समय करवाया था। पहली तीन इमारतें समय के प्रभाव के कारण बहुत कुछ नष्ट भ्रष्ट हो गयी हैं और उनका जीर्णोद्धार करना पड़ा था। चौथे मकबरे के सम्बन्ध में कहा जाता है कि "मृतकों के सम्मान में जितने भी स्मारक अब तक बनवाये गये हैं, उनमें वह सबसे अधिक शानदार है।" उसकी शैली मुख्यतया ईरानी है।

बंगाल

यद्यपि बंगाल समृद्ध प्रान्त था और वहाँ के कलाकारों में जन्मजात कला-प्रवृत्ति तथा चरित्र को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की शक्ति पायी जाती थी

फिर भी स्थानीय सुल्तानों को प्रथम श्रेणी की स्थापत्य शैली विकसित करने में सफलता नहीं मिली। उनकी इमारतें मुख्यतया ईंटों की बनी थीं, पत्थर का बहुत कम प्रयोग किया गया था। इस स्थापत्य की तीन विशेषताएँ थीं; छोटे खम्भों पर नुकीली महराबों का प्रयोग, परम्परागत हिन्दू मन्दिरों की शैली के वक्र रेखाओं से बने कार्निसों को (बाँस के ढाँचों के अनुकरण पर निर्मित) इस्लामी रूप देना तथा सजावट के लिए कमल आदि प्रतीकात्मक उत्कीर्ण हिन्दू डिजाइनें। लखनौती, त्रिवेनी तथा पांडुआ में इन इमारतों के भग्नावशेष आज भी उपलब्ध हैं। बंगाली स्थापत्य शैली के सबसे प्राचीन उदाहरण जफरखाँ गाज़ी की मस्जिद तथा मकबरा हैं जिनका निर्माण हिन्दू मन्दिरों की सामग्री से किया गया था। पांडुआ की सुविख्यात अदीना मस्जिद सिकन्दरशाह ने १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनवायी थी। इमारत का आकार अत्यधिक विशाल था। यद्यपि बंगाल में इसकी गणना संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं में की जाती थी, किन्तु सर जॉन मार्शल के मतानुसार इसकी डिजाइन इसके आकार के अनुरूप नहीं थी। जलालुद्दीन मुहम्मदशाह का मकबरा अन्य सुन्दर इमारत है। इसकी गणना बंगाल के सर्वोत्तम स्मारकों में की जाती है। गौड़ का दक्खिन दरवाजा ईंटों की इमारत का इतना श्रेष्ठ तथा पूर्ण उदाहरण है जितना कि संसार में कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। लोटन मस्जिद, बड़ा सोना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद तथा कदम रसूल मस्जिद अन्य सुविख्यात इमारतें हैं। इनमें बड़ा सोना मस्जिद अधिक सरल तथा प्रभावोत्पादक है। बंगाल की शैली की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। योजना, पूर्णता तथा सजावट की दृष्टि से वे अन्य प्रान्तों की शैलियों से बहुत घटिया हैं।

गुजरात

प्रान्तीय स्थापत्य शैलियों में गुजरात की शैली सबसे अधिक श्रेष्ठ तथा सुन्दर थी। तुर्कों के आगमन से पहले ही प्रान्त में एक सुन्दर देशी शैली का विकास हो चुका था। तुर्क विजेताओं ने स्थानीय कलाकारों की प्रतिभा का प्रयोग किया और अनेक सुन्दर इमारतें बनवायीं। लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी, लालित्यपूर्ण पत्थर के झरोखे तथा प्रचुर सजावट इस शैली की विशेषताएँ हैं। अहमदाबाद नगर जिसकी स्थापना अहमदशाह ने की थी, अनेक उच्च भवनों से सुशोभित किया गया था। ये इमारतें भी पुराने हिन्दू मन्दिरों तथा महलों की सामग्री से बनायी गयी थीं। गुजरात शैली का सर्वोत्तम आदर्श अहमदाबाद की जामी मस्जिद है जिसका निर्माण १४११ ई. में अहमदशाह ने करवाया था। इसमें पन्द्रह गुम्बज हैं जो दो सौ खम्भों पर सधे हुए हैं। अहमदशाह का मकबरा भी उतनी ही सुन्दर इमारत है। चम्पानेर के नगर में भी अनेक सुन्दर इमारतें हैं, जिनमें महमूद बेगड़ा की मस्जिद तथा किले

के भीतर के महल अधिक उल्लेखनीय हैं। डा. बर्गेस ने गुजरात शैली की अत्यधिक प्रशंसा की है। उनका कथन है, "उसमें देशज कला के सौन्दर्य तथा पूर्णता के साथ-साथ उस ओज का भी सम्मिश्रण है, जिसका देशी शैली में अभाव है।"

मालवा

मालवा में भी एक विशिष्ट शैली का विकास हुआ। प्रान्त की पुरानी राजधानी धार में दो भव्य मस्जिदें हैं। इनमें से एक मूलतः संस्कृत विद्यालय थी और एक मन्दिर से सम्बद्ध थी। आज भी वह भोजशाला के नाम से विख्यात है। उसे मस्जिद का रूप दे दिया गया था। दूसरी मस्जिद भी हिन्दू मन्दिरों की सामग्री से बनी थी। इन दोनों इमारतों में हिन्दू-शैली का गम्भीर प्रभाव दिखायी देता है। कब्रें तथा स्तम्भ भी हिन्दू-शैली के हैं। किन्तु मांडू की इमारतें जिसे स्थानीय सुल्तानों ने अपनी राजधानी बनाया था, डिजाइन तथा शिल्प दोनों की दृष्टि से इस्लामी शैली पर बनी हुई हैं और दिल्ली की इमारतों से मिलती-जुलती हैं। जामी मस्जिद, हिंडोलामहल, जहाजमहल, हुसंगशाह का मकबरा तथा बाजबहादुर और रूपमती के महल मांडू की सबसे अधिक प्रसिद्ध इमारतें हैं। इनके चारों ओर पत्थर की रक्षा-दीवालें बनी हुई थीं। जामी मस्जिद की योजना हुसंगशाह ने तैयार की थी और उसका निर्माण भी उसने प्रारम्भ कर दिया था; किन्तु महमूद ख़लजी ने उसे पूरा किया था। दरबार महल भी जिसे हिंडोलामहल कहते हैं, सम्भवतः हुसंगशाह ने बनवाया था। देश में हुसंगशाह का मकबरा ही पहली इमारत है जो पूर्णतया संगमरमर की बनी हुई है। जहाजमहल मांडू की सर्वोत्कृष्ट इमारत है। इसकी महराबदार दीवालें, छतदार मण्डप तथा सुन्दर तड़ाग अधिक प्रसिद्ध हैं। बाजबहादुर तथा रूपमती के महल नर्मदा के किनारे पठार पर बने हुए हैं। संक्षेप में, मांडू "भारत के दुर्ग-रक्षित नगरों में सबसे अधिक शानदार है।"

जौनपुर

जौनपुर के शर्की-राजवंश ने स्थापत्य को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। सुल्तानों द्वारा निर्मित इमारतों में हिन्दू तथा मुस्लिम स्थापत्य शैलियों का समन्वय है। भारी ढालू दीवालें, चौकोर खम्भे, छोटी दहलीजें (Cloisters) इन इमारतों की विशेषताएँ हैं। जौनपुर की मस्जिदों में जो तोड़े हुए हिन्दू मन्दिरों की सामग्री से बनी थीं, इस्लामी ढंग की मीनारें नहीं हैं। अटाला की मस्जिद जिसका निर्माण १३७७ ई. में प्रारम्भ तथा १४०२ ई. में समाप्त हुआ था, शर्की-शैली का अत्यन्त भव्य आदर्श है। दूसरी जामी मस्जिद है जिसका निर्माण हुसैनशाह (१४५२-७८ ई.) ने किया था। तीसरी लाल

दरवाजा मस्जिद है। झाँझीरी तथा खालिस मुखलिस अन्य प्रसिद्ध इमारतें थीं जिनके अब केवल भग्नावशेष विद्यमान हैं।

काश्मीर

काश्मीर की दूरस्थ घाटी में स्थानीय सुल्तानों ने पत्थर तथा लकड़ी के स्थापत्य की पुरानी हिन्दू परम्परा को ही अपनाया। उसमें उन्होंने इस्लाम से सम्बन्धित कला के कुछ विशेष विषयों तथा रूपों को समाविष्ट कर दिया। परिणामस्वरूप अन्य प्रान्तों की भाँति काश्मीर में भी हिन्दू तथा मुस्लिम स्थापत्य विचारों का सुन्दर समन्वय हुआ। यहाँ की कुछ महत्वपूर्ण इमारतें जैनुलअबीदीन (१४२०-७० ई.) के समय की हैं। श्रीनगर में स्थित मन्दनी का मकबरा काश्मीरी कला का भव्य आदर्श माना जाता है। श्रीनगर की जामी मस्जिद जिसे सिकन्दर बुतशिकन ने बनवाया तथा जैनुलअबीदीन ने परिवर्तित किया था, प्राग्-मुग़ल शैली का अनुकरणीय उदाहरण है। श्रीनगर में भी शाह हमदान की मस्जिद अन्य महत्वपूर्ण इमारत है। वह पूर्णतया लकड़ी की बनी हुई है।

दक्खिन

दक्खिन के बहमनी सुल्तान कला के पोषक थे। उन्होंने स्थापत्य की एक विशिष्ट शैली को जन्म दिया जो भारतीय, तुर्की, मिस्री, ईरानी आदि तत्वों का सम्मिश्रण थी। गुलबर्गा तथा बीदर की मस्जिदें इस कला के सुन्दर उदाहरण हैं, किन्तु दक्खिनी स्थापत्य के सर्वोत्तम आदर्श बीजापुर में उपलब्ध हैं। मुहम्मद आदिलशाह का मकबरा जो गोल गुम्बज के नाम से प्रसिद्ध है, एक विशिष्ट शैली पर बना हुआ है। उसमें तुर्की आदर्शों का प्राधान्य है। गुलबर्गा की जामी मस्जिद, दौलताबाद की चाँद मीनार तथा बीदर का महमूद गवाँ का विद्यालय अन्य प्रसिद्ध इमारतें हैं। बहमनी सुल्तानों की अधिकतर इमारतें तोड़े हुए हिन्दू मन्दिरों के स्थानों पर तथा उनकी सामग्री से ही बनी थीं। इसलिए हिन्दू प्रभावों से पूर्णतया बच सकना असम्भव था। सर जॉन मार्शल का मत है कि बहमनी कला के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में दक्खिनी आदर्शों को अपने अस्तित्व के लिए तीव्र संघर्ष करना पड़ा। किन्तु १५वीं शताब्दी के अन्त से उनकी विजय होने लगी। इस प्रकार अन्त में भारतीय प्रतिभा विदेशी प्रभावों से श्रेष्ठ सिद्ध हुई।

हिन्दू स्थापत्य

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, तुर्कों के आने से पहले हिन्दुओं ने स्थापत्य कला का चरम विकास कर लिया था। हिन्दू स्थापत्य की मुख्य विशेषताएँ थीं :—(१) पतले तथा चौकोर खम्भे, (२) पुश्तें, (३) नोकदार

तथा कैन्टीलीवर सिद्धान्त पर बनी हुई (एक साथ सपाट नहीं बल्कि ऊपर-नीचे) महराबें, तथा (४) सजावट की डिजाइनें। हिन्दू इमारतें सामान्यतया रहस्यमयी थीं; चौड़ी तथा खुली हुई नहीं। हमारे शासकों को मन्दिर तथा संस्कृत विद्यालय बनवाने का शौक था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने महलों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। मध्ययुगीन हिन्दू स्थापत्य के नमूने राजस्थान और विशेषतया मेवाड़ में पाये जाते हैं। मेवाड़ के अधिकतर शासक कला तथा स्थापत्य के पोषक थे। राणा कुम्भ ने अनेक दुर्गों तथा अन्य इमारतों का निर्माण कराया। कुम्भलगढ़ का किला तथा कीर्ति-स्तम्भ उनमें सबसे अधिक सुन्दर हैं। स्तम्भ की गणना भारत में सबसे आश्चर्यजनक मीनारों में है। इसका कुछ अंश लाल पत्थर का और कुछ संगमरमर का बना है। अनेक हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र उसकी शोभा बढ़ाते हैं और चित्रों के नीचे लेख उत्कीर्ण हैं। चित्तौड़ में एक और स्तम्भ भी है जो जैन स्तम्भ के नाम से प्रसिद्ध है। वह झिझरियों तथा नक्कासी के काम से अलंकृत है। जयपुर के निकट आमेर में तथा राजस्थान के अन्य कई भागों में इस युग की इमारतों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। विजयनगर के सम्राट भी कला के आश्रयदाताओं के रूप में सुविख्यात थे। उन्होंने सभा-गृहों, महलों, सार्वजनिक कार्यालयों, मन्दिरों तथा नहरों का निर्माण कराया। वे सब अत्यधिक सुन्दर माने जाते थे। विदेशी पर्यटकों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फर्ग्यूसन का कथन है कि कृष्णदेवराय का बनवाया हुआ विट्ठल मन्दिर दक्षिण भारत में अपने ढंग की सर्वश्रेष्ठ इमारत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग का हिन्दू स्थापत्य इस्लामी विचारों के प्रभाव से मुक्त रहा। मुग़लों के आगमन से पहले हमारे शिल्पियों पर इस्लामी कला का प्रभाव नहीं पड़ा।

BOOKS FOR FURTHER READING

1. HABIBULLAH : The Foundations of Muslim Rule in India.
2. ASHRAF, KUNWAR MOHD. : Life and Conditions of the People of Hindustan (1200-1550).
3. TARA CHAND : Influence of Islam on Indian Culture.
4. GRIERSON, SIR GEORGE : Modern Vernacular Literature of Hindustan.
5. FARUQHHAR : Outline of the Religious Literature of India.
6. HAVELL : Indian Architecture.
7. HAIG, WOOLSELEY : Cambridge History of India, Vol. III.

अध्याय २१

सल्तनत का सिंहावलोकन

हिन्दुस्तान का द्रुतगति से पदाक्रान्त होना

यदि हम तुर्कों की भारत विजय के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो एक बात विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करेगी। विदेशी आक्रमणकारियों ने उत्तरी भारत के अधिकांश भागों को बड़ी सरलता और वेग से पदाक्रान्त कर दिया। यह जान कर हमें अत्यधिक आश्चर्य होता है कि महमूद गज़नवी ने प्रति वर्ष हमारे देश पर धावे मारे, देश के केन्द्र स्थलों तक आ धमका और हमारे धनी मन्दिरों तथा समृद्धशाली नगरों को जीतकर गज़नी को लौट गया; किन्तु इसके लिए किसी ने उसे प्रभावोत्पादक दण्ड भी नहीं दिया। उसके आक्रमणों को रोकने का प्रश्न ही नहीं उठता था। यह विश्वास करना कठिन है कि हमारी राजनीतिक तथा सैनिक व्यवस्था इतनी सड़ी हुई थी कि आक्रमणकारी को एक बार भी निर्णायक रूप से नहीं परास्त किया जा सका और न उसके दुर्धर्ष आक्रमण रोके जा सके। फिर भी इतिहास का यह एक कटु सत्य है कि किसी भी हिन्दू राजा ने महमूद को कभी भी निर्णायक पराजय नहीं दी। इसके साथ-साथ यह भी एक सत्य है कि भारतीय सैनिक तुर्कों की तुलना में किसी भी दृष्टि से घटिया नहीं थे, बल्कि जहाँ तक साहस, वीरता और मृत्यु से तनिक भी न डरने का सम्बन्ध था, वे अपने तुर्की शत्रुओं से अधिक श्रेष्ठ थे। और न हमारे राजपूत शासक ही किसी भी दृष्टि से कायर अथवा सैनिक गुणों से हीन थे। फिर क्या कारण था कि तीस साल के अल्प काल में गज़नी के आक्रमणकारियों ने सिन्ध से लेकर बनारस तक हमारे देश को इतनी सरलता से रौंद डाला। सबसे पहला कारण यह था कि देश अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त था, इसलिए उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा का प्रबन्ध करना और आक्रमणकारी की प्रगति को रोकना किसी की जिम्मेदारी नहीं थी। पंजाब के हिन्दूशाही राजा ने अपने राज्य में महमूद का प्रतिरोध करने के लिए युद्ध किया, किन्तु अपने पड़ोसियों के राज्यों के विरुद्ध अभियान करने से उसे रोकना उसने अपना कर्तव्य नहीं समझा। यही मनोवृत्ति कन्नौज के राजा की थी और इस प्रकार यह रोग फैलता गया। उस युग में राजाओं के परस्पर अच्छे सम्बन्ध नहीं थे, इसलिए उनके लिए अपना शक्तिशाली संगठन

बना लेना असम्भव था। दूसरे, देश की साधारण जनता राजनीतिक विषयों के प्रति पूर्णतया उदासीन थी। साम्राज्यों के उत्थान-पतन तथा शासकों के आने-जाने से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। वे इस बात की चिन्ता नहीं करते थे कि हमारा शासक कौन है। हमारे शासकों तथा आक्रमणकारियों के बीच होने वाले संघर्षों की ओर ध्यान न देते हुए वे अपने खेती के काम में जुटे रहे। राजनीतिक उदासीनता तथा देशभक्ति के अभाव के कारण सामान्य भारतीयों की ऐसी मनोवृत्ति बन गयी थी कि वे परदेशियों तथा अपने देशवासियों में कोई अन्तर नहीं समझते थे। किन्तु हमारे देश की इतनी सरल तथा द्रुत विजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि महमूद ने सहसा आक्रमण की नीति से काम लिया। उसने विद्युत गति से हमारे समृद्धशाली नगरों पर धावा मारा और फिर उसी वेग से मुड़कर अपनी राजधानी गज़नी को लौट गया। वह द्रुत गति से अभियान करता, इच्छानुसार इधर-उधर मुड़ जाता, सहसा आक्रमण करता और फिर उसी गति से पीछे लौट जाता। इस नीति को उसने अगणित बार दुहराया जिससे हमारी जनता में घबड़ाहट तथा आतंक फैल गया और उसका मनोबल टूट गया। लोग उसी प्रकार विवश तथा असहाय-से रह गये जैसे किसी परिवार के बहादुर किन्तु शान्तिप्रिय सदस्य एक साहसी और क्रूर डाकू के आक्रमण के समय रह जाते हैं। इससे पहले कि वे एकत्र होकर अपनी रक्षा के साधन जुटा सकते, आक्रमणकारी डाकू की भाँति अन्तर्ध्यान हो जाता। लोग समझने लगते कि अब हम सुरक्षित हैं; किन्तु आक्रमणकारी फिर पूर्व वेग से लौटता, किसी दूसरे समृद्धशाली नगर तथा उसके धनी मन्दिरों पर टूट पड़ता और लूटमार करके फिर लौट जाता। यह खेल इस प्रकार चलता रहा और जनता में विवशता तथा आतंक छा गया। इन परिस्थितियों में रक्षा का एक ही उपाय हो सकता था—देश में एक कठोर सैनिक तथा राजनीतिक संगठन होता और सेनाएँ निरन्तर जागरूक तथा सावधान रहतीं। किन्तु यह तभी हो सकता था जब समस्त देश पर अथवा कम से कम समस्त उत्तरी भारत पर एक-दो उच्चकोटि के नेताओं का आधिपत्य होता। यह चीज उस युग में असम्भव थी।

जैसे ही आगे हम इतिहास के पन्ने पलटते हैं, हमें एक और आश्चर्यजनक बात दीख पड़ती है। महमूद के हाथों हमारी जनता को जो अगणित कष्ट तथा अपमान भोगने पड़े थे, उन्हें वह शीघ्र ही सरलता से भूल गयी। आक्रमणकारी ने संसार से जैसे ही विदा ली, वैसे ही वह पूर्ववत प्रमाद में फँस गयी। लोगों ने इन आक्रमणों से कोई सबक नहीं सीखा और देश की रक्षा तथा बचाव के लिए उन्हें जो अवसर मिला, उसका कोई लाभ नहीं उठाया। १२वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भी वे उतने ही असंगठित तथा असावधान थे जितने कि

११वीं के प्रारम्भ में। अतः मुहम्मद ग़ोरी ने जब उत्तरी भारत की विजय आरम्भ की तो उसे भी कठिन प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा और १५ वर्षों के भीतर पुनः तुर्कों ने समस्त उत्तरी भारत को पदाक्रान्त कर डाला। इस बार वे बंगाल की सीमाओं तक पहुँच गये क्योंकि १२वीं शताब्दी में भी वे ही कारण विद्यमान थे, जो ११वीं के प्रारम्भ में।

स्वाधीनता की रक्षा के लिए हमारे प्रयत्न

देश को पदाक्रान्त करना एक बात थी और उसे पूर्ण रूप से विजय करना दूसरी। जिन प्रदेशों को तुर्कों ने रौंद डाला था उस पर अधिकार स्थापित करने में वे सफल नहीं हुए। हमारे देशवासियों ने विजेताओं का वास्तविक प्रतिरोध तब आरम्भ किया जब उन्होंने देश पर अधिकार करके उस पर शासन करने की कोशिश की। कदाचित हमारे लोगों को यह भ्रम था कि आक्रमणकारी को प्रादेशिक प्रभुत्व से कोई प्रयोजन नहीं है, वह केवल लूटमार से सन्तुष्ट हो जायगा। किन्तु जब उन्होंने देखा कि उसके सेनानायक देश पर अधिकार रखने के उद्देश्य से सैनिक अड्डे कायम कर रहे हैं, तब उन्होंने उसका प्रतिरोध करने के लिए संगठित प्रयत्न किये। पंजाब के हिन्दूशाही राजाओं ने अपने अरब तथा तुर्क पड़ोसियों के विरुद्ध जो शताब्दियों तक संघर्ष किया वह स्वाधीनता की रक्षा के लिए किये गये प्रतिरोध की एक स्फूर्तिदायक कहानी है। आक्रमणकारी ३५० वर्षों से भी अधिक (६३६-१०२६ ई.) सतत प्रयत्न करने के उपरान्त पंजाब के प्रान्त को विजय करने में सफल हो सके। साँभर तथा अजमेर के चौहानों ने मुहम्मद ग़ोरी के अफसरों को मार भगाने के उद्देश्य से आधे दशक के अल्प काल में चार बार विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। १५० वर्ष तक युद्ध करने पर भी रणथम्भौर के किले पर मुसलमान लोग अपना दृढ़ अधिकार कायम न कर सके। इस युग में सम्पूर्ण राजस्थान वास्तव में कभी भी अधिकृत नहीं किया जा सका।

तबक़ाते-नासिरी के पृष्ठों के पढ़ने से हमें ज्ञात होता है कि कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर बलबन तक सभी सुल्तानों को गंगा-यमुना के उपजाऊ दोआब पर प्रति वर्ष आक्रमण करने पड़ते थे, फिर भी वे पूर्णतया उसका दमन न कर सके। अन्य क्षेत्रों की भाँति इस प्रदेश को भी जीतने की प्रति वर्ष प्रक्रिया सम्पूर्ण सल्तनत-युग में जारी रही और वहाँ से बिना तलवार की सहायता के कभी राजस्व न वसूल किया जा सका। सत्य तो यह है कि समस्त सल्तनत-युग में हिन्दुओं ने तुर्क-अफ़ग़ान शासकों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। यदि हम अपने देश की एशिया तथा यूरोप के उन देशों के भाग्य से तुलना करें जिन्होंने कायरता-पूर्वक अरब तथा तुर्क आक्रमणकारियों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया था, तो हमें अपने पूर्वजों की सराहना तथा प्रशंसा अवश्य ही करनी पड़ेगी, क्योंकि

उन्होंने दीर्घकाल तक उन शत्रुओं के विरुद्ध जिन्होंने सरलता और वेग से संसार के तीन महाद्वीपों पर अपना सैनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, डट कर संघर्ष किया।

भारत भूमि पर विदेशी उपनिवेशों का अस्तित्व क्यों कायम रहा ?

इस युग के इतिहास के विद्यार्थी को एक अन्य आश्चर्य का सामना करना पड़ता है। हमारे पूर्वजों ने विदेशियों को उन स्थलों से मार भगाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया, जिन पर उन्होंने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था ? सिन्ध, मुल्तान तथा पंजाब में उन्हें अपनी सत्ता क्यों कायम रखने दी गयी ? अरबों ने दाहिर को परास्त करके सिन्ध तथा मुल्तान को स्थायी रूप से अधिकृत कर लिया। ११वीं शताब्दी के आरम्भ में महमूद गज़नवी ने पंजाब को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। शेष भारत पर शक्तिशाली हिन्दू राजा राज्य करते थे। उन्हें आठवीं शताब्दी में मुल्तान तथा सिन्ध से अरबों को और ११वीं शताब्दी में पंजाब से तुर्कों को मार भगाने का प्रयत्न करना चाहिए था। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि परस्पर लड़ने वाले हिन्दू राजाओं में एकता स्थापित करने की पुरानी समस्या का कभी हल न हो सका। उनकी वीरता तथा स्थानीय देश-भक्ति में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। उस युग के कई दर्जन संस्कृत में उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमें वर्णन है कि कभी इस हिन्दू राजा ने और कभी उसने म्लेच्छों को पराजित किया और उनके अधिकृत नगरों में से कभी इस पर, कभी उस पर अधिकार कर लिया। चौहान, गुर्जर, प्रतिहार, गुहिलौत तथा बघेले राजपूत राजवंशों ने सिन्ध तथा मुल्तान के अरबों और पंजाब के गज़नवी शासकों के विरुद्ध युद्धों में अद्भुत वीरता और साहस का परिचय दिया। व्यक्तिगत रूप से वे भली-भाँति लड़ सकते थे, किन्तु मिलकर तथा सम्मिलित रूप से उन्होंने शत्रुओं के विरुद्ध कभी संघर्ष नहीं किया। दूसरे, यह भी प्रतीत होता है कि युगों से हमारे शासकों में आक्रमणकारी भावनाओं का लोप हो चुका था। भारत के किसी राजा ने कभी किसी दूसरे देश अथवा राष्ट्र पर आक्रमण करने का शायद ही विचार किया हो। तीसरे, सिन्ध तथा मुल्तान के अरबों और पंजाब के गज़नवी शासकों ने अपने-अपने राज्यों की हिन्दू प्रजा के साथ बन्धकों जैसा व्यवहार किया। यदि कभी किसी पड़ोसी हिन्दू राजा ने इन विदेशी राज्यों में से किसी पर आक्रमण किया तो अरब अथवा तुर्की शासक स्थानीय हिन्दुओं का संहार करने तथा वहाँ के प्रमुख मन्दिरों और मूर्तियों को ध्वस्त करने की धमकी दे देता था। उस काल के अरब-पर्यटकों तथा इतिहासकारों ने विस्तार से वर्णन किया है कि किस प्रकार स्थानीय मुसलमान शासक अपने को नष्ट होने से बचाने के लिए इस चतुर नीति का प्रयोग किया करते थे। अल-इद्रीसी 'मुज़हतुल-मुश्ताक' नामक अपनी पुस्तक में लिखता है, "लोग

इसके (मुल्तान के सूर्य मन्दिर की मूर्ति के) दर्शन के लिए आते हैं और इसका अभिवादन करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसमें उनकी इतनी श्रद्धा है कि जब कभी कोई पड़ोसी हिन्दू राजा लूट अथवा मूर्ति को उठा ले जाने के उद्देश्य से मुल्तान पर आक्रमण करता है तो स्थानीय पुरोहित एकत्र होकर आक्रमण-कारी को धमकी देते हैं कि मूर्ति तुमसे रुष्ट हो जायेगी और तुम्हारा सत्यानाश कर देगी। यह सुनकर तुरन्त ही आक्रमणकारी अपना संकल्प त्याग देते हैं। यदि यह भय न होता तो मुल्तान का अवश्य ही नाश हो गया होता।" (इलियट तथा डाउसन, प्रथम जिल्द, पृष्ठ ८२)।

अल-मसौदी नामक एक अन्य अरब इतिहासकार 'मुरुज़-उल-जबब' नामक अपनी पुस्तक में जिसकी रचना ९४१ ई. के लगभग हुई थी, लिखता है, "जब काफिर लोग मुल्तान पर आक्रमण करते और मुसलमान अपने को उनका विरोध करने योग्य नहीं समझते तो वे उनकी मूर्तियों को तोड़ डालने की धमकी देते हैं और शत्रु तुरन्त ही वापिस लौट जाते हैं।" (इलियट तथा डाउसन, प्रथम जिल्द, पृष्ठ २३)। हमारे अन्य विश्वासी पूर्वज जो परवर्ती अरब तथा गज़नवी शासकों से कहीं अधिक शक्तिशाली थे, इस प्रकार झाँसे में आ जाते थे और यही कारण था कि मुल्तान, सिन्ध अथवा पंजाब को जीतने का उन्होंने प्रयत्न तक नहीं किया।

राजवंशों का बार-बार परिवर्तन क्यों हुआ ?

यदि हम दिल्ली सल्तनत तथा उसके बाद के मुग़ल-साम्राज्य में तुलना करें तो हमें एक विशेष बात देखने को मिलेगी। मुग़ल-युग में एक ही राजवंश ने २५० वर्ष से भी अधिक शासन किया जबकि उसके विपरीत सल्तनत-युग में अनेक वंशों का उत्थान पतन हुआ। १२०६ तथा १५२६ ई. के बीच बारम्बार राजवंशों का जो परिवर्तन हुआ उसके अनेक कारण थे। पहला, तुर्क तथा अफ़ग़ानों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित तथा सर्वमान्य नियम नहीं था। इस्लामी प्रभुत्व-सिद्धान्त के अनुसार कोई भी मुसलमान जन्म तथा स्थिति के भेदभाव के बिना सुल्तान होने का अधिकारी होता है, केवल शर्त यह है कि वह शक्तिशाली तथा योग्य हो। इस सिद्धान्त के आधार पर महत्वाकांक्षी व्यक्ति सिंहासन प्राप्त करने की अभिलाषा रखते थे, चाहे उनका राजवंश से सम्बन्ध था अथवा नहीं। इस युग में अनेक शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी प्रान्तीय सूबेदारों ने सिंहासन प्राप्त करने की सफल चेष्टा की। इल्तुतमिश, जलालुद्दीन ख़लजी, अलाउद्दीन ख़लजी, ग़ियासुद्दीन तुग़लक और बहलोल लोदी दिल्ली के सुल्तान बनने से पहले प्रान्तीय सूबेदार रह चुके थे, और उनमें से अलाउद्दीन को छोड़कर किसी का भी उस राजवंश से सम्बन्ध नहीं था जिसे हटाकर उन्होंने सिंहासन प्राप्त किया। इस युग में जो अनेक विद्रोह हुए

उनका भी कारण पूर्वोक्त ही था, क्योंकि जो भी व्यक्ति सफलतापूर्वक तलवार धारण कर सकता था वह समझता था कि सिंहासन मेरी पहुँच के बाहर नहीं है। दूसरे, सरकार दुर्बल थी; वह कानून पर नहीं बल्कि व्यक्तिगत शासन पर निर्भर थी। उसका आधार सुल्तान का व्यक्तित्व तथा चरित्र होता था। एक योग्य शासक का उत्तराधिकारी भी उतना ही योग्य होगा, इस बात की गारन्टी नहीं हो सकती थी। बल्कि नियम कुछ ऐसा बन गया था कि शक्तिशाली सुल्तान के उत्तराधिकारी दुर्बल ही हुए, क्योंकि उनका पालन-पोषण राजमहलों के विलासमय तथा दुर्व्यसनों से दूषित वातावरण में होता था। तुर्क विदेशी थे, इसलिए उन्हें निरन्तर हमारी जनता के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा; उसने अपनी स्वाधीनता को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना छोड़ा नहीं था। इन परिस्थितियों में दुर्बल व्यक्तियों का सिंहासन पर बैठना हितकर नहीं हो सकता था। यही कारण था कि अमीर लोग सिंहासन के लिए एक योग्य सैनिक को ही पसन्द करते थे, चाहे उसका राजवंश से सम्बन्ध होता अथवा नहीं। तीसरे, हमारे देश में आकर दास-प्रथा का जिसमें ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन जैसे योग्य नेता उत्पन्न हुए थे, तेजी से पतन होने लगा। दासों की संख्या हज़ारों तक पहुँच गयी। उन सब को युद्ध तथा शासन की उचित शिक्षा देना सम्भव नहीं था, किन्तु शासकों के दास होने के कारण उन्हें पर्याप्त धन तथा अवकाश मिल जाता था और उनके साथ व्यवहार भी दूसरों की अपेक्षा अच्छा होता था। इस सब का परिणाम यह हुआ कि वे प्रमादी तथा विलासप्रिय हो गये। इस प्रकार यह प्रथा दूषित तथा भ्रष्ट हो गयी और योग्य व्यक्ति न उत्पन्न कर सकी। इसके अतिरिक्त इस युग में मलिक काफ़ूर तथा मलिक खुसरव जैसे जो एक-दो योग्य दास हुए भी, वे उतने स्वामिभक्त न निकले जितने कि उनके पूर्वाधिकारी थे। उन्होंने अपने स्वामियों के परिवारों के हितों के विरुद्ध कार्य किया। मलिक काफ़ूर ने अपने स्वामी अलाउद्दीन के प्राण लेने के लिए षड्यन्त्र रचा और सम्भवतः उसे विष देकर मरवा डाला था। उसी ने राजकुमारों को अन्धा करवाया और यदि समय पर उसका वध न कर दिया गया होता तो अलाउद्दीन के वंश में वह किसी भी व्यक्ति को जीवित न छोड़ता। मलिक खुसरव ने तो अपने स्वामी मुबारकशाह की हत्या करके स्वयं सिंहासन हस्तगत कर लिया। इस प्रकार दास-प्रथा उस युग में राजवंशों के बारम्बार परिवर्तनों का मुख्य कारण सिद्ध हुई। चौथे, अनेक सुल्तान ऐसे हुए जिनके पास शक्तिशाली स्थायी सेना नहीं थी। अलाउद्दीन ने इस आवश्यक संगठन की नींव डाली; किन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने उसको छिन्न-भिन्न हो जाने दिया और पूर्व सुल्तानों की भाँति वे भी प्रान्तीय सूबेदारों की सेनाओं पर निर्भर रहने लगे। इस प्रकार शक्तिशाली

सैनिक-शासक राज-निर्माता बन बैठे। वास्तव में सैनिक-शासक का पद सिंहासन प्राप्त करने का एक साधन बन गया। बिना शक्तिशाली स्थायी सेना के दुर्बल सुल्तान शक्तिशाली अमीरों के हाथों की कठपुतली बन गये। यह एक मुख्य कारण था जिससे इतने प्रान्तीय शासक दिल्ली सिंहासन पर पहुँच गये। पाँचवे, हिन्दू सामन्त जिनकी स्वाधीनता का अपहरण कर लिया गया था, विदेशी जुए को उतार फेंकने के लिए सदैव इच्छुक रहते थे। उस युग के फारसी लेखकों का कहना है कि अजमेर, साँभर तथा गुजरात के राजपूतों ने कुतुबुद्दीन ऐबक के विरुद्ध बारम्बार विद्रोह किया। इल्तुतमिश के समय में हिन्दुओं के शक्तिशाली विद्रोह हुए और अनेक वर्षों तक चले। बलबन को जनता तथा उसके नेता राजपूत सामन्तों के प्रहारों से नवस्थापित तुर्की सल्तनत को बचाने की विकट समस्या का सामना करना पड़ा था। अलाउद्दीन खलजी ने उनका दमन करने का प्रयत्न किया; किन्तु उसकी आँखें बन्द होते ही हमारे देशवासियों ने फिर सिर उठाना आरम्भ कर दिया। सुल्तानों को लगभग निरन्तर हिन्दू देशभक्तों के विरुद्ध युद्ध करने पड़े। इसी कारण उन्हें अपनी सेनाएँ सदैव तैयार रखनी पड़ती थीं। ऐसी स्थिति में अमीर लोग अनुभवी सैनिक को ही जो हिन्दू-प्रतिक्रिया का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकता, सिंहासन पर बिठाना पसन्द करते थे। दुर्बल लोगों को निर्दयतापूर्वक हटा दिया जाता था। छठे, बार-बार होने वाले मंगोल आक्रमणों ने भी जिनका आरम्भ १२४० ई. में रज़िया की मृत्यु के बाद हुआ, दिल्ली सल्तनत के भाग्य तथा नीति पर गहरा प्रभाव डाला। मंगोल लोग इल्तुतमिश के समय से ही हमारे देश की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर मँडराने लगे थे। उन्होंने मुल्तान तथा पंजाब के भीतरी प्रदेशों पर अनेक धावे मारे। बलबन की मृत्यु के बाद उन्होंने हिन्दुस्तान के मध्य भागों पर आक्रमण किये और अनेक बार दिल्ली को घेर लिया। इसलिए सुल्तानों को सीमाओं की किलेबन्दी तथा रक्षा के कार्य को प्राथमिकता देनी पड़ी। हम पिछले एक अध्याय में लिख आये हैं कि मंगोल आक्रमणों के कारण बलबन जैसे सुल्तान को भी आन्तरिक प्रदेशों की विजय तथा विद्रोह के दमन के आवश्यक कार्य की ओर से ध्यान हटाना पड़ा था। इसके अतिरिक्त मंगोलों के हमलों से असन्तुष्ट तत्वों को भी प्रोत्साहन मिला। जब कभी उनके आक्रमण हुए, हिन्दू सामन्तों तथा विद्रोही मलिकों और अमीरों ने अनिवार्य रूप से उपद्रव खड़े किये। केवल शक्तिशाली सरकार ही परिस्थितियों का मुकाबला कर सकती थी। मंगोल समस्या का सल्तनत के भाग्य पर एक और भी प्रभाव पड़ा। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब मंगोलों का भय जाता रहा तो दिल्ली सल्तनत का मनोबल भी क्षीण हो गया। अब निरन्तर सावधान रहना तथा सेनाओं को तैयारी की अवस्था में रखना

आवश्यक नहीं था। इसलिए सैनिकों का मनोबल गिर गया और उनका पतन होने लगा। मुहम्मद तुग़लक के उपरान्त ऐसा कोई भी सुल्तान नहीं हुआ जिसमें उच्चकोटि की सैनिक योग्यता होती। जहाँ तक सैनिक पदाधिकारियों का सम्बन्ध था द्रोह तथा भ्रष्टाचार एक सामान्य नियम बन गया। सातवें, सुल्तानों की सरकार शक्ति पर अवलम्बित थी, जनता की अनुमति पर नहीं। उसके केवल दो कर्तव्य थे—शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखना और राजस्व वसूल करना। फीरोज़ तुग़लक को छोड़कर अन्य किसी सुल्तान ने प्रजा की नैतिक उन्नति के लिए कुछ भी नहीं किया। इसलिए देश की बहुसंख्यक जनता से सुल्तान का समर्थन करने की आशा नहीं की जा सकती थी। कभी-कभी प्रजा सुल्तानों के विरुद्ध जानबूझकर कार्य करने लगती थी क्योंकि वे उस पर शासन करते थे। उदाहरण के लिए, रज़िया का कुछ विद्रोहियों अथवा डाकुओं ने वध कर दिया था। बहुसंख्यक जनता अपने शासकों के विषय में क्या सोचती थी, इस बात का उस युग के लेखकों के ग्रन्थों से पता नहीं लगता है। उत्कीर्ण लेखों से भी हमें उस विषय में कोई सहायता नहीं मिलती क्योंकि वे अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में लिखे हुए हैं। किन्तु यह निश्चित प्रतीत होता है कि जनता अपने शासकों के प्रति उदासीन थी और इस बात की भी चिन्ता नहीं करती थी कि दिल्ली की गद्दी पर कौन विराजमान है। हिन्दुओं ने संकट के समय में कभी किसी सुल्तान की सहायता की हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

हमारे समाज पर तुर्की शासन का प्रभाव

जब अरब, तुर्क, अफ़ग़ान, ईरानी तथा अन्य मध्य एशियाई जातियाँ हमारे देश को जीतकर यहाँ बस गयीं और जनता के सम्पर्क में आयीं तो उन्होंने समाज और संस्कृति पर प्रभाव डाला और उससे स्वयं भी प्रभावित हुईं। हिन्दुत्व तथा इस्लाम के पारस्परिक घात-प्रतिघात का इतिहास अत्यन्त दिलचस्प है। आठवीं तथा नवीं शताब्दियों में अरब लोग बड़ी संख्या में दक्षिणी भारत के पूरबी तथा पश्चिमी किनारों पर बस गये। यहीं पर प्रथम बार दोनों धर्मों का सम्पर्क हुआ और उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। उत्तरी भारत अरबों की सिन्ध-विजय तक इस्लामी प्रभाव से मुक्त रहा। "इस्लाम का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव"—विषय का डा. ताराचन्द ने विशेष अध्ययन किया है। विषय के उत्साह में आकर वे हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि शंकराचार्य महान् पर भी जो आठवीं शताब्दी के अन्तिम अथवा नवीं दशक के प्रारम्भिक वर्षों में हुए थे, इस्लामी धर्मशास्त्र का प्रभाव पड़ा था, यद्यपि वह यह स्वीकार करते हैं कि हमारे मत की पुष्टि के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि शंकराचार्य ने अपना अद्वैतवाद का सिद्धान्त

इस्लाम से ग्रहण किया तो उन्होंने मूर्ति-पूजा का जिसके सभी मुसलमान शास्त्र-कार कट्टर विरोधी हैं, क्यों खंडन नहीं किया। इसके अतिरिक्त क्या यह सत्य नहीं हो सकता कि दोनों जातियों ने एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना स्वतन्त्र रूप से अपनी धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष विचारधाराओं का विकास किया हो! शंकराचार्य के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक सत्य हो सकती है क्योंकि इसे सभी स्वीकार करते हैं कि अद्वैत दर्शन के बीज श्रुतियों में विद्यमान हैं, उनके (शंकर) सिद्धान्त प्राचीन ऋषियों की शिक्षाओं के विकास मात्र थे। कुछ भी सही, कम-से-कम उत्तर भारत में तुर्क तथा अफ़ग़ानों की उपस्थिति का हमारे धार्मिक विचारों तथा क्रियाओं पर कोई क्रान्तिकारी प्रभाव नहीं पड़ा। भक्ति-आन्दोलन, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सीधे सम्पर्क का परिणाम नहीं था। इस युग में देश की करोड़ों जनता जहाँ तक उसके धार्मिक विचारों तथा अनुष्ठानों का सम्बन्ध था, पूर्णतया अप्रभावित रही। हमारे उच्च वर्गों ने निःसंदेह दोनों धर्मों तथा सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उत्तर तथा दक्षिण दोनों जगह हमारी जनता तथा नेताओं ने नव-आगन्तुकों के साथ उदारता का व्यवहार किया। सर्वत्र विदेशियों को सम्मानपूर्ण स्थान मिला और उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक हिन्दुओं से मुसलमान बनाने दिया गया। हमारे कुछ नेताओं, सुधारकों और आचार्यों ने तो खुले रूप से एकता तथा मैत्री का उपदेश दिया। उदाहरण के लिए, कबीर तथा नानक ने इस तथ्य पर जोर दिया कि हिन्दुत्व तथा इस्लाम एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के दो भिन्न मार्ग हैं और राम तथा रहीम, कृष्ण तथा करीम और अल्लाह तथा ईश्वर एक ही ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं। उन्होंने कर्मकाण्ड तथा धर्म के बाह्य आडम्बरों की निन्दा की और भक्ति तथा जीवन की पवित्रता पर जोर दिया। किन्तु मुसलमान सामूहिक रूप से पृथक रहे और हिन्दुओं ने एकता तथा समन्वय के लिए जो प्रयत्न किये, उनके महत्व को वे न समझे। हमारे बीच में इस्लाम की उपस्थिति के दो प्रभाव पड़े। पहला यह कि इस्लाम के प्रचार सम्बन्धी उत्साह ने जिसका उद्देश्य हिन्दू जनता पर विदेशी धर्म लादना था, हमारी जनता की अनुदार प्रवृत्तियों को पुष्ट किया। हिन्दू नेताओं को विश्वास हो गया कि विचारों और व्यवहार में कट्टर होना ही अपने धर्म तथा समाज को इस्लाम के आघात से बचाने का एकमात्र मार्ग है। इसलिए जाति सम्बन्धी नियमों को अधिक जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया। दैनिक जीवन के नियमों को इतनी कठोरता से निर्धारित किया गया जितनी कि पहले कभी नहीं देखी गयी थी। श्रुतियों में आचार-विचार के नये नियम बनाये गये। माधव, विश्वेश्वर आदि विद्वानों ने टीकाएँ लिखीं और जनता के लिए कठोर धार्मिक जीवन का विधान

किया। बाल-विवाह प्रचलित हो गया। पर्दा-प्रथा कठोरता से लागू की गयी। खान-पान तथा विवाह के सम्बन्ध में भी अत्यधिक जटिल नियम बनाये गये। दूसरे, हमारे नेताओं तथा सुधारकों ने इस्लाम के कुछ लोकतांत्रिक सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया, जातियों की समानता पर जोर दिया गया और कहा कि जाति मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं हो सकती। भक्ति-आन्दोलन यद्यपि हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्पर्क का प्रत्यक्ष फल नहीं था, फिर भी कुछ हद तक उस पर इस्लाम की उपस्थिति का प्रभाव पड़ा। हमारे सुधारकों ने ईश्वर तथा धर्मों की मौलिक एकता का उपदेश दिया; इसी प्रकार हमारे साहित्य पर भी कुछ प्रभाव पड़ा, यद्यपि वह बहुत गहरा नहीं था। उस युग में बहुत कम हिन्दुओं ने अरबी तथा फारसी का अध्ययन किया। उस युग के संस्कृत तथा हिन्दी ग्रंथों की विषय-वस्तु अथवा शैली पर इस्लाम का कोई सराहनीय प्रभाव नहीं दीख पड़ता। अमीर खुसरव के बाद दिल्ली में कोई उल्लेखनीय संगीतज्ञ नहीं हुआ, इसलिए भारतीय संगीत पर इस्लामी विचारों का प्रभाव नहीं पड़ा। इस बात का भी प्रमाण नहीं मिलता कि दिल्ली के प्रारम्भिक तुर्क-अफ़ग़ान शासकों को चित्रकला से किसी प्रकार का प्रेम था। भारतीय चित्रकला विदेशियों की उपस्थिति से प्रभावित हुए बिना अपने ढंग से विकसित होती रही। तुर्क-अफ़ग़ान शासन का हमारी जाति के चरित्र तथा प्रताप पर दूषित प्रभाव पड़ा। हमारे उच्च तथा मध्य वर्ग के लोगों को प्रतिदिन शासकों के सम्पर्क में आना पड़ता था, इसलिए जीवन-निर्वाह करने के लिए उन्हें धर्म, संस्कृति तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में अपने विचार तथा भावनाएँ छिपानी पड़ती थीं, इससे उनके चरित्र में दास-भाव तथा चाटुकारिता का समावेश हो गया। हमारे अनेक देशवासी कपटी तथा प्रवंचक हो गये। यही कारण था कि हिन्दू चरित्र, आचरण की सरलता, वीरता, साहस आदि गुणों को खो बैठे।

तुर्क-अफ़ग़ान विजेता हमारे धर्म तथा संस्कृति के प्रभाव से अपने को पूर्णतया मुक्त रखना चाहते थे, किन्तु ऐसा करना उनके लिए भी सम्भव न हो सका। जिन हिन्दुओं ने इस्लाम अंगीकार कर लिया वे अपने साथ अपने पूर्वजों के विचारों तथा रीति-रिवाजों को लेते गये। मुसलमानों में फकीरों, पीरों तथा मकबरों की पूजा प्रचलित हो गयी। यह हिन्दुओं में प्रचलित स्थानीय तथा जातीय देवताओं की पूजा का ही दूसरा रूप था जिससे भारतीय मुसलमान छुटकारा न पा सके थे। मुसलमानों के रहस्यवाद, विशेषकर सूफी पंथ को हिन्दू वेदान्त से प्रेरणा मिली थी। कुछ मुसलमान विद्वानों ने योग, वेदान्त आदि हिन्दू-दर्शनों का अध्ययन किया और कुछ ने हिन्दू चिकित्सा पद्धति तथा ज्योतिष सीखी। तुर्क-अफ़ग़ान शासकों को भारतीय भोजन अपनाना पड़ा और उन्होंने राजपूत दरबारों की तड़क-भड़कपूर्ण रस्म-रिवाजों का अनुकरण किया।

शासन के क्षेत्र में भी वे हमारी अनेक संस्थाओं तथा परिपाटियों को ग्रहण करने पर बाध्य हुए, विशेषकर उनको जिनका सम्बन्ध वित्त तथा राजस्व विभागों से था। युद्धों में भारतीय हथियारों का प्रयोग करना उनके लिए अनिवार्य हो गया। इस्लामी स्थापत्य का जिसे विदेशी अपने साथ लाये, भारतीय कला-परम्पराओं के प्रभाव के कारण रूपान्तर हो गया और उसका शुद्ध इस्लामी रूप जाता रहा। जैसा कि हम अन्यत्र लिख आये हैं, दिल्ली सुल्तानों तथा प्रान्तीय शासकों ने जिन इमारतों का निर्माण कराया वे हिन्दू तथा विदेशी मुसलमानों की संयुक्त प्रतिभा और प्रयत्नों का फल थीं। यद्यपि शासकों ने फ़ारसी को दरबारी भाषा बनाया, किन्तु उनके लिए देशी भाषाओं से समझौता करना आवश्यक हो गया जिसके परिणामस्वरूप उर्दू का जन्म हुआ। इस प्रकार पारस्परिक सम्पर्क के कारण धीरे-धीरे भाषाओं का समन्वय हुआ। इसी प्रकार मुसलमानों के रीति-रिवाजों तथा शिष्टाचार में भी गम्भीर परिवर्तन हुआ। देश के अनेक भागों में भारतीय मुसलमानों ने अपनी मूल जाति को बनाये रखा। कुछ कुलीन मुसलमान परिवारों ने हिन्दुओं की सती तथा जौहर की प्रथाओं को अपना लिया। मि. टाइटस का यह कथन उचित ही है कि सब कुछ कह चुकने के उपरान्त इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि इस्लाम ने हिन्दुत्व पर जितना प्रभाव डाला उससे कहीं अधिक परिवर्तन हिन्दुत्व ने इस्लाम में कर दिया है; हिन्दुत्व जिस सन्तोष तथा विश्वास के साथ अपने मार्ग पर आज भी अग्रसर हो रहा है वह आश्चर्यजनक है।

हिन्दू मुसलमानों को आत्मसात क्यों नहीं कर सके ?

सभी विद्वान इस बात को मानते हैं कि प्राचीन हिन्दू-समाज की पाचन-शक्ति इतनी तीव्र थी कि यूनानी, शक, हूण आदि प्रारम्भिक आक्रमणकारियों का उसने पूर्णरूप से अपने में विलयन कर लिया। किन्तु इसके विपरीत वही हिन्दुत्व तुर्क-अफ़ग़ान विदेशियों का हिन्दूकरण करने में असमर्थ रहा। कुछ लोगों का विश्वास है कि हमारे पूर्वजों ने इन नव-आगन्तुकों को अपने में खपाने का प्रयत्न ही नहीं किया और यदि हिन्दुओं ने मुसलमानों को अवसर दिया होता तो वे भारतीय दृष्टिकोण, भावनाएँ तथा जीवन-प्रणाली को अवश्य ही अपना लेते किन्तु हिन्दुओं ने उन्हें अपने से दूर रखा और उनसे खान-पान तथा विवाह आदि का सम्बन्ध नहीं कायम किया। यह मत पूर्णतया सही नहीं है। ऐसे अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में हिन्दू जनता तथा शासकों ने अरबों और तुर्कों के साथ अत्यधिक उदारता का व्यवहार किया। दक्षिण भारत में जहाँ ८वीं शताब्दी में ही अरब लोग बड़ी संख्या में बस गये थे, हमारे शासकों ने उन्हें व्यापारिक सुविधाएँ ही नहीं दीं बल्कि हिन्दुओं को इस्लाम अंगीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कालीकट के

जमोरिन ने आज्ञा जारी की कि मेरे राज्य में जितने भी मछुओं के परिवार हैं उनमें से प्रत्येक में एक अथवा अधिक पुरुष सदस्यों का मुसलमानों की भाँति पालन-पोषण किया जाय। परवर्ती युग के यूरोपीय व्यापारियों की भाँति अरबों को कुछ व्यापारिक विशेषाधिकार मिले हुए थे जो देशी व्यापारिक समुदाय को नहीं प्राप्त थे। जैसा कि हम अन्यत्र लिख चुके हैं हिन्दू सुधारकों तथा आचार्यों ने सिखाया कि हिन्दुत्व तथा इस्लाम एक ही उद्देश्य तक पहुँचने के लिए दो भिन्न मार्ग हैं। उन्होंने कहा कि राम और रहीम, कृष्ण और करीम, अल्लाह तथा ईश्वर एक ही शक्ति के विभिन्न नाम हैं। उन्होंने पुरोहितों के कर्मकाण्ड तथा वाह्य आडम्बरों की निन्दा करके तथा भक्ति पर बल देकर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों सम्प्रदायों में एकता तथा मैत्री स्थापित करने का हृदय से प्रयत्न किया। विदेशी मुसलमानों का आदर तथा सम्मान ही नहीं किया गया, बल्कि इस्लाम अंगीकार करने वाले भारतीयों के साथ भी निम्न जातियों के हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक अच्छा तथा सम्मानपूर्ण व्यवहार किया गया। एक बात में अवश्य हमारे लोगों ने विदेशियों के साथ शिष्टता का व्यवहार नहीं किया। उन्होंने उनके साथ खान-पान तथा विवाह का सम्बन्ध नहीं कायम किया। इसका कारण भी स्पष्ट था। हिन्दुओं का शरीर, वस्त्रों, निवास-स्थान तथा मन की शुद्धता और स्वच्छता में सदैव से विश्वास रहा है। इसके विपरीत तुर्क तथा अफ़ग़ान बल्कि भारतीय मुसलमान भी रेगिस्तानी अरबों जैसा जीवन बिताने का हठ करते थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू अधिकतर निरामिषभोजी थे और जो माँस खाते भी थे वे गो-माँस खाना पाप मानते थे। जबकि मुसलमान शत-प्रतिशत माँसाहारी थे और गो-वध तथा गो-माँस भक्षण त्यागने को उद्यत नहीं थे। वे भक्ति के मार्ग को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें अपने धर्म पर घमण्ड था और उनके धर्म के मतवाद निश्चित, कठोर तथा जटिल हैं; इसलिए उनका व्यवहार इस्लाम के कट्टर प्रचारकों जैसा था। एक और बात थी। मुसलमानों को जाति-व्यवस्था पर आधारित तथा आन्तरिक फूटों से क्षत-विक्षत हिन्दू-समाज में विलीन होने से कोई लाभ नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उनमें विजेताओं के अनुरूप अहंकार था और इसलिए अपने पृथक व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए वे दृढ़-प्रतिज्ञ थे। यदि हिन्दू उन्हें म्लेच्छ कहते थे तो वे हिन्दुओं को काफिर कहकर उनका तिरस्कार करते थे। हिन्दू धर्म-प्रचारकों तथा आचार्यों को उन लोगों पर सफलता नहीं मिल सकती थी जो इस्लाम से च्युत होने वालों तथा मुसलमानों को अपना धर्म छोड़ने के लिए फुसलाने वालों को मृत्यु-दण्ड का अधिकारी समझते थे। यदि कोई हिन्दू जिसने इस्लाम अंगीकार कर लिया था पुनः अपने पूर्वजों के धर्म को वापिस लौटने की इच्छा प्रकट करता तो सल्तनत के कानूनों के अनुसार उसे

मृत्यु-दण्ड मिलता था। इसी प्रकार यदि कोई हिन्दू यह कहने का साहस करता कि हिन्दुत्व तथा इस्लाम दोनों ही समान रूप से अच्छे धर्म हैं तो उसे भी प्राण-दण्ड दिया जाता था। इसके अतिरिक्त मुसलमानों में एक और बुरी प्रथा थी। हिन्दू लड़कियों से विवाह करने से पहले वे उन्हें मुसलमान बना लेते थे, और यदि कोई हिन्दू किसी मुस्लिम स्त्री से विवाह करना चाहता तो उसे भी वे पहले इस्लाम अंगीकार करने पर बाध्य करते थे। इस कुरीति के कारण किन्हीं दो परिवारों में वैवाहिक-सम्बन्ध कायम होना असम्भव हो जाता था। दोनों समुदायों के अन्तर्विलयन में भी इससे भारी बाधा पड़ती थी। प्रारम्भिक तुर्कों तथा अफग़ानों ने अपने खान-पान सम्बन्धी बहिष्कार को बुरा भी नहीं माना; बल्कि हिन्दुओं के इस मूढ़ विश्वास से स्वयं लाभ उठाया। यदि कभी कोई हिन्दू निषिद्ध भोजन कर लेता तो वे घोषणा कर देते कि अमुक व्यक्ति निषिद्ध भोजन कर लेने के कारण भ्रष्ट हो गया है और हिन्दू रहने योग्य नहीं रह गया है। इन परिस्थितियों में हमारे सुधारकों, आचार्यों तथा जनता ने भारतीयों तथा बिदेशियों में एकता कायम करने के जो प्रयत्न किये, उनका निष्फल होना अनिवार्य था।

परिशिष्ट अ

दिल्ली के नासिरुद्दीन खुसरवशाह की उत्पत्ति

कुतुबुद्दीन मुबारक ख़लजी के बाद २७ अप्रैल, १३२० ई. को नासिरुद्दीन खुसरवशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठा और ५ सितम्बर, १३२० ई. तक उसने शासन किया। दिल्ली सल्तनत-काल (१२०६-१५२६ ई.) में दिल्ली की गद्दी पर आसीन यही एक भारतीय मुसलमान था। भारतीय इतिहासकारों के लिए इसकी उत्पत्ति एक विवादास्पद विषय बना हुआ है। यह सर्वमान्य है कि वह एक गुजराती हिन्दू था और १३०५ ई. में मालवा पर एन-उल-मुल्क मुल्तानी के आक्रमण के समय उसके हाथ पड़ गया। तदुपरान्त उसे मुसलमान बनाया गया और उसका नाम हसन रखा गया। वह सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के नौकरों में भरती किया गया और दरबार के डिप्टी-हाजिब मलिक शादी के अधिकार में रखा गया।[१] धर्म-परिवर्तन अर्थात मुसलमान होने से पूर्व वह किस जाति का था, इस सम्बन्ध में समकालीन इतिहासकारों ने तीन भिन्न मत व्यक्त किये हैं उन्होंने उसे अलग-अलग बरादो (Barado), बराव (Barao) तथा बरवार (Barwar) बताया है परन्तु ये तीनों एक ही शब्द के विकृत रूप प्रतीत होते हैं। अमीर खुसरो ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तुग़लकनामा' में हसन को 'बरादो'[२] लिखा है, इसामी ने उसे 'बराव'[3] कहा है, और जियाउद्दीन बरनी ने उसे 'बरवार'[४] बताया है। उत्तरकालीन लेखकों ने अन्तिम दो शब्दों में से किसी एक न एक को मान लिया है। इनमें से कुछ ने तो शब्दों के अर्थों को समझकर इन्हें अपनाया है, किन्तु कुछ ने अर्थ को बिना समझे ही शब्दों को ग्रहण कर लिया है। उदाहरण के लिए, तारीख-ए-मुबारकशाही में 'बराव'[५] लिखा है, तबक़ात-ए-अकबरी में भी 'बराव'[६] लिखा है, मुन्तख़ब-उत-

---

[१] बरनी कृत तारीख-ए-फीरोज़शाही (फारसी लिपि), पृ० ३८१।

[२] औरंगाबाद मूल पाण्डुलिपि, पृ० १९।

[3] फ़ुतूह-उस-सलातीन (आगरा से प्रकाशित प्रति), पृ० ३६२ में 'पराव' लिखा है। निस्सन्देह यह नकल करने वालों की गलती है जिन्होंने एक नुक्ते (बिन्दी) के स्थान पर तीन नुक्ते लगा दिये हैं।

[४] तारीख-ए-फीरोज़शाही (कलकत्ता से प्रकाशित मूल पाण्डुलिपि), पृ० ४९०।

[५] तारीख-ए-मुबारकशाही, पृ० ८५।

[६] तब़क़ात-ए-अकबरी, जिल्द एक, पृ० १७५।

तवारीख़ में 'बरवार'[७] लिखा है, और फरिश्ता ने 'परवार'[८] लिखा है। ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक (फरिश्ता) भूल से 'बरवार' की जगह 'परवार' लिख गया है। मध्यकालीन इतिहासकारों ने हसन को नीच जाति का गुजराती बताया है जिसके वंशज प्रसिद्ध और निर्भीक योद्धा रहे थे।[९] किन्तु, क्योंकि हसन ही पहला भारतीय मुसलमान था जिसने कुतुबुद्दीन मुबारक का वध करके दिल्ली की गद्दी को हस्तगत करने का साहस किया था, वैसे अब तक दिल्ली की गद्दी पर मध्य एशिया के विदेशी तुर्कों का ही एकाधिपत्य रहा था; अतएव तत्कालीन इतिहासकारों ने विदेशी मुसलमान और पेशेवर धर्म-प्रचारक (मौलवी) होने के नाते हसन के लिए नीच, कमीन, कृतघ्न, नमकहराम तथा धूर्त आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इन थोथी बातों से ही प्रभावित होकर यूरोपीय इतिहासकारों ने भी मिथ्या कल्पना कर ली है कि 'बरवार' आजकल का 'परवार' या 'परवारी' ही रहा होगा। कुछ यूरोपीय इतिहासकारों ने तो गम्भीर चिन्तन के बिना ही यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि हसन, उपनाम खुसरवशाह, 'परवारी' या घृणित चाण्डाल था, जिसके स्पर्श मात्र से ही उच्च वर्ण के हिन्दू अपने आपको अपवित्र मानते थे। 'फरिश्ता' के अनुवादक ब्रिग्स ने सर्वप्रथम हसन के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—" 'परवारी' एक अछूत हिन्दू है, जो सर्व प्रकार का माँस खाता है और इतना गन्दा रहता है कि गन्दगी के कारण इसे नगर में मकान बनाकर नहीं रहने दिया जाता।"[१०] मोल्सवर्थ के अनुसार " 'परवारी' एक नीच जाति है। इस जाति के लोग प्रायः गाँव के चौकीदार, द्वारपाल अथवा भारवाही होते हैं। परवारी भी ढेढ़ और माहर जाति के समान एक जाति है।"[११] एडवर्ड थॉमस नामक एक अन्य प्रसिद्ध इतिहासकार ने भी ब्रिग्स के कथन की ही पुष्टि की है।[१२] मान्यता-प्राप्त यूरोपीय इतिहासकारों में वूल्ज़ले हेग नवीनतम हैं। आपने इस विषय में अपने विचार अत्यन्त दृढ़ शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है, "नीच खुसरव उन नीच जातियों में से एक जाति का था जिसे सवर्ण हिन्दू अस्पृश्य और अपवित्र मानते हैं, जिसका मुख्य पेशा (व्यवसाय) मेहतर का होता है और जो उन मृत पशुओं का

---

७ मुन्तख़ब-उत-तवारीख़, जिल्द एक, पृ० २०३।

८ फरिश्ता, पृ० १२४।

९ तुग़लकनामा, पृ० १९; बरनी, पृ० ५१९; इब्नबतूता, जिल्द तीन, पृ० १९८; फरिश्ता, पृ० १२४।

१० फरिश्ता (अनुवादक ब्रिग्स), जिल्द एक, पृ० ३८७—नोट।

११ मोल्सवर्थ कृत मराठी-अंग्रेजी डिक्शनरी (द्वितीय संस्करण), पृ० ४९२।

१२ क्रोनिकल्स् ऑफ द पठान किंग्स ऑफ देहली, पृ० १८४—नोट।

माँस खाता है जिन्हें घूरे या खेत से बाहर फेंकना उसका काम है।"[१३] आधुनिक भारतीय इतिहासकारों में जिन लोगों ने यूरोपीय इतिहासकारों के मत को ही स्वीकार कर लिया है, डा. ईश्वरीप्रसाद और डा. मेहदीहुसैन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा. ईश्वरीप्रसाद को अपनी डी. लिट्. की उपाधि के लिए (The Qaraunah Turks in India, Vol. I) जिन अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णय करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनमें से नासिरुद्दीन की जाति का निर्णय भी एक समस्या है। ८४० शब्दों की लम्बी टिप्पणी में डा. ईश्वरीप्रसाद ने इस पर प्रकाश डाला है और अन्त में ब्रिग्स के मत को ही पूर्णत: स्वीकार कर लिया है (*Refer* Qaraunah Turks in India, Vol. I, pp. 8-11—fn. 21)। आपने तो खुसरव को और भी अधिक नीच बतलाया है। मध्यकालीन लेखकों के समान आपने भी उसे ऐसा जातिहीन अपवित्र 'परवारी' बताया है जिससे सभी सवर्ण घृणा करते हैं। डा. मेहदीहुसैन का कहना है कि 'बरवार' शब्द कदाचित 'परवार' की जगह छप गया है (*Refer* Rise and Fall of Muhammad bin Tughlaq, p. 28—footnote), किन्तु अन्त में आपने भी ब्रिग्स तथा वूल्ज़ले हेग के मत को ही स्वीकार कर लिया है।

यूरोपीय इतिहासकारों में एक ऐसा भी दल है जो मुसलमान इतिहासकारों के उस गन्दे आक्षेप को महत्व नहीं देता जो उन्होंने नासिरुद्दीन खुसरव के सम्बन्ध में किया है। उन लोगों के मतानुसार खुसरवशाह परमार 'राजपूत' था। उदाहरण के लिए, जेम्स बर्ड ने 'मीरात-ए-अहमदी' के अंग्रेजी अनुवाद 'हिस्ट्री ऑफ गुजरात' में लिखा है कि 'परवार' परमार का ही रूप है।[१४] बेली[१५] और टालबॉयस व्हीलर[१६] ने भी उसके ही मत का समर्थन किया है। अपने पक्ष में उसके मुख्य तर्क ये हैं:—(१) ब्रिग्स ने भूल से 'परमार' को 'परवार' पढ़ लिया है। (२) खुसरवशाह दलित जाति का कभी नहीं हो सकता क्योंकि उसकी जाति के लोग तो वीरता और सैनिक-दक्षता के लिए प्रसिद्ध रहे थे और उन्होंने जीवन को संकट में डालकर युद्धों में अपनी वीरता का परिचय दिया था तथा, साथ ही, साम्राज्य के कार्यों को जिस योग्यता से उन्होंने किया, उन्हें भंगी जाति के व्यक्ति नहीं कर सकते थे।

---

[१३] कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द तीन, पृ० १२०।

[१४] हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० १६७।

[१५] लोकल मुहम्मदन डायनेस्टीज़, गुजरात, पृ० ४१—नोट।

[१६] हिस्ट्री ऑफ इण्डिया फ्राम द अर्लियेस्ट एज, जिल्द चार, भाग १, पृ० ६८।

उक्त दोनों मत अनुमान अथवा कल्पना पर आश्रित हैं अतः अविश्वसनीय हैं। प्रथम, अरबी लिपि में लिखा गया 'प्रमार' अथवा 'परमार' कभी 'परवार' नहीं पढ़ा जा सकता क्योंकि पहला मीम (م) से लिखा जाता है और दूसरा वाव (و) से। यह बात मानने योग्य नहीं है कि बरनी से फरिश्ता तक जितने भी लगभग एक दर्जन लेखकों ने फारसी के ग्रन्थों का सम्पादन किया, उन सभी ने हिज्जे (Spelling) की भूल की हो और फिर वह भूल आजकल के फारसी के विद्वान इतिहासकारों की दृष्टि से भी निकल गयी हो। दूसरे, यदि खुसरवशाह वास्तव में प्रमार होता तो वह भी सिसौदिया, राठौर तथा कछवाहों की भाँति सामान्य राजपूत कहा जाता। मध्य-युग के मुसलमान लेखक क्षत्रियों की इन जातियों से भली-भाँति परिचित थे, और यदि वह परमार होता तो वे (मध्य-युग के मुसलमान लेखक) उसे नीच जाति का हिन्दू कदापि नहीं लिखते। प्रोफेसर होदीवाला[१७] ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अमीर खुसरो से फरिश्ता तक मध्य-काल के सभी मुसलमान इतिहासकार हिन्दुओं की जाति, उपजाति तथा फिरकों की जटिलता से अपरिचित थे, किन्तु यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि कम से कम अमीर खुसरो, बरनी, निज़ामउद्दीन अहमद और बदायूँनी तो खुसरवशाह की असली जाति से भली-भाँति परिचित थे। अन्तिम बात यह है कि खुसरवशाह के सम्बन्धी प्रायः सभी हिन्दू थे और इनके नाम जहारिया, रनधौल आदि थे (रामधौल नाम गलत है जैसा कि प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ने भूल से अनुमान लगा लिया है)। इन नामों से ज्ञात होता है कि खुसरवशाह की असली जाति परमार अथवा कोई उच्च हिन्दू जाति नहीं रही होगी वरन वह जाति कोई नीची जाति ही होगी।[१८]

परन्तु ऐतिहासिक तर्क की दृष्टि से खुसरवशाह भंगी जाति का भी प्रतीत नहीं होता। पहली बात तो यह है कि मध्यकालीन इतिहासकारों ने उसे नीच जाति का तो कहा है किन्तु उनमें से किसी एक ने भी उसे अथवा उसके पूर्वजों को मेहतर जाति का नहीं बताया है। यह सूझ ब्रिग्स की उर्वर कल्पना-मात्र है जिसका दूसरे यूरोपियन इतिहासकारों ने भी अन्धानुकरण कर लिया है। दूसरी बात यह है कि खुसरवशाह तथा उसकी जाति के लोग गुजरात के रहने वाले थे और १३२० ई. में गाज़ी तुग़लक पराजित होकर वहीं भाग कर चले गये थे। गुजरात में मेहतरों को परवारी नहीं कहते हैं किन्तु ब्रिग्स

---

१७ स्टडीज़ इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री, पृ० ३७०।

१८ बरनी इन इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द तीन, पृ० २२२ तथा तबक़ात-ए-अकबरी, जिल्द एक, पृ० १८७।

तथा एडवर्ड थॉमस ने बरवार या परवार को परवारी शब्द से निकाला हुआ मान लिया है। गुजरात में परवारी ढेढ़ या माहर का पर्यायवाची नहीं माना जाता है। तीसरे, समकालीन तथा उत्तरकालीन प्रमुख इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि खुसरवशाह तथा उसकी जाति के लोग वीर योद्धा थे और उनमें से कुछ तो अत्यन्त समृद्धशाली एवं देश के प्रतिष्ठित लोगों में गिने जाते थे। मेहतर देश में पददलित ही रहते आये हैं और इन्होंने योद्धा अथवा प्रशासक के रूप में कभी भी कीर्ति नहीं पायी है।

प्रस्तुत लेखक, विभिन्न कठिनाइयों के होते हुए भी प्रोफेसर होदीवाला, डा. के. एस. लाल तथा प्रोफेसर श्रीराम शर्मा के इस मत से सहमत नहीं है कि "खुसरव की असली जाति का न तो कोई पता है और न पता लगाया ही जा सकता है।"[१९] फारसी के तत्कालीन मौलिक ग्रन्थों से परिचित भारतीय मध्यकालीन इतिहासवेत्ता यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि खुसरवशाह की जाति के वाचक जितने भी शब्दों का प्रयोग किया गया है वे सब 'बरवार' शब्द के ही रूपान्तर हैं। ज़ियाउद्दीन बरनी ने जो खुसरवशाह का बिलकुल तत्कालीन था, खुसरव के सम्बन्ध में बार-बार इसी शब्द का प्रयोग किया है। यह भी निश्चय है कि बरनी तथा फारसी के अन्य विद्वान इतिहासकारों ने जिस 'बरवार' शब्द का प्रयोग किया है वह 'भरवार' (Bharwar) या 'भरवाड' (Bharvad) से ही मिलता-जुलता है। अरबी लिपि में ये तीनों शब्द ही प्रायः समान रूप से लिखे जाते हैं और फारसी की घसीट में वे एकसे ही पढ़े जाते हैं, जिसके कारण शब्दों के असली रूपों के जानने में भ्रम हो सकता है। एक मान्य गुजराती शब्द-कोष के अनुसार 'भरवाड' या 'भरवार' शब्दों का अर्थ गड़रिया[२०] है और खुसरवशाह के जन्म-स्थान गुजरात प्रान्त में भरवाडों का आधिक्य है। उनमें से पहले भी बहुत-से लोग धनवान थे और अब भी हैं। ये लोग पहले की भाँति आज भी भेड़ें पालते और खेती करते हैं। गड़रिये हिन्दुओं में न तो उच्च जाति के समझे जाते हैं और न चमार, धानुक, पासी या भंगी के समान नीच जाति के। ये भरवाड (जो उत्तर प्रदेश में गड़रिया कहलाते हैं) अहीर, कुर्मी और लोधे के समान हैं तथा अत्यन्त पराक्रमी और बलवान होते हैं। इन गुणों के कारण ही अमीर और राजा इन्हें अपने यहाँ द्वारपाल, निजी सेवक तथा सैनिक के रूप में नौकर रखते थे। निजामउद्दीन अहमद का

---

[१९] स्टडीज इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री, पृ० ३६९; हिस्ट्री ऑफ द ख़लजी, पृ० ३५१; नासिरुद्दीन खुसरवशाह इन इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९५०।

[२०] डी. बी. केलकर कृत जोडनीख्श (गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित)।

यह कथन ठीक है कि भरवाडों को घरेलू नौकरों के रूप में नौकर रखा जाता था और ये लोग गुजरात में अधिक संख्या में पाये जाते थे।[२१] यहिया ने खुसरवशाह को पासवान या द्वारपाल[२२] उचित ही कहा है और फरिश्ता का उसे गुजरात के पहलवानों में से एक बताना भी ठीक है।[२३] अतः यह सिद्ध होता है कि नासिरुद्दीन खुसरवशाह गुजरात की भरवाड या गड़रिया जाति का था।

प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ने हाल में अपना एक दूसरा मत व्यक्त करके इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। आपका कहना है कि खुसरवशाह ने गद्दी पर बैठते समय इस्लाम धर्म का परित्याग कर देश में हिन्दू-राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया था यद्यपि उसने अपना नाम या उपाधि हिन्दू नहीं रखी थी। प्रोफेसर शर्मा लिखते हैं कि "यह स्वाभाविक ही था कि सिंहासन पर बैठते समय वह अपने पैतृक धर्म को ही पुनः अपनाले। वह अपने पूर्ववर्ती शासकों के शाही महल में रहा था और सिंहासन पर बैठने के समय मुसलमान रीतियों के स्थान पर हिन्दू रीतियों का ही पालन किया गया था। जिस प्रकार आठवीं शताब्दी में जोधपुर के राजा अजीतसिंह ने प्रशासक राजा के रूप में कोई हिन्दू उपाधि धारण नहीं की थी उसी प्रकार खुसरवशाह ने भी कोई हिन्दू उपाधि धारण नहीं की थी।"[२४] प्रोफेसर शर्मा का यह मत किसी समकालीन अथवा उत्तरकालीन प्रामाणिक लेख के आधार पर नहीं बनाया गया है। उन्होंने प्राचीन फारसी ग्रन्थों में जो नहीं लिखा है उसे पढ़ने का प्रयत्न किया है। अमीर खुसरो से लेकर फरिश्ता तक किसी भी लेखक ने न तो स्पष्ट रूप से और न गोलमोल यह कहीं भी कहा है कि खुसरवशाह ने इस्लाम धर्म का त्याग कर दिया था और हिन्दू-राज्य स्थापित करना चाहा था। इसके विपरीत इतिहासकार निजामउद्दीन अहमद ने स्पष्ट रूप से लिखा है, "चूँकि भरवारों में अधिकतर हिन्दू धर्म के मानने वाले थे अतः इस्लाम की रीतियों को धक्का पहुँचा और मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन मिला, मूर्ति-पूजा का प्रचार हुआ और मस्जिदें अपवित्र हुई।"[२५] इस पुष्ट प्रमाण से प्रोफेसर शर्मा के मत का खण्डन हो जाता है और अन्त में यह सिद्ध हो जाता है कि खुसरवशाह पहले की भाँति ही मुसलमान रहा था, किन्तु उसके महल में रहने वाले उसके सम्बन्धी हिन्दू धर्म को ही मानते रहे थे।

---

[२१] तबक़ात-ए-अकबरी, जिल्द एक, पृ० १७६।

[२२] तारीख-ए-मुबारकशाही, पृ० ८२।

[२३] फरिश्ता, जिल्द एक, पृ० १२४।

[२४] इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९५०।

[२५] तबक़ात-ए-अकबरी, जिल्द एक, पृ० १८७।

परिशिष्ट ब

दिल्ली के सुल्तानों का तिथि-क्रम

सुल्तानों का नाम	ईसा सन्	हिजरी सन्
यामिनी-वंश		
१. महमूद यामिन-उद्दौला (गज़नी का)	९९८	३८८
भारत पर प्रथम आक्रमण	१०००	
२. मुहम्मद	१०३०	४२१
३. मसूद प्रथम	१०३०	४२१
४. मौदूद	१०४०	४३२
५. मसूद द्वितीय	१०४९	४४०
६. अली	१०४९	४४०
७. अब्दुल रशीद	१०५२	४४४
८. फरुखज़ाद	१०५३	४४४
९. इब्राहीम	१०५९	४५१
१०. मसूद तृतीय	१०९९	४९२
११. शेरजाद	१११५	५०८
१२. अरसलामशाह	१११६	५०९
१३. बहरामशाह	१११८	५१२
१४. खुसरवशाह	११५२	५४७
१५. खुसरव मलिक	११६०-८६	५५५
शंसबनी-वंश		
१. सैफुद्दीन सूरी	११४८	५४३
२. अलाउद्दीन हुसैन जसन सोज़	११४९	५४४
३. सैफुद्दीन मुहम्मद	११६१	५५६
४. ग़ियासुद्दीन बिन साम	११६३	५५८
५. मुईजुद्दीन मुहम्मद ग़ोर		
गज़नी में सिंहासनारोहण	११७३	५६९
पंजाब पर विजय	११८६	
ग़ोर में सिंहासनारोहण	१२०१-६	५९९
कुतुबी-वंश		
१. कुतुबुद्दीन ऐबक	१२०६	६०२
२. आरामशाह	१२१०-११	६०७
इल्तुतमिश-परिवार		
१. शम्सुद्दीन इल्तुतमिश	१२११	६०७
२. रुकुनुद्दीन फीरोज़	१२३६	६३३

सुल्तानों का नाम	ईसा सन्	हिजरी सन्
३. रज़िया	१२३६	६३३
४. मुईज़ुद्दीन बहराम	१२४०	६३७
५. अलाउद्दीन मसूद	१२४२	६३९
६. नासिरुद्दीन महमूद	१२४६-६५	६४४
बलबन-वंश		
१. बहाउद्दीन बलबन	१२६५	६६४
२. मुईज़ुद्दीन कैकुबाद	१२८७	६८६
३. शम्सुद्दीन कैयूमार	१२९०	६८९
ख़लजी-वंश		
१. जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ख़लजी	१२९०	६८९
२. रुकुनुद्दीन इब्राहीम	१२९६	६९५
३. अलाउद्दीन मुहम्मद	१२९६	६९५
४. शिहाबुद्दीन उमर	१३१६	७१५
५. कुतुबुद्दीन मुबारक	१३१६	७१५
६. नासिरुद्दीन खुसरव (ख़लजी नहीं)	१३२०	७२०
तुग़लक-वंश		
१. ग़ियासुद्दीन तुग़लक प्रथम	१३२०	७२०
२. मुहम्मद बिन तुग़लक	१३२५	७२५
३. फ़ीरोज़ बिन राजब	१३५१	७५२
४. ग़ियासुद्दीन द्वितीय	१३८८	७९०
५. अबूबक्र	१३८९	७९१
६. मुहम्मद बिन फ़ीरोज़	१३९०	७९२
७. सिकन्दर	१३९४	७९५
८. महमूद	१३९५	७९५
९. नसरतशाह	१३९६	७९७
१०. महमूद	१३९९	८०१
११. दौलतखाँ लोदी (निर्वाचित)	१४१३-१४	८१५
सैय्यद-वंश		
१. खिज्रखाँ सैय्यद	१४१४	८१७
२. मुईज़ुद्दीन मुबारक	१४२१	८२४
३. मुहम्मदशाह	१४३४	८३७
४. अलाउद्दीन आलमशाह	१४४५-५१	८४९
लोदी-वंश		
१. बहलोल लोदी	१४५१	८५५
२. सिकन्दर लोदी	१५१७	९२९
३. इब्राहीम लोदी	१५१७-२६	९२९-३२

परिशिष्ट स

मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ

सल्तनत-युग के इतिहास की जानकारी के मुख्य साधन फारसी में और कुछ अरबी में हैं। इनके लेखक विदेशी तुर्क अथवा अफ़ग़ान थे, उन्हें भारत में इस्लाम की प्रगति तथा दरबारी मामलों में ही विशेष रुचि थी। वे वैज्ञानिक इतिहास-कार नहीं थे। उनका ध्यान शासकों के कार्यों तक ही सीमित था, साधारण जनता के जीवन में उन्हें दिलचस्पी नहीं थी। उनके ग्रन्थों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : (अ) इतिहास ग्रन्थ, तथा (ब) यात्रा-वृत्तांत।

इतिहास ग्रन्थ

(१) चचनामा

यह ग्रन्थ अरबों की सिन्ध-विजय का इतिहास है और मौलिक रूप से अरबी में लिखा गया था। मुहम्मद अली बिन अबूबक्र कूफी ने नासिरुद्दीन कुबैचा के समय में इसका फारसी में अनुवाद किया और उसी शासक को समर्पित किया। हाल में कराँची के डा. दाऊदपोता ने इसको संपादित तथा प्रकाशित किया है। ग्रन्थ में मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से पहले तथा बाद का सिन्ध का संक्षिप्त इतिहास दिया हुआ है। इसमें स्थानों के नाम तथा महत्वपूर्ण घटनाओं के विस्तृत वर्णन भरे पड़े हैं। अरबों की विजय के समय सिन्ध की दशा तथा विजय-सम्बन्धी जानकारी के लिए यही हमारा प्रमुख साधन है।

(२) भक्खर के मीर मुहम्मद मासूम रचित **तारीखे-सिन्ध, उपनाम, तारीखे मासूमी**

यह सिन्ध का विस्तृत इतिहास है और १६०० ई. में लिखी गयी थी। इस पुस्तक में अरबों की विजय के समय से अकबर के शासन-काल तक उस प्रान्त के इतिहास का वर्णन है। इसमें चार अध्याय हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ तत्कालीन नहीं है और मुख्यतया चचनामा पर ही आधारित है, फिर भी इसमें अरबों की विजय तथा मुहम्मद बिन कासिम की सफलता के कारणों का ठीक-ठीक विव-रण दिया हुआ है।

(३) अबू नस्र बिन मुहम्मद अल जबरुल उतबी रचित **किताबुल-यमीनी**

इसमें सुबुक्तगीन तथा महमूद गज़नवी के शासन-काल का १०२० ई. तक का इतिहास वर्णित है। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक की अपेक्षा साहित्यिक अधिक है

श्रौर श्रलंकारों तथा टेढ़ी-मेढ़ी शब्दावलियों से भरा पड़ा है। उतबी ने ब्यौरे की चीजें नहीं दी हैं। महमूद के श्राक्रमणों का एकसा ही वर्णन है; उसने तिथियाँ भी कम दी हैं। इन दोषों के होते हुए भी महमूद के प्रारम्भिक जीवन तथा कार्यों के सम्बन्ध में यह प्रथम श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

(४) श्रबू सईद रचित **जैनुल श्रखबार**

मूलतः यह ग्रन्थ ईरान का इतिहास है किन्तु इससे महमूद गज़नवी के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। उस सुल्तान के कार्यों का इसमें श्रच्छा वृत्तांत है; इसकी तिथियाँ तथा घटनाएँ भी श्रधिक सही हैं।

(५) श्रबुल फजल मुहम्मद बिन हुसैन-श्रल-बहरी रचित **तारीखे मसूदी**

इसमें महमूद गज़नवी तथा मसूद का इतिहास वर्णित है। दरबारी जीवन तथा पदाधिकारियों के कुचक्रों का इसमें श्रच्छा चित्रण है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

(६) श्रलबरुनी रचित **तारीख-उल-हिन्द**

लेखक का जन्म ९७०-७१ ई. में ख्वारिज्म में हुश्रा था। वह भारत श्राया तथा महमूद गज़नवी के यहाँ नौकरी कर ली। वह श्ररबी तथा फारसी का श्रच्छा विद्वान था। गणित, चिकित्सा, हेतु-विद्या, दर्शन, धर्मशास्त्र श्रौर धर्म में उसकी रुचि थी। श्रपने युग का वह महान् विद्वान था। उसने भारत में कई वर्ष रहकर संस्कृत, हिन्दू धर्म तथा दर्शन का श्रध्ययन किया। उसने दो संस्कृत ग्रन्थों का श्ररबी में श्रौर श्रनेक श्ररबी ग्रन्थों का फारसी में श्रनुवाद किया। वह श्रनेक ग्रन्थों का रचयिता था जिनमें हमारे लिये सबसे महत्वपूर्ण 'तारीख-उल-हिन्द' है। इसमें ११वीं शताब्दी के श्रारम्भ के हिन्दुश्रों के साहित्य, विज्ञान तथा धर्म का श्राँखों देखा वर्णन है। उसने संवेदनापूर्वक चीजों का निरीक्षण किया; उसने जो कुछ लिखा, वह सत्य तथा वेदनापूर्ण है। महमूद गज़नवी के श्राक्रमणों के समय के भारत की दशा की जानकारी के लिए तारीख-उल-हिन्द प्रामाणिक मूल ग्रन्थ है। ग्रन्थ विद्वतापूर्ण श्ररबी में लिखा गया है। इसका फारसी में श्रनुवाद किया गया था। सचाऊ ने इसे सुन्दर श्रंग्रेजी में श्रनूदित कर दिया है। श्रलबरुनी की १०३८-३९ ई. में मृत्यु हुई।

(७) शेख श्रबुलहसन उपनाम इब्नुल श्रसीर रचित **कमीलुत तवारीख**

लेखक मैसोपोटामिया का निवासी था। उसने श्रपना ग्रन्थ १२३० ई. में पूरा किया। वह मुख्यतया मध्य एशिया का श्रौर विशेषकर ग़ोर के शंसबनी राजवंश का इतिहास है, किन्तु इसमें मुहम्मद ग़ोरी की भारत-विजय का भी श्रच्छा वृत्तांत है। इब्नुल श्रसीर तत्कालीन लेखक था, इसलिए श्रालोचनात्मक निर्णय उसके ग्रन्थ की विशेषता है। भारतीय विषयों का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है श्रौर

कहे-सुने के आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है । तिथियाँ तथा मुख्य घटनाएँ अवश्य सही हैं ।

(८) **हसन निज़ामी** रचित **ताजुल मासिर**

इस ग्रन्थ में ११९२ से १२२८ ई. तक की घटनाओं का वर्णन है, इसलिए कुतुबुद्दीन ऐबक के जीवन तथा शासन और इल्तुतमिश के प्रारम्भिक वर्षों के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है । इसकी शैली अत्यधिक अलंकृत है । हसन निज़ामी विदेशी था । मुहम्मद ग़ोरी के एक आक्रमण के समय में वह भारत आया और यहीं बस गया । तत्कालीन लेखक होने के कारण उसे महत्वपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में मूल जानकारी प्राप्त करने की सुविधाएँ उपलब्ध थीं, इसलिए उसकी पुस्तक दिल्ली सल्तनत के प्रारम्भिक इतिहास के लिए मूल प्रामाणिक ग्रन्थ है ।

(९) **मिनहाजुद्दीन अबू उमर बिन सिराजुद्दीन अल-जुजियानी** (**मिनहाज-उस-सिराज**) रचित **तबक़ाते नासिरी**

यह एक तत्कालीन ग्रन्थ है जिसमें इस्लामी जगत का सामान्य इतिहास वर्णित है । इसे १२६० ई. में पूरा किया गया था । इस ग्रन्थ का विशेष महत्व यह है कि इसमें मुहम्मद ग़ोरी की भारत-विजय तथा भारत की नवस्थापित तुर्की सल्तनत का आरम्भ से लेकर १२६० ई. तक निजी जानकारी के आधार पर वर्णन है । मिनहाज-उस-सिराज तत्कालीन लेखक ही नहीं था बल्कि जिन घटनाओं का उसने वर्णन किया है उनमें से कुछ में उसने स्वयं भाग लिया था, क्योंकि नासिरुद्दीन के समय में उसने दिल्ली के मुख्य काज़ी के पद पर कार्य किया था । किन्तु मिनहाज निष्पक्ष लेखक नहीं था । मुहम्मद ग़ोरी तथा इल्तुतमिश के वंश के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण था । वह बलबन का बड़ा प्रशंसक था । उसका उसने एक महान् वीर तथा निर्दोष शासक के रूप में चित्रण किया है । किन्तु पक्षपातपूर्ण होने पर भी तबक़ाते नासिरी दिल्ली सल्तनत के प्रारम्भिक इतिहास के लिए प्रथम श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ है । लेखक ने घटनाओं का क्रमबद्ध वृत्तान्त दिया है और तिथियाँ तथा तथ्य सामान्यतया सत्य के निकट हैं । मिनहाज बलबन के राज्यारोहण के समय तक जीवित रहा किन्तु उसने अपने ग्रन्थ को नासिरुद्दीन की मृत्यु तक पूरा नहीं किया । इस कारण १२६० से १२६५ ई. तक का इतिहास अन्धकार में है । रैवर्टी ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद कर दिया है तथा महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ देकर उसके महत्व को और भी बढ़ा दिया है । अनुवाद लगभग दोष-रहित है ।

(१०) **अमीर खुसरव** रचित **ख़जाय-नुल-फ़ुतूह**

लेखक एक महान् कवि था और उसने काव्य के सभी रूपों में सफल

रचनाएँ कीं। १२९० से १३२५ ई. तक उसने राज-कवि का पद धारण किया इसलिए वह जलालुद्दीन ख़लजी से मुहम्मद बिन तुग़लक तक सभी दिल्ली सुल्तानों का समकालीन था। ख़जाय-नुल-फ़ुतूह को उसने अलाउद्दीन के दरबारी इतिहास के रूप में लिखा इसलिए उन घटनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जो उसके संरक्षक के प्रतिकूल थीं। उसने जलालुद्दीन के वध तथा मंगोलों द्वारा अलाउद्दीन की पराजयों का उल्लेख नहीं किया है। अपने संरक्षक की सफलताओं का उसने अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया। इन दोषों के होते हुए भी ग्रन्थ का ठोस मूल्य है। लेखक ने झूठ से बचने का प्रयत्न किया है और घटनाओं तथा तिथियों का ठीक विवरण दिया है। अनेक घटनाओं को तो उसने स्वयं देखा था, यही उसके वर्णन का विशेष मूल्य है। ग्रन्थ अत्यधिक अलंकृत फारसी में लिखा गया है। प्रो. हबीब ने 'अलाउद्दीन ख़लजी की रण-यात्राएँ' नाम से उसको अंग्रेजी में अनूदित कर दिया है और स्वर्गीय कृष्णस्वामी आयंगर ने उसकी भूमिका लिखी है।

(११) जियाउद्दीन बरनी रचित तारीखे फीरोजशाही

लेखक उच्च वंश में उत्पन्न हुआ था और उसके पूर्वज ख़लजी शासकों के समय में उच्च राजकीय पदों पर कार्य कर चुके थे। बरनी स्वयं ग़ियासुद्दीन, मुहम्मद बिन तुग़लक तथा फीरोज़ तुग़लक का ठीक समकालीन था, और मुहम्मद बिन तुग़लक से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसका ग्रन्थ बलबन के राज्यारोहण से आरम्भ तथा फीरोज़ तुग़लक के शासन के छठे वर्ष में समाप्त होता है। इसलिए ख़लजी-युग, मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल तथा फीरोज़ के राज्य-काल के कुछ वर्षों के लिए वह अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसे १३५६ ई. में पूरा किया गया था। इसमें उपाख्यान भरे पड़े हैं किन्तु तिथियों तथा ब्यौरे की बातों का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बरनी को लम्बे-लम्बे व्याख्यान देने का शौक था और कहीं-कहीं उसने तथ्यों की तोड़-मरोड़ की है। अनेक घटनाओं का वर्णन भी उसके निजी दृष्टिकोण से रँगा हुआ है। तिथिक्रम का भी उसने उचित ध्यान नहीं रखा है। पुस्तक का विशेष मूल्य यह है कि लेखक ने राजस्व-विभाग में महत्वपूर्ण पद पर कार्य किया था और राजस्व-व्यवस्था से भली-भाँति परिचित था; उसका उसने विस्तार से वर्णन किया है।

बरनी सुशिक्षित व्यक्ति था और इतिहास लेखक के दायित्व को भली-भाँति समझता था; फिर भी वह मूढ़ विश्वासों से मुक्त नहीं था। उसकी शैली दुरूह है, इसलिए कहीं-कहीं उसका समझना कठिन हो जाता है। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने ग्रन्थ को प्रकाशित किया है।

(१२) फतवाए-जहाँदारी

इस ग्रन्थ की रचना भी ज़ियाउद्दीन बरनी ने की थी। १४वीं शताब्दी के आरम्भ में इसे पूरा किया गया था। इस ग्रन्थ में लेखक ने राज्य की नीति के सम्बन्ध में—धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष—पर अपने विचार दिये हैं। राजनीतिक आचरण के लिए यह एक आदर्श विधि-संग्रह है; लेखक चाहता था कि मुस्लिम शासकों को इसी के अनुसार चलना चाहिए।

(१३) ख्वाजा अबूबक्र इसामी रचित फ़ुतूह-उस-सलातीन

यह ग्रन्थ गज़नवी-वंश के समय से मुहम्मद बिन तुग़लक तक दिल्ली सुल्तानों का काव्यात्मक इतिहास है। इसे १३४६ ई. में पूरा किया गया था। इसकी रचना दक्खिन में हुई थी और बहमनी-वंश के प्रथम शासक अलाउद्दीन हसन को समर्पित किया गया था। डा. मेहदीहुसैन ने इसे प्रकाशित किया है। दिल्ली सल्तनत के इतिहास के लिए यह उपयोगी ग्रन्थ है।

(१४) इब्नबतूता रचित किताब-उल-रहला

यह ग्रन्थ मोरक्को के विख्यात पर्यटक इब्नबतूता का यात्रा-वृत्तान्त है। उसने १३२५ ई. में यात्रा आरम्भ की और उत्तरी अफ्रीका, अरब, ईरान, लीवान्त तथा कुस्तुन्तुनिया का भ्रमण किया। तदुपरान्त वह भारत आया और १२ सितम्बर, १३३३ ई. को सिन्ध में उतरा। हमारे देश में वह १३४२ ई. तक ठहरा। मुहम्मद बिन तुग़लक ने उसे दिल्ली का काज़ी नियुक्त किया। आठ वर्ष तक उसने इस पद पर कार्य किया। उसके बाद सुल्तान ने अप्रसन्न होकर उसे कारागार में डाल दिया। कुछ समय उपरान्त वह मुक्त कर दिया गया और १३४२ ई. में राजदूत बनाकर चीन भेजा गया। मार्ग में जहाज के टूट जाने से उसे एक दुर्घटना का शिकार होना पड़ा, इसलिए वह दिल्ली लौट आया फिर वह मालदीव द्वीप-समूह गया और एक वर्ष तक उसने न्यायाधीश के पद पर कार्य किया। १३४५ ई. में उसने लंका की यात्रा की, वहाँ से वह लौटकर दक्षिणी भारत आया और मदुरा में ठहरा। अन्त में वह मक्का की हज के लिए चला गया और वहाँ से १३४६ ई. में स्वदेश लौट गया। कुछ समय उपरान्त उसने मध्य अफ्रीका का पुनः भ्रमण किया और अन्त में १३५३ ई. में अपने देश मोरक्को में निश्चित रूप से बस गया। वहीं पर उसने अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा। १३७७-७८ ई. में ७३ वर्ष की अवस्था में उसका देहावसान हुआ। इब्नबतूता सुशिक्षित व्यक्ति था; उसने अपना ग्रन्थ अरबी में लिखा है। हमारे देश में वह आठ वर्ष तक रहा और दरबार से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिए घटनाओं की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने की उसे सुविधा थी। इस कारण उसका ग्रन्थ मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल तथा

उस समय की देश की दशा, रीति-रिवाज आदि के सम्बन्ध में प्रामाणिक मूल ग्रन्थ है किन्तु इसमें कुछ दोष भी हैं। लेखक में कहीं-कहीं गप्पें लड़ाने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इसके अतिरिक्त उसे फारसी तथा हिन्दी का अच्छा ज्ञान नहीं था इसलिए वह सब साधनों से जानकारी नहीं एकत्र कर सकता था।

(१५) शम्से सिराज अफीफ रचित **तारीखे फीरोजशाही**

यह ग्रन्थ फीरोज़ तुग़लक के शासन-काल का इतिहास है। लेखक का जन्म १३५० ई. में हुआ था। आगे चलकर वह फीरोज़शाह के दरबार का सदस्य हो गया। उसने अपना ग्रन्थ तिमूर के चले जाने के उपरान्त १३९८ ई. में रचा। फीरोज़शाह के शासन-काल के लिए यह प्रथम श्रेणी का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

(१६) सीरते फीरोजशाही

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। इसकी रचना १३७० ई. में फीरोज तुग़लक की आज्ञा से की गयी थी। उस सुल्तान के शासन के सम्बन्ध में यह प्रथम श्रेणी का ग्रन्थ है।

(१७) फुतूहाते फीरोजशाही

इसमें फीरोज़ तुग़लक के अध्यादेशों का संग्रह है। उस सुल्तान की आज्ञानुसार ही इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी और उसके शासन के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है।

(१८) यहिया बिन अहमद रचित **तारीखे मुबारकशाही**

सैय्यद-वंश के इतिहास के लिए यही एक तत्कालीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें दी हुई तिथियों तथा घटनाओं का वर्णन सामान्यतया सच्चा है।

(१९) अहमद यादगर रचित **तारीखे सलातीन-ए-अफग़ाना**

इसमें भारत में अफग़ानों के इतिहास का वर्णन है; लोदी तथा सूर्य-वंश के उत्थान-पतन का इसमें विशद वर्णन है। ग्रन्थ की रचना लेखक ने अकबर के समय में की थी, इसलिए तत्कालीन ग्रन्थ नहीं है। फिर भी लोदी-युग के इतिहास के लिए इसका महत्व है।

(२०) अब्बास सरवानी रचित **तारीखे शेरशाही उपनाम तोहफा-ए-अकबरशाही**

मूलतः यह सूर-वंश का इतिहास है किन्तु लोदियों का भी इसमें कुछ वर्णन है। इसकी रचना अकबर की आज्ञा से की गयी थी, इसलिए यह तत्कालीन ग्रन्थ नहीं है। फिर भी लोदी-वंश के इतिहास के लिए उपयोगी है।

(२१) नियामतुल्ला रचित **मखजने अफगाना**

इस ग्रन्थ की रचना जहाँगीर के शासन-काल में हुई थी। इसमें विभिन्न अफग़ान कबीलों का सामान्य वृत्तान्त दिया हुआ है। इसी लेखक का तारीखे खानेजहाँ लोदी वा मखजने अफग़ाना नामक एक अन्य ग्रन्थ भी है। लोदी-युग के लिए दोनों उपयोगी हैं।

(२२) अब्दुल्ला रचित **तारीखे दाऊदी**

इस ग्रन्थ की रचना भी जहाँगीर के शासन-काल में हुई थी। अन्य अफग़ान ग्रन्थों की भाँति इसमें उपाख्यान तथा अफग़ानों की प्रशंसा भरी पड़ी है। इसमें तिथियों का अभाव है फिर भी लोदियों के इतिहास के लिए इसके बिना काम नहीं चल सकता। इसकी एक प्रति पटना के खुदाबख्श पुस्तकालय में उपलब्ध है।

अकबर के समय में लिखे गये कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस युग के इतिहास के लिए उपयोगी हैं; जैसे अबुल फजल रचित 'अकबरनामा' तथा 'आइने अकबरी' बदायूँनी रचित 'मुन्तखब-उत-तवारीख़', निजामुद्दीन अहमद रचित 'तबक़ात-ए-अकबरी' तथा हिन्दू बेग़ रचित 'तारीखे फरिश्ता'। लोदी-वंश के अन्तिम वर्षों के इतिहास के लिए 'तुजुक़-ए-बाबरी' भी बहुत महत्वपूर्ण है।

यात्रा-वृत्तान्त

(१) अलबरुनी

महान् तुर्की विद्वान अलबरुनी भारत में बहुत पहले आने वाले पर्यटकों में से एक था। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं वह ख्वारिज्म से आया था और कुछ समय तक हमारे देश में ठहरा था। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ "अलबरुनी के भारत" के नाम से विख्यात है। सचाऊ द्वारा इसे अंग्रेजी में अनूदित किया गया है। (ट्रब्नर्स ओरियंटल सीरीज़) (देखिये इतिहास ग्रन्थ नं. ६)।

(२) इब्नबतूता

यह एक यात्री था। १३१३ ई. वह सिन्ध में उतरा और आठ वर्ष तक इस देश में ठहरा। उसने जो कुछ देखा उसका वृत्तान्त अपने प्रसिद्ध 'रहला' में किया है। इसका विस्तृत वर्णन हम पहले दे चुके हैं (देखिये इतिहास ग्रन्थ नं. १३)। इसका अंग्रेजी में एक अनुवाद ली और दूसरा गिब्स ने किया है।

(३) मार्कोपोलो का यात्रा-वृत्तान्त (अंग्रेजी अनुवाद मूल द्वारा)

इस विश्वविख्यात पर्यटक ने १३वीं शताब्दी में भारत का भ्रमण किया और जो कुछ देखा उसका वृत्तान्त एक पुस्तक के रूप में लिख दिया। उसके

वर्णन में ब्यौरे की बातों की कमी है, फिर भी इस युग के इतिहास के लिए उसका महत्व है।

(४) अब्दुर रज्जाक

रज्ज़ाक एक ईरानी राजदूत था और विजयनगर के सम्राट के दरबार में आया था। वहाँ वह १४४२ ई. से १४४३ ई. तक रहा। उसने विजयनगर की राजनीतिक, शासन सम्बन्धी, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा का अच्छा वर्णन छोड़ा है। अब्दुर रज्ज़ाक के वर्णन का प्रयोग किये बिना विजयनगर-साम्राज्य का इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता।

(५) निकोलो कोन्टी

कोन्टी इटली का पर्यटक था, वह हमारे देश में १५२० ई. में आया था। उसने हमारे देश का, यहाँ के रीति-रिवाजों तथा जनता की दशा का जो वृत्तान्त छोड़ा है उसका भी उतना ही महत्व है, जितना कि अब्दुर रज्ज़ाक के वृत्तान्त का।

(६) डोमिंगोज़ पेइज़

पेइज़ पुर्तगाली पर्यटक था। उपरोक्त दो यात्रियों की भाँति उसने भी दक्षिणी भारत की यात्रा की। उसने विजयनगर का विस्तृत वर्णन छोड़ा है। उसमें ठोस तथ्य भरे पड़े हैं जिनका बहुत मूल्य है।

(७) एडोर्डो बारबोसा

बारबोसा ने १५१६ ई. में विजयनगर की यात्रा की थी। उसका दक्षिण भारत का और विशेषकर विजयनगर का वर्णन महत्वपूर्ण है।

उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त कुछ साहित्यिक ग्रन्थ भी हैं जो इस युग में देश की दशा पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण खुसरव का 'किरान-उस-सादेन' तथा एन-उल-मुल्क मुल्तानी का 'मुंशा-ए-माहरू' हैं।